गोरख दर्शन

गोरक्ष पीठाधीश्वर

युग-पुरुष

पूज्य श्री महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज

की

द्वितीय पुण्य तिथि पर : उन्हीं की पावन

स्मृति में समर्पित

गोरख-दर्शन

(अक्षयकुमार बनर्जी कृत 'फिलासफी ऑव गोरखनाथ' का हिन्दी रूपान्तर)

●

सम्पादक
डा० भगवती प्रसाद सिंह
एम. ए, पी०-एच-डी, डी लिट्,
रीडर, हिन्दी विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

●

अनुवादक
श्याम बिहारी स्वरूप
दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

●

प्रकाशक
महंत अवेद्यनाथ
दिग्विजयनाथ न्यास
गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव ब्रह्मलीन महंत दिग्विजयनाथ जी की नाथपंथ के आचार और दर्शन के प्रचार-प्रसार मे बडी रुचि थी। भारतीय धर्म साधना मे गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित योगाचार के महत्व से वे पूर्णतया अभिज्ञ थे। उनकी यह दृढ धारणा थी कि राष्ट्रीय जीवन का उत्थान और देश की अखड सत्ता की पुनर्स्थापना सर्वलोक हितकारी गोरखपथ के जन-सामान्य मे व्यापक प्रचार से ही सभव हो सकती है। सयोगवश उन्हें बीसवी सती के नाथ-दर्शन के रहस्य-ज्ञाता एव महान साधक श्री अक्षयकुमार बनर्जी का वरदहस्त प्राप्त हो गया। बनर्जी महाशय आधुनिक युग के सर्वाधिक प्रसिद्ध नाथपथी योगी गभीरनाथ जी के शिष्य थे। नाद सम्बन्ध से वे मेरे गुरुदेव के 'चाचा गुरु' लगते थे। एक तत्वज्ञ साधक होने के साथ ही वे अंग्रेजी और बगला के निष्णात विद्वान भी थे। गुरुदेव और गुरुभूमि से आकृष्ट होकर पूर्वबंग मे उच्च शिक्षा का आचार्य पद त्याग कर परिणतवय मे वे दिवगत महत जी के अनुरोध से गोरखपुर आ गये थे और फिर अपने जीवन के शेष वर्ष उन्होने यहीं साहित्य-साधना में व्यतीत किये। इस बीच उनकी लेखनी निरन्तर चलती रही। हमारे गुरुदेव ने उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थो को मदिर की ओर से प्रकाशित करने की इच्छा व्यक्त की। यह सदिच्छा ही कालान्तर मे 'दिग्विजयनाथ न्यास' की स्थापना का मूल कारण बनी। इस न्यास के तत्वावधान मे नाथ सिद्धो की साधना, आचार एव दर्शन आदि से सम्बद्ध प्राचीन एव नवीन साप्रदायिक ग्रन्थो के प्रकाशन की एक वृहद् योजना का सूत्रपात् हुआ। अब तक इसके अन्तर्गत निम्नाकित ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है :—

१. योगिराज गंभीरनाथ (अंग्रेजी)
२. योगिराज गंभीरनाथ (अंग्रेजी, सक्षिप्त संस्करण)
३. नाथ योग (अंग्रेजी)
४. एक्सपीरियन्सेज आव ए ट्रुथ सीकर (अंग्रेजी)
५. योग रहस्य (हिन्दी)
६. आदर्श योगी (हिन्दी)
७ योगिराज गंभीरनाथ (हिन्दी)
८ नाथयोग (हिन्दी)
९. फिलासफी आव गोरखनाथ (अंग्रेजी)

इनमे चतुर्थ को छोडकर शेष सभी श्री अक्षयकुमार बनर्जी विरचित है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी श्रृंखला मे प्रकाशित दसवी कृति है। हम आशा करते है कि इन प्रकाशनो से जिज्ञासुओं को महायोगी गोरखनाथ और उनकी परपरा के तत्वज्ञानालोकित नाथ सिद्धो के सिद्धान्तो तथा योगमार्ग के रहस्यो को हृदयगम करने मे सहायता मिलेगी और इस प्रकार इन नित्य नवीन साहित्य सुमनो से परम श्रद्धेय गुरुदेव के हसदेह की अनवरत अर्चना होती रहेगी।

अवेद्यनाथ
अध्यक्ष
दिग्विजयनाथ न्यास

निवेदन

भारतीय धर्म-साधना मे योगमार्ग के उन्नायक महायोगी गोरखनाथ का व्यक्तित्व अप्रतिम है। वे युग-प्रवाह को मोडनेवाले, परिस्थितियो को अपने अनुकूल बनाने वाले, परंपरागत विचार-प्रवाह को मथकर उसके भीतर से सार्वयुगीन तत्व को प्रकट करनेवाले सच्चे धर्मनेता, साधक और विचारक थे।

गोरखनाथ के समय के संबंध मे विद्वानो मे पर्याप्त मत-भेद है। साम्प्रदायिक साहित्य मे उन्हे नित्यनाथ की संज्ञा दी गई है और इस प्रकार उनका व्यक्तित्व कालातीत स्वीकार किया गया है।

गोरखनाथ ने जिस योग-मार्ग का सघटन किया था, उसे नाथयोग कहते है। नाथ-योगियो का विश्वास है कि इस पथ के प्रवर्तक आदिनाथ स्वय भगवान शकर है। गोरखनाथ को भी शिव-स्वरूप ही माना जाता है। नाथ-योग को सिद्धमत एव अवधूत मत भी कहते है। नाथ-पथियो के अनुसार नाथ ही सच्चे सिद्ध है।

योग-दर्शन एव योग सम्मत जीवन पद्धति गोरखनाथ के पूर्व भी इस देश मे विद्यमान थी। योग-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि पतजलि माने जाते है किन्तु ऐसा समझा जाता है कि महर्षि पतजलि ने आदि पुरुष हिरण्यगर्भ द्वारा उपदिष्ट ज्ञान को ही शास्त्र का स्वरूप प्रदान किया था। गोरखनाथ ने पातजल योग दर्शन को युग-सम्मत बनाकर एक सशक्त एवं जीवत मत के रूप मे प्रतिष्ठित किया। कहा जाता है कि गोरखपंथ की बारह शाखाओ मे छ स्वय भगवान शिव द्वारा और छ गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित है। इसका सीधा अर्थ यह है कि भगवान शिव को अपना आराध्य देव माननेवाले कुछ योगी संप्रदाय पहले से विद्यमान थे। गोरखनाथ के व्यापक प्रभाव को स्वीकार कर ये सप्रदाय उनके द्वारा प्रवर्तित नवीन जीवत संप्रदाय के अंग बन गये। नाथपंथी उपासना केन्द्रो मे काली (शक्ति) गणेश और हनुमान की मूर्तियाँ भी पाई जाती हैं। पौराणिक दृष्टि से इन सभी उपास्य देवो का शिव से घनिष्ट सम्बन्ध है। शक्ति तो शिव-तत्व से अभिन्न है ही, गणेश और हनुमान भी शकर के पुत्र माने जाते हैं*। अत यदि नाथ-योगी आदिनाथ शिव का ध्यान करते समय उनके पूरे परिवार की मानसिक उपासना करता है तो यह उचित ही है किन्तु इसकी एक व्याख्या यह भी हो सकती है कि 'शक्ति' (काली) 'गणेश' और हनुमान के उपासक धार्मिक सप्रदाय नाथपथ के पुनर्सगठन-काल मे अपने उपास्य देवो के साथ इसमे अन्तर्भूत हो गये। यह योगिराज गोरखनाथ के व्यापक प्रभाव एव अद्भुत सगठन शक्ति का प्रमाण है। आचार्य शकर ने अपने अद्वैतवाद मे बौद्धो के दार्शनिक मतवाद को आत्मसात् करके उन्हे निस्तेज कर दिया था किन्तु उनके मठ और विहार नष्ट नही हुए थे। गोरखनाथ ने सिद्धान्त, साधना और सगठन तीनो स्तरो पर पूर्ववर्ती शैव, शाक्त एव बौद्धमतो को हतप्रभ करके नाथ-पथ मे समाहित कर लिया।

गोरखनाथ ने समस्त तार्किक एव बौद्धिक विश्लेषण से ऊपर उठकर समतत्व की प्रतिष्ठा की। इस 'समतत्व' को ही परमतत्व, परासंवित्, परब्रह्म, परमपद, परमशून्य,

परशिव, आदि नामो से अभिहित किया जाता है। यह 'समतत्व' तर्क-वितर्क का विषय नही है। यह मानसिक उन्नयन की चरम स्थिति—सामरस्य दशा – मे ही अनुभूत हो सकता है। जीवन के भौतिक स्तर पर भी सामरस्य की उपलब्धि हो सकती है। मनोवैज्ञानिक, बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक, पारिवारिक एव सामाजिक जीवन के इन सभी क्षेत्रो मे पूर्ण सामंजस्य की स्थिति ही सामरस्य है। इस सामरस्य सिद्धान्त का किसी मतवाद से किसी प्रकार का विरोध नही है। यह बौद्धिक तत्व-चिन्तन से अधिक आनुभूतिक सच्चाई, चारित्रिक निष्ठा एव मानसिक निर्मलता पर प्रतिष्ठित है।

योगिराज गोरखनाथ द्वारा रचित अनेक संस्कृत और हिन्दी पुस्तकों का नामोल्लेख मिलता है। सस्कृत भाषा मे निम्नलिखित पुस्तके उनके द्वारा रचित बताई जाती है :—

१. अमनस्क योग (सिद्ध साहित्य सशोधन प्रकाशन मंडल, पूना—१९६७ ई०)
२. अमरौघ शासनम् (काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, ग्रथाक २०, १९१८ ई०)
३ अवधूत गीता (गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह मे इसे गोरक्ष कृत कहा गया है)
४ गोरक्षकल्प (इसका उल्लेख फर्कुहर और ब्रिग्स ने किया है)
५ गोरक्ष कौमुदी (इसका उल्लेख फर्कुहर और ब्रिग्स ने किया है)
६ गोरक्षगीता (इसका उल्लेख फर्कुहर ने किया है)
७. गोरक्ष चिकित्सा (इसका उल्लेख ग्राफ्रेख्ट ने किया है)
८ गोरक्ष पंचक (इसका उल्लेख ब्रिग्स ने किया है)
९. गोरक्षपद्धति (महीधर शर्मा द्वारा संपादित ' इसका नाम 'गोरख ज्ञान' भी है। इसमे २०० श्लोक है, दूसरे शतक को 'योगशास्त्र' की सज्ञा दी गई है)
१०. गोरक्षशतक (संभवत 'गोरक्ष चिकित्सा' के प्रथम सौ श्लोको को ही 'गोरक्ष शतक' कहा गया है)
११. गोरक्षशास्त्र (प्रतीत होता है 'गोरख पद्धति' के ही द्वितीय शतक का नाम 'गोरक्ष शास्त्र' है)
१२. गोरक्ष संहिता (पं० प्रसन्न कुमार कविरत्न द्वारा संवत् १८९७ वि० में प्रकाशित, यह इस समय उपलब्ध नहीं है।)
१३. चतुरशीत्यासन (इसका उल्लेख आफ्रेख्ट ने किया है)
१४. ज्ञान प्रकाश शतक (यह 'गोरक्षनाथ शतक' का ही दूसरा नाम है।)
१५. ज्ञान शतक (संभवत. यह भी 'ज्ञान प्रकाश शतक' ही है।)
१६. ज्ञानामृत योग (इसका उल्लेख आफ्रेख्ट ने किया है)
१८. नाडी ज्ञान प्रदीपिका (इसका उल्लेख आफ्रेख्ट ने किया है)
१७. महार्थ मंजरी (पं० मुकुन्दराम शास्त्री द्वारा संपादित और काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली न० ११ मे प्रकाशित। इसके रचयिता श्रीमन् महेश्वरानंदाचार्य कहे गए है, जो गोरखनाथ से अभिन्न माने जाते है)

---

*रामभक्ति साहित्य मे हनुमान साक्षात् शिव के ही अवतार माने गए है। स्कंद, ब्रह्मवैवर्त, नारद तथा शिवपुराण में भी उन्हें रुद्रावतार कहा गया है।

१९. योग चिन्तामणि (इसका उल्लेख आफ्रेट ने किया है)
२०. योग मार्तण्ड (इसका उल्लेख आफ्रेक्ट ने किया है)
२१ योग बीज (गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह मे इसके उद्धरण प्राप्त होते है)
२२ योगशास्त्र (इसका सम्बन्ध 'गोरक्ष चिकित्सा' से स्थापित किया गया है)
२३. योग-सिद्धान्त-पद्धति (इसका उल्लेख आफ्रेक्ट ने किया है)
२४. विवेक मार्तण्ड इसके उद्धरण 'गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह' मे प्राप्त है। इसे रामेश्वर भट्ट कृत कहा गया है। आफ्रेक्ट इसे गोरक्षकृत मानते है।
२५ श्री नाथ सूत्र ('गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह' मे इसके कुछ उद्धरण प्राप्त होते है)
२६ सिद्ध सिद्धान्त पद्धति (ब्रिग्स ने इसे नित्यानन्द रचित बताया है। 'गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह' मे भी इसे नित्यनाथ कृत कहा गया है किन्तु अन्य सभी इसे गोरक्षकृत मानते है)
२७ हठयोग (आफ्रेक्ट ने इसका उल्लेख किया है)
२८. हठ सहिता (आफ्रेक्ट ने इसका उल्लेख किया है)

उपर्युक्त संस्कृत ग्रन्थो मे अमनस्क योग (१) अमरौघ शासनम् (२) गोरक्ष-पद्धति (३) गोरक्ष संहिता (१२) और सिद्ध सिद्धान्त पद्धति (२६) विशेष महत्व के है।

इनके अतिरिक्त गोरखपथ के तत्वज्ञान विषयक एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'गोरक्ष सहिता' का हस्तलेख मुझे महाराजा बलरामपुर के सग्रह से प्राप्त हुआ है जो नैपाल के 'सिह दरबार ग्रन्थागार' की इसी नाम की मूल प्रति से की गई प्रतिलिपि है। यह ग्रथ ४६३ पत्रो मे विस्तृत है। महामहोपाध्याय प० गोपीनाथ कविराज द्वारा सपादित 'गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह' नामक ग्रन्थ इसी का आरभिक अश है। गोरखदर्शन के प्रणेता बनर्जी महाशय के दृष्टिपथ मे यदि यह ग्रन्थ आया होता तो उन्होने प्रस्तुत ग्रथ मे गोरक्षपथ की साधना, आचार तथा दर्शन विषयक अनेक मौलिक तथा महत्वपूर्ण तथ्यो का निश्चय ही उल्लेख किया होता। 'गोरक्ष सहिता' मे नाथपथ के उपर्युक्त ग्रन्थो के अतिरिक्त निम्नाकित चालीस सदर्भ ग्रन्थो का उल्लेख है, इनमे से अधिकाश अब मात्र नामशेष रह गये है—

१ भूत सहिता
२. ब्रह्मबिदूपनिषद
३. कैवल्योपनिषद्
४. तेजबिदूपनिषद
५. आदिनाथ-उक्ति
६. खेचरी सहिता
७. ध्यान विदूपनिषद्
८. आत्मोपनिषद्
९. अमृत विदूपनिषद्
१० उत्तर गीता
११. तत्र महार्णव

१२ क्षुरिकोपनिषद्
१३. गोरक्षोपनिषद्
१४. कालाग्निरुद्रोपनिषद्
१५. ब्रह्मोपनिषद्
१६. सर्वोपनिषत्सार
१७. राजगुह्य
१८. शक्ति सगम तत्र
१९. वज्र सूचिकोपनिषद्
२०. साबर तत्र
२१. शोडशनित्यातत्र
२२. षट्शाभव रहस्य
२३. कावषेय गीता
२४. शिखोपनिषद्
२५. कपिल गीता
२६. कल्पद्रुम तत्र
२७. सारसग्रह
२८. तत्र महार्णव
२९ रुद्रयामल तत्र
३०. तारा सूक्त
३१, कुलार्णव तत्र
३२. आदिनाथ सहिता
३३. परमहसोपनिषद्
३४. नाथ सूत्र
३५. विचारनाथ सूत्र
३६. मीननाथ सूत्र
३७. शिरोपनिषद्
३८. शिव रहस्य
३९. महेश सहिता
४०. गोरखनाथ स्तोत्र

हिन्दी मे गोरखनाथ के नाम से प्रचलित ४० रचनाओ का विवरण स्वर्गीय डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने दिया है। उनमें निम्नलिखित १४ को उन्होने प्राचीन मानकर 'गोरखबानी' नाम से सपादित किया है—

१. सबदी, २ पद, ३ सिप्या दरसन, ४. प्राण सकली, ५. नरवैबोध, ६. आत्मबोध, ७. अभै मात्रा जोग, ८ पंद्रह तिथि, ९ सप्तवार, १०. मछीन्द्र गोरख बोध, ११. रोमावली १२. ग्यान तिलक, १३. ज्ञान चौतीसा, १४. पच मात्रा। इनमे से ज्ञान चौतीसा समय से प्राप्त न होने के कारण 'गोरखबानी' मे संकलित न हो सका।

डा० बडथ्वाल के असामयिक निधन के कारण 'गोरखबानी' का दूसरा भाग नहीं निकला। इससे गोरखपंथ के अन्य सिद्धो की रचनाये उस समय प्रकाश मे न आ सकी। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ सिद्धो की बानियाँ' (स० २०१८) नाम से अन्य नाथ-सिद्धो की रचनाओ का सपादन करके इस अभाव की बहुत कुछ पूर्ति कर दी है।

हिन्दी के अतिरिक्त— बगला, राजस्थानी, पजाबी, मराठी गुजराती आदि भारतीय तथा निकटवर्ती प्रदेशो की नेपाली और तिब्बत भाषाओं मे भी सिद्धो और नाथो का साहित्य प्राप्त होता है। यह निर्विवाद है कि उपर्युक्त समस्त साहित्य गोरखनाथ विरचित नही है किन्तु गोरखनाथ की साधना और सिद्धान्तो को समझने के लिये उसका अध्ययन आवश्यक है।

सिद्ध और नाथ साहित्य के अध्ययन का इतिहास बहुत पुराना नही है। इस दिशा मे कार्य करनेवालो मे म० म० प० हरप्रसाद शास्त्री, डा० मोहनसिह, श्री जार्ज वेस्टन ब्रिग्स, म० म० प० गोपीनाथ कविराज, डा० शहीदुल्ला, डा० प्रबोधचन्द्र बागची, डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, महापडित राहुल साकृत्यायन, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० रागेय राघव, डा० धर्मवीर भारती और डा० कल्याणी मल्लिक का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन विद्वानो ने जो कार्य किया है, वह सिद्धो और नाथो के ऐतिहासिक व्यक्तित्व के अन्वेषण, उनकी वाणियो के सपादन और सिद्धान्तो के विवेचन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, किन्तु अभी तक व्यापक दृष्टि से सपूर्ण हिन्दू सस्कृति के सदर्भ मे गोरखनाथ के सिद्धान्तो के सर्वागीण एव सतुलित अध्ययन की आवश्यकता बनी हुई है।

'गोरख दर्शन' गोरखनाथ की साधना एव उनके तत्त्वदर्शन का विवेचन करने वाला अन्यतम ग्रन्थ है। इसके लेखक स्व० श्री अक्षयकुमार वद्योपाध्याय भारतीय सस्कृति एवं दर्शन के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे। वे एक सच्चे साधक एवं योगी थे। योग-दर्शन और साधना के क्षेत्र मे उनकी पूर्ण गति थी। यह कार्य उनके लिये सामान्य पुस्तक लेखन न होकर आत्मोपलब्धि रूप रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे भूमिका भाग के अतिरिक्त उन्नीस अध्याय और एक परिशिष्ट है। भूमिका के अन्तर्गत सत्यान्वेषण के सन्दर्भ मे योगी और दार्शनिक मे लक्ष्यगत एकता और दृष्टिगत भेद का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय मे गोरखनाथ की योग साधना की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। दूसरे अध्याय मे गोरखदर्शन के साहित्यिक स्रोतो का अध्ययन किया गया है। लेखक के अनुसार 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' गोरखनाथ का महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ है। प्रस्तुत ग्रन्थ मूलत उसी के आधार पर लिखा गया है। तीसरे अध्याय मे 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' की विषय वस्तु का विवेचन किया गया है। चौथे अध्याय मे परम सत्य के स्वरूप की मीमासा की गई है। पाँचवे अध्याय मे 'सत्-चित्-आनन्द' ब्रह्म का तात्विक विश्लेपण किया गया है। छठे अध्याय मे 'परा सवित् या चित् तत्त्व' के स्वरूप और नानात्वमय विश्वप्रपंच के रूप मे उसकी अभिव्यक्ति की मीमासा की गई है। सातवे अध्याय मे 'शिव-शक्ति-तत्त्व' के शाश्वत ऐक्य का विश्लेषण किया गया है। आठवे अध्याय मे शक्ति तत्व की क्रमिक अभिव्यक्ति का विवेचन हुआ है। शक्ति क्रमश निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुडलिनी— इन पाँच स्थितियो से होती हुई पूर्णाभिव्यक्ति प्राप्त

करती है । नवे अध्याय मे शिव के विश्वरूप मे स्फुरित या व्यक्त होने की प्रक्रिया वर्णित है । दसवे अध्याय में आद्यपिण्ड शिव से पच महाभूतो के विकास एवं उनके जटिल संघात से भौतिक विश्व की रचना का विश्लेषण किया गया है । ग्यारहवे अध्याय मे 'जड जगत्', प्राण जगत्, मनोजगत् वुद्धि जगत्, धर्म जगन्, रस जगत् और आनन्द जगत् की व्याख्या की गई है । बारहवे अध्याय मे व्यष्टि-पिण्ड और समष्टि-पिण्ड के सम्बन्धो का विश्लेषण करते हुए दोनो की तात्विक एकता का प्रतिपादन किया गया है । तेरहवे अध्याय मे व्यष्टि-पिण्ड के अन्तर्गत विद्यमान भूतपिण्ड, अन्त करण पचक, कुल पचक, व्यक्ति पचक, प्रत्यक्ष-करण-पचक, नाड़ी सस्थान और वायुसस्थान का विवेचन किया गया है । चौदहवे अध्याय मे व्यष्टि-शरीर के आन्तरिक स्वरूप का विश्लेषण तथा पन्द्रहवे अध्याय में व्यष्टि-पिण्ड में विश्वपिण्ड की अनुभूति — पिण्ड सवित् की मीमासा हुई है । सोलहवे अध्याय में आत्मा के स्वरूप का विवेचन और सत्रहवे अध्याय मे जीवन के परम लक्ष्य — समरसीकरण का प्रतिपादन किया गया है । अठारहवें और उन्नीसवे अध्याय मे हिन्दू सस्कृति के आध्यात्मिक स्वरूप के विकास पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है । परिशिष्ट मे विद्वान् लेखक ने नाथ पथ के दार्शनिक विचार विषयक छंदो को सग्रहीत कर पाठको को मूल कथनो के अनुशीलन की सुविधा प्रदान कर ग्रन्थ की उपयोगिता वढा दी है । इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ मे गोरखनाथ के दार्शनिक सिद्धान्तो का सर्वागीण निरूपण प्रस्तुत किया गया है ।

योगसाधना की भाँति ही इस ग्रन्थ के प्रकाशन का पथ भी अत्यन्त अतरायसकुल रहा है । दिवगत महंत दिग्वजयनाथ जी 'फिलासफी ऑव गोरखनाथ' प्रकाशित करने के पश्चात् शीघ्र ही उसका हिन्दी रूपान्तर निकालने के लिये प्रयत्नशील हुए । उन्होने अपने परम मित्र डा० सपूर्णानन्द से इसकी चर्चा की । सपूर्णानन्दजी उन दिनो राजस्थान के राज्यपाल थे । उनके अनुरोध से राजस्थान विश्वविद्यालय (जयपुर) के दर्शन विभाग के प्रवक्ता श्री श्याम बिहारी स्वरूप ने किसी प्रकार यह कार्य पूरा किया । इसमे वर्षो लग गये । बाबाजी ने इन पक्तियो के लेखक पर उसकी टकित प्रति की पुनरावृत्ति एव परिष्कार का भार डाला । समयाभाव के कारण स्वय प्रवृत्त न होकर मैने इसका दायित्व अपने विभागीय बन्धु डाक्टर जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव को सौपा । डा० श्रीवास्तव ने बडे परिश्रम से उसे सम्पन्न किया । किसी प्रकार प्रेस कापी तैयार हुई । उन दिनो स्वर्गीय महंतजी ससद सदस्य थे । अत. उन्होने इसे दिल्ली मे ही छपवाना सुविधाजनक बताया । छपाई आरम्भ हुई किन्तु स्थान की दूरी के कारण प्रूफ गोरखपुर भेजने की व्यवस्था न हो सकी । इससे भूलो के सुधार का अवसर न मिल सका । प्रेस व्यवस्थापक ने अपनी ओर से काफी सावधानी बरती फिर भी बहुत सी त्रुटियाँ असंशोधित रह गयी । मुद्रण का क्रम चल ही रहा था कि बाबाजी का देहावसान हो गया । ब्रह्मलीन बाबाजी के उत्तराधिकारी महत अवेद्यनाथ की सतत प्रेरणा एवं प्रयत्न से इन सारे व्यवधानो को पार कर 'गोरखदर्शन' का प्राकट्य सभव हुआ । इस कार्य में डा० रामचन्द्र तिवारी, रीडर, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय ने पदे-पदे अमूल्य सहयोग देकर हमें कृतार्थ किया है । इसके पूर्व भी गोरखनाथ मन्दिर को नाथ साहित्य के प्रकाशन मे उनका योगदान प्राप्त होता रहा है । डा० तिवारी का सहज साहित्यानुराग इस प्रयास का भी सबल बना । इस कार्य मे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे सहायक इन सभी सुहृदो के प्रति मेरी विनम्र कृतज्ञता अर्पित है ।

हमे दुख है कि इस ग्रन्थ के आदि प्रेरक महत दिग्विजयनाथ जी आज नही है किन्तु उनकी व्यापक आत्मा को अपने अनुष्ठान को पूरा हुआ देखकर निश्चय ही संतोष होगा। इसका मुख्य श्रेय उनके आत्मस्वरूप, साहित्य एवं साधना प्रेमी उत्तराधिकारी महत अवेद्यनाथ को है। श्री रामप्रताप मिश्र ने व्यक्तिगत रूप से रुचि लेकर इस ग्रन्थ के अन्तः एव बाह्य कलेवर को परिष्कृत तथा सुसज्जित बनाया है। इस हेतु हम उनके भी अत्यन्त आभारी है। मेरे प्रमाद, परिस्थितिजन्य विवशता तथा असावधानी के कारण ग्रन्थ मे छापे, भाषा तथा नियोजन की अनेक त्रुटियाँ रह गई है। हसधर्मा पाठक इस ओर ध्यान न देकर अपनी प्रतिभा से उनका परिष्कार करके तत्व ग्रहण करले, यही प्रार्थना है। नाथयोगियो के प्रशस्ति गायक मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत के प्रबन्ध सागर के सतरण का साहस सहृदयो की इसी उदारता के सहारे किया था—

बिनती करि पडितन्ह सो भजा।
टूट सवारेहु मेरएहु सजा॥

मुझे पूरा विश्वास है कि बनर्जी महाशय का यह महान प्रयास भारतीय साधना एव दर्शन के अध्येताओ को प्रकाशस्तम्भ की भाँति चिरकाल तक पथ निर्देश करता रहेगा।

रामनवमी, स० २०२८
साकेत
बेतियाहाता, सिविल लाइन
गोरखपुर

भगवती प्रसाद सिह
संपादक

विषय-सूची

प्राक्कथन

भारतीय दर्शन और विचार के लम्बे इतिहास का विवेचन करते समय कोई भी व्यक्ति इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं रह सकता कि समय-समय पर ऐसे संतों और योगियों को जन्म देकर हमारा देश सौभाग्यशाली रहा है जिन्होंने युग की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार वेद, पुराण तथा प्रस्थान-त्रय में निहित शाश्वत सन्देश को पुन. पुनः नवीन रूपों में प्रस्तुत किया है।

इस ग्रन्थ में महायोगी गोरखनाथ के उपदेशों और लेखों का सार प्रस्तुत किया गया है। इसमें यह भली-भाँति बतला दिया गया है कि योगी और दार्शनिक की खोज का चरम लक्ष्य एक ही है, किन्तु उनके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। योगी का मार्ग आध्यात्मिक आत्मानुभूति का है और दार्शनिक का बौद्धिक। योगी को किसी गूढ़ बौद्धिक अनुमान, प्राकल्पना अथवा सिद्धान्त के निर्माण की आवश्यकता नहीं होती। चेतना के उच्च स्तर पर सत्य का प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभव ही योगी का अनुसन्धेय है। योगी द्वारा उपलब्ध समाधि की उच्चतम स्थिति न केवल आत्मगत है और न केवल वस्तुगत। यह दोनों रूपों से परे वस्तुतः अवर्णनीय अखण्ड अनुभव है। चेतना की ऐसी पारमार्थिक स्थिति को ही समाधि कहा जाता है। यह ग्रन्थ समाधि-अनुभव की प्रकृति का विशद् विश्लेषण प्रस्तुत करता है। 'अनुभव' शब्द शायद बहुत सही नही है, क्योकि समाधि की इस अवस्था में अनुभवकर्ता और अनुभूत तत्त्व में कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। योग सूत्रों के मतानुसार यही जीवन की पूर्णता है। समाधि की स्थिति से पुनः लौट आने वाले योगी को कैवल्य या मोक्ष भले ही प्राप्त न हुआ हो किन्तु वह अपने 'अनुभव' से आलोकित हो जाता है। यदि वह शिक्षक या उपदेशक का रूप धारण कर लेता है तो अपने अनुभव को ऐसे रूपों में व्यक्त करता है जो सामान्य मानवों के लिये सहज ही बोधगम्य है। गोरखनाथ एक महा योगी थे। वे दार्शनिक गुत्थियों में नहीं पड़ते थे। इस ग्रन्थ में बतलाया गया है कि गोरखनाथ के नाम से सम्बन्धित सम्प्रदाय संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के प्रचुर साहित्य में प्रतिष्ठित और प्रतिपादित है। आगे यह भी कहा गया है कि गोरखनाथ द्वारा उपदिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त तथा योगानुशासन मन एव बुद्धि के क्षेत्र से परे, उनके पारमार्थिक अनुभव पर आधारित है।

ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में ऋषि के दार्शनिक दृष्टिकोण के स्रोतों का उल्लेख किया गया है। यह अध्याय प्रमुखतया 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' पर आधारित है। यह ग्रन्थ (सि. सि प.) अशतः सूत्रों य अशतः संवादों के

श्रौर 'सिद्ध सम्प्रदाय' के दर्शन एवं योगानुशासन की प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। श्रारम्भिक श्लोक में शिव का महानतम योगी के रूप में श्रावाहन किया गया है। गोरखनाथ (जिन्हें श्रीनाथ व नित्यनाथ भी कहा जाता है) विभिन्न शीर्षकों (जिन्हें उपदेश या श्रध्याय कहा गया है) के श्रन्तर्गत श्रनेकों दार्शनिक विषयों का विवेचन प्रस्तुत करते है। उनका सिद्धान्त है कि परमात्मा यद्यपि मूलतः काल-दिकादिक से परे है तथापि वह स्वयं को श्रसंख्य स्तरों के जीवों श्रौर शरीरों से युक्त इस विभिन्नतापूर्ण ब्रह्माण्ड तथा इसके श्रन्तर्यामी श्रात्मा के रूप में श्रभिव्यक्त करता है। भौतिक शरीर में विभिन्न चक्रों तथा योग-दर्शन के श्रन्य श्रंगों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है तथा यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार मानव शरीर को श्राध्यात्मिक बनाया जा सकता है श्रौर काया-सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। तदुपरान्त वैयक्तिक शरीर श्रौर विराट् शरीर के तादात्म्य की विवेचना प्रस्तुत की गयी है जिसके बाद शक्ति' या चरम श्राध्यात्मिक सत्ता के कार्यों की व्याख्या तथा उसका प्रतिपादन किया गया है। तदनन्तर वैयक्तिक शरीर का विराट् शरीर से एकत्व तथा इस एकत्व को प्राप्त करने की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है श्रौर श्रन्त में एक श्रवधूत योगी के श्राचरण, व्यवहार श्रौर दृष्टिकोण की विवेचना की गयी है। चरम सत्ता की धारणा ऊर्ध्वचेतनानुभव से पूर्ण हो जाती है। पूरे एक श्रध्याय में 'परा-सवित्' की विवेचना प्रस्तुत की गई है। इस ग्रन्थ में परमात्म-शक्ति की श्रभिव्यक्ति तथा ब्रह्माण्ड व्यवस्था के विकास का श्रत्यन्त सजीव विवरण प्रस्तुत किया गया है।

ग्यारहवें श्रध्याय में विश्व-प्रक्रियाश्रों के विकास का विवरण है, इसमें न केवल प्राणि-शरीरों के जगत् की श्रभिव्यक्ति का वरन् मनोजगत, बुद्धिजगत श्रौर धर्मजगत्—जिसका वर्णन नैतिक चेतना की विशिष्ट श्रभिव्यक्ति के रूप में किया जाता है, का भी निरूपण प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात् यह समझाया गया है कि किस प्रकार पूर्ण श्रात्मा प्रपंच के श्रावाल में श्रपना मौलिक स्वरूप छिपाये रहता है। परमात्मा की 'विमर्श-शक्ति' से विभिन्न प्रकार के ज्ञान, बुद्धि, इच्छा, कर्म श्रौर भाव उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः बुराई या श्रशुभ के श्रस्तित्व की समस्याश्रों का समाधान वैदिक सूत्रवाक्य 'तत्त्वमसि' के पूर्ण साक्षात्कार द्वारा ही हो सकता है।

भगवान् बुद्ध श्रौर सांख्य मत के उपदेशों की रूपरेखा इस ग्रन्थ का एक महत्वपूर्ण भाग है। तत्पश्चात् मीमांसा या कर्म-दर्शन पर विचार किया गया है। प्रवृत्ति-मार्ग, निवृत्ति-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग का पारस्परिक सम्बन्ध, विरोध व महत्व प्रस्तुत किया गया है। कपिल के सांख्य-दर्शन की विवेचना, युगों का सिद्धान्त तथा विभिन्न गुणों की व्याख्या तर्कों की एक शृंखला सी उपस्थित करते हैं। उपर्युक्त दृष्टिकोण से ही भगवद् गीता के महत्व वर्णन के बाद व्यास, वाल्मीकि तथा पुराणकर्ताश्रों का मूल्यांकन किया गया है। शिव-शक्ति-वाद श्रौर ब्रह्म-शक्ति-

वाद का निष्कर्ष इस दावे के साथ प्रस्तुत किया गया है कि परमात्मा की धारणा और उसका वैयक्तीकरण आलिंगन-बद्ध दिव्य-युगल में हो सकता है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म दो में एक और एक में दो है। नारायण और लक्ष्मी के रूपों (कृष्ण और राधा, राम और सीता) तथा शिव एव शक्ति के विभिन्न नामों और रूपों की उपासना प्रणाली के वर्णन की परिणति मूर्तिपूजा के औचित्य एव उद्देश्यों के पूर्ण विवेचन के साथ होती है।

इस ग्रन्थ का अन्तिम अध्याय आधुनिक हिन्दू धर्म का स्वरूप और आधुनिक भारत पर पाश्चात्य संस्कृति और विचारों का प्रभाव प्रस्तुत करता है। इस बात पर बल दिया गया है कि कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति का व्यापक समन्वय आवश्यक है। साथ ही धार्मिक विश्वासों की संगति का कार्यान्वियन, समस्त अनुशासनों की आध्यात्मिक-योग्यता की स्वीकृति और परिणामतः सच्ची आस्था के समस्त रूपों की अन्तर्भूत एकता की खोज अपेक्षित है।

यह ग्रन्थ गहन अनुसंधान का परिणाम है इसमें ज्ञानयोग से समर्थित तथा समन्वित भक्तियोग का अत्यंत तर्कपूर्ण शैली में व्यवस्थित एव युक्तिसंगत विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

२६–१०–१९६१ **सी० पी० रामा स्वामी अय्यर**

प्रस्तावना

इन पृष्ठों में महायोगी गोरखनाथ तथा नाथ सम्प्रदाय के अन्य योगियों के नाम से सम्बधित आध्यात्मिक संस्कृति की दार्शनिक पृष्ठभूमि का व्यवस्थित तथा तर्कयुक्त वर्णन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह वर्णन मुख्यतया संस्कृत के एक मूल ग्रन्थ पर आधारित है, जिसके रचयिता गोरखनाथ या नित्यनाथ माने जाते हैं। यह कहना कठिन है कि किन अशों तक यह वर्णन गोरखनाथ के विचारों और उपदेशों का यथार्थ चित्रण करता है, किन्तु यह विश्वास किया जाता है कि इस सम्प्रदाय के कुछ परम्परागत दृष्टिकोणों को यह सच्चाई से प्रस्तुत करता है। स्वान्तः-प्रेरणा से इस महान् कार्य को कुशलता एव योग्यतापूर्वक पूरा करने के उपलक्ष में मैं लेखक को बधाई देता हूँ। यह ऐसा कठिन कार्य है जो न केवल इन उपदेशों में निहित महत्वयोग-ज्ञान के कारण दुरूह हो जाता है बल्कि आवश्यक सामग्री की अल्प-उपलब्धि के कारण भी बड़ा कठिन हो जाता है।

लेखक ने नाथ सम्प्रदाय के दार्शनिक दृष्टिकोण के विषय में, सामान्य जिज्ञासुओं के लिए ज्ञेय प्रायः कुछ कह दिया है। चरमसत्ता ब्रह्म और परा-संवित्, शिव और शक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध, परा-शक्ति का शनैः-शनैः आत्मोद्घाटन तथा अनन्त लोकों से युक्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, जीवात्माओं का प्रकट होना तथा विश्वात्मा से उनका सम्बन्ध, मानव जीवन का परम लक्ष्य, अण्ड और पिण्ड में सम्बन्ध, परमात्मा का विराट् शरीर, ये कुछ उन विषयों में से हैं जिन पर विद्वान् लेखक ने प्रकाश डालने का प्रयास किया है। नाथ सम्प्रदाय हिन्दू आध्यात्मिक जीवन के एक विशिष्ट पक्ष का ही प्रतिनिधित्व करता है। लेखक ने हिन्दू आध्यात्मिकता के तद्विषयक आदर्श के निरूपण में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

योग-साधना का चरम आदर्श जैसा इस सम्प्रदाय में माना गया है, वह पतंजलि, के पूर्व या परवर्ती कुछ बौद्ध मतों तथा बहुत अंशों तक शांकर-वेदान्त की धारणाओं से मूलतः भिन्न है। तथापि हमें यह निश्चित रूप से लक्षित करना चाहिए कि नाथ मत का सैद्धान्तिक आदर्श प्राचीन व मध्यकालीन भारत के अद्वैतवादी आगम-मतों के अनुरूप ही है।

इस आदर्श को एक शब्द में 'सामरस्य' कहा जा सकता है, जिसका तात्पर्य है—समस्त भेदात्मक स्थितियों से ऊपर उठकर समरस हो जाना। समरसता की यह उपलब्धि-प्रक्रिया, सांख्य दर्शन की परात्परता तथा वेदान्तिक मायावाद की उदात्तता, दोनों से भिन्न है। यह एक भावात्मक प्रक्रिया है, जिसे पारस्परिक अभ्यन्तर प्रवेश कह सकते हैं।

इस आदर्श का अन्तर्निहित सिद्धान्त है, पुरुष और प्रकृति, अथवा शिव-शक्ति के बीच एकत्व प्रतिपादन। इस स्थिति की चेतना परम शिव की चरम एकता के रूप में मान्य हो सकती है। इस स्थिति में शिव और शक्ति दोनों

समरस होकर एक अभिन्न एवं अविभाज्य तत्त्व बन जाते हैं। शाक्तों की भाषा में इसे 'महा-शक्ति' कहा जाता है और यह शाक्त आगमों के परमतत्व का प्रतिनिधित्व करता है। यही अवधूत योगियों की 'समता' है, जो वस्तुतः तार्किक दृष्टि से तत्त्व और तत्त्वातीत सत्ता का एकीकरण है।

भारत के प्राचीन अध्यात्म-साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि आगम-सस्कृति से सम्बन्धित लगभग सभी मतों में हम सामरस्य के आदर्श को किसी न किसी रूप में उपस्थित पाते हैं। उदाहरणार्थ कालचक्र सम्प्रदाय के तांत्रिक बौद्धमत की ओर सकेत किया जा सकता है। जिसमें 'प्रज्ञा' और 'उपाय' के मिलन पर, (जिसकी पारिभाषिक संज्ञा वज्रयोग है) अत्यधिक बल दिया गया है। इस प्रकार वज्रतन्त्र कहता है :—

> **सम तुल्यमित्युक्तं स्यात् तस्य चक्रे रसः स्मृतः।**
> **समरसं त्वेकभावमेतेनात्मनि भण्यते ॥**

वज्रयोग, जो 'काल चक्र बौद्धों' का आदर्श है, वस्तुतः परम एकत्व की स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है।

जंगममत के वीरशैव भी इस आदर्श को अपनी विशिष्ट पद्धति से स्वीकार करते है। मायीदेव के 'अनुभव-सूत्र' तथा प्रभुदेव की रचनाओं में लंबी साधना के फलस्वरूप सामान्य भक्ति के रूप में स्व-प्रकाश एकत्व के आनन्द का सुन्दर प्रतिपादन प्रस्तुत किया गया है।

'स्वछन्द-तंत्र' जो उपलब्ध प्राचीनतम आगमों में से एक है, एकीकरण की प्रक्रिया के अनेक स्तरों का विषद वर्णन प्रस्तुत करता है, जिनका अन्तिम स्तर चरम सामरस्य है। इस प्रक्रिया में सात स्तरों का उल्लेख तथा वर्णन किया गया है।

'मात्रिका-चक्र-विवेक' के लेखक, स्वतत्रानन्द नाथ सिद्ध सम्प्रदाय के एक प्रतिभाशाली प्रवर्तक थे। वे इस सिद्धान्त की अपनी अनुपम शैली से व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं:—

> **माया बलात् प्रथमभासि जड़स्वभावम्।**
> **विद्योदयादथ विकस्वर चिन्मयत्वम् ॥**
> **सु पत्याह्वयं किमपि विश्रमणं विभाति।**
> **चित्रक्रमं चिद्चिदेक रसस्वभावम् ॥**

यहाँ इस प्रसंग में जिस सामरस्य की चर्चा है, वह चित् और अचित् का एकत्व प्रस्तुत करता है। अर्थात् वह चेतना और अचेतन की समरसता है, जो एक-दूसरे की गति को निष्क्रिय कर देते हैं और मिलकर एक हो जाते हैं। वे इसका एक मनोरंजक एवं चित्रात्मक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, कि वस्तु

वास्तव में एक है, किन्तु एक द्रष्टा के लिये हाथी व दूसरे को भिन्न दृष्टिकोण अपनाने से बैल प्रतीत होती है।

कुछ तांत्रिक मतों की योग-साधना में, विशेषतया 'अर्द्धकाली संप्रदाय' से सम्बन्धित मतों में, यह बताया गया है कि दो द्वादशाक्षर मंत्र, जिनमें 'श्री गुरुदेव' के सम्पूर्ण 'पादुका मंत्र' सम्मिलित है, परमतत्व के क्रमशः उन्मनी और समनी दोनों रूपों को प्रकट करते है। प्रथम रूप परम प्रकृति (स) के साथ परम पुरुष (ह) की ऊर्ध्व गति का सूचक है। द्वितीय से यह प्रकट होता है कि परम प्रकृति, जो परम ब्रह्म या उन्मनी शिव के ईक्षण से अवतरणोन्मुख होती है, अपने अवतरण काल में परम पुरुष (ह) को आनन्द से आपूर्ण कर देती है। इससे अविभाज्य परम चित् में ईश्वर की ऊध्व और अधः दोनों गतियों का संकेत मिलता है। उन्मना और समना के मूल में केवल एक सार-तत्व है, क्योंकि पुरुष और प्रकृति अन्ततः एक और ब्रह्म ही हैं, जिनमें एक की प्रतीक कल्पना निम्न-मुख त्रिकोण दूसरे की ऊर्ध्व मुख त्रिकोण के रूप में की गई है। षट्कोण की परिचित आकृति एक संश्लिष्ट प्रतीक के रूप में इस एकता को प्रकट करती है, जो योगी साधकों के अनुसार सहस्रदल कमल के बीजकोण के ऊपर द्वादशदल कमल द्वारा लक्षित होती है। वास्तव में गुरु पादुका की धारणा अपनी उच्चतम अभिव्यक्ति में सामरस्य के आदर्श का उदात्त रूप है। कहा गया है :

स्व प्रकाश शिवमूर्ति रेकिका
तद् विमर्श तनुरेकिका, तयोः ॥
सामरस्य वपुरिष्यते परा।
पादुका परशिवात्मनो गुरोः ॥

यह सकेत करता है कि दिव्य गुरु या पर-शिव की तीन पादुकायें हैं, दो नीचे की ओर, एक ऊपर की ओर। दो निम्न पादुकायें एक ओर स्वयं-प्रकाश शिव तथा दूसरी ओर उनकी निजा-विमर्श शक्ति के प्रतीक हैं। उच्च या पर पादुका दोनों का सामरस्य-रूप परम एकत्व है।

यहाँ यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि ईसाइयो का 'ट्रिनिटी' सिद्धान्त सामरस्य के सत्य की आंशिक अभिव्यक्ति मात्र है। महान् स्पेनिश संत टैरेसा ने ईश-कृपा से एक बार इसका अनुभव किया और उसे अपनी भाषा में व्यक्त करने का प्रयत्न किया। वर्णन करते समय उसने कहा कि सर्वप्रथम उसके सामने एक जाज्वल्यमान प्रकाश-बादल सा प्रकट हुआ और तब त्रिमूर्ति (ट्रिनिटी) के तीनों व्यक्तित्व प्रकट हुए। उसने अनुभव किया कि तीनों व्यक्तित्व एक ही सत्ता, शक्ति और ज्ञान रूप हैं तथा एक ईश्वर ही हैं। यह दर्शन चर्म-चक्षुओं या अन्तर्दृष्टि का फल नहीं था। यह एक गहन बौद्धिक दर्शन था। महान् जर्मन रहस्यवादी मास्टर एक्हार्ट के शिष्य हेनरी सुसो ने आत्मा और परमात्मा के मिलन की ओर संकेत किया है। उसने ईश्वर को यह कहते सुना —

"मैं उन सन्तों (तड़पते हुए भक्तों) को प्यार से चूम कर इतने प्रगाढ़ालिंगन में बांध लूँगा कि मैं वे हो जाऊँगा और वे सब मेरा रूप पा लेंगे। तब दोनों एक में सदा-सदा के लिए मिल जायेंगे।" अन्यत्र यह कहा गया है—"आत्मा का सार शून्य के सार से एकाकार हैं और एक की शक्तियाँ दूसरे की क्रियाओं से मिली हुई हैं।" (सत्य की लघु पुस्तक, जे० एम० क्लार्क द्वारा सम्पादित, पृ० १६६) यह ठीक वीरशैवों के आत्मा से परमात्मा या लिंग के संयोग की भांति है।

उपर्युक्त वर्णन से यह सुस्पष्ट है कि सामरस्य का आदर्श किसी न किसी रूप में, केवल आगम-संस्कृति मे ही नही, वरन् बहुत-सी अन्य अध्यात्म साधनाओं में भी उपस्थित है।

अब देखना यह है कि नाथ-योगी इस एकत्व की उच्चतम निष्पत्ति की धारणा को किस रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह कहा गया हैं कि सामरस्य की सच्ची प्रक्रिया केवल तभी प्रारम्भ होती है, जब सद्गुरु की कृपा से चित्त-विश्रान्ति प्राप्त हो जाती है। जब तक मन अशान्त तथा चचल रहता है, सच्ची साधना प्रारम्भ नहीं हो सकती। मन के शान्त होते ही आत्मा में परमानन्द एवं शुद्ध अनन्त गौरव का अनुभव उदित हो जाता है। आत्मा अपनी लम्बी मोहनिद्रा से जाग जाती है, अभिन्न एकत्व की पवित्र दिव्यज्योति में द्वैतभाव विलीन हो जाता है। यह असीम तथा अखंडप्रकाश चैतन्य की शक्तियों को जाग्रत कर देता है। योगी में विराट् चेतना के उदय होते ही उसे अपने शरीर का अखण्ड ज्ञान प्राप्त हो जाता है और पिण्ड-सिद्धि मिल जाती है।

दूसरे शब्दों में यह शरीर अजर-अमर बन जाता है। योगी अब सिद्ध हो जाता है। चैतन्य की इस सार रूप दिव्य आभा को परम पद की विराट् अनादि ज्योति से एकाकार अनुभव करना चाहिये। आत्मा के सच्चे स्वरूप के क्रमिक शोध-प्रयास से यह संभव हो सकता है। यह बात ध्यान रखने की है कि समरसता एक क्षणिक मन:स्थिति न होकर शाश्वत उपलब्धि होनी चाहिये। यह इस अर्थ में कि समरसता जनित निरुत्थान की स्थिति प्राप्त होने के बाद व्युत्थान नहीं होना चाहिये।

समरसता की उपलब्धि के बाद शाश्वत निरुत्थान दशा की प्राप्ति के क्रम में परमानुभूति के कुछ क्षणों को निम्नलिखित रूप में लक्षित किया जाता है—

(१) पारमार्थिक सत्ता ब्रह्माण्ड रूप दिखाई देती है। दूसरे शब्दों में, आकारगत व आकारहीन का भेद सदा के लिए लुप्त हो जाता है और आत्मा में विश्व-दर्शन की अनुभूति के समानान्तर इसकी सह-नित्यता बनी रहती है।

(२) संक्रमण की स्थिति में शक्तियों में बाहर फूट पड़ने की प्रवृत्ति होती है। इन पर संयम रख कर इन्हें आत्मा में केन्द्रित रखना चाहिये।

(३) आत्मा के अखण्ड प्रकाशयुक्त चरम शक्ति के रूप में दर्शन होते हैं।

(४) इन सबके परिणाम स्वरूप अनादि सत्ता के विशिष्ट दर्शन प्राप्त होते हैं। यह चरम केन्द्रीय दर्शन निरुत्थान दशा का प्रतीक है। यह शाश्वतता के दर्शन हैं, जहां अनन्त विभिन्नतायें एक ही सत्ता की विभिन्न अभिव्यक्तियों के रूप में दृष्टिगोचर होने लगती हैं और वही एक स्वयं को अनंत के प्रत्येक रूप में प्रकट करता पाया जाता है।

यह सत्य प्रतीत होता है कि नाथ-योगियों का 'पिण्ड-सिद्धि' का दृष्टिकोण तथा पतंजलि का 'काय संयत' का दृष्टिकोण बिलकुल एक ही नहीं हैं, यद्यपि यह भी सत्य है कि दोनों में अन्ततः तत्त्वों का नियंत्रण प्राप्त होता है। वज्रदेह का आदर्श दोनों दृष्टिकोणों की पृष्ठभूमि में था जिसने तांत्रिक बौद्धों को भी आकर्षित किया। 'नाथ-मत' में पिण्ड-सिद्धि को परम-पद के दर्शन का फल तथा सामरस्य की पूर्व स्थिति माना गया है, जबकि पतंजलि के 'काय संयत' का चरम लक्ष्य केवल शरीर शुद्धि तक ही है। इसे पुरुष की स्वाभाविक शुद्धि के समान नहीं माना जा सकता अतः यह प्रकृति का एक स्वाभाविक लक्षण ही रह जाता है। इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ की प्रस्तावना के रूप में कुछ पंक्तियां लिख देने का आग्रह करके आदरणीय लेखक ने मुझे जो सम्मान प्रदान किया है, उसके लिए मैं उसे धन्यवाद देता हूँ।

इस आधार पर यह माना जा सकता है कि गोरखनाथ के 'पिण्ड-सिद्धि' आदर्श की प्रभुदेव द्वारा की गई आलोचना, जो दक्षिण के कुछ शैव मतों में परंपरा से प्रचलित है, मात्र साम्प्रदायिक दुराग्रह का परिणाम है।*

नाथ पंथ का आदर्श है—पहले पिण्ड-सिद्धि द्वारा जीवन मुक्ति प्राप्त करना और तत्पश्चात् समरसीकरण द्वारा परा-मुक्ति प्राप्त करना। एक परवर्ती बंगला नाथग्रन्थ 'हाड़माला' जो श्री प्रफुल्लचन्द्र चक्रवर्ती द्वारा रचित पुस्तक 'नाथ धर्म और साहित्य' में प्रकाशित है, में भी यह बताया गया है कि नाथ अध्यात्म संस्कृति का

---

* देह-सिद्धि के लिए पाठक को निम्नलिखित कृतियों का अध्ययन करना चाहिये :—

(1) The Doctrinal Culture & Tradition of the Siddhas, by V. V. Raman Sastri, in the Cultural Heritage of India, Vol. II, p. 303-319.

(2) M. M. Gopinath Kaviraj's Series of articles in Bengali on the "Process of effecting physical immortality, Pub. in the Bengali Weekly Paper 'Himadri'.

(3) M. M. Gopinath Kaviraj's articale in Sanskrit on the subject, in the "Saraswati Sushama Journal" of the Varanaseya Sanskrit Vishwa vidyalaya, 1961, Pages 63-87.

सम्पूर्ण विवेच्य विषय-क्षेत्र केवल सिद्ध-देह प्राप्ति तक ही समाप्त नहीं हो जाता—यह तो जीवन-मुक्त अवस्था ही है—मृत्यु भय व आक्रमण रहित। यह तो ओंकार अभ्यास द्वारा चरम पूर्णत्व की प्राप्ति की भूमिका मात्र है।

इस संक्षिप्त प्रस्तावना के अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं कहना है। रोग-शय्या पर पड़े हुए भी मैंने लेखक के आग्रह को कम से कम शब्दों में पूरा करने का प्रयास किया है। विद्वान् लेखक ने हमारे समक्ष एक महत्वपूर्ण मध्ययुगीन दार्शनिक विचारधारा को प्रामाणिक ग्रन्थ-रूप में प्रस्तुत करने का कठोर व लंबा श्रम किया है। वे इस क्षेत्र में विशिष्ट मार्ग-दर्शक हैं। मैं आशा करता हूँ कि इस विषय में रुचि रखने वाले नवोदित विद्वान् उनका अनुसरण करते हुए देश के विभिन्न पुस्तकालयों में उपलब्ध सामग्रियों का उपयोग कर अपने ज्ञान क्षेत्र का विस्तार करेंगे।

गोपीनाथ कविराज

आमुख

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का मैं स्वागत करता हूँ। ग्रन्थ-लेखक के श्रम और विद्वत्ता का मूल्यांकन करना मेरा काम नही है। मेरे लिए अधिक प्रीतिकर संवाद है, इस प्रकार के ग्रन्थ का अंततोगत्वा प्रकाशित हो जाना। भारत के आध्यात्मिक और धार्मिक इतिहास के विद्यार्थी इसकी आवश्यकता का अनुभव बहुत पहले से करते रहे हैं।

यह सर्वविदित है कि गोरक्ष अथवा लोकप्रसिद्ध गोरखनाथ का व्यक्तित्व सर्वाधिक प्रभावशाली था। उनके सम्पर्क में जो भी आता, प्रभावित हुए बिना न रहता। संभवतः उन्होंने दूर-दूर तक यात्राये की थीं किन्तु उनकी ख्याति उनसे भी दूर-दूर तक गई। उत्तरी भारत में अनेकों स्थान उनके तथा उनके शिष्यों से सम्बन्धित पाये जाते हैं। बहुत-सी किंवदन्तियाँ हैं, कुछ की ऐतिहासिकता संदिग्ध है, किन्तु वे अब जन-साधारण की परपरागत लोक-लहरी या गीतों का अंग बन गई हैं। जन-साधारण की दृष्टि में गोरखनाथ का क्या स्थान रहा है, इसका प्रमाण एक अप्रत्याशित अचिन्तनीय क्षेत्र से प्राप्त होता है। कुछ सन्तों के अनुयायियों ने, जो गोरक्ष से कई शताब्दियों बाद में पैदा हुए थे, स्पष्टतः अनुभव किया कि उनके गुरुओं की प्रसिद्धि और महत्व तब तक सुरक्षित नही होगा, जब तक वे उन्हें गोरक्ष से अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति सिद्ध न करें। इसलिए गोरक्ष तथा उनके मतों के प्रवर्तकों के बीच होने वाले विवादों की कहानियाँ गढ़ ली गईं। विवाद प्रायः शाब्दिक होते थे किन्तु उनके साथ चमत्कारो का अगूढ़ प्रदर्शन भी चलता था। निस्सन्देह, ऐसे समस्त विवादों में गोरक्ष की बुरी तरह हार दिखाई जाती थी कबीर और नानक के नाम से सबंधित कृतियों में ऐसे वाक्-युद्धों के अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं। निःसन्देह ऐसी मनगढ़ंत बातों में इन महापुरुषों का कोई हाथ नहीं था, ये स्पष्टतया उनके शिष्यों की करतूतें हैं, जो सामान्य बुद्धि से अधिक उनकी अन्ध भक्ति का प्रदर्शन करती हैं। काल का जो अनादर वे करते हैं, उसे देखकर न केवल दम घुटता है, वरन् उन पर तरस भी आता है। ऐसे वृत्तान्तों की दार्शनिक सामग्री बिलकुल प्रारंभिक है और योगानुभवों की ओर उनके संकेत नितान्त छिछले हैं। इन किंवदन्तियों से कबीर और नानक के महत्व में कोई वृद्धि नहीं होती। वस्तुतः इन महात्माओं को इस प्रकार के अवांछित सस्ते प्रचार की आवश्यकता भी नहीं है। यह होने पर भी इन किंवदन्तियों से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि जन-मानस में गोरक्षनाथ के लिए कितना ऊँचा स्थान था। गोरक्षनाथ के अन्तर्धान होने के कई शताब्दियों बाद तक स्थिति यह थी कि कोई भी सन्त तब तक महान् नहीं हो सकता था जब तक गोरक्षनाथ की तुलना में उसकी श्रेष्ठता प्रमाणित न कर दी जाय।

नाथ सम्प्रदाय की कहानी, जिसके गोरक्ष एक महान् प्रतिनिधि हैं, भारत

के आध्यात्मिक विकास के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। कालान्तर में तांत्रिकों के बाद क्रमश. साध, सिद्ध, नाथ और सत मतों का प्रचार हुआ। एक अर्थ में इनमें से कोई भी मत पूर्णतया नवीन संदेश नहीं लाया। उन्होंने जो उपदेश दिये तथा साधनाये की वे सब अति प्राचीन क'ल से प्राप्त उपदेशों के विभिन्न रूप या उनमें से निकाले गये तात्पर्य थे। प्रत्यक्ष रूप में वैदिक काल में धर्म और अध्यात्म के दो पक्ष थे जिन्हें सामान्यतया आस्तिक और नास्तिक कहा जा सकता है। आस्तिक सम्प्रदाय के कार्य करने के दो रूप और थे प्रत्यक्ष और गुप्त या रहस्यमय। पहले का सम्बन्ध वैदिक यज्ञमूलक कर्मकाण्ड से था और दूसरे का योग तथा दर्शन से। दोनों के बीच कोई संघर्ष न था, वे एक दूसरे के सहायक और पूरक थे। नास्तिक सम्प्रदाय वालों को व्रात्य' कहा जाता था। उन्होंने कर्मकाण्ड का तिरस्कार किया, वैदिक समाज की बहुत-सी परंपराओं की अवहेलना की और गुप्त या रहस्यमय मार्गों का अनुसरण किया। समस्त मध्ययुगीन एवं आधुनिक हिन्दू धार्मिक और दार्शनिक विचारधारायें तथा आध्यात्मिक अनुशासन या मार्ग इन प्राचीन सम्प्रदायों से उत्पन्न हुए हैं।

वेद घोषणा करते है—"एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" वह सत्पदार्थ एक है, विद्वान् उसे अनेक नामों से पुकारते है, तथा "सर्व खल्विदं ब्रह्म"—वस्तुत: यह सब कुछ ब्रह्म ही है। दर्शन के लिये केवलाद्वैत से परे जाना कठिन है। दूसरा विकल्प केवल शून्य हो सकता है, जिसे बौद्धों ने माना। लगभग समस्त प्रमुख हिन्दू दर्शन एकेश्वरवाद की विभिन्न शाखाये हैं। अध्यात्म-अनुशासन के लिए प्राचीन शब्द योग है, और विभिन्न कालों में स्वीकृत समस्त प्रकार की आध्यात्मिक साधनायें वास्तव में योग के ही विभिन्न रूप हैं। भक्ति, जो स्वयं को चरम लक्ष्य प्राप्ति का सीधा विशिष्ट नवीन मार्ग प्रदात्री समझती है, वास्तव में, सच्चे आध्यात्मिक अनुशासन के रूप में, एक नया नाम धारण किये, योग ही है।

तन्त्र, साध, सिद्ध, नाथ और संत आदि विभिन्न मत जिनका मैं उल्लेख कर चुका हूँ, स्वयं को पारस्परिक सम्बन्ध रहित या ऐतिहासिक सम्पर्क-विहीन बतलाते हैं। ऐसी मान्यता निराधार एवं अन्ध-विश्वास की उपज प्रतीत होती है। प्रत्येक नवीन मत ने सीधे ईश्वर से नया सन्देश उनके अवतारों द्वारा प्राप्त नहीं किया है, प्रत्येक वास्तव में अपने अग्रजों से सीखकर ज्ञानज्योति को आनेवाली पीढ़ियों को सौपता रहा। प्रत्येक मत में जो सत्य है वह सनातन है। राजनीतिक या अन्य वाह्य परिस्थितियों या देश और काल के अनुसार उस सनातन सत्य का नवीन रूप केवल उसकी अभिव्यक्ति का नूतन ढग है।

नाथ सम्प्रदाय के जन्मदाताओं ने किसी नवीन दार्शनिक मत का प्रतिपादन नहीं किया। उनका मत अपने अग्रज-साधों और सिद्धों जैसा ही था तथा उनके बाद आने वाले संतों का मत भी उनसे अभिन्न था। केवल तांत्रिकों ने विस्तृत व्याख्या के साथ एक निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। अन्य

मतों ने तो जैसा कि उनके उपलब्ध साहित्य के अध्ययन से प्रतीत होता है, शंकराचार्य के केवलाद्वैत, रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत और वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत से ही मूल विचारधारा ग्रहण करके अपनी व्यक्तिगत रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुकूल उसमें यत्किंचित् परिवर्तन करके उपर्युक्त आचार्यों के मतों के आस-पास ही अपने सिद्धान्त स्थिर किये थे। किन्तु जहाँ वैचारिक क्षेत्र में वे दार्शनिक सिद्धान्तों के सुस्पष्ट प्रतिपादन की चिन्ता न कर ऐसे आध्यात्मिक विषयों की तर्क द्वारा बाल की खाल निकालने में सलग्न रहे जो वास्तव में तर्कातीत हैं, वहाँ साधना के क्षेत्र में उन्होंने आध्यात्मिक अनुशासन-योगाभ्यास पर सर्वाधिक ध्यान दिया। योग में सफलता के लिए चरित्र की निर्मलता, शरीर-सुखों का त्याग, जगत् के मिथ्या आकर्षणों से विरति आवश्यक है और यह निर्विवाद है कि नाथ सम्प्रदाय के जन्मदाताओं ने इन गुणों का असाधारण रूप से पालन किया। उन्हें योग में महान् एवं प्रवीण सिद्ध माना जाता था। उनके पास योगाभ्यास से प्राप्त अनेकों चमत्कारी सिद्धियां थीं। उन्हें आश्चर्य व भय मिश्रित सर्वसाधारण का सम्मान प्राप्त था। इस प्रकार का मत आदर प्राप्त कर सकता है, किन्तु लोकप्रिय नहीं हो सकता। स्वभावतः इसके सिद्धान्त व अनुशासन कुछ चुने हुए लोगों तक ही सीमित रहे, सर्वसाधारण से उस प्रकार का कठोर संयम व आत्म-त्याग का जीवन, जो योगाभ्यास के लिए जरूरी है, व्यतीत करने की आशा नहीं की जा सकती।

योग के विषय में कुछ शब्द यहाँ कहना अनुपयुक्त न होगा। नाथों को प्रायः हठयोगी कहा जाता है जिसके बारे में बहुत सी गलत धारणाये प्रचलित हैं। आजकल हम विभिन्न प्रकार के योगों के नाम सुनते है—राजयोग, हठयोग, ज्ञान-योग, लययोग, भक्तियोग और कर्मयोग। ये सब आधुनिक शब्द हैं। प्राचीन योगियों की इनमें आस्था नहीं थी। इनसे किसी सर्वथा भिन्न या विशिष्ट योग-पद्धति का बोध नही होता। विवेक मार्तण्ड में कहा है :

वायुयोगं परित्यज्य अन्ययोगमुपासते।
अपक्व कुम्भमादाय तरतुमिच्छति सागर॥

योग पर सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ पतंजलि के 'योगसूत्र' में इनका कोई उल्लेख नहीं मिलता। योगाभ्यास के कुछ अगों को अनावश्यक रूप से दैवी महत्व प्रदान करके बिना उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर ध्यान दिये उन्हें पृथक् विज्ञान होने का मिथ्या सम्मान प्रदान किया गया है। योग का उद्देश्य जैसा कि पतंजलि कहते हैं : 'चित्तवृत्ति निरोध है' जो स्वयमेव द्रष्टा के 'स्वरूपे अवस्थानम्' में परिणित हो जाता है। 'अहं' स्वयं को जानकर अपने सच्चे स्वरूप में स्थित हो जाता है, तब 'आत्म' और 'अनात्म' के सम्बन्ध को जोड़ने वाली सर्वदा चंचल चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। कोई भी विधि, कोई भी आध्यात्मिक साधना या अनुशासन, जो किसी अन्य लक्ष्य की सिद्धि में प्रवृत्त होता है वह योग नहीं है, और चाहे जो कुछ भी हो। गोरक्ष या अन्य किसी नाथ ने कोई अन्य लक्ष्य नहीं रखा,

उनकी समस्त साधना का लक्ष्य मोक्ष, अविद्या से छुटकारा तथा आत्मा द्वारा अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त करना था। वे यह जानते थे कि योगाभ्यास की तीनों उच्चतम स्थितियों-धारणा, ध्यान और समाधि-को पार कर जाने पर ही आत्मोपलब्धि हो सकती है। ये केवल मानसिक स्थितियां हैं और अन्ततः यह मन ही है, जिसे वश में करना होता है। किन्तु उन्होंने पतंजलि द्वारा निरूपित साधना प्रणाली की आत्यन्तिक सत्यता को समझ लिया था। मन की स्नायविक धाराओं और संवेगों को वश में करने के लिए एक स्वस्थ शरीर का होना आवश्यक है। चंचलता ग्रस्त और शारीरिक वासनाओं की तृप्ति में लगे रहने पर एकाग्र धारणा व मानसिक शान्ति असंभव है। इन समस्त तत्वों को पतंजलि ने 'आसन' और 'प्राणायाम' के अन्तर्गत वर्णित किया है, जिन्हें प्राय. आधुनिक शब्दावली में 'हठयोग' से सम्बन्धित कहा जाता है। इस रूप में समझने पर हठयोग योगाभ्यास के अन्तर्गत एक आवश्यक स्तर है, जो सीधे शुद्ध मानसिक अभ्यास के उच्च स्तरों की ओर ले जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि उनका यह विश्वास था कि काया-साधना ही योग का अन्तिम लक्ष्य है, और न उन्हें यही भ्रम था कि शरीर के ऐसे नियंत्रण से अपने आप समाधि या आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। उन्होने साधना के निम्न स्तरों से गुजरने की अनिवार्यता पर बल दिया और ठीक ही बल दिया क्योंकि व्यवहार में दुःसाध्य होने के कारण उनकी अवहेलना की पूरी पूरी सभावना थी।

मुझे आशा है कि यह ग्रन्थ, गोरक्ष और उनके सम्प्रदाय, जो हमारे देश के आध्यात्मिक विकास के इतिहास में एक उल्लेखनीय अध्याय का प्रतिनिधित्व करता है, की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करने में सफल होगा। गोरक्ष-रचित ग्रन्थ संस्कृत और हिन्दी में उपलब्ध है। उनकी हिन्दी रचनाओं में कुछ विदेशी व्युत्पत्ति के शब्द पाये जाते है, जिनसे यह प्रकट होता है कि मुसलमानों के आगमन का प्रभाव पहले से ही उस स्थान तक पहुंच चुका था जहां गोरखनाथ की साधनाभूमि थी तो यदि उनकी रचनाओं में सूफी प्रभाव की खोज की जाय इसका अध्ययन मनोरंजक होगा। उनके कुछ विशिष्ट शब्दों को कबीर एवं अन्य परवर्ती निर्गुणी सन्तों, तथा साधो ने भी ग्रहण कर लिया था। इसका पता लगाना उपयोगी होगा कि सर्वप्रथम कब उनका प्रयोग हुआ तथा सस्कृत और पालि योग-साहित्य में उनके समानान्तर किन शब्दों का व्यवहार हुआ है। शोध के अन्य कई ऐसे संभाव्य क्षेत्र हैं, जिनके मार्ग नाथ साहित्य के अध्ययन से खुल जाते हैं। मैं आशा करता हूँ कि ऐसे शोध-कार्य का निष्ठा एव उत्साह से श्रीगणेश होगा।

माउन्ट आबू
१९ जून, १९६३

सम्पूर्णानन्द
(राज्यपाल, राजस्थान)

भूमिका

योगी और दार्शनिक

परम सत्यान्वेषी

योगी और दार्शनिक दोनों का चरम लक्ष्य एक है। मानव-चेतना की समान आन्तरिक अभीप्साओं से प्रेरित होकर दोनों ही चरम सत्य के जिज्ञासु होते है। गोचर-जगत् के साधारण परिवर्तनशील सापेक्षिक सत्य मात्र के ज्ञान से सतुष्ट न होकर वे अपने अन्तर में शाश्वत एवं परम सत्य के अन्वेषण की तीव्र उत्कठा अनुभव करते है। उनका लक्ष्य उस सर्वव्यापी परमसत्ता को ढूंढ़ना है, जो सबसे परे, ब्रह्माण्ड का मूलाधार, मानव अनुभव एवं समस्याओं का अन्तिम समाधान है। मानव-चेतना साधारणतया काल, दिक् और सापेक्षिकता की परिधि में सीमित रहती है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों इसका निर्माण प्रार्पचिक सीमाओं और दिक् की परिधि के अन्तर्गत कार्य-कारण सम्बन्ध, पारस्परिकता एवं सापेक्षिकता की सीमाओं में बंधकर ही सोच-विचार करने के लिए हुआ है। इसको अपने इस कारागृह की सीमाओं में ही विकसित, प्रसरित और परिपुष्ट होने की सुविधाये प्राप्त हैं, किन्तु इसे इस कारागृह की दीवारों के बाहर जाने की अनुमति नही है। ऐसा लगता है कि मानव अनुभव और ज्ञान को विवशत: सर्वदा सीमित और सापेक्षिक रहना है तथा मानव मानस के लिये काल, दिक् एव सापेक्षिकता का ससार ही सब कुछ है।

योगी और दार्शनिक दोनों ही मानव मन के इस बन्धन के विरुद्ध विद्रोह करते हैं। दोनों ही इस कारागृह की दीवारों को तोड़ कर परे जाने की तीव्र उत्कठा रखते है। साधारण मानव-चेतना पर प्रकृति द्वारा आरोपित सीमाओं के बन्धन से वे परे जाना चाहते है। अपनी आत्मा की अन्तरतम माँगों की तुष्टि के लिये वे इस ब्रह्माण्ड के अन्तरतम रहस्य का पता लगाना चाहते हैं। हमारे सामान्य अनुभव का जगत् कितना ही चकाचौध कर देनेवाली क्लिष्टताओं से युक्त क्यों न हो, यह एक निरर्थक आकस्मिक या उद्देश्यहीन प्रक्रिया कदापि नही है। इस विविधतायुक्त ब्रह्माण्ड के जीवन में जो आश्चर्यजनक व्यवस्था व अनुशासन प्रतीत होता है, वह इसके मूल में स्थित किसी गतिशील केन्द्र या आत्मा या इसकी जटिल प्रक्रियाओं का नियमन करनेवाली किसी सर्वनियन्ता शक्ति की ओर संकेत करता है। जगत् की सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधियों का नियोजक कोई परम आदर्श केन्द्र अवश्य है, जो इस सतत् गतिशील जगत् के मूल मे अनुभूत होता है। योगी और दार्शनिक इस सर्वनियन्ता परम आदर्श-स्वरूप ब्रह्माण्ड की आत्मा या केन्द्र के अन्वेषण मे इस विश्वास के साथ अपनी

समस्त शक्ति लगा देते है कि उसे जान लेने पर इस जगत् की बुद्धिगम्य व्याख्या और तात्पर्य स्पष्ट हो जायेगा।

भिन्न-भिन्न मार्ग

यद्यपि योगी और दार्शनिक का अन्तिम लक्ष्य एक ही है किन्तु उसके इस तक पहुँचने के मार्ग अलग-अलग है। दार्शनिक का मार्ग बौद्धिक और योगी का आध्यात्मिक कहा जा सकता है। दार्शनिक विचारपूर्ण तर्क के मार्ग पर अग्रसर होता है, योगी नैतिक व मानसिक अनुशासन के पथ पर। दार्शनिक तर्कातीत पूर्णसत्य की तार्किक धारणा प्रस्तुत करना चाहता है, योगी उस परम या पूर्णसत्य की आध्यात्मिक उपलब्धि करना चाहता है। सत्यान्वेषण के क्रम मे एक दार्शनिक का प्रयास मुख्यतः सैद्धान्तिक होता है, वह अपनी बौद्धिक सन्तुष्टि के लिये आध्यात्मिक पारमार्थिक सत्यान्वेषण करता है, जब कि एक योगी का प्रयास मुख्यतः परीक्षणपरक होता है। योगी अपनी आत्मा की मौलिक आवश्यकता की पूर्ति का सर्वथा ध्यान रखता है। एक दार्शनिक के व्यावहारिक जीवन एव बौद्धिक धारणा में सामंजस्य न होने पर भी वह दार्शनिक बना रहता है, किन्तु एक योगी तब तक योगी माना ही नही जायेगा, जब तक उसका आचरण, उसकी सैद्धान्तिक मान्यताओं के अनुरूप जीवन के सभी क्षेत्रों मे पूर्णत. अनुशासित न होगा। जो ज्ञान एक दार्शनिक प्राप्त करता है या सुविचारित तर्क पद्धति के प्रयोग द्वारा प्राप्त कर सकता है, वह परोक्षज्ञान होता है, किन्तु जो ज्ञान एक योगी खोजता है या अपनी सम्पूर्ण चेतना की निर्मलता सस्कार एव प्रकाश द्वारा उपलब्ध करता है, वह प्रत्यक्ष या अपरोक्ष ज्ञान होता है। एक सच्चा दार्शनिक अपने विचारों को शुद्ध एव तार्किक बनाने का यथाशक्ति प्रयास करता है ; उन्हे वह विचार और तर्क के समस्त दोषों से मुक्त करना चाहता है, जिससे वह पूर्ण सत्य की सबसे प्रामाणिक और व्यापक धारणा बना सके। एक सच्चा योगी आत्म-अनुशासन के व्यवस्थित मार्ग का अनुसरण करके अपने शरीर, इन्द्रिय और मन की शुद्धि कर अपनी वासनाओं और जगत् की लालसाओं पर विजय पाना चाहता है। वह अपनी चिन्तन-पद्धति को समस्त पूर्व निर्धारित मान्यताओं एव आग्रहों से मुक्त करना चाहता है। वह अपना ध्यान अज्ञात किन्तु चिर अभीप्सित लक्ष्य पर केन्द्रित करना चाहता है और अपनी सम्पूर्ण चेतनता को उच्चतर आध्यात्मिक स्तर तक उठाना चाहता है, ताकि स्वयं प्रकाश, परम सत्य उसकी अन्तरात्मा को पूर्णतः ज्योतित कर सके और उसके निकट अपने को प्रत्यक्षतः प्रकट कर दे। दार्शनिक एक ऐसा उत्साही जिज्ञासु है, जो परम सत्य को अपनी विशुद्ध तार्किक धारणा का विषय बनाकर समझना चाहता है, जबकि योगी अपनी चेतना को उस उच्चतम आध्यात्मिक स्तर तक, जहां विषय और विषयी की सापेक्षिक स्थिति का लोप हो जाता है, ऊँचा उठाकर परम सत्य को अनुभूत करना चाहता है।

दार्शनिक प्रणाली

परम सत्य की खोज में एक दार्शनिक को मुख्यतया युक्ति पर आश्रित रहना पड़ता है, सिद्धान्तों और प्राकल्पनाओं का निर्माण कर उन्हें तार्किक मापदण्ड से परखना पड़ता है। उसकी एक आँख उन सामान्य मानवीय अनुभवों पर टिकी होती है, जो सीमित और सापेक्षिक होते है। उसे ध्यान रखना पड़ता है कि परम सत्य के प्रति जो अनुमानित मत उसने स्थापित किया है, वह इस सापेक्षिक और सीमित जगत् के मान्य सत्य के प्रतिकूल न हो, बल्कि वह इन सभी मान्य एव निर्दिष्ट तथ्यों की समुचित बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत करने में समर्थ हो। उसकी दार्शनिक चेतना स्वभावत सीमित, परिवर्तनशील और सापेक्षिक स्तर पर रहती है। उसकी बुद्धि और कल्पना किसी आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर ससीम से असीम की ओर, क्षणिक से शाश्वत की ओर, सापेक्ष से निरपेक्ष की ओर गतिशील रहती है। असीम शाश्वत, निरपेक्ष सत्य, जिसे वह स्थान, काल और सापेक्षिकता से परे अन्तिम सत्य के रूप में धारण करता है, उसकी सामान्य चेतना में तब तक एक युक्ति-रहित अनुमानित धारणा मात्र रहता है, जब तक तर्कपूर्ण ढग से यह प्रत्यक्ष न हो जाय कि मानवीय बुद्धि इस जगत् प्रक्रिया की जो एक तार्किक व्याख्या प्रस्तुत करना चाहती है, वह इस प्रकार के परम सत्य की धारणा के अभाव में सम्भव ही नही है और यह कि इस प्रकार अवधारित परम सत्य ही इस जगत्-प्रक्रिया की सर्वोत्तम एव समुचित बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत करने में समर्थ है। इस प्रकार दार्शनिक को सामान्य जगत् के अनुभव व मानव की सीमित बुद्धि पर आश्रित रह कर, इन सबसे परे, उस पूर्ण सत्य के बारे में जो धारणाये बनानी पडती है वे सब इस प्रापचिक एवं अपूर्ण जगत् व सीमित मानव तर्कना पर ही आधारित होती है। इस प्रकार पूर्ण सत्य के बारे में दर्शन का निष्कर्ष कितना ही विचारपूर्ण क्यो न हो, एक मत या वाद ही बनकर रह जाता है।

दूसरी गम्भीर समस्या जो परम सत्य के दार्शनिक अनुसधान में उपस्थित होती है, वह उस पूर्ण निरपेक्ष की बौद्धिक और व्यापक व्याख्या से सम्बद्ध है। एक दार्शनिक परम सत्य को अपनी बौद्धिक धारणा के अनुसार ही परिभाषित करता है और यह बौद्धिक धारणा सापेक्षिक स्थितिवाले व्यवहार एवं वस्तु जगत् तक ही सीमित रहती है। निरपेक्ष सत्य के सम्बन्ध में अपनी धारणाओं को स्थापित और सिद्ध करने के लिये वह जिन तर्कपूर्ण सिद्धांतों और पद्धतियों का सहारा लेता है वे सिद्धांत और पद्धतियां भी मूलतः हमारी इन्द्रियानुभूत एवं भ्रांत-बोध-वृत्ति से निर्णीत होनेवाले सापेक्षिक सत्य को ही प्रमाणित करने वाली होती है। जब इन सिद्धांतों एवं पद्धतियों को पूर्ण सत्य पर प्रयुक्त किया जाता है तो अचेतन रूप में पूर्ण निरपेक्ष को सापेक्ष के जगत् में उतार दिया जाता है।

सत-असत्, चेतन अचेतन, सक्रिय और निष्क्रिय, परिवर्तनशील-अपरिवर्तनशील एकत्व-अनेकत्व, द्रव्य-गुण, कारण-कार्य, सहज-जटिल, चेतन-जड़,

सगुण-निर्गुण ये समस्त धारणाये हमारी बुद्धि द्वारा सामान्य ज्ञान के क्षेत्र पर प्रयुक्त की जाती है और उनका सामान्य स्वीकृत अर्थ इस वस्तु जगत् के प्रसंग में ही लिया जाता है। एक दार्शनिक जगत् के स्वरूप और सत्ता के विषय में विचार करते समय इन धारणाओं का प्रयोग किये बिना नही रह सकता। ऐसी स्थिति में निसन्देह अस्पष्टता या दुरुहता उत्पन्न हो जाती है और प्रायः वह इन धारणाओं का अर्थ क्रान्तिकारी रूप से नही परिवर्तित कर सकता। शुद्ध हृदय से किये गये अनेको प्रयासो के अनन्तर भी वह अपनी बुद्धि को तार्किक प्रारूपों और धारणाओं के बन्धन से मुक्त नही कर सकता। इन धारणाओं के साथ कभी-कभी उसे नवीन धारणाओं एवं सांकेतिक शब्दावली का निर्माण करना पड़ता है, जो कि सामान्य समझ से परे होती है। वह व्यावहारिक क्रियात्मकता के परे, पारमार्थिक सक्रियता, व्यवहारिक चेतना के परे, पारमार्थिक चेतना के सम्बन्ध में सोचता है। कभी वह पूर्ण चरम सत्ता को सत्-असत् और इन दोनों से परे तो कभी चेतन-अचेतन एव इनसे भी परे मानता है।

कभी-कभी अनिर्वचनीयता एव अगम्यता को बोधवृत्ति का ही एक प्रारूप कहा जाता है। इस प्रकार दार्शनिक उन नवीन धारणाओं को प्रस्तुत करने के लिए विवश हो जाता है, जो साधारण तर्क और बुद्धि के परे की बातें है। इन तात्विक धारणाओं के प्रतिपादन मे उसे विचार या तर्क के सामान्य स्वीकृत नियमों का आश्रय लेना पड़ता है। तार्किक विचार पद्धति के मौलिक सिद्धांतों यथा तादात्म्य, विरोध और मध्य-परिहार के नियमों की अवहेलना वह नही कर सकता और न वह कारणत्व तथा पर्याप्त प्रमाण के सिद्धांतों की अवज्ञा कर सकता है। क्योंकि इस जगत् में सत्यान्वेषियों की बौद्धिकक्षमता इनसे अनुशासित है। किन्तु साधारण एव लौकिक जगत् और विचार एव बुद्धि द्वारा निर्णीत ये सिद्धांत अलौकिक परम सत्य को अभिव्यक्त करने में सहायक सिद्ध नही हो सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि वे उस सत्य को तर्क से सिद्ध करना चाहते हैं जो तर्कातीत है।

सिद्धान्तों या मतों का संघर्ष

परम सत्य के दार्शनिक अनुसन्धान का इतिहास यह बताता है कि उस सत्ता के स्वरूप के बारे में सहस्रों सिद्धान्त या दृष्टिकोण प्रस्तुत किये गये हैं, किन्तु उनमें से एक भी ऐसा नही है, जो सर्व-मान्य हो। दार्शनिक साहित्य का सृजन अनादि काल से होता रहा है और आज भी हो रहा है। किन्तु अद्यावधि कोई भी दार्शनिक मत ऐसा नहीं हुआ जो समस्त दोषों से मुक्त हो। दर्शन का इतिहास महान् से महान् सत्यान्वेषियों के बौद्धिक स्तर पर वाक् व विचार-युद्ध का इतिहास है। एक सच्चे एवं जिज्ञासु दार्शनिक को आत्म-संतुष्टि के लिए भी कम से कम यह तो विश्वास होना ही चाहिये कि चरम सत्ता के विषय में उसकी धारणा न केवल युक्तियुक्त है, वरन् समस्त तार्किक-दोष-विहीन सिद्धान्त प्रस्तुत करती है, जिससे जगत्-व्यवस्था की सर्वश्रेष्ठ तार्किक व्याख्या की जा सकती है।

साथ ही उसे यह भी विश्वास होना चाहिये कि अन्य कोई विपक्षी सिद्धान्त इतना युक्तिसगत एव विशुद्ध नही है। इसके लिये वह न केवल अपने मत का तार्किक परीक्षण करता है, बल्कि इस सदर्भ मे अन्य दार्शनिक मतों की भी आलोचना करता है। इसके फलस्वरूप उसे अन्य सभी मत वैभिन्य रखने वाले सत्यान्वेषियों की तर्क-पद्धतियों एव निष्कर्षों की आलोचना करनी पड़ती है तथा उनकी त्रुटियों का निर्देशन करना पड़ता है। इस प्रकार वह अपने दार्शनिक निर्णयों की प्रामाणिकता सिद्ध करता है। दार्शनिकों की अध्ययन-प्रणालियों एव बौद्धिक निष्कर्षों मे भिन्नता होने के कारण, प्रत्येक सिद्धान्त को सभी विरोधी सिद्धान्तों का आलोच्य विषय होना पड़ता है। दार्शनिको का यह बौद्धिक संघर्ष युगों से दार्शनिक साहित्य का सबर्धन करता रहा है। किन्तु किसी भी दार्शनिक को यह आन्तरिक विश्वास या संतोष नही होता कि वह चरम सत्य के स्वरूप को जान सका है। प्रत्येक दार्शनिक को, यदि वह हठधर्मी नही है तो, यह भय रहता है कि चरम वस्तु के सम्बन्ध में जिस विचार को वह आजीवन अन्वेषण के प्रतिफल-स्वरूप धारण किये हुए है, वह कही असत्य न हो या उसका मिथ्यात्व अन्य दार्शनिक सिद्ध न कर दे। वस्तुतः प्रत्येक दार्शनिक मत का यह दुर्भाग्य रहा है कि यदि वह किसी एक प्रणाली या समुदाय के दार्शनिकों द्वारा समर्थित हुआ है तो अन्य मतावलम्बी दार्शनिकों द्वारा आलोचित भी हुआ है।

चरम सत्ता के स्वरूप की धारणा प्रसिद्ध दार्शनिकों ने अद्भुत रूपों में की है यथा शून्य, असत्, सत्, चिद्मात्र, अचित्, प्रकृति, महाशक्ति, शक्तिमत्, चैतन्य, सृजनेच्छा, पूर्णविचार, पूर्णआत्मा, अनन्त शक्ति एव ज्ञान-स्वरूप परम पुरुष, समस्त मगल गुणो का आकर सत्य, शिव, सुन्दर, पुरुषोत्तम, प्रेमधन परमेश्वर, इत्यादि। इस वैविध्यपूर्ण व्यावहारिक जगत् को कुछ ने मिथ्या कहा तो दूसरों ने चरम सत्ता की आत्म-अभिव्यक्ति तो अन्य किन्ही ने मात्र सत्ता आदि कह डाला। जीवात्मा किन्ही के लिये शाश्वत व अनादि है तो किन्ही के लिये निर्मित एव नाशवान पदार्थ, कोई इसे अणु कहते हैं तो कोई इसे विभु, कोई इसे चरम सत्ता की झलक बताते है तो कोई इसे नितान्त भिन्न कहते हैं। किन्ही ने इसे शुद्ध मुक्त व अविकारी कहा है, तो अन्य ने विकारी और विकसित होने वाला। किन्ही ने देह से स्वतत्र तो किन्ही ने इसे देह निर्मित कहा है। मानव-जीवन के चरम आदर्श के विषय में भी भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मत है। दार्शनिकों के इस मत वैभिन्य का कोई अन्त नही 'नासौ मुनिर्यस्य मत न भिन्नम्'। प्रत्येक मत का उसके अनुयायी बड़े सशक्त तर्कों से प्रतिपादन एवं समर्थन करते है, जिनसे प्रभावित होकर एक विशेष प्रकार के लोग उसे स्वीकार करने लगते है।

प्रत्येक गहन एव विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादित सिद्धान्त ने एक दार्शनिक मत को उत्पन्न किया है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक सबल तार्किक प्रतिपादन-पद्धति में कुछ न कुछ त्रुटियाँ अवश्य रह ही जाती हैं, विपक्षी उन्हें ढूढ निकालते है तथा उस मत या सम्प्रदाय के समस्त सिद्धान्तों को त्रुटिपूर्ण सिद्ध

करने के लिये उन अपूर्णताओं पर खूब बल देते है। इस प्रकार प्रत्येक दार्शनिक मत उसके समर्थकों द्वारा जितनी योग्यता से प्रतिपादित किया जाता है, उतनी ही योग्यता से प्रतिपक्षियों द्वारा खडित किया जाता रहा है। अगर एक दृष्टि-कोण कुछ सत्यान्वेषियों के लिए सन्तोषप्रद रहा है तो अन्य बहुत से उसे अस्वीकृत करते रहे हैं। इस प्रकार चरम सत्य के बारे में गम्भीर विचार द्वारा प्रतिपादित प्रत्येक मत केवल एकागी दृष्टिकोण बनकर रह गया और कोई भी दार्शनिक सिद्धांत परम सत्य की पूर्ण व्याख्या नही कर सका। प्रत्येक दार्शनिक द्वारा स्वीकृत बौद्धिक मार्ग उसे उस परम सत्य की अनुभूति कराने में असमर्थ रहा, जिसके लिए वह अपने अन्तर्मन में निरन्तर उत्कठा का अनुभव कर रहा था।

योग-मार्ग

चरम सत्य के अन्वेषण में तार्किक एव बौद्धिक प्रक्रियाओं की सीमाओं एव अपूर्णताओं का अनुभव कर दार्शनिकों ने चरम सत्य के अन्वेषण के लिए आध्यात्मिक आत्मानुशासन का मार्ग अपनाया। एक महान् पाश्चात्य दार्शनिक के अनुसार 'पाडित्यपूर्ण अज्ञान दर्शन का अन्त एव धर्म का प्रारम्भ है।' (**Iear-ned ignorance is the end of philosophy and the beginning of religion**) निसन्देह यहाँ धर्म से तात्पर्य किसी रूढ़िग्रस्त मत या सम्प्रदाय की मान्यताओं के प्रति अन्धविश्वासी होकर समर्पण कर देना या कुछ निश्चित आचारों एव अनुष्ठान-विधियों का पालन करना मात्र नही है। वरन् इसका अर्थ किसी विशेषज्ञ गुरु के निर्देशन में शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, हृदय आदि का पूर्ण नियमन, ताकि मनुष्य का पूर्ण व्यक्तित्व परिष्कृत एव निर्मल हो जाये और उसकी भौतिक चेतना, उच्चतर आध्यात्मिक स्तर तक पहुँच कर परम सत्य के प्रकाश को धारण करने में समर्थ हो जाय। साधना की इसी पद्धति का नाम योग है। प्राचीन यूनान के सर्वाधिक प्रसिद्ध दार्शनिक, जिन्हे डेल्फी की दिव्य-वाणी ने अपने युग का सबसे बुद्धिमान व्यक्ति घोषित किया, के गम्भीर उद्गार हैं—'मैं जानता हूँ कि मैं कुछ नहीं जानता' अनेक महान् दार्शनिकों के इस महान् गुरु ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि समस्त दार्शनिक ज्ञान के होते हुए भी वह उस चरम सत्य को नहीं जान सका जिसके लिए सर्वदा उसका हृदय तडपता रहा है।

इस प्रसग में 'फिलासफी' शब्द का विशेष महत्व है। यह अपनी सीमा के भाव को भी स्पष्ट प्रकट करता है। इसका अर्थ है ज्ञान से प्रेम न कि पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति। इसका उद्देश्य ज्ञान या सत्य का सतत अनुसन्धान है न कि उसकी पूर्ण उपलब्धि। दार्शनिक, जब तक अपने तार्किक एवं बौद्धिक विचारणा पर आश्रित है, भले ही हार्दिक निष्ठा से सत्य की ओर अग्रसर होता रहे किन्तु उसकी उपलब्धि नही कर सकता। पूर्ण सत्य को अपनी तार्किक धारणा एव बौद्धिक विश्लेषण का विषय बनाने के प्रयास मात्र मे, वह पूर्ण सत्य से वंचित रह जाता है। वह सर्वदा अन्वेषणरत रहता है, किन्तु पाता कभी नही। उसका

शाश्वत प्रेमी कभी भी निज स्वरूप को उसकी प्रज्ञा के समक्ष प्रकट नही करता। पारमार्थिक सत्य से एकाकार होने के लिए उसे अपनी तार्किक बुद्धि की सीमाओं के परे जाना पडता है। उसकी चेतना को असीम शाश्वत परम सत्य का साक्षात्कार करने के लिए दिक् काल और सापेक्षिकता के स्तर से ऊपर उठना पड़ता है। सच्चे धर्म का यही मार्ग है और यही योग की साधना पद्धति है।

पर्याप्त मनन के पश्चात उपनिषदों के मन्त्र-द्रष्टा ऋषि भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि आत्मा की उपलब्धि दार्शनिक प्रवचन, मेधा या अत्यधिक अध्ययन से नही होती। आत्म-लाभ उसी को हो सकता है, जिसके समक्ष यह (आत्मा) स्वय को प्रकट करता है। सत्यान्वेषी को किसी न किसी प्रकार अपनी चेतना को आत्म उपलब्धि के अनुकूल बनाना पडता है। यह, चाहे कितना ही प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति क्यो न हो, उसकी चेतना का प्राप्त नही हो सकता, जब तक कि उसका मन पवित्र, शान्त, स्थिर और समस्त पापो व कुविचारों से मुक्त नही हो जाता। जब तक व्यक्ति की चेतना में अहभाव विद्यमान रहता है जब तक वह यह सोचता है कि मैं अपनी बुद्धि-बल से आत्मा के सच्चे स्वरूप का बोध कर लूंगा, तब तक वह आत्मोपलब्धि नही कर पाता क्योंकि अहकार के रूप में एक आवरण विद्यमान है। आत्मज्ञान के योग्य बनने के लिए चेतना को अहंकार, वासनाओ, साँसारिक आकर्षणों, मोह और मद से मुक्त होना चाहिए। सत्यान्वेषी नैतिक एव आध्यात्मिक योग्यता बढ़ाकर ही सत्य की उपलब्धि कर सकता है। इसी योग्यता-वृद्धि का नाम योग है। उपनिषदों के ऋषि अन्ततः इसी निर्णय पर पहुँचे थे।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि आत्मा शब्द से ऋषियों का आशय समस्त सत्ता के मूल एव पूर्ण सत्य से हैं। उपनिषदों के ऋषि ब्रह्म शब्द का भी इसी अर्थ मे प्रयोग करते है। यद्यपि आत्मा का अर्थ प्रायः व्यक्ति की मूल सत्ता और ब्रह्म का अर्थ परम, सर्वश्रेष्ठ अनन्त, शाश्वत और ब्रह्माण्ड की मूल सत्ता, से लिया जाता ह। व्यक्ति की मूल सत्ता और ब्रह्माड की मूलसत्ता के तादात्म्य का बोध उपनिषदो के ऋषियो की पवित्र चेतना मे उपलब्ध था इसीलिये उपनिषदो मे आत्मा और ब्रह्म पर्यायवाची शब्द माने गये है। उपनिषदों के ऋषियो ने वेद-वेदांगों को या यों कहिये कि समस्त बौद्धिक ज्ञान को अविद्या का अपरा विद्या कहा है, विद्या व सच्चा ज्ञान वह है जिसके द्वारा पूर्ण परम सत्य का साक्षात्कार हो सकता है। यह परा विद्या योग विद्या ही है वस्तुतः यही पूर्ण चरम सत्य की प्राप्ति का एकमात्र आध्यात्मिक उपाय है। वेदान्तदर्शन, जो भारत का सर्वाधिक लोकप्रिय दार्शनिक सिद्धान्त है, तथा भारत के अन्य समस्त प्रमुख दर्शन यह स्पष्टतया स्वीकार करते है कि तर्क एव विवाद से सत्यान्वेषी अन्तिम व पूर्ण सत्य को नही प्राप्त कर सकता। तर्क-अप्रतिष्ठानात.। वे सभी व्यावहारिकरूप से यह स्वीकार करते है कि ऐसा कोई तर्क नही है, जिसका खडन न किया जा सके। इसलिये उन्होंने आगम या आप्त वचन या श्रुतियो को प्रमाण रूप मे स्वीकार किया।

चरम सत्य के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए अनेकों महान् ऋषियों मुनियो ने इसे 'अवाङ्मनसोगोचरम्' कहा है। उन्होंने सत्यान्वेषियों को स्पष्ट चेतावनी दे दी है कि परम सत्ता के स्वरूप निर्णय में तार्किक एवं बौद्धिक प्रणालियों का प्रयोग न किया जाय। उन्होंने जिज्ञासुओं को सतों के आध्यात्मिक अनुभवों पर विश्वास रखकर व्यावहारिक जीवन में उनके आदेशों को निष्ठापूर्वक मानने की सम्मति दी ताकि वे उस परम सत्य को पा सके।

दार्शनिक भी चरम सत्य के विषय में अपने मतों का प्रतिपादन करने में प्राय. इन विश्व पूज्य सन्त महात्माओं के आध्यात्मिक अनुभवों को सदर्भित करते हैं। लेकिन ऐसा करते हुये, उन्हे आवश्यक रूप से सन्तों द्वारा कथित आत्मानुभूतियों पर विश्वास करना पड़ता है, जो स्वय सन्तों की दृष्टि में ही तार्किक दलीलों एवं मौखिक अभिव्यक्तियों के परे है, अनिवर्चनीय है।

स्वभावत: विभिन्न दार्शनिक मतावलम्बी इन शब्दों का भिन्न-भिन्न अथ लगाते हैं और इनके बल पर अपने दृष्टिकोण को पुष्ट करने का प्रयत्न करते है। वेदान्त दर्शन में ही कई उप-सम्प्रदाय हैं, जो चरम सत्ता के स्वरूप के विषय मे एक दूसरे से नितान्त भिन्न धारणाये रखते है। एक दूसरे का कठोर खडन करते है यद्यपि सबके सब उपनिषदों और गीता को ही अपना आधार ग्रन्थ मानते है। सभी दार्शनिक सम्प्रदाय इन ग्रन्थों (उपनिषदों और गीता) को बौद्धिक धारणा से परे आध्यात्मिक स्तर पर उपलब्ध सत्य की अभिव्यक्ति का समुच्चय मानते है। प्रत्येक मतानुयायी इन ग्रन्थों के कथनों की अपने मतानुसार टीका करके अन्य मतों का खडन करता है। इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिक भी भिन्न-भिन्न मतो में बँट गये हैं, यद्यपि सब भगवान बुद्ध के आध्यात्मिक अनुभवों को ही बौद्धिक दृष्टि से प्रतिपादित करने का दावा करते है। परम् सत्य की झलक प्रस्तुत करने वाले संतों के आध्यात्मिक अनुभवों की यही परिणति है। तार्किक खडन-मडन अन्तत: निश्चित रूप से मत वैभिन्य की ओर ले जाता है।

योग-मार्ग मे ऐसे किसी बौद्धिक विकल्प की आवश्यकता नहीं होती। इसमे न प्राकल्पना के निर्माण की जरूरत होती है और न उनकी तार्किक समीक्षा की। इस मार्ग के सत्यान्वेषी को विभिन्न दार्शनिक मतों के विवाद मे उलझना नही पड़ता। न तो वह किसी मत-विशेष के तार्किक प्रतिपादन में रूचि लेता है, और न अन्य विचारकों की आलोचना में। अतीन्द्रिय एव परम सत्य के विषय मे कोई तर्क सिद्ध बौद्धिक धारणा निर्माण करना उसका लक्ष्य नहीं होता, वह तो चेतना को उच्च आध्यात्मिक स्तर पर उठाकर परम सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति करना चाहता है। इस प्रकार के अनुभव की यथार्थता में अटूट विश्वास रखकर योगी अपने मार्ग पर अग्रसर होता है। इस अतिमानसिक सत्य के विषय मे कोई बौद्धिक धारणा या विकल्प बनाकर वह उलझन मे नही पड़ना चाहता क्योंकि इस परमसत्ता की अनुभूति मानसिक विकल्प की सीमा के बाहर की बात है।

अस्तित्व एवं चेतना के निम्न स्तरों पर इस बात का अनुमान लगाना

नितान्त असम्भव है कि उच्च स्तरों पर किस कोटि की अनुभूति संभव है या सम्भव नही है। जो बात चेतना के उच्च स्तर पर स्वाभाविक व सहज हो सकती है, वही निम्नस्तर पर चमत्कारी. अप्राकृत या अतार्किक प्रतीत हो सकती है। एक बालक भाव एव सौन्दर्य के विषयों के आंखों के सामने उपस्थित होने पर भी किसी प्रकार की भावात्मक या सौन्दर्यानुभूतिपरक धारणा नही बना सकता, जबकि युवकों एवं युवतियों के लिए इस प्रकार की धारणा बनाना सहज होता है। जिस व्यक्ति का कलात्मक बोध विकसित नहीं है, वह एक मधुर संगीत या सरस कविता या सुन्दर चित्र का आनन्द नही ले सकता, यद्यपि ये कलाकृतियाँ किसी संगीतज्ञ कवि या चित्रकार के हृदय की सहज अभिव्यक्तियाँ ही हो सकती हैं। इसी प्रकार योगी के प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभव का स्वरूप उन व्यक्तियों की समझ से परे की बात है, जिनकी चेतना शुद्ध एव उच्चस्तरीय न हो और जिन्होंने योगाभ्यास न किया हो। यहां तक कि एक सिद्ध योगी भी अपने आन्तरिक अनुभव के सच्चे स्वरूप का यथार्थ वर्णन नही कर सकता। वह एक सत्यान्वेषी को सत्य एवं आनन्दपूर्ण अनुभूतियों की ओर अग्रसर होने के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य कर सकता है, किन्तु वह स्वयं इन अनुभूतियों का भाषा के माध्यम से ठीक-ठीक बोध नही करा सकता. और न तार्किक पद्धति से इस कोटि की सत्यानुभूति की संभावना का ही विश्वास दिला सकता है।

चरम सत्य की खोज योगी इस विश्वास के साथ करता है कि यद्यपि चरम सत्य बौद्धिक धारणा या तार्किक विश्लेषण से परे है, किन्तु वह स्वयं को मानवीय चेतना के समक्ष प्रकट कर देता है, जब यह चेतना विशुद्ध, एकाग्र और सत्य की आत्म-अभिव्यक्ति के मार्ग की समस्त बाधाओं से मुक्त हो जाती है। इसीलिये योगी चरम सत्य के बारे में निरर्थक तार्किक युक्तियों और धारणाओं के निर्माण के स्थान पर अपनी चेतना को, यम-नियम आदि के आत्म अनुशासन-मार्ग का अनुसरण कर, उच्चस्तरीय बनाने का प्रयास करता है और यह प्रयास तब तक चलता रहता है, जब तक अद्वैत सिद्धि प्राप्त नहीं हो जाती।

सामान्यत: मानव-चेतना देह, मन, बुद्धि, अहकार आदि से बाधित रहती है। ये सब मिलकर अहं की चेतना को जन्म देते हैं। आत्मा इन पेचीदे भौतिक और मानसिक बन्धनों से जकड़ी हुई प्रतीत होती है। मनुष्य की धारणायें, अनुमान, कल्पनाये, विचार, इच्छायें एवं भाव और अभिलाषाये इत्यादि सब इस दैहिक सत्ता की सीमाओं से प्रभावित एवं नियन्त्रित होती हैं। इसलिये ये सबकी सब एक सापेक्षिक जगत् की सीमा में ही बद्ध होती हैं। मानव की अन्तरतम चेतना में सर्वदा इन भौतिक-मानसिक बन्धनों से मुक्त होने की तीव्र अभिलाषा ज्वलित रहती है। वह उस चरम सत्य, शिव, सुन्दर एवं आनन्द की पूर्ण प्राप्ति करना चाहता है, जिसके विषय में वह अपनी साधारण अवस्थाओं में कोई धारणा भी नहीं बना सकता।

आत्मा की इस पिपासा के कारण ही इस परिवर्तनशील नाशवान् संसार की

बड़ी से बड़ी उपलब्धि भी उसके हृदय को पूर्ण सन्तुष्टि नहीं प्रदान कर सकती और वह सर्वदा कुछ अपूर्णता अनुभव करता है, वह अधिक से अधिकतर की प्राप्ति की चेष्टा करता रहता है। इसके अनन्तर क्या है ? इसके आगे क्या है ? 'ततः किं ? 'ततः किम्' की चाह बराबर बनी रहती है। उसकी गहनतम चेतना की अन्तरतम जिज्ञासा उसे विश्वास दिलाती है कि आत्मानुशासन के उचित मार्ग का अनुसरण करने से वह इस भौतिक-मानसिक शरीर की सीमाओं को पार कर उस चरम सत्य, शिव, सौन्दर्य एव आनन्द की प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त कर सकता है, जिसके लिये उसकी आत्मा सदा तड़पती रहती है।

इस परम आध्यात्मिक सत्यानुभव को लक्ष्य बनाकर एक योगी आत्म-संयम एवं नियम की उन साधनाओं का अभ्यास करता है, जो उसकी चेतना को मनो-भौतिक बन्धनों से मुक्त कर देती है। वह आत्म-चेतना की उस आदर्श स्थिति को अपना लक्ष्य स्वीकार करके चलता है, जो सभी प्रकार की कलुषताओं, भ्रान्तियों, सन्देहों और जटिलताओं से मुक्त होती है, जो सभी प्रकार की इच्छाओं, आसक्तियों, आकर्षणों, वासनाओं से परे होती है, जो सभी प्रकार की तर्कनाओं एवं पूर्वाग्रहों से रहित होती है और जो वैयक्तिक अहभाव तथा वस्तु एव आत्मपरकता, अन्तर एव बाह्य, आत्म और अनात्म के भेदों से अतीत होती है। यह चेतना की ऐसी निर्मल, स्वच्छ, शान्त, इच्छा एवं विचार-रहित, अहंभाव से युक्त, आत्म-पर या वस्तु एव भाव के भेद से रहित परमोज्ज्वल स्थिति होती है, कि इसमें परम सत्य, शिव, सुन्दर एवं आनन्द अपने को चेतना के सारभूत रूप में व्यक्त करता है। इस अन्तिम स्तर पर वाह्य या आन्तरिक ज्ञाता या ज्ञेय का भेद मिटकर केवल एक अद्वैत आत्मा प्रकाशित रहती है। इस पारमार्थिक स्तर पर देश, काल, दिक्, कारणत्व के भेद का लोप हो जाता है। सत्य, शिव, सौन्दर्य एवं आनन्द एक निरपेक्ष पूर्ण ब्रह्मानुभव का रूप धारण कर लेते है, जिसका अनुभूत रूप हमारी सामान्य बुद्धि की विश्लेषण-शक्ति से परे होता है। यह स्वतःप्रमाण्य होता है, जिसका तर्क से खंडन या मडन संभव नही। जिस योगी को यह दिव्य अनुभव हो जाता है, वह समस्त संदेहों से मुक्त हो जाता है और परम सत्य की उपलब्धि के लिए उसकी सतत आकुलता पूर्णतः संतुष्ट हो जाती है। सच्चे जिज्ञासु योग-मार्ग में ऐसे सिद्ध गुरु के पथ-प्रदर्शन में श्रद्धा और धैर्य के साथ सिद्धि-पथ पर अग्रसर होते हैं।

योगशास्त्रों में चेतना की इस पारमार्थिक अवस्था को समाधि कहा गया है। योग-मार्ग में आत्मानुशासन का समस्त प्रयास इसी समाधि दशा की प्राप्ति के लिये किया जाता है, क्योंकि समाधि में ही चरम सत्य का पूर्ण अनुभव संभव है। समाधि पूर्णरूपेण व्यावहारिक आदर्श है। इसकी प्राप्ति के लिये किये गये प्रत्येक प्रयास का परीक्षण किया जा सकता है और उसे प्रमाणित किया जा सकता है। इसीलिये योग को मानव-जीवन के अन्तिम आदर्श की प्राप्ति का सबसे व्यावहारिक मार्ग कहा गया है। महाभारत में भीष्म कहते हैं: 'प्रत्यक्ष अनुभव ही योग का

आधार है । समाधि चेतना की कोई स्थिर अवस्था नहीं हैं । समाधि के उच्च से उच्चतर स्तर हैं, प्रत्येक स्तर पर सत्य की गहन से गहन अनुभूति प्राप्त होती है ।'

समाधि-अनुभव का स्वरूप

समाधि की उच्चतम अवस्था के अनुभव को न तो आत्मगत कहा जा सकता है और न वस्तुगत तथा न इसे अनुभव का निषेध ही कह सकते हैं। इसका स्वरूप—कल्पना, भ्रम, विभ्रम एवं स्वप्न, जो किसी आन्तरिक उत्तेजना के फल-स्वरूप होते है, जैसा भी नहीं है। इस प्रकार के अनुभव प्रामाणिक ज्ञान के प्रारूप नही माने जा सकते । वे व्यावहारिक चेतना की अशुद्ध एवं उद्विग्न अवस्था में उत्पन्न होते है । इनके अनुभव-काल में अनुभूत विषयों की बाह्य जगत् के वास्तविक पदार्थों से कोई अनुरूपता नही होती । समाधि अवस्था में चेतना शुद्ध, शान्त, स्थिर और निर्मल होती है। बाह्य और आन्तरिक उत्तेजनाओं से मुक्त, आत्म आरोपण, मूल और कल्पना से रहित बुद्धि और मन के व्यापार से परे वह चरम स्थिति है, जिसमें 'अहं' का नाश हो जाता है और इसीलिये समाधिगत अनुभव किसी विशेष अहंतापूर्ण मनःस्थिति से परिसीमित नही होता । गहन समाधि में ज्ञाता और ज्ञेय में कोई भेद नहीं रहता । व्यक्ति की चेतना सांसारिक चेतना से उठकर चरम आध्यात्मिक चेतनामय हो जाती है और इस स्थिति में जिस सत्ता की अनुभूति प्राप्त होती है, वह नितान्त व्यक्तिगत नही होती । ऐसा नही होगा कि वह किसी व्यक्ति विशेष के लिये सत्य तथा अन्यों के लिये असत्य हो । प्रत्येक वैयक्तिक चेतना जो इस स्तर पर पहुँचती है, उसे यही पारमार्थिक अनुभव उपलब्ध होता है। अतः समाधि की उच्चतम अवस्था अर्थात् निर्विकल्प समाधि में जिस सत्ता की अनुभूति होती है, वह निश्चितरूपेण परम सत्य है ।

यह भी स्पष्ट है कि समाधि-अनुभव जाग्रत जीवन के साधारण वस्तुगत अनुभव जैसा नहीं है, जो भौतिक-मानसिक शरीर की सीमाओं और उपाधियों से बाधित होता है तथा जिसकी अनुभूत वस्तुयें सीमित, सापेक्षिक एवं व्यावहारिक सत्तायें मात्र होती हैं। समाधि की अवस्था में चेतना यद्यपि भौतिक-मानसिक शरीर से सम्बन्ध रखती है, किन्तु वह क्षुद्र अहं, व्यक्ति और वस्तु के सापेक्षिक सम्बन्ध तथा अन्य उपाधियों से ऊपर उठकर पूर्ण पवित्र, शान्त, निर्मल एवं ज्योति-युक्त हो जाती है। इस परमार्थिक चेतना में जिस सत्ता का साक्षात्कार होता है वह सांसारिक पदार्थ की भांति अलग अस्तित्व न रखकर अनुभवकर्त्ता से अभिन्न हो जाती है।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या समाधि अवस्था में वास्तव में कोई अनुभव होता भी है ? व्यावहारिक जीवन के सामान्य आत्मगत एवं वस्तुगत अनुभव के स्तर से सोचने पर यह प्रश्न अप्रासंगिक नहीं है । जहाँ अनुभवकर्त्ता और अनुभूति पदार्थ का भेद नहीं, जहां भोक्ता और भोग्य का अन्तर नहीं, वहां कोई वास्तविक

अनुभव कैसे हो सकता है ? क्या इसे वास्तविक अनुभव कह सकते हैं, जब कि शुद्ध चेतनता के अतिरिक्त कुछ रह ही नही जाता। यही नही, यह भी पूछा जा सकता है कि आत्मगत और वस्तुगत अनुभव के अभाव में क्या चेतना का अस्तित्व भी सभव है ? चेतना विषय या कार्य के अभाव में चेतना कैसे रह सकती है ? जिसे समाधि अवस्था कहा जाता है, क्या वह सुषुप्ति अथवा मूर्च्छा की स्थिति नहीं कही जा सकती, जिसमें कोई वास्तविक अनुभूति होती ही नही, जिसमें चेतना पूर्णतः अज्ञानावस्था में होती है, यहाँ तक कि इसे मानसिक-भौतिक सीमाओं, बाह्य-संसार तथा स्वयं अपने अस्तित्व का भी ज्ञान नहीं रहता। क्या समाधि-दशा पूर्ण अज्ञान या पूर्ण अचेतनता की अवस्था नही कही जा सकती ?

जिन लोगों ने कभी समाधि अवस्था के दिव्य अनुभव का आनन्द प्राप्त नही किया, उनके चंचल एवं विकल्प-पूर्ण मनों में ऐसे सदेह उत्पन्न होना स्वाभाविक है। सिद्ध योगी, जिसकी चेतना उस दिव्य पारमार्थिक स्तर तक उठ चुकी है तथा जिसने उस अवस्था का स्वय अनुभव प्राप्त कर लिया है, वह इस प्रकार के सदेहों से पूर्ण मुक्त रहता है। उसके लिए समाधि शून्यावस्था न होकर पूर्णावस्था होती है, अंधकारावस्था न होकर पूर्ण प्रकाश की अवस्था होती है, जो सामान्य स्थितियों में कभी भी मानसिक अनुभूति का विषय नही हो सकती। न यह परम अज्ञान की अवस्था है। वस्तुतः यह परम ज्ञान या केवल ज्ञान की उच्चतर स्थिति है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं, जिसमें वस्तु और चेतना भेद मिट जाता है और कुछ भी जानने को शेष नही रहता और जिसमें अस्तित्वों के वैविध्य से पूर्ण यह समग्र विश्व-चेतना से अपनी मूलभूत एकता एव अभिन्नता प्रकट कर देता है। सम्पूर्ण विश्व में एक ही तत्त्व विद्यमान है, चेतना के उच्चतम आध्यात्मिक स्तर पर अनुभूत होने वाला यह सत्य, जोकि सामान्य वस्तुगत या व्यक्तिगत अनुभव की वस्तु नही है और जो सामान्यतः अवर्णनीय एवं अकल्पनीय है, समाधि अवस्था में योगी के लिए वास्तविक अनुभूति का विषय बन जाता है।

परस्पर आश्रित एवं अनेकता के जगत् में उत्पन्न होने, विचरण करने एवं जीवन-यापन करने से हम जगत् की विभिन्न सत्ताओं के सम्बन्ध एवं अन्तर को वास्तविक एव स्वाभाविक मान बैठते हैं। साधारण अनुभव में चेतन और जड़ दो नितान्त भिन्न पदार्थ प्रतीत होते हैं, इनमें कोई भी एक-दूसरे का कारण या परिणाम नहीं सिद्ध किया जा सकता। किन्तु दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध इतना गूढ़ है कि एक के अभाव में दूसरे की निश्चित धारणा भी सभव नहीं। जीवधारियों के जगत् में पदार्थ आत्मा को शरीर प्रदान करता है और आत्मा भौतिक शरीर को सारवत्ता प्रदान करती है। पदार्थ को जड़, अचेतन एवं निष्क्रिय माना जाता है, जो स्वयमेव सक्रिय नही हो सकता। चेतन आत्मा पदार्थ के प्रत्येक अणु में प्रवेश कर इसे सचेतन शरीर का रूप प्रदान करती है और यह शरीर आत्माभि-व्यक्ति का साधन बन जाता है, जिन्हें हम जड़ भौतिक पदार्थों के रूप में अनुभव करते हैं और जो हमारी चेतन-आत्मा के अनुभव के विषय हैं। आत्मा के सदर्भ

एवं सापेक्षता में ही उनका महत्व हैं अन्यथा उनका अस्तित्व शून्यवत् है। भौतिक आकार या शरीर की अनुपस्थिति में आत्मा भी निर्गुण या रिक्त प्रतीत होती है। इस प्रकार हमारे साधारण अनुभव में आत्मा और पदार्थ मूल रूप से परस्पर भिन्न और सम्बन्धित दोनों ही है।

पुनः इस अनेकत्व-युक्त जगत् मे आत्माये भी अनेक और भिन्न-भिन्न दिखाई देती है। प्रत्येक की अलग-अलग अनुभव, आशा, अभिलाषा तथा भौतिक मानसिक देह होती है। परन्तु वे परस्पर आश्रित एव सम्बन्धित भी है। इसी प्रकार जड़ पदार्थ भी, जिन्होंने वस्तु-जगत् का निर्माण किया है, भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु वे सब परस्पर सम्बन्धित है।

हमारे साधारण अनुभव और ज्ञान की सामग्री इन परस्पर सम्बन्धित व्यावहारिक जगत् की अनेक सत्ताओं से प्राप्त होती है। हमारी व्यावहारिक चेतना इस अनेकता के परे नही जा सकती, लेकिन हमारी चेतना के गहन अन्तराल में यह भाव सर्वदा बना रहता है कि यह ज्ञान अपूर्ण है। यह रहस्यमय भावना हममें सर्वदा बनी रहती है कि व्यावहारिक जगत् की अनेकताओं को व्यवस्थित रूप से संजोये रखने के लिये इसमें अन्तर्निहित एकता अवश्य होनी चाहिये और वह एकता ही इस अनेकता की वास्तविक सत्ता होगी।

इस वैविध्यपूर्ण विराट् विश्व के मूल में अतिम सत्य के रूप में एक ही परम सत्ता का अस्तित्व होना चाहिये, यह हमारी चेतना की अन्तर्निहित माग है। यही मांग सभी वैज्ञानिक एवं दार्शनिक ज्ञान का सारतत्त्व है। प्रत्येक विज्ञान सूक्ष्म निरीक्षण, प्रयोग, तार्किक विश्लेषण और सिद्धान्तीकरण की पद्धति से इस प्रापचिक अनेकत्व के पीछे या अन्तर में किसी एकत्व के सिद्धान्त को ढूढ़ निकालने का गभीर प्रयास करता है। प्रत्येक दार्शनिक मत या दृष्टिकोण की महत्त्वाकांक्षा भी समस्त वस्तुओं के मूल में निहित एकत्व की खोज करना है। लेकिन इनके मार्ग और उपाय उस एकता के यथार्थ ज्ञान के योग्य नहीं है इसीलिये वे इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिये चाहे जो सिद्धान्त या नियम क्यों न बनायें, उन्हें सफलता प्राप्त नही होती। जड़-चेतन, आत्मा-पदार्थ, ज्ञाता-ज्ञेय की एकता का ज्ञान दार्शनिक तथा वैज्ञानिक साधनों से सम्भव नही, क्योकि ये वस्तुगत और प्रापंचिक होते है, जबकि विकल्प में प्रत्येक प्रापचिक वस्तु को एकता प्रदान करने वाली वह शाश्वत अनन्त आधाररूपा सत्ता व्यावहारिक एव प्रापंचिक नहीं हो सकती। अतः वह वैज्ञानिक या दार्शनिक ज्ञान की वस्तु भी नही है। जो सत्ता समस्त चेतन-प्राणियों के समस्त पदार्थो का मूलाधार है, वह किसी सांसारिक ज्ञेय पदार्थ की भांति एक ज्ञाता विशेष के सम्मुख प्रकट नही की जा सकती। इसलिये विविध अस्तित्वों मे अन्तर्निहित एकता, जिसकी उपलब्धि के लिये मानव-चेतना में सर्वदा गहन उत्कंठा बनी रहती है, समस्त वैज्ञानिक और दार्शनिक ज्ञान के परे रहती है।

एक सिद्ध योगी की चेतना, उच्चतम आध्यात्मिक स्तर पर उठकर,

समाधि अवस्था में प्राणी और वस्तु मात्र के अन्तर में निहित इस एकता का साक्षात्कार करती है। यह अनुभूति सभी प्रकार के दार्शनिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान से भिन्न है। यह इन्द्रियानुभूत ज्ञान एवं तर्काश्रित निष्कर्षो से भिन्न है। अनुभूति के इस स्तर पर चेतना पदार्थ और आत्मा, विषय और विषयी, अन्तः और बाह्य तथा एक और अनेक के भेद से ऊपर उठ जाती है। इसमें चेतना समस्त अस्तित्व के आधारभूत सत्य से पूर्णरूपेण एकाकार हो जाती है। यह पारमार्थिक अनुभव की समाधि अवस्था में ही प्राप्त हो सकता है। जिस योगी को यह प्राप्त हो जाता है, वह जीवन के चरम लक्ष्य—परमसत्य का ज्ञान—को पाकर पूर्ण सन्तुष्टि और शान्ति पा जाता है। वह समस्त दुःखों, बन्धनों, सीमाओं और अपूर्णताओं से मुक्त हो जाता है। इस अद्वैत सिद्धि के बाद समस्त भय, चिन्ता, कठिनाइयों और लोभ-मोह का नाश हो जाता है। योगी विनाशवान्-परिवर्तनशील जगत् की सीमाओं से परे चला जाता है। इस अनुभव का बड़ा सुन्दर वर्णन योग-सूत्रों के प्रसिद्ध टीकाकार ने इस प्रकार किया है—जो कुछ जानने योग्य है, वह ज्ञात हो जाता है। जो कुछ करने योग्य है, वह प्राप्त हो जाता है। समस्त क्लेश जो नाश करने योग्य हैं, वे नष्ट हो जाते है और समस्त कर्म-बन्धन—पुण्य-पाप—छूट जाते हैं। योग-सूत्रों में पांच प्रकार के क्लेश या मौलिक दुःख और बन्धन के स्रोत कहे गये हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। हमारी सांसारिक अच्छी या बुरी क्रियाओं का नियत्रण ये ही करते हैं और ये ही हमें कर्म-सिद्धान्त के अन्तर्गत विभिन्न योनियों में—जन्म धारण कर कर्मानुसार सुख-दुःख भोगने को विवश करते हैं। इन समस्त क्लेशों का, जिनसे हमारी चेतना साधारण स्तरों पर प्रभावित होती है और जिनसे हमें जगत् में सुख-दु खों की प्राप्ति होती है, पारमार्थिक अनुभव प्राप्त करते ही नाश हो जाता है। एक सिद्ध योगी इस प्रकार वैयक्तिक जीवन के समस्त बन्धनों से छुटकारा पाकर पूर्ण स्वतंत्र हो जाता है। इसे ही मुक्ति या मोक्ष कहते हैं। अपने इस तत्व ज्ञानालोकित अनुभव में वह स्वयमेव सीमित व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाता हैं, जहां वाह्य जगत् का लोप हो जाता है, एक सीमित परिवर्तनशील मृत व्यक्तित्व के रूप में उसका जीवन-दीपक बुझ जाता है, इसीलिये यह निर्वाण कहलाता हैं। इस उच्चतम स्थिति में व्यक्ति ब्रह्ममय हो जाता है। केवल ज्ञान रूप होने के कारण इसे ही कैवल्य-प्राप्ति भी कहते हैं।

सामान्य जीवन पर तत्व-ज्ञानालोकित समाधि-अनुभव का प्रभाव

कैवल्य, निर्वाण या मोक्ष प्राप्त कर लेने पर योगी का मानसिक-भौतिक जीवन समाप्त नहीं हो जाता। चेतना पुनः उच्चतम आध्यात्मिक स्तर से उतर कर सामान्य स्तर पर आ जाती है। समाधि-दशा से व्युत्थान दशा में उतर आती है। पूर्ण ज्ञानालोकित स्तर से परिसीमित ज्ञान के स्तर पर आ जाती है। तत्व ज्ञानालोकित योगी नानात्वमय बाह्य जगत् के बारे में सचेत हो जाता है। उसका

आत्म एवं जगत् सम्बन्धी ज्ञान, मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा अहंकार से बाधित हो जाता है। वह पुनः जगत् के अनन्त सामान्य व्यक्तित्वों में से एक हो जाता है।

बाह्य रूप से यद्यपि ऐसा लगता है कि योगी तत्व-ज्ञानालोकित स्थिति से सामान्य अवस्था में आ गया है, किन्तु आन्तरिक रूप से यह बात नही होती। अतिमानसिक तथा अहं से परे इस पारमार्थिक अनुभव का आलोक उसके साधारण मन, बुद्धि व अहंकार को दिव्य बना देता है। जगत्, अन्य प्राणियों एवं स्वय के प्रति उसके दृष्टिकोण में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आ जाता है। इस पारमार्थिक अनुभव से पूर्व भेदात्मक जगत् की आन्तरिक आध्यात्मिक एकता गुप्त रहती है। अनेकता में जो एकता विद्यमान रहती है, उसे देखने के लिये उसके पास नेत्र नहीं रहते। वह पूर्ण ब्रह्म, जो इस सापेक्षिक अनेकतायुक्त नानात्वमय जगत् में अपने आपको अभिव्यक्त करता है, जो इस जगत् का नियन्ता, आधार तथा स्रोत है, वह उसकी दृष्टि से छिपा रहता है, यद्यपि उसमें उसके दर्शन की एक तीव्र अभिलाषा सर्वदा रहती है। ब्रह्म-साक्षात्कार होते ही वह अभिलाषा पूर्ण हो जाती है, चेतना पर से द्वैत का आवरण हट जाता है और वह दिव्य-ज्ञान-युक्त हो जाती है। यह ज्ञान उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा अहकार तक को गहन रूप से प्रभावित कर देता है। अहं की चेतना अब परम सत्ता (ब्रह्म) से अपने को अभिन्न अनुभव करने लगती है। परम सत्ता को वह अपना सच्चा स्वरूप मानती है। वह अपने को परम सत्ता की वैयक्तिक अभिव्यक्ति मानती है। बुद्धि अब सिद्धान्त या कल्पनाये न रचकर—पहले प्रतीत होने वाली समस्त समस्याओं की तार्किक व्याख्या तथा अंतिम समाधान ब्रह्म में पाती है। तत्व-ज्ञानालोकित मानस के समस्त विचार, भाव और कर्म अब परमतत्व को केन्द्र मानकर उसके चारो ओर उसी से प्रेरित होकर क्रियाशील होते हैं। इन्द्रियों से अनुभूत होनेवाले नाना पदार्थ अब उस एक सत्ता के अनेक रूप दिखाई देते हैं।

समाधि-अवस्था में नानारूपात्मक बाह्य जगत् एव अनुभवकर्ता, दोनों ही पारमार्थिक चेतना में पूर्णतया विलीन हो जाते है। पारमार्थिक चेतना ही दोनों का परम सत्य बन जाती है। योगी के तत्वज्ञानालोकित अनुभव में व्यावहारिक जगत् और अहं दोनों उपस्थित रहते है। दोनों एक-दूसरे से परिव्याप्त होते हैं, दोनों एक ही तत्व की द्विविध अभिव्यक्ति के रूप में स्थित होते है। दोनों का सत्य एक होने के कारण योगी सबको अपने में और अपने को सब में देखता है। वह अनेकता में एकता, ससीमता में असीमितता, क्षणिकता में शाश्वतता तथा समस्त परिवर्तनों में अपरिवर्तनशीलता का दर्शन करता है। वह सब में निज आत्मा के दर्शन करता है, इसी से सब को प्यार करता तथा किसी से डरता या घृणा नहीं करता है।

समाधि की स्थिति में योगी काल और दिक् से ऊपर उठ जाता है। अनादि-अनन्त काल-प्रवाह इस चरम अनुभव में एक अपरिवर्तनीय शाश्वतता बन जाता है। असीम आकाश या दिक् भी एक भेद-रहित अनन्त में विलीन हो जाता

तत्वज्ञानालोकित योगी साधारण अनुभव में, काल की गति में शाश्वत अनादि काल को देखता है, दिक्-रहित निस्सीमता समस्त दिशाओं में परिव्याप्त हो जाती है। समाधि-अवस्था मे योगी के इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहकार आदि सब निष्क्रिय रहते है, इसलिये इस अवस्था में वह बाह्य पदार्थ, सुख-दु:ख, भूख-प्यास, राग-द्वेष, कर्तव्य-अकर्तव्य का अनुभव नही करता। वहां विचार, तर्क और विकल्प कुछ भी नही रहता है। इस अवस्था में कोई आचरण नही होता। उनकी चेतना निर्वाधित अभेदात्मक एवं अनावृत्त पूर्णता में ज्योतित होती है। जहां सत्ता और चेतना का अद्वैत हो जाता है। जब योगी अपने इस पारमार्थिक अनुभव की स्मृति और ज्ञान को लेकर साधारण स्तर पर उतर आता है, उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय साधारण कार्य करने लगते है, परन्तु उनमे एक नवीन ज्ञानोद्दीप्ति होती है। उसकी इन्द्रियां साधारण प्रत्यक्ष से परे किसी अतीन्द्रिय सत्ता का दर्शन करती दिखाई पड़ती हैं। उसका मानस् अपने साधारण क्रिया-कलापों में भी किसी अतिमानसिक स्तर पर ही स्थित दिखाई देता है। जगत् की समस्त हलचलों के प्रति तटस्थता, चिन्तारहित दृष्टिकोण, प्रत्येक परिस्थिति में द्वन्द्वों से मुक्त उसका मन निर्मल दिखाई देता है। उसका समस्त बौद्धिक व्यापार भी इस पारमार्थिक सत्य पर ही केन्द्रित दिखाई पड़ता है।

तत्त्वज्ञानालोकित योगी इन्द्रिय, मन और बुद्धि के साधारण जगत् में रहता है, किन्तु उसकी आत्मा पूर्ण शान्ति और आनन्द के अतिमानसिक, अतिबौद्धिक स्तर पर विराजती है। सतत अनुशासन के परिणामस्वरूप उसकी देह, इन्द्रियां विचार-शक्ति तथा विवेक-शक्ति तीव्र और सात्त्विक हो जाती हैं; इतना ही नहीं, योग-साधनाओं के फलस्वरूप उसे अद्भुत् सिद्धियां प्राप्त हो जाती है, जो सापेक्षिक जगत् के स्तर पर साधारण लोगों के लिए चमत्कार या दिव्य प्रतीत होती हैं। वह नेत्र बिना देख सकता है, कान बिना सुन सकता है। वह त्रिकालज्ञ, परकाया-प्रवेश करने वाला तथा सर्वज्ञाता बन सकता है। वह आकाश में पक्षियों की भांति विचरण कर सकता है, दीवारों में मार्ग बना सकता है और प्रकृति की शक्तियों से मनचाही इच्छा पूर्ण करा सकता है। योग-शास्त्रों के अनुसार एक सिद्ध योगी नये जगत् का निर्माण करने की भी शक्ति रखता है। सच्चे सिद्ध कभी भी अपनी शक्तियों का प्रदर्शन नहीं करते, किन्तु जगत् के निराश आत्मविश्वासहीन व्यक्तियों को मानवात्मा की अनुपम शक्तियों का ज्ञान कराने के लिए कभी-कभी अपनी शक्तियों का प्रदर्शन कर देते हैं और साधारण लोगों को यह विश्वास दिला देते हैं कि अगर वे आत्म-अनुशासन तथा संयम के मार्ग का अनुसरण किसी योग्य गुरु के निर्देशन में करें, तो वे भी स्वयं के स्वामी बन सकते हैं।

यद्यपि पारमार्थिक अनुभव के स्तर पर एक योगी तथा दूसरे योगी में कोई अन्तर नहीं होता, तथापि दिव्य ज्ञानयुक्त योगी जब व्यावहारिक जीवन के साधारण अनुभव स्तर पर उतर आते हैं तो उनके आचरण भिन्न होते हैं। यह भिन्नता प्राय: उनके मानसिक-भौतिक शरीरों, दिव्य अनुभव के पूर्व की आदतों

तथा वातावरण एवं परिस्थितियों के कारण होती है। कुछ योगी बाह्य जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद कर एकान्त में अटूट समाधि-अनुभव का आनन्द लेते रहते है, वे अपनी चेतना को निम्न स्तरों पर उतरने ही नही देते। अन्य तत्त्वज्ञानी योगी जगत् के जीवों के अनन्त दु:खों को देख, प्रेम और दया से द्रवीभूत होकर, इन लोगों के सम्पर्क में रहकर, सत्य ज्ञान की ज्योति प्रदान कर, इन्हें बन्धन और दु खों से मुक्त करते हैं। आन्तरिक जीवन में वे अनन्त एवं शाश्वत स्तर पर रहते हुए बाह्य जीवन में प्रेम और दया से प्रेरित होकर सक्रिय रहते है। इनके द्वारा वितरित आध्यात्मिक ज्योति सांसारिक मनुष्यों में अनन्त शाश्वत परम सत्य के लिये अभीप्सा जाग्रत कर देती है, जो अन्यथा कुंठित रहती है।

ऐसे सिद्ध योगी, जगत् के समस्त कार्य-कलापों और व्यक्तियों को आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखने वाले, हर युग में मानवता के सच्चे पथ-प्रदर्शक, शिक्षक तथा सस्कृति एवं सत्यता के नेता होते हैं। इन लोगों के जीवनाचारों और शिक्षाओं से प्रेरणा लेकर साधारण स्तर पर रहने वाले सांसारिक मनुष्य भी उस चरम सत्य की झलक प्राप्त करते है, जो सर्वव्यापी, सर्वान्तिर्यामी और सबसे परे है। इन योगियों से साधारण लोगों को जीवन के परम आदर्श का भी ज्ञान प्राप्त होता है। यही सन्त समाज-सेवा और बौद्धिक योग्यता से अपने साथियों के समक्ष जीवन के पवित्रतम आदर्श तथा नैतिक मूल्यों का श्रेष्ठतम मानदड प्रस्तुत करते हैं। ये ही जीवन का गहनतम अर्थ तथा इस विशाल ब्रह्माण्ड का गहनतम रहस्य प्रकट करने वाले होते हैं। समाज के हर वर्ग के सभी स्त्री-पुरुषों के लिए ये शाश्वत प्रेरणा देते हैं।

विश्व-बन्धुत्व, विश्व-प्रेम, सहानुभूति, मानव-मानव की समानता, जीवमात्र के जीवन की पवित्रता, न्याय व स्वतन्त्रता के अधिकार, सत्य का आदर, नि:स्वार्थ सेवा, मानव जाति की एकता, ब्रह्माण्ड की एकता—मानव जाति को उच्च से उच्चतर सभ्यता की ओर ले जानेवाले ये महान् विचार इन सिद्ध योगियो की देन है। जिन सर्वश्रेष्ठ तथा सबसे प्रभावशाली विचारों से मानव-सभ्यता विकसित और परिमार्जित हुई है, ये सब इन सिद्ध सन्तों के आध्यात्मिक अनुभवों पर आधारित है, जिनका उपदेश ये सैकड़ो वर्षो से इस पृथ्वी-तल पर देते आ रहे हैं। इन सन्त-महात्माओं से साधारण लोग सद्गुण, कर्तव्य और कृतज्ञता का सच्चा अर्थ सीखते हैं। हम तब तक अपने को पूर्णरूपेण नैतिक नही कह सकते, जब तक हमारी नैतिकता का आधार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श नही है। इसका धर्म भी सच्चा आध्यात्मिक धर्म तभी है, जब यह साम्प्रदायिकता, अन्धविश्वास, पाखंड तथा रूढ़ियों से ऊपर उठकर प्राणीमात्र की एकता का पाठ पढ़ाता है। इन महान् सन्तों ने मानव जाति को सिखाया है—आत्म-सयम आत्म-तुष्टि से श्रेष्ठ है, बलिदान योग से महान् है, आत्म-विजय दूसरों की विजय से श्रेष्ठ है, आध्यात्मिक उन्नति भौतिक उन्नति से महान है, विश्व-प्रेम सर्वनाशी पाशविक शक्ति से कहीं श्रेष्ठ है, आत्मा के शाश्वत हित में संसार की बड़ी से बड़ी वस्तु का त्याग श्रेष्ठतर

है, इससे बढ़कर भौतिक जगत् में कोई ऐश्वर्यशाली वस्तु नहीं। सन्त-महात्माओं का जीवन और उपदेश मानव-जीवन का मान बढ़ाकर उसे उच्चतम आध्यात्मिक स्तर पर ले जाकर चरम लक्ष्य या पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति की ओर प्रेरित करता है। ये योगी ही सभ्यता के सच्चे निर्माता हैं।

दुःखित और दलित मानवता के प्रति दया और प्रेम से प्रेरित होकर जब एक योगी शिक्षक या उपदेशक का रूप धारण कर लेता है, तब वह अपने आन्तरिक अनुभवों को ऐसा सरल, तर्कपूर्ण, बुद्धिगम्य एव भावात्मक रूप प्रदान करके व्यक्त करता है कि वे निम्नस्तरीय लोगों के लिए भी बोधगम्य हो सके। यह अच्छी प्रकार जानते हुए कि आध्यात्मिक अनुभव का सत्य निम्नस्तर की भाषा व मानसिक धारणाओं में भली प्रकार व्यक्त नही किया जा सकता, वह उसे ठीक से व्यक्त करने के लिए नये-नये अलकारों, काव्य-रूपकों, कल्पना-चित्रों, कहानियों, सादृश्य-सकेतों एव प्रेरक शब्दों का प्रयोग करता है, ताकि लोगों की शुद्ध चेतना जाग्रत होकर उच्च आध्यात्मिक स्तर की ओर अग्रसर हो सके। योगी की आन्तरिक अनुभव-शक्ति से प्रेरित निर्देश श्रोताओं के अन्तस् में पूर्ण विश्वास उत्पन्न करके उनकी चिन्तन-पद्धति व दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर देते हैं। कभी-कभी योगी की उपस्थितिमात्र लोगों के हृदय और मस्तिष्क को अत्यन्त प्रभावित कर देती है। सत्य-शिव-सुन्दर-प्रेम-आनन्दघन योगी का व्यक्तित्व उसके शिष्यों पर एक रहस्यमय प्रभाव डाल उन्हें आध्यात्मिक स्तर पर उठा देता है। समाज के सांस्कृतिक वातावरण पर योगी के व्यक्तित्व की अमिट छाप लग जाती है।

संसार के अज्ञानी एवं दुःखी लोगों को सच्चा ज्ञान प्रदान करने के उद्देश्य से योगी ज्ञान-प्रदान के साधारण उपाय ही अपनाता है। अन्तर्जगत् के अति-मानसिक, अतिबौद्धिक एव आध्यात्मिक स्तर पर रहते हुए भी योगी बड़े व्यवहार-कुशल होते हैं; देश-काल तथा परिस्थिति के अनुसार स्वयं को उन लोगो जैसा बना लेते है, जिनकी वे सेवा करना चाहते है। उनका उद्देश्य मूलरूप से लोगो को आध्यात्मिक विचारो और आदर्शो की ओर प्रेरित करना होता है, वे प्रायः साधारण लोगों के व्यावहारिक अनुभवों, बौद्धिक धारणाओं तथा निजी आध्यात्मिक अनुभवों में सम्बन्ध स्थापित कर लेते है। युक्ति और दार्शनिक तर्क द्वारा वे साधारण बुद्धि एव कल्पना के लोगों को आकर्षित कर योग-मार्ग की ओर प्रेरित करते है। इस प्रकार योगी दार्शनिक बन जाते है।

सच्चे सिद्ध योगी उपदेशकों में बहुत कम ही दर्शन की व्यवस्थित विचार-धारा या सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है। वे तो प्रायः उस चरम सत्य के विषय में सकेत करते हैं, जिसका उन्होंने चेतना के आध्यात्मिक स्तर पर साक्षात्कार किया है। जिज्ञासुओ को उस चरम सत्य की प्राप्ति का मार्ग-दर्शन कराना इन सिद्ध सन्तों का काम है। दर्शन के सिद्धान्त तो गुरुओं द्वारा उच्चरित सूत्रों एव उपदेशों के आधार पर उनके प्रशंसक शिष्य बना लेते है। सिद्ध योगी जो दार्शनिक

मत का प्रतिपादन करते हैं, वे भी चरम सत्य की खोज में बौद्धिक उपायों पर अधिक जोर नहीं डालते। उनके मत में ये समस्त बौद्धिक धारणायें चरम सत्य की अपूर्ण अभिव्यक्ति है। चरम सत्य की उपलब्धि तो केवल अतिमानसिक स्तर पर ही की जा सकती है। चेतना के बौद्धिक स्तर पर रहनेवाले सत्यान्वेषियों के लिये एक मानसिक अनुशासन के रूप में दर्शन का महत्त्व अधिक है। व्यवस्थित दार्शनिक अनुशासन, कुतर्क, अन्धविश्वास और मूढ़ता का नाश करता है। सिद्ध गुरु के पथ-प्रदर्शन में एक सच्चे जिज्ञासु का दार्शनिक अध्ययन उसे चरम सत्य के समीप लाने में बहुत सहायक सिद्ध होता है। इसलिए तत्वज्ञानालोकित गुरु अपने बुद्धिमान् शिष्यों को स्पष्ट मन से दर्शन के व्यवस्थित अध्ययन की ओर प्रेरित करते हैं। आत्म-संयम तथा आत्म-ज्ञान के उपयुक्त साधन के रूप में दर्शन का अध्ययन तर्क एवं विचारशक्ति को तीव्र बनाता है। ये योगी दर्शन-क्षेत्र के अन्य मतावलम्बियों से तार्किक संघर्ष में कभी नहीं उलझते। इनके अनुसार प्रत्येक गंभीर विचारयुक्त दार्शनिक सिद्धान्त उस एक अतिमानसिक सत्य की ओर जाने का एक विशेष बौद्धिक प्रयास और अनुशासन है। बुद्धि के ठीक प्रकार से अनु-शासित और शुद्ध हो जाने पर बुद्धि के क्षेत्र से ऊपर उठना अधिक सरल हो जाता है।

प्रथम अध्याय

महायोगी गोरखनाथ

गोरखनाथ एक महान् योगी थे। दार्शनिक शब्द का जो अर्थ सामान्यतः स्वीकृत है, उस अर्थ मे वे मूलतः दार्शनिक नही थे। किन्तु योगानुभव के द्वारा प्रत्येक तत्व को साक्षात्कार करने की क्षमता रखते थे। तर्क और कल्पना के आधार पर परम सत्य की खोज करना उनका लक्ष्य न था। प्रापचिक जगत् के परे या पीछे या उसके आधारस्वरूप किसी पारमार्थिक सत्ता के अस्तित्व का तर्क द्वारा मडन या खंडन करना उन्हे अभीष्ट नही था। ऐसी किसी सत्ता के बौद्धिक निरूपण में भी उन्हें रुचि नही थी। विवादास्पद दार्शनिक समस्याओ के विश्लेषण में भी उन्होंने स्वयं को कभी नही उलझाया। किसी प्रतिस्पर्धी दार्शनिक सिद्धान्त के विरोध मे किसी विशिष्ट सिद्धान्त के प्रवर्तक के रूप में कभी अपनी बौद्धिक क्षमता का प्रदर्शन नही किया। वे जानते थे कि परम सत्य के निरूपण में बौद्धिक स्तर पर मत-वैभिन्य स्वाभाविक है। उन्होंने दार्शनिक धारणाओ और विवादो को परम सत्य की अनुभूति के साधन-रूप में कभी महत्व नही दिया। उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों को बौद्धिक अनुशासन की पद्धतियों के रूप मे मूल्यवान् माना और सत्य के अन्वेषण मे सहायक समझा, यह भी उस स्थिति में जब कि दार्शनिक चिन्तन नम्रतापूर्वक निष्ठा और सच्चाई के साथ किसी विशिष्ट दार्शनिक मत के प्रति पक्षपातरहित होकर किया जाय।

दार्शनिक चिन्तन द्वारा सत्य की निष्पक्ष खोज, उनके अनुसार, बौद्धिक शुद्धता का एक प्रभावशाली साधन था, जो कि बौद्धिक चेतना को उच्च से उच्चतर स्तरों पर उठाकर समस्त बौद्धिक मतवादों एवं भावात्मक आसक्तियों के बन्धन एव मोह से मुक्त कर देता है। इसीलिये 'तत्व-विचार' को योग-साधना का एक आवश्यक अग माना गया था। इसका प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति की सांसारिक चेतना को हर प्रकार के पक्षपातपूर्ण, संकुचित विचारों, पूर्वाग्रहों, सकीर्णताओं एवं कुतर्कों से मुक्त कर शुद्ध अतिमानसिक, अतिबौद्धिक आध्यात्मिक स्तर तक उठाना है, जहां पर यह परम सत्य (ब्रह्म) का प्रत्यक्ष अनुभव करके अद्वैत-सिद्धि प्राप्त कर सके।

इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर योगी गुरु गोरखनाथ ने बौद्धिक आत्मानुशासन के पथ पर आगे बढ़कर सत्यान्वेषण करनेवालों के लिये जो शिक्षा दी, वह दार्शनिक मत के रूप में मान्य हो सकती है।

गुरु गोरखनाथ के नाम से सम्बन्धित सम्प्रदाय का विशाल साहित्य सस्कृत तथा भारतवर्ष की अन्य कई प्रान्तीय भाषाओं में उपलब्ध है। संस्कृत में लिखे

बहुत से ग्रन्थों के रचयिता स्वयं गुरु गोरखनाथ माने जाते हैं। गुरु गोरखनाथ के नाम पर छोटी-छोटी बहुत-सी प्रेरणादायक तथा उपदेशात्मक कवितायें भारतवर्ष की कुछ लोकप्रिय क्षेत्रीय भाषाओं या हिन्दी, राजस्थानी और बंगला के प्राचीनतम रूपों में पायी जाती हैं। महायोगी गोरखनाथ के नाम से प्रचलित या उनके द्वारा रचित बताई जानेवाली पुस्तकों में कौन सी पुस्तकें वस्तुत. उनके द्वारा लिखी गई हैं, यह विवाद का विषय है। यह भी अभी निश्चित नहीं किया जा सकेगा कि वे किस प्रान्त मे पैदा हुए थे तथा उनकी मातृभाषा क्या थी। यहां हमें यह मानकर चलना पड़ेगा कि जो प्राचीन धार्मिक साहित्य उनके पवित्र नाम से सम्बन्धित है तथा जो उनके अनुयायियों द्वारा प्रामाणिक माना जाता है, वह या तो उनके द्वारा रचित है या उनके उपदेशों के आधार पर रचित होने के कारण उनके विचारों का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है। हमें सस्कृत ग्रन्थों को ही अधिक महत्व देना चाहिये, क्योंकि ये नाथ-सम्प्रदाय के सभी वर्गो तथा निष्ठावान् विद्वानों के द्वारा अधिक प्रामाणिक माने जाते है।

प्रस्तुत प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि सस्कृत ग्रन्थमाला में ऐसे बहुत से उच्च स्तर के ग्रन्थ है, जिनमें गुरु गोरखनाथ के उपदेश सगृहीत है, किन्तु उनमें एक भी ग्रन्थ ऐसा नही है जिसमे पूर्णत: या प्रमुखत: दार्शनिक विषयों का ही प्रतिपादन किया गया हो। समस्त प्रामाणिक ग्रन्थ योग के सिद्धान्तों और व्यवहार पक्ष का प्रतिपादन करते है। भौतिक शरीर के समस्त आन्तरिक एवं बाह्य अंगों—इन्द्रियों, प्राण-शक्ति, स्नायु-तन्तुओं, मांसपेशियों, भौतिक क्रियाओं एवं स्वाभाविक प्रवृत्तियों, सूक्ष्म इच्छाओं एव आवेगों, समस्त बौद्धिक प्रत्ययों, निर्णयों एवं तर्को का क्रमबद्ध एव नियमित अनुशासन ही योग है। अनुशासन की यह साधना उनमें पारस्परिक सामजस्य स्थापित करने, उनका नियमन करने तथा समस्त भौतिक मानसिक अवयवों के परिष्कार एव आध्यात्मीकरण के निमित्त की जाती है। इसका अतिम लक्ष्य चेतना की पूर्ण, शान्त एव प्रकाशित स्थिति में परम सत्य का साक्षात्कार करना है।

इसीलिये योग-सिद्धान्त के प्रतिपादन में शरीर-रचना और उसके विविध अंगो तथा उनके क्रिया-कलापो का पूर्ण ज्ञान एव उस परम आदर्श स्थिति का सम्यक् बोध आवश्यक हो जाता है जिसके निमित्त समस्त योगसाधना संचालित होती है। योगसाधना के लिये वैज्ञानिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि अनिवार्य है। इसलिये योग-सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों में प्रासंगिक रूप से वैज्ञानिक एव दार्शनिक विषयों का विवेचन किया जाता है।

योग-साधना की शिक्षाओं के साथ जिन तात्विक सिद्धान्तों का प्रचार गुरु गोरखनाथ ने किया, वे तार्किक विश्लेषण के परिणाम न थे और न उनको विशुद्ध तार्किक रूप देने का कभी उन्होंने प्रयास किया। उनके दर्शन का मूल आधार उनकी समाधि अवस्था की अतिमानसिक और अतिबौद्धिक अनुभूतियां थी। अतीन्द्रिय अनुभव की बौद्धिक अभिव्यक्ति के रूप में ही उनके दार्शनिक विचार

व्यक्त हुए हैं। उन्होंने अपने दर्शन में अतीन्द्रिय एवं व्यावहारिक अनुभवों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। सत्य, शान्ति के अन्वेषकों तथा सांसारिक बन्धनों और दुःखों से मुक्ति चाहनेवाले जिज्ञासुओं के लिये उन्होंने तत्वज्ञानालोकित विचार-पद्धति प्रस्तुत की। उन्होंने सामान्यत: उन्हीं पारिभाषिक शब्दावलियों एवं अभिव्यक्ति-पद्धतियों को माध्यम-रूप में स्वीकार किया जो शताब्दियो से सिद्ध महायोगियों की परपरा में प्रचलित थी और जिनका प्रयोग शैवशाक्त आगमों और तत्रों मे किया गया था। उन्होंने कभी इस बात का आग्रह नही किया कि सभी सत्यान्वेषी विचारों की अभिव्यक्ति में उसी पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करें या अपने विचारों के परिष्कार के लिये चिन्तन की वही पद्धति अपनावें। वे लोगों को बतलाते थे कि सत्य एक है, चाहे उसे किसी भी भाषा के माध्यम से व्यक्त किया जाय और चाहे किसी भी मार्ग से बुद्धि सन्धान करे। यह अवश्य है कि सत्यान्वेषण ईमानदारी, निष्ठा, सच्चाई और लगन से किया जाना चाहिये और भाषा के किसी विशिष्ट रूप या चिन्तन की किसी विशिष्ट पद्धति के प्रति अनावश्यक रूप से आग्रह या आसक्ति नही होनी चाहिये।

यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि परम सत्य चेतना के उन उच्चतर स्तरों पर स्वयं को प्रकट करता है जहां भाषा और विचार नहीं पहुंच पाते और दार्शनिक चिन्तन की पद्धतियां एवं उपयुक्त पारिभाषिक शब्दावली भौतिक चेतना को शुद्ध, प्रकाशित एवं ध्याननिष्ठ करने तथा उसे उच्चतर मानसिक स्तर तक ले जाने के साधन मात्र हैं। गुरु गोरखनाथ ने स्वयं अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों और धार्मिक मतों में प्रचलित पारिभाषिक शब्दावली का भी निःसंकोच भाव से प्रयोग किया और यह स्पष्ट घोषित कर दिया कि उनका आन्तरिक महत्त्व एवं उद्देश्य एक ही है। उन्होंने स्वयं अपने आन्तरिक विचारों और अनुभूतियों को—जिनका सम्बन्ध निश्चित रूप से उच्चतर मानसिक स्तर से था—व्यक्त करने के लिये प्राय: काव्यात्मक कल्पनाओं, उपमाओं, रूपकों, अलंकारों तथा सादृश्यमूलक तर्कों का प्रयोग किया। तथापि, गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्त का भारतीय दार्शनिक पद्धतियों में एक विशेष स्थान है और अपना निजी महत्व वैशिष्ट्य एवं मूल्य है।

द्वितीय अध्याय

गोरखनाथ के दार्शनिक विचारों के साहित्यिक स्रोत

यह पहले ही कहा जा चुका है कि संस्कृत तथा अन्य कई प्राचीन प्रादेशिक भाषाओं में प्राप्त बहुत से ग्रन्थों के प्रणेता महायोगी गोरखनाथ कहे जाते हैं। आज यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन है कि इनमें वस्तुतः कौन-कौन से ग्रन्थ स्वयं महायोगी द्वारा विरचित है। तथापि, उन बहुत-से ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है जिन्हें परम्परा से महायोगी द्वारा लिखित माना गया है—गोरक्ष-सहिता, गोरक्षशतक, सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, योग-सिद्धान्त-पद्धति, विवेक-मार्तण्ड, योग-मार्तण्ड, योग-चिन्तामणि, ज्ञानामृत, अमानाशक-आत्मबोध, गोरक्ष-सहस्र-नाम, योग-बीज, अमरौध-प्रबोध, गोरक्ष-पिष्टिका, गोरक्ष-गीता, आदि-आदि। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से ग्रन्थ भी गोरखनाथ के नाम से प्रचलित है। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ भी बहुत-से ग्रन्थों के रचयिता माने जाते हैं, यथा मत्स्येन्द्रनाथ-संहिता, कौल-ज्ञान-निर्णय, कौलानन्द-तंत्र, ज्ञानकारिका, अकुल-वीर-तंत्र आदि। परवर्ती काल में लिखे गए अनेक उपनिषद् ऐसे है, जिनके लेखकों के बारे में पता नहीं है, किन्तु जिनमें मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ तथा अन्य सिद्ध योगी गुरुओं द्वारा उपदिष्ट यौगिक धारणाओं और यौगिक प्रणालियों का विस्तृत विवेचन है। उदाहरणार्थ नाद-विन्दु उपनिषद्, ध्यान-विन्दु उपनिषद्, तेजो-विन्दु उपनिषद्, योग-तत्त्व उपनिषद्, योग-चूड़ामणि उपनिषद्, योग-शिक्षा उपनिषद्, योग-कुण्डली-उपनिषद्, मण्डल-ब्राह्मण उपनिषद्, शाण्डिल्य उपनिषद्, जाबाल उपनिषद् आदि। एक गोरक्ष उपनिषद् भी है। नाथ-सूत्र, शिव-गीता, अवधूत-गीता, शिव-सहिता, सूत-सहिता, दत्तात्रेय-संहिता, शावर-तन्त्र, घेरण्ड-संहिता, हठयोगप्रदीपिका तथा अन्य ऐसी बहुत-सी सस्कृत पुस्तके है, जिनका गोरखनाथ के योगी सम्प्रदाय से घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा जो योग-मार्ग पर अग्रसर होने वाले आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के लिए प्रामाणिक पथ-निर्देशिका के रूप मे प्रयुक्त की जा रही हैं। इनमें से अधिकांश पुस्तकों में उन दार्शनिक विचारों और सिद्धान्तों के संबंध से मूल्यवान सूचनायें हैं, जिनपर योग-साधना आधृत है, लेकिन इनमें बहुत कम ऐसी है, जिनमें विवादास्पद दार्शनिक विषयों के विवेचन को प्राथमिकता दी गई हो।

भारत की बहुत सी प्रादेशिक भाषाओं यथा हिन्दी, बंगला, राजस्थानी आदि में तथा नेपाल और तिब्बत आदि सीमावर्ती देशों मे कई प्राचीन काव्य-ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं जो मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ तथा नाथ-योगी-सम्प्रदाय के अन्य प्रसिद्ध संतों के जीवन और उपदेशों पर आधारित हैं। इनमें से कुछ महान् नाथ-सम्प्रदाय

के प्रवर्तक योगियों की रचनायें मानी जाती हैं। मत्स्येन्द्रनाथ बंगला के सबसे प्राचीन कवि माने जाते है। कई महान् नाथ आचार्य या सिद्धाचार्य बगला-काव्य के प्रणेता थे। हिन्दी और राजस्थानी की प्राचीनतम कवितायें गोरखनाथ द्वारा रचित मानी जाती हैं। उनके अनुयायी बहुत से कवियों ने साहित्य के माध्यम से गुरु गोरखनाथ के विचारों का प्रचार किया। ये समस्त साहित्यिक कृतियां योगिराज गोरखनाथ के दार्शनिक विचारों को जानने के लिए मूल्यवान् स्रोत हैं।

इन ग्रन्थों में 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' का एक विशेष स्थान है। इस सस्कृत-ग्रन्थ में सिद्ध-योगी-सम्प्रदाय के दार्शनिक विचार, उसकी चिन्तन-पद्धति तथा उस परम आदर्श—जिसकी उपलब्धि के लिए योगी लोग योग-साधना करते रहते हैं, के विषय में व्यवस्थित, सक्षिप्त एवं गंभीर वर्णन उपलब्ध है। सम्प्रदाय के कई अन्य ग्रन्थों में इसे प्रमाण-ग्रन्थ के रूप में उद्धृत किया गया है। इस संप्रदाय में अभी तक दूसरा कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं प्राप्त हो सका है, जिसमें इस महान् सम्प्रदाय के धर्म और दर्शन को इतने स्पष्ट रूप में व्यक्त किया गया हो। यह पुस्तक गोरखनाथ को अपना लेखक घोषित करती है, यद्यपि कुछ आधुनिक विद्वान् इसकी उद्घोषणा की सत्यता पर गम्भीर सन्देह व्यक्त करते हैं।

सम्प्रदाय के अन्य मान्य ग्रन्थों की भांति 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' भी अनेक शताब्दियों तक हस्तलिखित रूप में ही प्राप्य रही है और सम्प्रदाय में दीक्षित होनेवाले कुछ विशेष जिज्ञासु सदस्यों को ही अध्ययन के लिए सुलभ रही है। वह ग्रन्थ संवत् १९९६ वि० (सन् १९४० ई०) में पहली बार हरिद्वार से योगीन्द्र पूर्णनाथ द्वारा (मुद्रित रूप में) प्रकाशित किया गया। इस प्रकाशित संस्करण में पं० द्रव्येश झा की सस्कृत एवं योगी भीष्मनाथ की हिन्दी टीका भी समाविष्ट है। हाल ही में डॉ० श्रीमती कल्याणी मलिक, एम.ए., पी-एच-डी., कलकत्ता विश्व-विद्यालय द्वारा इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण, अंग्रेजी सारांश सहित प्रस्तुत किया गया है।

'सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह' नामक एक अन्य काव्य-ग्रन्थ भी है, जो 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' का ही पद्य में लिखा गया संक्षिप्त रूप है। यह ग्रन्थ महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज द्वारा १९२५ ई० में मुद्रित एवं प्रकाशित करवाया गया। इस पुस्तक का भी रचनाकाल अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। पुस्तक के एक पद्य से इस बात की सूचना मिलती है कि यह पुस्तक कृष्णराज के आदेश से पवित्र काशी नगरी में किसी बलभद्र नामक व्यक्ति द्वारा लिखी गई। निश्चित रूप से यह एक प्राचीन ग्रन्थ है और इसमें मूल ग्रन्थ के विचारों का संक्षेप, प्रायः मूल ग्रन्थ की भाषा का ही प्रयोग करते हुए बड़ी योग्यता के साथ किया गया है। 'सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति' के प्रकाशन के पूर्व यह ग्रन्थ साधारण जनता के अध्ययन के लिए सुलभ था।

'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' (गद्य में लिखित) दूसरा प्रमुख संस्कृत-ग्रन्थ है, जो गोरखनाथ के दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करता है।

इस ग्रन्थ में प्राचीन महायोगियों—मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, जलंधरनाथ, भर्तृहरि आदि की वाणियों तथा योग के विषय में लिखित अन्य प्राचीनतर ग्रन्थों के कथ्यों को अत्यधिक उद्धृत किया गया है। किन्तु सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति इस ग्रन्थ का मूलाधार प्रतीत होती है। यह पुस्तक भी सर्वप्रथम, एक संक्षिप्त भूमिका सहित, महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज द्वारा सन् १९२५ में मुद्रित एव प्रकाशित करवाई गई थी। इस ग्रन्थ के लेखक का नाम निश्चित रूप से ज्ञात नहीं, किन्तु इसका लेखक गोरखनाथ संप्रदाय में कुछ शताब्दियों पूर्व होने वाला कोई विद्वान् शिक्षक रहा होगा। इस पुस्तक का दूसरा सस्करण हरिद्वार से प्रकाशित हुआ है।

गोरखनाथ के दर्शन का विवेचन करनेवाला प्रस्तुत ग्रन्थ मुख्यतः 'सिद्ध-सिद्धान्ध-पद्धति' पर आधृत होगा, क्योंकि यही ग्रन्थ संप्रदाय में अब तक प्राप्त समस्त ग्रन्थों की तुलना में गोरखनाथ के दार्शनिक सिद्धान्तों की सर्वाधिक विस्तृत एव क्रमबद्ध व्याख्या प्रस्तुत करता है और इसे सामान्यतः स्वयं गुरु गोरखनाथ की रचना माना जाता है। निश्चय ही अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों से भी सहायता ली जायगी। इस पुस्तक की विशिष्टता यह है कि यह विशुद्ध रचनात्मक ग्रन्थ है तथा अन्य धार्मिक एव दार्शनिक सिद्धान्तों और मतों का तार्किक खंडन इसका उद्देश्य नही है। यह पुस्तक 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' अंशतः सूत्रों में तथा अंशत· श्लोकों में लिखी गई है। विश्व के अंतिम आध्यात्मिक आधार, एक सर्व निरपेक्ष गत्यात्मक परम सत्ता से जगत् के नानात्व के उद्भव की प्रक्रिया, जीवात्माओं के वास्तविक स्वरूप, उनके मनोभौतिक स्वरूप तथा विश्व-प्रपंच के साथ उनके सम्बन्ध, जीवात्माओं द्वारा पूर्ण आत्म-संतुष्टि के लिये उच्चतम आदेश की उपलब्धि के लिये शरीर, इन्द्रियों, प्राणशक्ति, मन और बुद्धि को अनुशासित करने की क्रमबद्ध साधना तथा अन्य प्रासंगिक विषयों के सम्बन्ध मे सिद्ध सप्रदाय के विचारों को यह ग्रन्थ व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ में बार-बार इस बात पर बल दिया गया है कि आत्म-ज्ञान एवं आत्मपूर्णता प्राप्त करने के लिये किसी ऐसे सिद्ध गुरु, नाथ या अवधूत से आत्मानुशासन की व्यवस्थित शिक्षा लेना परमावश्यक है, जिसने स्वय चेतना की समाधि-अवस्था में परम सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव किया हो और जो परम आदर्श की स्थिति प्राप्त कर चुका हो। इस प्रकार के गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञानालोकित दिशा-निर्देश के अभाव में आध्यात्मिकता के पथ पर वास्तविक प्रगति की सभावना अत्यन्त कठिन है।

तृतीय अध्याय

सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति की विषय-सामग्री

सत्यान्वेषियों को ग्रन्थ स्वय अपना परिचय इस प्रकार देता है :

आदिनाथम् नमस्कृत्यं शक्तियुक्तं जगद्गुरुम् ।
वक्ष्ये गोरखनाथोऽहं सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम् ।।

(परमेश्वर शिव) आदिनाथ को, जो चरम शक्ति के शाश्वत स्वामी और जगत् के आदि गुरु हैं, नमस्कार करते हुये मै गोरखनाथ सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति (सिद्ध-संप्रदाय के तत्व ज्ञानालोकित योगियो की विचार-परम्परा की विधि) का प्रतिपादन प्रारंभ करता हूं। (सि० सि० प० ।।)

यह भूमिका (अगर इसकी प्रामाणिकता पर सदेह नही किया जाता है) बतलाती है कि गोरखनाथ स्वय इस ग्रन्थ के रचयिता हैं। पुस्तक में कुछ अन्य कथन भी ऐसे है जो इस प्रारंभिक घोषणा का समर्थन करते है। 'गोरख-सिद्धान्त-संग्रह' इस आप्तग्रन्थ से उद्धारण लेते हुये इसके लेखक को कभी श्रीनाथ और कभी नित्यनाथ कहकर सबोधित करता है। इस ग्रन्थ में गोरखनाथ के धार्मिक एव दार्शनिक सिद्धान्तों के सकलनकर्ता ने यह स्पष्ट कर दिया है कि नित्यनाथ व श्रीनाथ से उनका तात्यपर्य गोरखनाथ से है, जिन्हें वे ईश्वर आदिनाथ या महा-योगेश्वर शिव, जो सभी योगियों के नित्य गुरु है, का अवतार मानते है। नित्यनाथ नामक एक अन्य महान् योगी भी हुये है, जिन्होंने योग और औषधि-विज्ञान पर कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे है।

हठयोग प्रदीपिका में नित्यनाथ नामक एक महासिद्ध योगी का वर्णन प्राप्त होता है, जिनके विषय में कहा गया है कि वे मृत्युजयी होकर मुक्त रूप से ससार में विचरण करते है। नित्यनाथ का नाम कुछ प्राचीन सस्कृत ग्रन्थों, विशेषतया औषधि-विज्ञान के ग्रन्थों मे मिलता है। उन्हें 'रस-रत्नाकर' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ का लेखक माना जाता है, जिसपर पार्वती-पुत्र नित्यनाथ सिद्ध का नाम अकित है। नित्यनाथ सिद्ध एक महान् रसायन शास्त्री थे। वागभट्ट ने अपने 'रसरत्नसमुच्चय' में उनका नाम बड़े आदर से लिया है। नित्यनाथ को 'इन्द्रजालतत्व' (जादू विज्ञान) का रचयिता भी माना जाता है। कभी-कभी उन्हें नित्यनाथ, नित्यपाद और ध्यानीनाथ भी कहा जाता है। निस्सन्देह नित्यनाथ एक प्रसिद्ध सिद्ध योगी, महान् वैज्ञानिक दार्शनिक और लेखक थे। किन्तु उन्हें 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' का रचयिता मानने का कोई दृढ प्रमाण नही है। नित्यनाथ का जीवन-काल निर्णय करना भी बड़ा कठिन है। हम मान सकते हैं कि गोरखनाथ सप्रदाय के इस सर्वाधिक प्रामाणिक दार्शनिक ग्रन्थ के रचयिता स्वय गोरखनाथ है या यह ग्रन्थ उनके दार्शनिक

सिद्धान्तों अथवा दृष्टिकोणों का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है।

'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' के छ: शीर्षकों या अध्यायों, जिन्हें 'उपदेश' कहा गया हैं, में महान् आचार्य ने विभिन्न महत्वपूर्ण विषयों पर विचार प्रकट किया हैं, प्रथम अध्याय में पिंडोत्पत्ति (ब्रह्माण्ड व पिण्ड दोनों की उत्पत्ति) का वर्णन है। इस अध्याय में उन्होंने संक्षेप में परम सत्ता के स्वरूप का विवेचन किया है, और यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार एक गत्यात्मक आध्यात्मिक परम सत्य से यह वैविध्यपूर्ण एव अनेक भौतिक पदार्थों से युक्त विश्व-प्रपंच विभिन्न स्थितियों में होता हुआ उद्भूत हुआ है।

उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि किस प्रकार दिक्-काल-निरपेक्ष भेदातीत शाश्वत परमात्मा अपनी स्वरूपभूता शक्ति के द्वारा दिक्-काल परिसीमित वैविध्यपूर्ण ब्रह्माण्ड एव असंख्य व्यष्टि-पिंडो के रूप में व्यक्त होता है और प्रत्येक पिड में अन्तर्यामी रूप में निवास करता है। यह सिद्ध-योगी संप्रदाय की आधार-भूत दार्शनिक मान्यताओं में से एक है।

दूसरा अध्यातम पिड-विचार (शरीर-रचना पर विचार) प्रस्तुत करता है। इस अध्याय में आचार्य ने व्यष्टि पिड की आंतरिक रचना यथा—चक्र, आधार, लक्ष्य और व्योम या आकाश के सम्बन्ध मे नाथ-सप्रदाय की विशिष्ट मान्यताओं का निदर्शन किया है। पिंडान्तर्गत नव चक्रों, सोलह आधारों, तीन लक्ष्यों तथा पांच आकाशों की गणना की है। शरीर के विशिष्ट भागों में उनकी स्थिति का संकेत किया है और उन पर ध्यान केन्द्रित करने की विधि समझाई है। योग साधना के मार्ग में आत्मानुशासन एव मन को क्रमश: उच्च से उच्चतर स्तरों पर उठाने तथा शरीर के क्रमिक आध्यात्मीकरण (या काया सिद्धि) की दृष्टि से ध्यान के इस प्रकार के केन्द्रीकरण का व्यावहारिक महत्व है। गोरखनाथ ने इन चक्रों इत्यादि के ज्ञान तथा गुरु के निर्देशन में उन पर ध्यान केन्द्रित करने की प्रक्रिया को विशेष महत्व दिया है। यह वात उनके अन्य ग्रन्थों, यथा—गोरक्षशतक, गोरक्ष-संहिता, विवेक-मार्तण्ड आदि से भी सिद्ध होती है।

तीसरे अध्याय में पिंड-संवित्ति पर विचार किया गया है। इस अध्याय में आचार्य ने 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' वाली प्रसिद्ध उक्ति की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने विस्तारपूर्वक समझाया है कि जो कुछ बाहर ब्रह्माण्ड में है, वह सब व्यष्टिपिड में भी उपस्थित है तथा दोनों में मूलभूत एकता है। इस ससीम और नश्वर शरीर की अनादि-अनंत ब्रह्माण्ड के साथ तद्रूपता की अनुभूति का निदर्शन एक अभूतपूर्व और महान् आदर्श है, जो आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के समक्ष गुरु गोरखनाथ और उनके संप्रदाय द्वारा प्रस्तुत किया गया है। योगी को न केवल विश्वात्मा से व्यष्टि आत्मा की एकता की अनुभूति करनी होती है वरन् व्यष्टिपिड और ब्रह्माण्ड की एकता का भी अनुभव करना होता है। योगी विश्व के साथ एकाकार होकर पूर्ण स्वतंत्रता और आनंद का अनुभव करता है।

चतुर्थ अध्याय में पिंडाधार (शरीर के रक्षक, धारणकर्ता एवं पालक) का वर्णन है। इस अध्याय में आचार्य ने बताया है कि समस्त शरीरों का अन्तिम आधार एक परम आध्यात्मिक शक्ति है, जो अपने मूल रूप में अद्वैत परमात्मा शिव से अभिन्न एवं तद्रूप है। समस्त शरीर एक स्वतः विकासमान दिव्य शक्ति की आत्माभिव्यक्ति है। वह दिव्यशक्ति उन्हे धारण किये हुये है तथा वे सब उस सर्वव्यापी शक्ति में सन्निहित है। वही दिव्य शक्ति उनके सम्बन्धों एवं परिवर्तनों पर नियंत्रण रखती है। बस्तुतः उस शक्ति से पृथक् उनका कोई अस्तित्व नही है। पुनः यह शक्ति अद्वैत शिव से अभिन्न या शिव रूप ही है। वही आत्मचैतन्य आत्मानद अद्वैत आत्मा जब आत्मरूप या परमरूप में स्थित होती है, तब 'शिव' कहलाती है और जब सक्रिय होकर अपने को ब्रह्माण्ड रूप मे परिणत कर लेती है तथा दिक्-काल-सीमित असख्य पिण्डों की रचना विकास एव संहार में प्रवृत्त होती है और अपने को अनेक रूपों मे व्यक्त करती है, तब शक्ति कहलाती है। चरम सत्ता अपने पारमार्थिक रूप में शिव तथा गत्यात्मक रूप मे (व्यावहारिक) शक्ति है। समाधि-लीन एक सिद्ध योगी के लिये शिव और शक्ति में कोई भेद नही रह जाता और वह शिव-शक्ति के पूर्ण एकत्व का आनन्द प्राप्त करता है।

पांचवे अध्याय में साधना के चरम आदर्श 'समरसकरण' और इस आदर्श स्थिति की उपलब्धि के साधन पर विचार किया गया है। 'समरसकरण' की स्थिति में व्यष्टि पिड का समष्टि-पिंड के साथ, पिडों का परम शक्ति के साथ और शक्ति का परमात्मा शिव के साथ पूर्ण एकत्व होता है। समरस की आदर्श स्थिति की वास्तविक उपलब्धि हो जाने पर पदार्थ और आत्मा का भेद विलीन हो जाता है। ससीम और असीम, जीव और शिव तथा आत्म और अनात्म (आत्मेतर जगत्) का भेद लुप्त हो जाता है। तब योगी संसार को अपने में व स्वयं को जगत् के समस्त अस्तित्वों में देखता है। वह अपने में और सबमें शिव का दर्शन करता है और स्वयं अपने को तथा समस्त जगत् को शिवमय अनुभव करता है। उसके अनुभव में स्वयं उसकी देह और सारा ब्रह्माण्ड आध्यात्मिक हो जाता है। उसकी तत्वज्ञानालोकित अध्यात्म-चेतना मे परमात्मा शिव इन समस्त नाम रूपों में व्याप्त दिखाई देते हैं और वह अनुभव करता है कि शिव के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। वह प्रतीत होने वाली समस्त विभिन्नताओं में सुन्दरतम एवं आनन्दमय एकता के दर्शन करता है और उस अनुभूति के आनन्द में मग्न होता है।

छठे अध्याय में अवधूत योगी के चरित्र और आचरण का सुन्दर वर्णन किया गया है। अवधूत योगी वह योगी है, जिसने पंचम अध्याय मे विवेचित 'समरसकरण' के आदर्श को पूर्णतया सिद्ध कर लिया है। जो अहंकार, अज्ञान, दृष्टिकोण की सकीर्णता तथा समस्त इच्छाओं, वासनाओं, चिन्ताओं, दुःखों एवं बन्धनों से मुक्त हो गया है और भेद एव अनेकता के भाव से ऊपर उठ चुका है।

जिसने न केवल समाधि-अवस्था मे परम सत्य का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया है, वरन् जिसने उस परम निरपेक्ष अनुभूति के प्रकाश से अपनी चेतना के बौद्धिक, मानसिक एवं प्राणीय स्तरों को भी प्रकाशित कर दिया है और जिसका सामान्य जीवन भी सर्वदा उस दिव्य प्रकाश से अलोकित रहता है। सांसारिक जीवन के सामान्य कार्यो को करते हुये भी उसकी समाधि-अवस्था निर्विकार एव सहज रूप से बनी रहती है। ऐसे अवधूत योगी को. सही अर्थ में 'नाथ' कहा जाता है। वह स्वय का पूर्ण नाथ या स्वामी है और जिन परिस्थितियों में वह जीवन-यापन करता है, उनपर भी उसका पूर्ण स्वामित्व होता है। ऐसा नाथ योगी ही सद्‌गुरु होने के योग्य है, क्योंकि वह साधारण व्यक्तियों के अज्ञानांधकार को दूर कर सकता है और मानव चेतना में साधारणतया सुप्त आध्यात्मिक शक्ति को जगाने की सामर्थ्य रखता है।

योगी-सम्प्रदाय के दर्शन का आधार पूर्ण नाथ या अवधूत योगी का अनुभव है। सच्चे नाथ या अवधूत योगी गोरखनाथ ने अपनी निजी एव अपने से पूर्व होने वाले नाथ योगियों की आध्यात्मिक अनुभूतियों के आधार पर ही अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की है। उनका दर्शन वस्तुतः पूर्ण अध्यात्म-ज्ञान-आलोकित मनःस्थिति में स्वयं उनके तथा अन्य सिद्ध महायोगियों द्वारा अनुभूत सत्य के प्रकाश में निम्नस्तरीय सामान्य मानवीय अनुभूतियों तथा चेतना के सामान्य ऐन्द्रिक स्तर एवं पूर्ण ज्ञानालोकित स्तर के मध्यवर्ती असामान्य स्तर की रहस्यमयी अनुभूतियों की व्याख्या प्रस्तुत करता है।

चतुर्थ अध्याय

परम तत्व का निरूपण

यह हम देख चुके है कि परम तत्व के विषय में महायोगी गोरखनाथ की मान्यताये साधारण व्यक्तियों के ऐन्द्रिक अनुभव से प्राप्त तथ्यों को लेकर चलनेवाली तर्क-पद्धति पर ही आधृत नहीं हैं। अन्य दार्शनिकों की भांति उन्होंने गोचर जगत् की बौद्धिक एवं तर्कपूर्ण व्याख्या के लिये अपने सिद्धान्तों और धारणाओं को प्रस्तुत नहीं किया है। परम सत्ता के विषय में उनकी बौद्धिक धारणा का आधार अतिमानसिक, अतीन्द्रिय एवं अति-बौद्धिक चेतना की स्थिति में सत्य की प्रत्यक्षानुभूति है। उनके विचार उस समाधि-अवस्था के अनुभवों पर आधृत हैं, जिसमें चेतना पूर्ण प्रकाशित, बन्धनमुक्त एवं सार्वभौम होती है। सिद्धान्त या धारणा का निर्माण करना बुद्धि का कार्य है। प्रत्यक्षानुभूति चाहे इन्द्रियगत और मानसिक हो, चाहे अतीन्द्रिय एवं अतिमानसिक हो, उसमें धारणा के लिये कोई स्थान नही है। जब प्रत्यक्षानुभूति की बौद्धिक एव तर्कपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करनी होती है, तभी सिद्धान्त या धारणा के निरूपण की आवश्यकता होती है। यह बुद्धि का कार्य है कि वह प्रत्यक्ष अनुभवों की व्याख्या करके व्यवस्थित ज्ञान की प्रतिष्ठा के लिये उन्हें विचारों का रूप दे।

ऐन्द्रिक अनुभूतियों की इस प्रकार की व्याख्या स्वभावत: करनी पड़ती है, क्योंकि वे अपने आप में इस योग्य नहीं होती कि व्यवस्थित ज्ञान की प्रतिष्ठा करके मनुष्य की बुद्धि को सन्तुष्ट कर दें। इन्द्रियों और मन से अनुभूत इस भौतिक जगत् के सबंध में हमारे ज्ञान का विकास और विस्तार प्रत्ययो और धारणाओं की सृष्टि के द्वारा ही होता है तथा ज्यों-ज्यों ज्ञान विकसित और विस्तृत होता है, त्यों-त्यो गहनतर, उच्चतर एवं विस्तृत विचारों की सृष्टि की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। अन्ततोगत्वा एक सर्व-व्यापी, सर्व प्रकाशक एव सर्वसमन्वयकारी धारणा की आवश्यकता पड़ती है, जो समस्त इन्द्रिय-प्रत्यक्ष एव मनोनुभूत जगत् के अनुभवों की युक्ति-युक्त व्याख्या प्रस्तुत करके तार्किक मन का समाधान करती हुई समस्त अनुभवों को एक-सूत्र में पिरोकर अखड ज्ञान की सृष्टि कर सके। कुछ भी हो, धारणा बुद्धि-क्षेत्र की ही वस्तु है और बुद्धि एव सिद्धान्त के क्षेत्र में ही रहेगी। यह कभी भी परम सत्य की प्रत्यक्षानुभूति का दृढ़तापूर्वक दावा नहीं कर सकती।

एक महायोगी जिसे पारमार्थिक समाधि अवस्था में परम तत्व का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव प्राप्त हो जाता है, कभी भी स्वय-सतुष्टि के लिये उसकी कोई बौद्धिक धारणा बनाने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता, क्योंकि उसके

लिये तो यह अनुभव ब्रह्माण्ड और उसके बाहर की समस्त सभव सत्ताओं का सर्वाधिक पूर्ण समायोजित ज्ञान है और यह समाधि-ज्ञान स्वयं प्रमाण है। वह इस अनुभव के आनन्द में डूबा रहता है, इस समाधि दशा में वह अपने मन, बुद्धि, हृदय, ज्ञान और जीवन की पूर्ण तृप्ति या चरम तुष्टि को पा लेता है। इस अनुभव में वह परम सत्य से पूर्ण एकाकार हो जाता है। किन्तु जब एक महायोगी गुरु रूप में इन्द्रिय एव मानसिक अनुभवों एव ज्ञान-स्तरों पर विचरण करनेवाले सत्यान्वेषियों के सम्पर्क में आता है, तब उसे अपने पारमार्थिक अनुभव की झलक बौद्धिक धारणाओं के रूप में प्रस्तुत करनी पड़ती है। यथासंभव उसे तार्किक धारणाओं द्वारा यह प्रदर्शित करना पड़ता है कि समाधि दशा में जिस सत्य का साक्षात्कार होता है, उसके माध्यम से इन्द्रियों और मन के स्तर पर प्रत्यक्ष होनेवाले समस्त मानवीय अनुभवों की सर्वोत्तम बौद्धिक व्याख्या की जा सकती है।

जन-साधारण की बौद्धिक तुष्टि के लिये उसे बताना पड़ता है कि विभिन्नतायुक्त गोचर जगत्, जिसकी अनुभूति मानव-चेतना के निम्नतर स्तर पर होती है, उस परम सत्ता द्वारा ही रक्षित है, वही उसका नियमन करती है, सामंजस्य स्थापित करती है और अन्ततः यह उसी में विलीन हो जाता है। परम सत्ता के सच्चे स्वरूप का ज्ञान, मानव-चेतना को पूर्ण शुद्ध और एकाग्र तत्व-ज्ञानालोकित पारमार्थिक स्थिति में होता है। योगी को, परमसत्ता की काल-दिक् परिसीमित नानात्वमय ब्रह्माण्ड रूप में होनेवाली अभिव्यक्तियो की किसी न किसी प्रकार बौद्धिक व्याख्या करनी पड़ती है और पुन. इन समस्त गोचर विभिन्नताओं को अभिन्न, अभेद, काल-दिक् से परे, आध्यात्मिक और एकत्वमय प्रमाणित करना पड़ता है। उसे विवेचित करना पड़ता है कि किस प्रकार एक परम आध्यात्मिक सत्ता से अनेक भौतिक सत्तायें उत्पन्न होती है तथा किस प्रकार काल-दिकादि से परे परम सत्ता स्वय को काल दिक् परिसीमित विश्वप्रपंच रूप मे अभिव्यक्त कर सकती है। किस प्रकार वह एक, अनेक रूपों मे व्यक्त होकर भी मूलतः एक रहता है। इस प्रकार के अनेक प्रश्न बुद्धि-वादियों के मस्तिष्क में उठा करते है, महायोगी गुरु को उनके उत्तर और समाधान देने होते हैं, ताकि वे निर्भ्रान्ति होकर सत्य-मार्ग पर अग्रसर हो मके। यद्यपि योगी की तत्वज्ञानालोकित चेतना के लिये ऐसे प्रश्नों तथा उत्तरो का कोई मूल्य नही होता।

महायोगी आचार्य गोरखनाथ परम सत्ता का दार्शनिक निरूपण एक महत्वपूर्ण कथन से प्रारभ करते है:—

नास्ति सत्यविचारेऽस्मिन्नुत्पनिश्चाण्डपिण्डयोः।

तथापि लोकवृत्यर्थम् वक्ष्ये सत् सम्प्रदायतः॥ (सि० सि० प० १।२)

पारमार्थिक दृष्टि से विचार करने पर वस्तुत. इस वैविध्यपूर्ण विश्व-प्रपंच और इसमे व्यक्ति-सत्ता के अस्तित्वों के उद्‌भव के विवेचन का प्रश्न नही उठता; तथापि, मैं ज्ञानालोकित योगी सम्प्रदाय की परंपरा के अनुसार जनसाधारण की बौद्धिक तुष्टि के लिये परम तत्व से इस विश्व-प्रपंच के उद्‌भव की व्याख्या प्रस्तुत

करूंगा।

पारमार्थिक दृष्टिकोण समाधि अवस्था के अतीन्द्रिय अनुभव का दृष्टिकोण है, जिसमें सत्य स्वयं को पूर्ण आत्मप्रकाशित रूप में प्रगट करता है तथा जिसमें वैयक्तिक चेतना का परम चेतना से पूर्ण तादात्म्य होता है। यह आनुभूतिक स्तर दिक्-काल से परे है, परिवर्तन और नानात्व से मुक्त है, कार्य-कारण सम्बन्ध एवं सापेक्षता से अप्रभावित है। अतीन्द्रिय आनुभूतिक स्तर पर दिक्-काल परिसीमित परिवर्तनशील सापेक्षिक ससीम जगत् असीम, शाश्वत, अपरिवर्तनशील, अभेदात्मक आत्म-प्रकाशित अस्तित्व से मिलकर एक हो जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से विचार करने पर वैविध्यपूर्ण, परिवर्तनशील एवं दिक्-काल परिसीमित जगत् का उद्भव नही होता और इसीलिये वस्तुतः इसका ध्वंस भी नही होता। व्यक्ति को चेतना के निम्नतर स्तर पर जिस परिवर्तनशील या नाशवान् जगत् की प्रतीति होती है, चेतना के उच्चतर स्तर पर वही जगत् असीम शाश्वत आत्म-प्रकाशित परमतत्व से अभिन्न प्रतीत होता है—और व्यक्ति की निजी सत्ता भी उसी परम तत्व में विलीन रहती है। इसलिये जगत् के उद्भव और लय का प्रश्न ही नहीं उठता।

उत्पन्न होने का अर्थ है किसी ऐसी वस्तु का भौतिक अस्तित्व धारण करना, जो पहले इस रूप में थी ही नही। इसका यह भी अर्थ हुआ कि उद्भूत वस्तु का एक पूर्व अस्तित्व था, जिससे भौतिक कार्य-कारण-परंपरा द्वारा परिवर्तित होकर वह प्रादुर्भूत हुई है। बिना किसी कारण और उस कारण में बिना किसी भौतिक परिवर्तन के किसी वस्तु का उद्भव हो ही नही सकता। क्या हम किसी ऐसे समय की कल्पना कर सकते हैं जब यह भौतिक जगत् स्थूल या सूक्ष्म, व्यक्त या अव्यक्त रूप में स्थित नही था। काल का अभिप्राय होता है एक परिवर्तन—रूपान्तर प्रक्रिया, एक क्रम या गति तथा समस्त प्रकार की परिवर्तन-प्रक्रिया; क्रम एवं गति व्यावहारिक जगत-व्यवस्था के अन्तर्गत ही होनी चाहिये। परिवर्तन या गति चाहे भौतिक एवं स्थूल रूप में हो या सूक्ष्म आध्यात्मिक रूप मे, बाह्य अभिव्यक्तियों के रूप में हो या आन्तरिक परिवर्तन के रूप में, उसे जगत् की व्यवस्था के अन्तर्गत ही समझा जाता है। अतः जगत् की पार्थिव उत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि इस जगत् व्यवस्था के पीछे या परे कोई सत्ता है तो वह सत्ता आवश्यक रूप से काल से परे—समस्त भौतिक परिवर्तनो से मुक्त होनी चाहिये। इसलिये व्यावहारिक रूप में वह इस जगत-व्यवस्था की उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकती है।

इस प्रकार एक ओर जब हम पारमार्थिक दृष्टि से विचार करते हैं तो दिक्काल की सीमा में आबद्ध सारे सबध समाप्त हो जाते हैं और वैविध्यपूर्ण गोचर जगत् एक शाश्वत असीम आध्यात्मिक सत्ता से एकाकार हो जाता है तथा परम सत्ता से पृथक् एक स्वतंत्र इकाई के रूप में विश्व-प्रपंच के उद्भव एवं अस्तित्व ग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं उठता, दूसरी ओर जब हम सामान्य भौतिक

अनुभव के आधार पर विचार करते है तो यह दिक्काल-परिसीमित विश्व-प्रपंच किसी दिक्कालातीत सत्ता के विवर्तन या रूपान्तरण के आधार पर उद्भूत हुआ हो ऐसा समझ में नहीं आता, इसलिए इसके उद्भव की कोई निश्चित कालावधि निर्दिष्ट नहीं की जा सकती। तथापि, यह नितान्त स्पष्ट है कि हमारी सामान्य बुद्धि इस विश्व-प्रपंच के भौतिक अस्तित्व का न खंडन कर सकती है और न उसकी अवहेलना कर सकती है, साथ ही कालादिक्-परिसीमित इस भौतिक जगत् को स्वतः उद्भूत, स्वतः प्रकाशमान, आत्म-नियत्रित, स्वतः सयोजित, स्वतः विकासमान किसी चरम सत्ता के रूप में भी नही निरूपित किया जा सकता। अतीन्द्रिय अनुभूति के स्तर पर जो परम सत्ता इस गोचर जगत् को एकाकार किये हुए इसके अद्वैतभावापन्न आध्यात्मिक स्वरूप का बोध कराती है, हमारी बुद्धि इस गोचर जगत् की व्याख्या उस परम सत्ता की अनुभूति के पहले अनुभूत होनेवाले मानसिक बोध के रूप में करना चाहती है।

हमारे साधारण अनुभव का जगत् स्पष्टतया पराश्रित, सापेक्षिक, बाधित एवं जटिल है। हमारे तर्क की माग है कि इसके उद्भव, इसके आश्रय, इसकी सतत सामंजस्यपूर्ण गत्यात्मकता के मूल कारण रूप मे कोई स्वयं सत्य, स्वय नियत्रित, स्वय प्रकाशित गत्यात्मक पारमार्थिक सत्ता होनी चाहिये, जो निश्चय ही हमारी इन्द्रियो, हमारे मन और हमारे सापेक्षिक ज्ञान की सीमा से परे है। यह चरम-सत्ता स्वय को हमारी चेतना की अति-मानसिक, अति-बौद्धिक, अतीन्द्रिय-पारमार्थिक अवस्था में प्रकट करती है, जहां ज्ञाता-ज्ञेय का भेद लुप्त हो जाता है और वैयक्तिक चेतना चरम-सत्ता या ब्रह्म से पूर्ण तादात्म्य प्राप्त कर लेती है। चरम-सत्ता का यह अनुभव चरम-चेतना का अनुभव है, जिसमें सर्व देश-कालादिक अस्तित्वों का परम सत्ता में एकीकरण हो जाता है तथा परम सत्ता एक, अनन्त, शाश्वत, अभिन्न, अपरिवर्तनीय, आत्मरत चेतना के रूप में प्रकाशमान होती है। चूंकि यह परम चेतना बुद्धि-स्तर से ऊपर है, अत· बुद्धि इसके बारे में कोई सही धारणा नहीं बना सकती तथा इसके स्वरूप का केवल निषेधात्मक शब्दों में ही वर्णन कर सकती है। तथापि, बुद्धि इसे गोचर का आधार-स्वरूप समझने का प्रयास करती है।

गोरखनाथ, पूर्व सिद्ध योगियों की परम्परा का अनुगमन करते हुए इस निरपेक्ष चेतना को 'परा-संवित' कह कर सम्बोधित करते हैं। यह परा सवित परम सत्ता है। इस परा-सवित को योगी शिव-शक्ति का पूर्ण मिलन भी कहते हैं। 'परा-संवित' के दृष्टिकोण से विचार करने पर जगत् की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। अतः इसकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। तथापि, चूँकि बौद्धिक स्तर पर जगत् की व्यावहारिक सत्ता अकाट्य है और इस जगत्-व्यवस्था को स्वतः सत् भी नहीं माना जा सकता, इसलिए इसका मूल निरपेक्ष चेतना या परम सत्ता में खोजना होगा; तथा परम सत्ता के स्वरूप की बौद्धिक दृष्टिकोण से ऐसी धारणा बनानी होगी जिससे व्यवस्थापूर्ण, सयोजित, सीमित एवं परिवर्तनशील

व्यावहारिक सत्ताओं की युक्तिसगत व्याख्या हो सके। अतः गोरखनाथ अपने दार्शनिक सिद्धान्त में तत्त्वज्ञानालोकित महायोगी के पारमार्थिक अनुभव और साधारण व्यक्ति की बौद्धिक धारणा को एक सूत्र में पिरोने का प्रयास करते है, ताकि सत्यान्वेषियों के विचार अनुशासित एवं शुद्ध होकर सही दिशा की ओर अग्रसर हो सके।

गोरखनाथ परम सत्ता के शुद्ध पारमार्थिक रूप का वर्णन करते हुये लिखते हैं :

यदा नास्ति स्वयं कर्ता कारणं न कुलाकुलम् ।
अव्यक्त च परं ब्रह्म अनामा विद्यते तदा ।।

(सि० सि० प० १/४)

जब कोई सक्रिय कर्त्ता नही, कोई कार्य-कारण-प्रक्रिया नही, जब शक्ति और शिव मे कोई भेद नही (अर्थात् शिव के व्यावहारिक और पारमार्थिक रूप में कोई भेद नही) जब परमात्मा बिना किसी प्रकार की सीमित एवं परिवर्तन-शील आत्म-अभिव्यक्तियों से रहित पूर्णमेव है, तब वह शुद्ध नामरहित केवल एक परमब्रह्म में स्थित रहता है] ।

वे आगे लिखते है :

अनामेति स्वयं अनादिसिद्धम् एकम् एव अनादिनिधानम् सिद्ध सिद्धान्त प्रसिद्धम् ।
तस्य इच्छा मात्र धर्मा धर्मिणि निजा शक्तिः प्रसिद्धाः ।।

(सि० सि० प० १/५)

(वह नाम-रूप रहित (अव्यक्त) परमात्मा शाश्वत रूप से स्वतः सत्, पूण अद्वैत (भेद-रहित) अजन्मा (विकार रहित शिव) है—यह सिद्धों का (सत्ता के बारे में) प्रसिद्ध मत है। उसकी विशिष्ट निजी शक्ति शाश्वत रूप से उसके स्वरूप में निहित एव एकाकार रहती है और वह शुद्ध इच्छा मात्र है। (अर्थात् पारमार्थिक स्तर पर बिना किसी आत्म-अभिव्यक्ति के भी प्रसिद्ध है) ।

इस प्रकार, सिद्ध महायोगियों के अनुसार, परम सत्ता स्वय को समाधि-अवस्था में शुद्ध, अपरिवर्तनीय, अनन्त, शाश्वत चेतना के रूप में प्रकट करती है और जड़ या अचल नही है, बल्कि एक सक्रिय इच्छा-शक्ति सहित चेतन आत्मा है। पारमार्थिक शिव शाश्वत रूप से शक्तियुक्त है। शिव से अभिन्न शक्ति ही परम सत्ता है।

पांचवां अध्याय

सच्चिदानन्द
(सत्-चित्-आनन्द) ब्रह्म

चेतना की पारमार्थिक अवस्था में चरम सत्ता का साक्षात्कार जिस प्रकार होता है, उसका महायोगियों ने इस प्रकार वर्णन किया है:—

> **"न ब्रह्मा विष्णु-रुद्रौः न सुरपति-सुराः नैव पृथ्वी न चापो**
> **नैवाग्निर्नापि वायुर्न च गगनतलम् नो दिशो नैव कालः।**
> **नो वेदा नैव यज्ञान च रवि-शशिनौ नो विधिर्नैव कल्पाः**
> **स्व-ज्योतिः सत्यम् एकम् जयति तव पद्म सच्चिदानन्द-मूर्ते ॥"**
>
> **(-गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह में सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति से उद्धृत)**

(न तो वहां ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र तथा अन्य देवताओं का कोई पृथक् अस्तित्व है और न पृथ्वी, जल, अग्नि, बायु व आकाश का ही कोई चिन्ह है और न काल और दिशाओं (दिक्) की कोई स्थिति है। वेद, यज्ञ, सूर्य, चन्द्र, नियम और संसार-चक्र आदि अनुपस्थित हैं। वहां तुम स्वयं को पूर्ण शुद्ध सच्चिदानद स्वरूप में प्रकट करते हो। वहां केवल तुम्हारा आत्मरूप एकमेव आत्म-प्रकाश-युक्त चरम सत्ता के रूप में चमकता है)।

सिद्ध-योगी-सम्प्रदाय के अनुसार यही चरम सत्ता है। किन्तु तत्त्व ज्ञाना-लोकित महायोगी जानते थे कि अति श्रेष्ठ अनुभव पर आधारित चरम सत्ता को इस धारणा ने उसकी सम्पूर्ण प्रकृति का प्रतिनिधित्व नहीं किया और यह व्या-वहारिक बुद्धि की तार्किक मांगों को पूरा नही कर सकी। द्रष्टव्य है कि यह धारणा अद्वैत-वेदान्त की धारणा के अनुरूप है। चरम सत्ता की यह अद्वैत वेदान्ती धारणा भी महायोगियों के अतिश्रेष्ठ अनुभव पर आधारित है तथा शब्द-रूप में उपनिषदों में व्यक्त की गयी है। सब प्रकार के बाह्यांतरिक विरोधो से अलग काल, दिक्, सापेक्षिकता तथा आपदा से दूर एव किसी भी प्रकार की शक्ति, इच्छा अथवा क्रिया से विहीन यही निर्गुण ब्रह्म की धारणा है। इस दृष्टि से चरम सत्ता एक, काल-दिक्-रहित, अनन्त, शाश्वत, परिवर्तनरहित, भेद व प्रक्रियाविहीन अतिश्रेष्ठ अद्वैत स्वप्रकाशयुक्त शुद्ध सच्चिदानन्द चैतन्य कही गई है।

ब्रह्म की यह धारणा तार्किक बुद्धि को सतुष्ट नही कर सकती। प्रथम तो यह धारणा चरम सत्ता के स्वरूप का कोई निश्चित ज्ञान न देनेवाली पूर्णतया निषेधात्मक तथा अस्पष्ट प्रतीत होती है। यह केवल हमें इतना बताती है कि जो

कुछ हम जानते या जान सकते है, चरम-सत्ता पूर्णतया उससे भिन्न व परे है। किन्तु वह क्या है ? इसके बारे में कोई निश्चित विचार प्रदान करने में यह धारणा असफल रहती है। शुद्ध सच्चिदानन्द कोई सक्रिय व बुद्धिगम्य सत्ता प्रतीत नही होती। दूसरे, परमात्मा के पूर्ण स्वरूप में सक्रिय तत्त्व भी होना आवश्यक है, जो इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था की प्रतीति अथवा विकास का उचित आधार व्यक्त कर सके। चरम-सत्ता के इस सक्रिय पक्ष का उपर्युक्त वर्णन में कोई स्थान नही है।

(अ) शुद्ध अस्तित्व की धारणा—

बुद्धिवादियो का कहना है कि बिना किसी अस्तित्वधारी के शुद्ध अस्तित्व कोई वास्तविक सत्ता नहीं माना जा सकता। यह तो अनस्तित्व जैसा ही हुआ। अस्तित्व वर्तमान रहता है, यह कहना निरर्थक है। अस्तित्व सार्थक तभी होता है, जब किसी वस्तु द्वारा इसका विधि या निषेध किया जाय। किसी वस्तु का अस्तित्व या तो हो सकता है या फिर नही हो सकता। अस्तित्व की स्वीकृति वस्तु की वास्तविकता है और इसकी अस्वीकृति वस्तु की अवास्तविकता। अस्तित्व को विभिन्न प्रकार से प्रकट किया जा सकता है। कोई वस्तु जो अस्तित्व में रहती है, वह स्वयभू या परभू, निरपेक्ष या सापेक्ष, शाश्वत या अस्थायी, अनन्त या शांत, अपरिवर्तनीय या परिवर्तनीय, वास्तविक या भ्रमोत्पादक अस्तित्वपूर्ण हो सकती है। किन्तु प्रत्येक दशा मे बोधगम्य होने के लिये अस्तित्व को व्यक्ति या वस्तु का विधेय होना चाहिये। अन्यथा यह एक सारहीन विचार मात्र है, जिसका अनस्तित्व से कोई वास्तविक भेद नहीं है। तथापि, यदि शुद्ध अस्तित्व का अर्थ एक शाश्वत, अनन्त भेदरहित, अपरिवर्तनीय पूर्ण स्वयंभू है, तब निस्सदेह इस शब्द का एक सारयुक्त विशिष्ट अर्थ हो जाता है।

वस्तुत: इसी अर्थ मे महायोगियों और औपनिषदिक् ऋषियों ने इस शब्द का प्रयोग किया है और निश्चित रूप से चरम-सत्ता के बारे में यह विधेयात्मक-भाव है। शुद्ध अस्तित्व का चरम-सत्ता के लक्षण रूप में अर्थ है—पूर्ण अस्तित्व। यह अनस्तित्व का खडनमात्र ही नही, किन्तु सब प्रकार के अपूर्ण अस्तित्वों का भी खडन है। अपूर्ण अस्तित्वों के खंडन से यह तात्पर्य नही कि चरम-सत्ता से भिन्न अनेक सत्तायें हैं, जिनका खडन किया जाता है, बल्कि इस अवस्था में पूर्ण अस्तित्व सीमित और सापेक्षिक अस्तित्व हो जाता है और सच्चे अर्थो में पूर्ण नही रहता और वही अनेक सत्ताओं में प्रतीत होता है। चरम सत्ता का लक्षण पूर्ण अस्तित्व बताया गया है। अर्थात् यही केवल अद्वैत सत्ता है और इसके अन्दर या बाहर इससे भिन्न कुछ भी नहीं। पूर्ण सत्ता-निषेध का अर्थ है—सब प्रकार के उन काल, दिक्-बाधित मानसिक अथवा भौतिक अस्तित्वों का निषेध, जो है या हो सकते हैं। चरम-सत्ता में, चेतना के निम्न स्तरों के आन्तरिक व बाह्य अनुभव-पदार्थो की भिन्नता विलीन हो जाती है और वहां अनेकता व द्वैत नही रहते। एक महायोगी अपनी व्यावहारिक चेतना को पारमार्थिक स्तर तक उठाकर इस

पूर्ण सत्ता का अनुभव करता है। यह पूर्ण अस्तित्व द्वैत व अनेकत्व से ऊपर, काल व दिक् के परे, समस्त व्यावहारिक अपूर्ण, बाधित अस्तित्वों से ऊपर है।

जो इस मत के माननेवाले हैं, कि अस्तित्व का आवश्यक रूप से अर्थ सामान्य अनुभव स्तरों के व्यावहारिक अस्तित्व से है अथवा व्यावहारिक उपयोगिता ही अस्तित्व का एकमात्र मापदण्ड है, उनके लिये पूर्ण अस्तित्व अनस्तित्व जैसा ही प्रतीत हो सकता है। अतिश्रेष्ठ अनुभव उनके लिए व्यावहारिक अनुभव व अस्तित्व का पूर्ण विनाश प्रतीत हो सकता है। प्रापचिक व व्यावहारिक अनुभव से परे की सत्ता को वे असत् या शून्य कहते है तथा व्यावहारिक सत्ता को ही मात्र सत् व व्यावहारिक अनुभव को वास्तविक ज्ञान का एकमात्र स्रोत कहते है। उनके लिये समस्त वास्तविक अस्तित्व उत्पन्न और नष्ट होते है। वे इसका उत्तर नही दे सकते कि वे कहा से उत्पन्न होते और नष्ट होने पर कहाँ चले जाते है? वे इस बात को भुला देते हैं कि प्रयोगसिद्ध सत्ताएँ व्यावहारिक उत्पत्ति व विनाशयुक्त होने के कारण निश्चित रूप से किसी स्वयभू सत्ता की ओर सकेत करती हैं। तर्क की संतुष्टि के लिये व्यावहारिक अस्तित्वों की सकारण व्याख्या भी स्वयभू सत्ता से दी जा सकती है।

योगशास्त्रों में निर्विकल्प या असप्रज्ञात समाधि के पारलौकिक अनुभव को शून्य या पूर्ण कहकर वर्णित किया गया है। यह अवस्था है—

"अन्तः शून्यो बहिः शून्यो शून्य-कुम्भ इवाम्बरे।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्ण-कुम्भ इवार्णवे॥"

शून्य अन्दर व शून्य बाहर—आकाश मे स्थित रिक्त घड़े की भांति, पूर्णता अन्दर और पूर्णता बाहर—सागर में डूबे हुये घड़े की भांति।

चूकि इस अनुभव में अनुभूत पदार्थ-जैसा कुछ नहीं होता, ज्ञाता-ज्ञेय-संबंध और उसके अनुभव को प्रक्रिया का अभाव होता है, किसी बाह्याभ्यन्तर या पूर्वापर चेतना का भाव नही होता, अतः यह शून्यावस्था कही जा सकती है। व्यावहारिक अर्थ मे यह अस्तित्व व चेतना की पूर्ण निषेधावस्था है। दूसरी ओर, समस्त बन्धनों से मुक्ति व पूर्ण सत्य के दर्शन के हार्दिक व क्रमिक प्रयासों की सिद्ध स्थिति होने के कारण तथा सत्य और मुक्ति को खोजने वाली मानव चेतना को पूर्ण सतुष्टि, शान्ति व स्थिरता का भाव प्रदान कर आनन्दमय अवस्था की ओर ले जाने के कारण इसे सच्चे अर्थों में चरम पूर्णावस्था कहा गया है। इसको पाने के बाद अन्य कुछ भोगने या जानने को शेष नही बचता। यह पूर्ण सत् के साक्षात्कार की अवस्था है, जिसमें व्यावहारिक अस्तित्वों की समस्त व्यवस्थाओं का न केवल निषेध होता है, वरन् वे चरम सत्ता में समाविष्ट प्रतीत होती है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से जो शून्य या असत् प्रतीत होता है, वास्तव में वह पूर्ण सत् है, जिसमें समस्त प्रकार के अस्तित्वों की समस्त व्यवस्थाये एक स्वप्रकाशित भेदरहित अद्वैत आध्यात्मिक सत्ता के रूप में प्रकट होती है। यह पूर्ण सत् समस्त

व्यावहारिक सत्ताओं में, जो इसी की दिक्कालबद्ध आंशिक-अपूर्ण तथा बाधित आत्माभिव्यक्तियाँ हैं, अन्तर्निहित है।

गोरखनाथ और उनका सप्रदाय चरम सत्य के बारे में ऐसी किन्ही बौद्धिक विचारणा वाली संज्ञाओं यथा सत् या असत्, पूर्ण या शून्य, द्वैत या अद्वैत से कोई कट्टर लगाव अनुभव नही करता, क्योंकि उसके मतानुसार चरम सत्य ऐसी समस्त सज्ञाओ के क्षेत्र से परे है और पूर्ण पारमार्थिक अनुभव में प्रत्यक्ष साक्षात्कार के योग्य है। इसलिये वे इस चरम सत्ता को एक प्रसग में सत् तथा दूसरे प्रसग मे असत् कहते हैं, कभी पूर्ण तो कभी शून्य, किसी प्रसंग में द्वैत तथा कही अद्वैत, और प्राय: सत्-असत्, शून्य-अशून्य, द्वैत-अद्वैत के परे कहते हैं। स्वात्माराम योगीन्द्र द्वारा लिखित 'हठयोग प्रदीपिका' (इस सम्प्रदाय का एक मान्य ग्रन्थ) मे लिखा है:—

"शून्य-अशून्य-विलक्षणम् स्फुरति तत् तत्वम् परम संभवम्"

वह चरम सत्ता सम्भवी मुद्रा के आचरण से पूर्ण समाधि-अवस्था में शून्य और अशून्य से भिन्न, विशिष्ट रूप में प्रकाशित होती है। ठीक अगले वाक्य में मनस् के शून्य में विलीनीकरण के आनन्द का वर्णन मिलता है, जो चिदानन्द का समानधर्मा है—

"भवेत् चित्यानन्दः शून्ये चित् सुख रूपिणी"

शून्य और ब्रह्म प्राय: पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त किये गये हैं।

(ब) शुद्ध चित् की धारणा—

जब हम शुद्ध चित् या चैतन्य की बौद्धिक धारणा बनाना चाहते है, तो इसी प्रकार की कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। व्यावहारिक ज्ञान-क्षेत्र में हम चेतन और अचेतन पदार्थों में भेद करते हैं और चेतना हम लोगों को चेतन प्राणियों का गुण प्रतीत होती है, न कि अपने आप में कोई एक सत्ता या सत् या द्रव्य। दूसरे, चेतन प्राणी भी सर्वदा चेतन प्रतीत नही होते जैसा निद्रा या मूर्च्छावस्था मे होता है। ऐसी अवस्था में यद्यपि मानसिक-भौतिक शरीर और मनस् का अस्तित्व रहता है, किन्तु वहां कोई चेतना की उपस्थिति का सकेत नही मिलता है। तीसरे, बहुत से मानसिक व्यापार ऐसे हैं, जो मनस् के उपचेतन या अचेतन स्तरों पर घटित होते प्रतीत होते हैं और ये व्यापार स्वप्न, स्मृतियों तथा हमारे अन्य अनुभवों से प्रकट होते हैं। चौथे, हमें जीवित मानसिक भौतिक शरीर के गुण या सम्बन्ध के अतिरिक्त चेतना के अस्तित्व का कोई अन्य प्रमाण नही मिलता। अतः हम किसी अशरीरी शुद्ध चेतना की स्वतंत्र सत्ता की कल्पना नहीं कर सकते। पांचवें, मानसिक भौतिक शरीर में भी चेतना अपरिवर्तनीय, अंतरंग, स्थायी अंग प्रतीत नही होती, बल्कि अनुकूल परिस्थितियों में उत्पन्न और उपस्थित रहनेवाली दिखाई पड़ती है। इस प्रकार यह एक कालाश्रित प्रक्रिया प्रतीत होती है, जिसमें उत्पत्ति, क्रमिकता, विकास, ह्रास और विनाश होते हैं तथा यह एक स्थायी सत्ता नहीं है।

छठे, हमारे साधारण अनुभवों में चेतना अनिवार्यतः ज्ञाता-ज्ञेय के सम्बन्ध से युक्त होती है। एक चैतन्य ज्ञाता भी अचेतन रहता है, जब तक उसके समक्ष कोई पदार्थ प्रस्तुत नहीं किया जाता, जिसके विषय में वह चेतन हो, तथा जब तक ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ में सम्बन्ध स्थापित करनेवाली कोई मानसिक प्रक्रिया न हो। ज्ञाता स्वयं के विषय में भी, बिना अपने ज्ञेय पदार्थो से सम्बन्ध और भेद स्थापित किये, सचेतन नही हो सकता।

इन अवस्थाओं के कारण—जिन पर हमारी साधारण चेतना निर्भर रहती है—शुद्ध चेतना या चित् की एक स्वतः प्रकाश, आत्म स्थित निरपेक्ष सत्ता के रूप में धारणा बनाना हमारे लिये असंभव हो जाता है, क्योंकि यह किसी भी प्रकार के ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध से मुक्त, कालातीत, मानसिक-भौतिक शरीर से स्वतंत्र, विकास रहित, दिक् शून्य अनन्त, शाश्वत, पूर्ण सत्ता है। साधारण मानवीय अनुभव स्तर पर खड़े होकर एक बुद्धिवादी विचारक आसानी से पूछ सकता है—माना कि काल, दिक्, अनेकत्व व सापेक्षिकता के परे कोई ऐसी चरम सत्ता है, किन्तु इसे चेतन कैसे मान सकते हैं, जब कि न तो यह किसी पदार्थ को अपनी चेतना का विषय बता सकती है और न अपने को ही पदार्थ रूप में चेतना का विषय बना सकती है। इसके अन्दर और बाहर किसी अन्य वस्तुगत सत्ता के अभाव में इसका स्वतः प्रकाशमय स्वरूप निरर्थक प्रतीत होता है। यह शुद्ध सत् हो सकती है, किन्तु इसे स्वतः चेतन सत्ता कैसे मान सकते हैं ?

तत्त्वज्ञानालोकित योगियो और दार्शनिकों का कहना है कि अनुभव के साधारण स्तर पर शुद्ध पारमार्थिक चेतना की स्वतः सत् सत्ता के रूप में स्पष्ट धारणा बनाना कठिन है, किन्तु हमारे व्यावहारिक अनुभव का गहन विश्लेषण तथा उस पर विचार करने पर समस्त अनुभव व ज्ञानाधार स्वरूप इस स्वतः सत्, स्वतः प्रकाश, अनन्त शाश्वत शुद्ध चित् का पता चल जाता है।

प्रथम, क्या चेतन और अचेतन पदार्थो का भेद यह प्रकट नहीं करता कि व्यावहारिक चेतना व अचेतना दोनो उस एक चैतन्य के ही दो रूप है ? व्यावहारिक चेतना की उपस्थिति, स्वीकृति एवं अनुपस्थिति के पीछे एक स्वप्रकाशित साक्षी रूप ज्ञाता उपस्थित है। क्या विभिन्न प्रकार के चेतन और अचेतन प्राणियों का ज्ञान संभव है, अगर इनके पीछे साक्षीस्वरूप चैतन्य, स्वयं विशिष्टता व उनका पारस्परिक भेद निर्धारित करनेवाला न हो ? चेतन और अचेतन की आधारस्वरूप एक स्वप्रकाशित चेतना अवश्य होनी चाहिये।

दूसरे, असख्य प्रकार की सीमित व परिवर्तनशील व्यावहारिक सत्ताओं से युक्त इस वस्तुगत जगत् के अस्तित्व का प्रमाण क्या है ? क्या इस वस्तुगत जगत् (ज्ञेय पदार्थ) की कोई प्रामाणिक धारणा, बिना एक सर्वव्यापी साक्षी (ज्ञाता) के, बनाई जा सकती है ? वह सार्वभौम ज्ञाता (चैतन्य) इस ज्ञेय पदार्थ (जगत्) को व्यवस्थित, संयोजित, प्रकाशित करता तथा अनुभव योग्य बनाता है। स्वय अपरिवर्तनीय

रहकर जगत् में नाना कालदिगाश्रित परिवर्तन करता हुआ इस विशाल, जटिल और क्रमिक ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में निज स्वरूप एकता को बनाये रखता है। वस्तुत: हम एक अनन्त, शाश्वत, स्व-प्रकाशित, सर्व प्रकाशक, सर्व-व्यापक साक्षी-चैतन्य के लिए ही इस आदि-अंत-रहित, सदा परिवर्तनशील, सर्वदा जटिल विभिन्नताओं से युक्त ब्रह्माण्ड को व्यवस्थित इकाई के रूप में विचार कर सकते हैं। जगत् के अस्तित्व का एकमात्र कारण व उद्देश्य वही (साक्षी चैतन्य) है, अन्यथा जिसे हम ब्रह्माण्ड व्यवस्था कहते हैं, वह नितान्त निरर्थक सिद्ध होगी। हमारी वैयक्तिक व्यावहारिक चेतनायें इस जगत्-व्यवस्था का आंशिक व अपूर्ण अनुभव ही प्राप्त करती हैं तथा वे सर्वव्यापी चैतन्य के अनन्त अनुभव में अपनी मानसिक-भौतिक-सीमित दशाओं के अन्तर्गत ही भाग ले सकती है। उनका अनुभव व उनकी स्थिति सर्वव्यापी चैतन्य पर आधारित है। हमारे वैयक्तिक अनुभवों को किसी सर्वव्यापी चैतन्य से समायोजित होना आवश्यक है, अन्यथा उनकी कोई वस्तुगत प्रामाणिकता न होगी। जब भी वैयक्तिक चेतना निर्विकल्प समाधि में इन सीमित दशाओं से छुटकारा पा जाती है, यह उस अनन्त शाश्वत चेतना से पूर्णरूपेण आलोकित हो सकती है और तब इसे ब्रह्माण्ड-व्यवस्था का पूर्ण अनुभव (अथवा विराट्-स्वरूप के दर्शन) प्राप्त हो सकता है। तथापि उस अनुभव में ब्रह्माण्ड-व्यवस्था चरम चैतन्य में विलीन या तदाकार हो जायेगी।

तीसरे, सुषुप्ति और मूर्छा में मनस् की अचेतन दशाओं और अचेतन तथा अर्द्धचेतनावस्था में मानसिक क्रियायों के सम्बन्ध में यह पूछा जा सकता है कि इन अचेतन दशाओं या मन की अचेतन अथवा अर्द्ध-चेतन व्यापारों का साक्षी कौन है ? मानसिक जागरूकता की क्रिया से पृथक् क्या ये अचेतन अवस्थाये एक चेतना की उपस्थिति प्रकट नहीं करतीं ? यह नितान्त स्पष्ट है कि जिसे मनस् कहा जाता है, वह यदि स्वतः प्रकाशित होता, अर्थात् स्वत: चेतना मनस् की आवश्यक विशेषता होती, तो मनस् की कोई अचेतनावस्था होती ही नहीं। मनस्, जैसा कि इसका अनुभव होता है, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और मूर्छा आदि अवस्थाओं में से होता हुआ आगे बढता है, प्रत्येक अवस्था में यह अनेक परिवर्तनों और रूपान्तरों से पार होता है, जो वस्तुत: कालाश्रित प्रक्रियायें हैं। जागृत अवस्था में यह अनेक सवेदनाओं, प्रत्यक्षों, विचारों, कल्पनाओं, सवेगों, भावों, विकल्पों, इच्छाओं और वासनाओं से गुजरता हैं, अर्द्धचेतन व अचेतन अवस्था में यह अनेक रूपान्तरों व परिवर्तनों से गुजरता है, जिनका प्रभाव चेतन अवस्था में अनुभव किया जाता है; मनस् में नाना प्रकार के दृश्य उद्‌भूत होते है, जिनके बारे में उत्पत्ति के समय यह सजग नहीं होता, किन्तु जिनको बाद में याद करता व जिनके विषय में बाद में सचेतन हो जाता है। नाना रूपरिवर्तन व रूपान्तरों के मध्य एक क्रमिक व अविच्छिन्न उपस्थिति के रूप में मनस् का अस्तित्व प्रतीत होता है।

प्रत्येक मानसिक क्रिया या व्यापार एक मानसिक रूपान्तर या परिवर्तन है। अब यह क्या है, जो मनस् को इन अनेक अवस्थाओं, परिवर्तनों और रूपान्तरों

को देखता, इनमें पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करता, मनस् की एकता व निरंतरता स्थिर रखता तथा समस्त व्यापारों को व्यवस्थित रखता है ? कभी चेतन और कभी अचेतन, कालान्तर परिवर्तनों से युक्त अपनी आवश्यक प्रकृति के कारण यह मनस् स्वत: चैतन्य सत्ता नही माना जा सकता। मनस् की समस्त अवस्थाओं और क्रियायों के व्यावहारिक अस्तित्व-स्तरों पर एकता व निरतरता बनाये रखने एवं प्रकट करने के लिए किसी एक स्वयं परिवर्तन-रहित चैतन्य का होना परमावश्यक है। इसकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति की समस्त दशाये एवं क्रियायें उससे समान रूप से आलोकित होती है तथा वह चैतन्य इन सबका समान रूप से साक्षी रहता है। बिना ऐसे साक्षी चैतन्य की मान्यता के मनस् के चेतन, अर्द्ध-चेतन व अचेतन दृश्यों तथा वृत्ति-चैतन्य (व्यावहारिक चेतना) की तार्किक व्याख्या असम्भव है। साक्षी चैतन्य स्वप्रकाशित सत्ता है और व्यावहारिक मनस् की समस्त चेतना और अचेतन अवस्थाओं, ज्ञान, अनुभव, इच्छा की समस्त प्रक्रियायों, मनस् व बुद्धि के समस्त व्यापारों का साक्षी तथा साथ ही सबसे परे है। परिवर्तनशील मनस् के पीछे इसे एक अपरिवर्तनशील मनस् माना जा सकता है। व्यावहारिक मनस् की समस्त अवस्थाओं और प्रक्रियाओं को प्रकाशित और सयोजित करने वाला यह पारमार्थिक (अति व्यावहारिक) मनस् कहा जा सकता है। यह मानसिक भौतिक शरीर की आत्मा है।

चौथे, प्रगाढ़ निद्रा से जागने पर प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार की मानसिक जानकारी रहती है, "मैं पूर्ण शान्ति से गहरी नींद में सोया, मैं कुछ नही जानता, में अचेतन था।" यह जानकारी स्मृति-रूप होती है। अब, कैसे कोई स्मृति हो सकती है अगर प्रगाढ़ निद्रावस्था में कोई अनुभव ही न हुआ हो ? अत: यह मानना तर्कसंगत प्रतीत होता है कि प्रगाढ-निद्रावस्था समस्त अनुभव व चेतना की पूर्ण निषेधावस्था नही है। यद्यपि व्यावहारिक मनस् तब अचेतन और सवेदन शून्य, निष्क्रिय तथा अनभिज्ञ रहता है, फिर भी वहां एक प्रकार का अमानसिक अथवा अतिश्रेष्ठ मानसिक अनुभव तथा मनस् की उस अचेतनता, संवेदन-शून्यता, निष्क्रियता तथा अज्ञानता के प्रति एक सचेतनता वर्तमान रहती है, क्योंकि इसके अभाव में स्मृति-ज्ञान असभव है। एक सर्वदा-जागृत सर्वदा सतर्क, स्वत: प्रकाशित चैतन्य के होने का यह स्पष्ट प्रमाण है कि वह मनस् की समस्त परिवर्तनशील अवस्थाओं का साक्षी है। वह हमारे ज्ञान और अज्ञान, मन की जागृत तथा स्वप्नावस्था की समस्त क्रियायों और गहन निद्रा मे मन की निष्क्रिय अचेत तथा शांत दशाओं तथा अर्धचेतन स्तरों में मनस् के समस्त रूपान्तरों का सर्व साक्षी है।

अचेतन प्रतीत होने वाली अवस्था में बिना अपने सस्कारों का त्याग किये मनस् साक्षी चैतन्य से एकाकार रहता है। यह साक्षी चैतन्य ही है, जो हमारे मानसिक जीवन की एकता का आधार और हमारे व्यावहारिक अस्तित्व की सच्ची आत्मा है। इस चेतना-सागर की सतह पर समस्त मानसिक स्थितियां

और प्रक्रियाये लहरों व बुद्बुदो के समान है। यह चैतन्य वास्तविक आधार रूप में उनके अन्तर्यामी तथा उनसे परे उनके निर्लिप्त साक्षी के रूप में अन्तरस्थ रहता है। वस्तुत चैतन्य अपरिवर्तनीय स्वप्रकाशित सत्ता है, जो मनस् की नानाप्रकार की अवस्थाओं, क्रियायो और परिवर्तनों (साथ ही बुद्धि, अह और हृदय की प्रक्रियाओ मे) प्रकट होकर, अपनी भिन्नता कायम रखते हुये, उनके द्रष्टा या ज्ञाता रूप मे वर्तमान रहता है। जब व्यावहारिक मनस् निष्क्रिय, अचेतन और अव्यक्त अवस्थाओं मे प्रतीत होता है अथवा जब व्यावहारिक चैतन्य की सतह के नीचे अति सूक्ष्म बुद्धिपूर्वक सक्रिय रहता है, तब भी यह साक्षी चैतन्य से अभिन्न और एक रूप रहता है। उस चैतन्य के समक्ष व्यावहारिक चेतना अपने समस्त सुप्त सस्कारों एव वैयक्तिक विशेषताओ सहित उपस्थित रहती है। चैतन्य के साथ की यह एकत्व अवस्था भिन्न और सचेतन कार्यो के स्तरों पर भी बनी रहती है। स्वतः प्रकाशमान स्थायी चैतन्य व्यावहारिक चेतना और अचेतना दोनों का स्थायी साक्षी है।

पांचवे, यह साक्षी चैतन्य समस्त चेतन, अर्द्ध-चेतन, आंशिक-चेतन और अचेतन अवस्था में तथा व्यावहारिक मनस् की समस्त प्रक्रियाओ में अन्तर्निहित तथा साक्षी रूप से मनस् के समस्त कालाश्रित परिवर्तनो और रूपान्तरों को एकत्रित और प्रकाशित करता हुआ भी तार्किक रूप से स्वय कालाश्रित प्रक्रिया नही माना जा सकता। अन्यथा हमारा तर्क एक अन्य स्वतः प्रकाशित, परिवर्तन-रहित चैतन्य की मांग करेगा, जो इन परिवर्तनों को आलोकित, एकत्रित कर साक्षी रूप हो सके। काल का अस्तित्व भी परिवर्तनरहित, शाश्वत, साक्षी चैतन्य के प्रसंग में ही आता है। भूत, वर्तमान और भविष्य तथा पूर्वापर—क्रमिकता के कारण सम्बद्ध प्रतीत होने वाले ये क्षण चैतन्य के समक्ष समान रूप से उपस्थित रहने चाहिये तथा साथ ही उनको एक दूसरे से जुड़ा हुआ और विभिन्न भी होना चाहिये, जिससे 'काल' की धारणा बन सके। इसका तात्पर्य है कि किसी ऐसे चैतन्य का होना आवश्यक है, जो क्षण के नैरन्तर्य मे बिना परिवर्तित हुये इस नैरन्तर्य का साक्षी हो। काल के ज्ञाता का कालातीत होना आवश्यक है। जो चैतन्य समस्त कालाश्रित प्रक्रियाओ और परिवर्तनो का साक्षी है तथा उन्हें काल के अन्तर्गत एक साथ व्यवस्थित देखता है, उसे स्वय एक कालाश्रित प्रक्रिया नहीं माना जा सकता। यह आवश्यक रूप से काल का कालातीत अनुभवकर्ता, परि-वर्तनों का अपरिवर्तनीय द्रष्टा होगा। इसे अनिवार्यतः परमार्थ-प्रकाशक मानना होगा, एक व्यावहारिक प्रक्रिया नही। इसका ज्ञान व अनुभव मानसिक रूपान्तर की प्रकृति का न होकर परितः प्रकाश की प्रकृति का होता है। यह बिना किसी निजी कालिक परिवर्तन के समस्त कालाश्रित जगत पर प्रकाश डालता है।

इसी प्रकार यह चैतन्य दिक् या आकाश के अन्तर्गत समस्त अनेकत्व का द्रष्टा, ज्ञाता और प्रकाशक होकर उन सबको एक व्यवस्थित क्रम से सजोये रहता है, किन्तु यह स्वयं दिक् के अन्तर्गत सापेक्ष सत्ता नही है। यह वस्तुगत जगत-

व्यवस्था की नाना सत्ताओं में से एक नहीं है और न ही मानसिक भौतिक शरीर के अन्दर या बाहर यह दिक् का कोई भाग घेरता है। यह मानसिक भौतिक शरीर के अन्दर निवास करनेवाला नहीं, उसे आलोकित करने वाला है। यह दिक् को आलोकित करनेवाला है, उसको घेरनेवाला नहीं। इसकी न कोई कालिक और न कोई दिक्युक्त सीमा है। काल और दिक् अपना क्रमिक और अनन्त अस्तित्व केवल इसी सर्वनिहित सर्वातिशायी सर्वालोकित साक्षी-चैतन्य के कारण और इसी के लिये रखते है। जब योगी की व्यावहारिक चेतना मानसिक-भौतिक शरीर की सीमाओं तथा अहंभाव से मुक्त हो, पूर्ण रूप से शुद्ध, शांत और स्थिर होकर समाधि अवस्था को प्राप्त कर लेती है, तब यह साक्षी चैतन्य ही उसके समक्ष अपना सच्चा स्वरूप प्रकट करता है।

अब यह प्रत्यक्ष हो गया कि शुद्ध चैतन्य और शुद्ध सत् एक ही है। शुद्ध चैतन्य ही स्वतः प्रकाशित, एक मात्र अनन्त, शाश्वत, पूर्ण सत्ता के रूप में प्रकट होता है। यह काल, दिक्, कारणत्व और सापेक्षिकता के ऊपर, परे और पीछे है। यह जगत व्यवस्था की समस्त कालदिकाश्रित व्यावहारिक उत्पत्तियुक्त सत्ताओं में निहित है। जगत की व्यावहारिक सत्ताओं का स्वरूप इस चरम सत्ता पर निर्भर करता है, अतः तार्किक दृष्टि से उनकी व्यावहारिक सत्तायें इस स्वतः सत् सत्ता से घटित मानी जा सकती है। वे इस आत्म-प्रकाशित सत्ता के प्रकाश से प्रकाशित हो रही हैं। काल, दिक्, सह-अस्तित्व, क्रम, कारणत्व और सापेक्षिकता वहीं तक वास्तविक है, जहां तक वे इस अभेद, सीमारहित ,परिवर्तनरहित स्वतः प्रकाशित चैतन्य से प्रकट और आलोकित है। समस्त भेद, समस्त सम्बन्ध, समस्त एकतायें इस एक अनन्त, असीम शाश्वत, चरम चैतन्य के विभिन्न रूप है तथा इससे प्रकट होते है। वह चरम सत्ता स्वयं को स्वयं के लिये काल-दिक् व्यवस्था मे अभिव्यक्त करती है। इस अन्तर्निहित सत्ता से पृथक् किसी भी वस्तु के अस्तित्व व स्वरूप की धारणा अकल्पनीय है।

किन्तु यह सुविदित है कि हम अपने सामान्य अनुभव में केवल अपनी व्यावहारिक चेतना के प्रति जागरूक है। व्यावहारिक चेतना मानसिक रूपान्तरों पर आश्रित है। इसमें पदार्थ और उनके 'स्व' का भेद समाहित रहता है। यह कालाश्रित प्रक्रियारूप है तथा काल, दिक् और सापेक्षिकता के द्वारा सीमित है। अतएव प्रगाढ निद्रावस्था की स्थिति मे, जिसमें प्रत्यक्षतः मनस् अकर्मण्य रहता है और द्वैत, अनेकत्व, ज्ञाता-ज्ञेय-पदार्थ तथा एक या अन्य वस्तुओं में कोई भेद नहीं होता, हम व्यावहारिक चेतना से रहित प्रतीत होने लगते है, यद्यपि प्राण-क्रिया शरीर में जागृतावस्था की भांति ही निरंतर चलती रहती है और मानसिक भौतिक शरीर ताजगी पाता रहता है। अब, समाधि की चरमावस्था को ही निर्विकल्प कहा जाता है, जो समस्त भेदों से रहित और अपरिवर्तनशील होता है। क्या उस अवस्था मे किसी भी प्रकार की व्यावहारिक चेतना हो सकती है ? योग शास्त्रों में इसे असम्प्रज्ञात अवस्था या किसी प्रकार के व्यावहारिक ज्ञान या चेतना से

रहित स्थिति कहा है। यह एक अति-मानसिक अवस्था है और स्पष्टतः इसमे मानसिक रूपान्तर से उत्पन्न जैसा कोई ज्ञान या अनुभव नही होता। अगर उस स्थिति में ऐसा ज्ञान या अनुभव हो तो भी वह सापेक्ष और सीमित ज्ञान होगा और उस अवस्था में पूर्ण सत्य का दर्शन असंभव है। अतएव यह स्वीकार किया जाना चाहिये कि समाधि की चरमावस्था में अपनी समस्त सीमाओं व बाधाओं व अवस्थाओं सहित व्यावहारिक चेतना अनुपस्थित है या समाधि इन सबसे परे की स्थिति है। किन्तु इस कारण व्यावहारिक दृष्टि से समाधि अवस्था एक अचेतनावस्था नही मानी जानी चाहिये। यह व्यावहारिक चेतना की पूर्ण-सत्-चित् से पूर्ण, एकात्म या अद्वैत स्थिति है। इस प्रकार यह व्यावहारिक चेतना और व्यावहारिक व्यक्तित्व की पूर्ण-पूर्ति की स्थिति है।

निम्नलिखित श्लोक में गुरु गोरखनाथ ने इस बात पर बल देते हुये कि यह समस्त सत्ताओं की सत्ता, समस्त अस्तित्वो का सत्य, समस्त व्यावहारिक अनुभवों को प्रकाशित एवं संगठित करनेवाला और इस ब्रह्माण्ड व्यवस्था का निर्माता है, 'परासवित्' (शुद्ध चैतन्य) का एक सुन्दर और उदात्त वर्णन किया है:—

> **"सत्वे सत्वे सकल रचना राजते संविद एका**
> **तत्वे तत्वे परम महिमा संवित एवाव भाति।**
> **भावे भावे बहुल तरला लंपटा सविद् एका,**
> **भासे भासे भजन चतुरा बृंहिता संविद् एव॥"**
>
> **(सि० सि० प० ४/२८)**

एक संवित् समस्त प्रकार के पदार्थो की समस्त व्यवस्थाओं के अगों और गुणों को एकत्रित करनेवाला तथा समस्त प्रकार की सत्ताओं की व्यवस्थाओं में सर्व गौरवपूर्ण अकेला प्रकाशमान है। वह एक सवित् समस्त व्यावहारिक सत्ताओं के सीमित, परिवर्तनशील तथा नाना वस्तु-रूपो में स्वयं को प्रकट कर रहा है। सब प्रकार के मानसिक अनुभवों मे स्वयं को अनेक प्रकार के आत्मगत रूपों में प्रकट करता हुआ कौशल से यह एक सवित् अनेक सीमित विशेषताओं को धारण कर लेता है।

(स) शुद्ध आनन्द की धारणा

इस प्रकार इस एक अभेद, अपरिवर्तनीय, स्वयंभू, स्वतः प्रकाशित सवित् या चित् को सिद्ध योगियों द्वारा चरम सत्ता माना गया है, क्योंकि यह चरम सत्ता समस्त सीमित, कालाश्रित, सापेक्षिक, व्यावहारिक सत्ताओ (चेतन और अचेतन, सजीव और निर्जीव, शरीरी एव अशरीरी, शरीरहीन, स्थूल और सूक्ष्म) का एकमात्र स्रोत, आधार, निर्माता व आत्मा है। इस ब्रह्माण्ड व्यवस्था की निर्मात्री चरम सत्ता पर पूर्ण सत् व पूर्ण चित् के साथ एक अन्य विचार और जोड़ दिया जाता है, वह है संपूर्ण आनन्द का। हमारे व्यावहारिक अनुभव के साधारण स्तर

पर चरम सत्ता की, पूर्ण ग्रानन्द या सम्पूर्ण ग्रानन्द के रूप में युक्तियुक्त धारणा बनाना हमारे लिए उतना ही कठिन है, जितना पूर्ण चित् की धारणा बनाना। ग्रपने साधारण जीवन में जिस ग्रानन्द या प्रसन्नता की ग्रनुभूति हमें प्राप्त होती है, वह ग्रावश्यक रूप से ग्रपूर्ण, सीमित, क्षणिक ग्रौर सापेक्षिक होती है। हमारे दृश्य शरीर, इन्द्रियों व मनस् की यह ग्रनुकूल ग्रवस्था (सुखानुभूति) सर्वदा सुखदायी पदार्थो तथा ग्रन्य बाह्य ग्रौर ग्रांतरिक परिस्थितियो पर निर्भर रहती है। निर्बाध, ग्रसीमित, स्थायी एव पूर्ण ग्रात्मानन्द का हम ग्रपने व्यावहारिक जीवन मे कोई ग्रनुभव नहीं कर पाते है तथा इसके विषय में कोई विचार भी नही कर सकते। हम ग्रपनी शारीरिक व्यवस्था के वशीभूत होने के कारण सुख-दायक पदार्थो के सम्बन्ध से पृथक्, किसी सुख या ग्रानद की कल्पना करने में नितांत ग्रक्षम हैं। चाहे यथार्थ हो या ग्रादर्शमय, वास्तविक हो या काल्पनिक, बाह्य हो या ग्रान्तरिक, सुखो को उत्पन्न करनेवाले पदार्थ ग्रवश्य होने चाहिये। व्यावहारिक चेतना की प्रकृति में सुख या ग्रानन्द मूलतः ग्रन्तर्निहित प्रतीत नहीं होता। यह ग्रवसरों पर उत्पन्न होकर प्रयासों से उपलब्ध किया जाता है। हमारे मानसिक भौतिक जीवन में दुःख अधिक स्थायी ग्रौर ग्रावश्यक लक्षण प्रतीत होता है, यद्यपि दुःखों की उत्पत्ति बाह्य ग्रौर ग्रान्तरिक दशाग्रों पर भी निर्भर करती है। फिर शुद्ध चैतन्य ग्रौर चरम सत् के मूलभूत लक्षण के रूप में हम सम्पूर्ण ग्रानन्द या चरम ग्रानन्द की धारणा कैसे बना सकते हैं ?

तथापि, सम्पूर्ण ग्रानंद को हमारे सचेतन जीवन का चरम ग्रादर्श माना जा सकता है। स्वभावतः हम अधिकाधिक ग्रानन्द खोजते है। ग्रपने साधारण जीवन में हम अधिकाधिक तीव्र, अधिकाधिक स्थायी ग्रौर उन्मादक तथा अधिकाधिक श्रेष्ठ प्रकार के ग्रानन्द की इच्छा रखते व उसे पाने का प्रयास करते है। साधा-रणतया जो सुख हम भोगते है, वह दुःख मिश्रित है तथा उसके पहले या बाद में शोक होता है। सुख भोगने के समय भी हमारा सुख अधिकाधिक व ग्रन्य नवीन प्रकार के सुखों की इच्छाग्रों से बाधित हो जाता हैं ग्रौर जो हम पा चुके है, उसके खोने का भय बना रहता है। वास्तविक कठिनाइयो ग्रौर सकटो का तो कहना ही क्या, जो प्रायः हमे घेरे रहती है; कोई भी सांसारिक व्यक्ति किसी भी क्षण विशुद्ध ग्रानन्द भोगने का सौभाग्य नही पाता है। शुद्ध ग्रानन्द—जिसमे वास्तविक दुःख का कण मात्र भी नही, जिसमें किसी संभव दुःख का भय नहीं, किसी ग्रभाव का दुःख या ग्रौर अधिक प्राप्ति की पीड़ामयी लालसा नहीं, ग्रपूर्णता या सीमा का कोई भाव नहीं, सर्वदा एक ग्रादर्श प्रतीत होता है ग्रौर कभी भी मानवीय ग्रनुभव के साधारण स्तरों पर वास्तविक तथ्य के रूप में ग्रनुभूत नही होता। मानवीय जीवन के प्रत्येक स्तर पर इसकी कामना की जाती है, ग्राशा की जाती है, किन्तु व्यावहारिक रूप से इसकी उपलब्धि कभी नही होती। प्रायः मानव जीवन का चरम ग्रादर्श पूर्ण सुख या ग्रानन्द ही माना गया है।

इस प्रकार पूर्ण ग्रानन्द का तात्पर्य है मानव जीवन की पूर्ण पूर्ति की चेत-

नता, जिसमें किसी प्रकार की सीमा, इच्छा, आवश्यकता, भय, अपूर्णता, बन्धन न हो तथा आन्तरिक पूर्णता का आनन्द भोगने के लिये अन्य शक्तियों या अवस्थाओं की निर्भरता का अभाव हो। जब तक मानव की व्यावहारिक चेतना में किसी प्रकार की अपूर्णता का भाव रहेगा, चाहे वह ज्ञान की अपूर्णता का भाव हो अथवा शक्ति या सौन्दर्य की अपूर्णता का भाव हो अथवा यह अच्छाई की या जीवन की ही पूर्णता क्यों न हो, जिसमें मृत्यु की सम्भावना छिपी रहती है, पूर्ण आनन्द या चरम आनन्द के इसआदर्श की कभी भी उपलब्धि नहीं की जा सकती। फिर भी प्राप्ति की दिशा में मानव-चेतना इस आदर्श को एक नितान्त अव्यावहारिक वस्तु कह कर त्याग भी नही सकती। इस चरम पूर्णता की उपलब्धि का विचार हमारी चेतना के मूल स्वभाव में अन्तर्निहित रहता है। इसे महायोगी अपने आध्यात्मिक अनुशासन व एकात्मनिष्ठता से आत्मज्ञानालोकित उच्चतम समाधि अवस्था पर पहुँच कर खोज ही लेते हैं। यह चरम आनन्द जीवन, ज्ञान, शक्ति, अच्छाई और सौन्दर्य की पूर्णता का आदर्श, शाश्वत रूप से शुद्ध पारमार्थिक चेतना के मूल-स्वभाव में निहित रहता है। परम चैतन्य, व्यावहारिक चेतनाओं तथा उनके आत्मगत और वस्तुगत अनुभवों के जगत का स्रोत व सच्ची आत्मा है। प्रत्येक व्यावहारिक चेतना में उस चरम चैतन्य की सिद्धि की संभावना व योग्यता उपस्थित है। आत्मा अथवा परमात्मा का सारभूत चरित्र ही हमारे व्यावहारिक जीवन का चरम आदर्श है, इस प्रकार आत्म-ज्ञान का अर्थ पूर्ण आनन्द की प्राप्ति है।

किन्तु हमारी तार्किक बुद्धि के समक्ष यह प्रश्न बच रहता है कि भोक्ताभोग्य सम्बन्ध से रहित अभेद, पारमार्थिक चेतना के स्वरूप में कोई वास्तविक आनंद कैसे हो सकता है, जहाँ न कोई भी योग्य प्रक्रिया है न कोई भाव, केवल सवेग या अन्य किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया हो? निस्सन्देह हम आनन्द का अर्थ समस्त वास्तविक और संभावित दुःखों या शोकों का आभाव, समस्त बधन, ससीमता व अपूर्णता के भावों की अनुपस्थिति समझ सकते हैं, किन्तु इस निषेधात्मक अर्थ में आनन्द निर्जीव पदार्थों में निहित कहा जा सकता है और प्रत्येक सचेतन प्राणी अचेतनावस्था, प्रगाढ निद्रा या मूर्छावस्था में आनन्द भोगने वाला कहा जा सकता है। वास्तव में इस प्रकार का आनन्द न हमारे चेतन जीवन का आदर्श हो सकता है और न इसे होना ही चाहिए। आनन्द हमारे सचेतन जीवन का आदर्श तभी माना जा सकता है, जब इसका अर्थ न केवल समस्त दुःखों, अपूर्णताओं और सीमाओं की चेतना का आभाव ही हो, बल्कि आत्मा में पूर्णता, अनन्तता अमरत्व और माधुय के भाव तथा वास्तविक और असीमित आनन्दमय चेतना के रूप में उपस्थित हो। किन्तु इस प्रकार का वास्तविक और सार्थक आनन्द ज्ञाता-ज्ञेय-भेदरहित, अपरिवर्तनीय, अविकारी, परमार्थिक चेतना के स्वरूपानुकूल नहीं बैठता है।

तथापि, महायोगियों ने अपने अतीन्द्रिय अतिमानसिक, अतिबौद्धिक अनुभव

के आधार पर निश्चयपूर्वक यह घोषित किया है कि आनन्द अपने उच्चतम वास्तविक भाव मे पारमार्थिक चेतना के स्वरूप के अनुरूप होता है तथा जब हमारी व्यावहारिक चेतना अपने समस्त दोषों, चचलताओ और सापेक्षिकताओ को त्यागकर, मानसिक भौतिक शरीर द्वारा कालादिक की आरोपित सीमाओ से ऊपर उठकर, पारमार्थिक चेतना से आतरिक तदात्म्य प्राप्त कर लेती है, तो निश्चय ही हम उसे प्राप्त भी कर लेते है। पारमार्थिक चेतना-स्वरूप यह आनन्द व्यावहारिक चेतना की पूर्णता है, व्यावहारिक चेतना की सच्ची आत्मा यही है। चरम आनन्द प्राप्ति का अर्थ है—व्यावहारिक चेतना की पूर्ण आत्म-सिद्धि।

पूर्ण सत्, पूर्ण चित् और पूर्ण आनन्द—जो मूलरूप में एक ही है, समस्त सापेक्षिक या बाधित वैयक्तिक चेतनाओं, सुख-दुखों से ग्रसित समस्त अपूर्ण सचेतन प्राणियों तथा समस्त कालादिकाश्रित अस्तित्व के मूल में चरम आदर्श के रूप में निहित है। उन चरम आदर्शों की प्राप्ति के लिये ये सभी अस्तित्व एक अन्तर्वर्ती शक्ति द्वारा अनुप्रेरित होते है। वस्तुत. ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे विकास की समस्त प्रक्रियाये आतरिक रूप से इन आदर्शो से शासित होती है। कारण यह है कि ये आदर्श, इस विकासमान जगत-व्यवस्था की समस्त व्यावहारिक चेतना तथा जीवन में समस्त सत्ताओं की सच्ची आत्मा के मूल और चरम स्वभाव के अग है तथा आत्म-दर्शन हेतु ये सब प्रापचिक प्राणी अपने रूप की खोज करते है।

हमारा साधारण अनुभव और तार्किक विचार इस प्रापंचिक जगत तक ही सीमित है। यहा हम केवल अपूर्ण अस्तित्व, अपूर्ण जीवन, अपूर्ण चेतना व अपूर्ण आनन्द का अनुभव करते है, जो काल, दिक्, सापेक्षिकता और कारणत्व की सीमाओं व दशाओं से शासित होते है। यहां समस्त अस्तित्व घटित, सीमित, परिवर्तनीय और नाशवान होते है। यहाँ जीवन को आवश्यक रूप से सीमित, नाशवान, भौतिक शरीर के साथ सम्बद्ध होना पड़ता है।

व्यावहारिक अह का वातावरण के साथ समझौता करना जीवन का एक स्वाभाविक लक्षण प्रतीत होता है। स्थूल या सूक्ष्म भौतिक शरीर-रहित जीवन की कल्पना करना या एक अजन्मा, अविनाशी, अनन्त, शाश्वत शरीर की धारणा बनाना या आत्म-सुरक्षा के प्रयत्नों यथा मृत्यु के सघर्ष से रहित जीवन के विषय में सोचना, हमारे लिये असंभव नही तो कठिन अवश्य है। इसका अर्थ है कि जिस जीवन का हम अनुभव और विचार करते है, वह सर्वदा अपूर्ण जीवन है, जीवन जो मौतकी छाया में बैठा हुआ है। जीवन की समस्त प्रगति पूर्णता की ओर है। पूर्ण जीवन, जिसकी प्रेरणा वास्तविक जीवन के समस्त संघर्षो के मूल मे है, अन्तिम या चरम आदर्श है, किन्तु जब हम पूर्ण जीवन की धारणा बनाने का प्रयास करते है, ऐसे जीवन की धारणा जो अनन्त शाश्वत और अखड है, जिसे ह्रास या मृत्यु का कोई भय नहीं और उसमें विकास की न आवश्यकता है और न उसके लिये अवकाश ही, जिसमें आत्मा एवं शरीर के बीच कोई भेद नही, जिसमें पूर्ण आत्म-प्रकाश और आत्मानन्द है और इसी कारण जिसमें संघर्ष, प्रयत्न तथा क्रिया

का अभाव है, तो हमें इस आदश-रूप पूर्ण जीवन में वास्तविक जीवन का कोई संकेत नहीं मिलता। इस प्रकार पूर्ण जीवन की हमारी धारणा स्पष्टतया आत्म-विरोधी प्रतीत होती है।

यही स्थिति हमारी पूर्ण चित् और पूर्ण आनन्द की धारणाओं की भी है। जिस चेतना का हमें अनुभव होता है तथा जिसकी हम वस्तुतः धारणा बना सकते है, उसमें अनिवार्यतः ज्ञाता और ज्ञेय का भेद तथा ज्ञान, अनुभव और क्रिया की प्रक्रिया होती है। किन्तु यह चैतन्य की मानसिक भौतिक दशाओं में अपूर्ण अभिव्यक्ति है, फिर किसी मानसिक भौतिक शरीर के ऊपर आश्रित और उससे सम्बद्ध चेतना से अलग हमें किसी चेतना का अनुभव नही होता। अतः कभी उसके बारे में हम सोच भी नही सकते। इन दशाओं में हमारी व्यावहारिक चेतना सर्वदा अशान्त प्रतीत होती है। हमारी चेतना आन्तरिक रूप से मानसिक भौतिक शरीर से लादी गई सीमाओं से छुटकारा पाना चाहती है, जो प्रकटतः चेतना से भिन्न हैं। यह समस्त बाह्य सम्बन्धों से परे उठकर, समस्त पदार्थों को स्वयं में एकत्रित कर, स्वयं को ज्ञाता-ज्ञेय के भेद से मुक्त करने के लिये किसी प्रक्रिया या प्रयास की आवश्यकता से मुक्त होना चाहती है। यह चरम आदर्श, जो प्रत्येक वैयक्तिक चेतना को आत्म-विकास, आत्म-विस्तार एवं आत्म-परिष्कार के चरम आदर्श की ओर आन्तरिक रूप से प्रेरित करता है, पूर्ण चैतन्य है, जो समस्त दिक्काल, ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्धों के परे है और जो प्रत्येक व्यावहारिक चेतना की आत्मा है। किन्तु निम्न स्तरों पर ज्ञाता-ज्ञेय-सम्बन्ध और प्रक्रिया से रहित यह पूर्ण चैतन्य आत्म-विरोधाभासी प्रतीत होता है।

इसी प्रकार पूर्ण आनन्द का विचार, जिसमें भोक्ता और भोग्य में कोई भेद व सम्बन्ध नही और जिसमें कोई मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, आत्म-विरोधी प्रतीत होता है, किन्तु यह हमारे आनन्दान्वेषी जीवन का चरम आदर्श है और हम तब तक पूर्णरूपेण संतुष्ट नहीं हो सकते, जब तक यह आदर्श प्राप्त नही हो जाता।

इस प्रकार हम अपने व्यावहारिक अस्तित्व के मानसिक भौतिक स्तरों, संघर्षमय जीवन, व्यावहारिक चेतना तथा दुःखग्रस्त आनन्द के अपूर्ण अनुभवों के आधार पर पूर्ण सत्, पूर्ण जीवन, पूर्ण चेतना और पूर्ण आनन्द की तर्कयुक्त धारणा नहीं बना सकते, किन्तु यह होने पर भी हम इस पूर्ण जीवन, अस्तित्व, चेतना और आनन्द की आदर्शात्मक सत्यता तथा उसकी अनुभव-संभावना को नकार नहीं सकते, क्योंकि यह हमारे व्यावहारिक विकासात्मक चेतन और सजीव अस्तित्व के मूल में है और यह हमें हर स्तर पर पूर्णता की ओर अग्रसर होने की दुर्निवार प्रेरणा दिया करती है।

बुद्धिवादी सत्यान्वेषियों की दार्शनिक कल्पना उस अनन्त, शाश्वत, अभेद, निरपेक्ष, मन-बुद्धि-बाह्य चरम सत्, चरम जीवन, चरम चित्, और चरम आनन्द

की वास्तविक सत्ता की कोई निश्चित धारणा नहीं बना सकती। प्रायः अन्धेरें मे डुबकियां लगाते तथा विभिन्न परस्पर विरोधी निष्कर्षो पर पहुंचते हैं। कुछ तो यह कहते हुए नेतिवादी बन जाते है कि ब्रह्म का अस्तित्व तो अवश्य होना चाहिये, किन्तु वह अज्ञान और अज्ञेय है। वे चरम-सत्ता पर जीवन, चेतना और आनन्द की धारणाओं का प्रयोग अस्वीकार करते है, क्योकि ये समस्त धारणाये हमारे व्यावहारिक अनुभव से उधार ली गयी है, जो आवश्यक रूप से सापेक्षिक, ससीम और परिवर्तन-युक्त होते हैं। कुछ तो सत् की धारणा को भी ब्रह्म पर नहीं प्रयुक्त करना चाहते है, क्योकि सत् और असत् धारणाये परस्पर सम्बद्ध है और व्यावहारिक अनुभवों से उधार ली गई है, जो अनिवार्यत: सापेक्षिक, ससीम और परिवर्तन-युक्त होते है। इस प्रकार कई विद्वान विचारकों द्वारा ब्रह्म को नेति-नेति कहा गया है। वह अनिवार्यतः सत्, असत् की बौद्धिक धारणाओ के ऊपर, समस्त वास्तविक अनुभव और मानसिक कल्पना के परे है, किन्तु यह पूर्णतया अनिवर्चनीय, अज्ञेय ब्रह्म समस्त व्यावहारिक अस्तित्व, समस्त व्यावहारिक जीवन और चेतना, समस्त द्वैत, अनेकत्व, सापेक्षिकता और कारणत्व, हमारे समस्त अनुभव के आवश्यक रूप से पूर्व मान्य आधार है। हम व्यावाहारिक जगत्-व्यवस्था के अन्तर्गत जीवित रहते, विचरण करते और अपना वास्तविक अस्तित्व रखते है और हमारे समस्त अनुभव और विचार वस्तुतः जगत्-परिधि से सीमा- बद्ध है। अतएव हम चरम सत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध मे न कभी कुछ कह सकते है, न जान सकते है और नही विचार कर सकते हैं।

(द) तार्किक धारणा के परे

तत्व ज्ञानालोकित महायोगियों को इसमे कोई विशेष रुचि नही कि सच्चिदानन्द ब्रह्म की एक अविरोधी या तर्कयुक्त बौद्धिक धारणा है या नही। वे चरम सत्ता के स्वरूप की स्पष्ट परिभाषा के सम्बन्ध में अन्य दार्शनिकों से तर्क या शास्त्रार्थ नही करते। वे तत्काल स्वीकार कर लेते है कि चरम सत्ता आकारगत और वस्तुगत तर्क क्षेत्र से परे, हमारी वाणी और विचार की सीमा के बाहर है— (यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह:)। वे भली भाँति जानते है कि जब कभी भी लोग ब्रह्म के स्वरूप की बौद्धिक धारणा—साधारण अनुभवों, तार्किक तर्कणा और सामान्य भाषा के आधार पर बनाने का प्रयत्न करेगें, वे सत्य से वचित रह जायेगे और परस्पर विरोधी दृष्टिकोण बनाकर आपस में लड़ेगें (अन्य भेदकता विवाद-विकला सत्-तत्वतो वचिता)। वे जानते हैं कि जो काल, दिक्, द्वैत और सापेक्षिकता से परे ज्ञाता-ज्ञेय-सम्बन्ध-रहित है, वह किसी विचारक की विचार सामग्री नही हो सकता और इसीलिये वह भली प्रकार लक्षणात्मक विशेषणों अथवा हमारी प्रज्ञा की किन्ही साधारण धारणाओं में व्यक्त नही किया जा सकता।

परम सत्य के वास्तविक ज्ञान के साधन के रूप में हमारे व्यावहारिक

विचारों, हमारी वाणी तथा तर्कबुद्धि की व्यर्थता स्वीकार करते हुये भी तत्व ज्ञानालोकित महायोगी निराशावादी दृष्टिकोण वाले नेतिवाद को स्वीकार नहीं करते। वे पारमार्थिक स्तर के ज्ञानालोकित अनुभव का आधार लेते है। वे समाधि अवस्था में प्राप्त अतीन्द्रिय, अतिमानसिक, अतिबौद्धिक, पारमार्थिक, आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर चरम सत्ता (ब्रह्म) के बारे मे सप्रमाण बोलते है। व्यावहारिक चेतना पूर्णरूपेण आध्यात्मिक अनुभव से रूपान्तरित हो जाती है, उस पारमार्थिक स्तर पर ब्रह्म का निज आत्मरूप मे साक्षात्कार होता है जहा व्यावहारिक मनस् एव बुद्धि पूर्णतया पवित्र, शुद्ध और सगठित तथा मानसिक-भौतिक शरीर की समस्त सीमाओं से मुक्त हो जाती है, जिसमे सचेतन ज्ञाता का समस्त व्यक्तित्व कालादिकादिक सीमाओ, ज्ञाता-ज्ञेय-सम्बन्ध, द्वैत, अनेकत्व और सापेक्षिकता से मुक्त हो जाता है। इस पूर्ण अनुभव के अन्तर्गत ही समस्त अनुभवो की सच्ची आत्मा का दर्शन होता है।

शरीर की शुद्धि, पवित्रता तथा बहुमुखी अनुशासन के फलस्वरूप चेतनाये, जीवंत शक्तिया, मन और बुद्धि तथा गहन चिन्तन और मनन के सतत अभ्यास के साथ ही साथ अन्तरस्थ आध्यात्मिक आदर्श की सूक्ष्म प्रक्रिया तथा व्यावहारिक चेतना समस्त सीमाओं से मुक्त होकर पूर्ण ज्ञान स्तर तक उठती है और चरम सत् का अनुभव प्राप्त कर लेती है। किन्तु जब तक मानसिक भौतिक शरीर विद्यमान रहता है, निम्न स्तरों की शक्तियां जो समाधि काल मे दबी रहती है, पर समूल नष्ट नही होती, व्यावहारिक चेतना को बार-बार मानसिक बौद्धिक और काल-दिक्-कारणत्व तथा सापेक्षिकता के स्तरों पर उतार लाती है। 'निरुत्थान' दशा से चेतना बार बार 'व्युत्थान' दशा पर आ जाती है। तथापि, इन निम्न स्तरों पर समाधि अनुभव का प्रकाश छिटका रहता है। व्यावहारिक चेतना सापेक्षिकता के स्तर पर उतरते हुये अपने साथ ब्रह्मानुभव की मधुर व आनन्दमयी स्मृति तथा वहा पर प्राप्त आध्यात्मिक ज्योति लेकर उतरती है, परिणामस्वरूप तत्व ज्ञानालोकित योगी का वस्तुगत अनुभवो के जगत के प्रति दृष्टिकोण पूर्णतया रूपान्तरित हो जाता है। वह प्रत्येक आन्तरिक वाह्य वस्तु को ब्रह्मानुभव के सत्-दृष्टिकोण से निहारता है। यद्यपि वह ब्रह्मानुभव या पारमार्थिक स्तर पर अनुभूत चरम सत्ता का यथावत् बर्णन नही कर सकता और न ही उस अनुभव और सत्य की वह कोई मानसिक या बौद्धिक धारणा बना सकता है। तथापि, उसे पूर्ण निश्चय होता है कि यह अनुभव सर्व समायोजक, सर्व व्यापक, सर्व संगठनकर्ता, व सर्व-समाधान-युक्त पूर्ण अनुभव है तथा उसमे अनुभूतसत्ता, एवं चरम-सत्ता है।

संत व तत्वज्ञानालोकित महायोगी यद्यपि अपने अनुभव के आधार पर उस चरम सत्य का अधिकारपूर्वक प्रतिपादन करते है, किन्तु उसे प्रज्ञा के प्रारूपों या बौद्धिक विवेचना के आधार पर हठपूर्वक या दुराग्रह से जकड़ने का प्रयास नहीं करते। जैसा कि देखा जा चुका है, वे प्राय: सर्वाधिक मौलिक प्ररूपों को भी

कोई विशेष महत्व नही देते, यथा सत् और एकत्व के प्ररूप। महायोगियो ने चरम सत्ता या ब्रह्म को कभी सत् और कभी असत्, कभी शून्य और कभी तो न सत् और न असत् ही कहा है। कभी-कभी वे एकत्व या द्वैत पर झगड़नेवालो को अज्ञानी कहकर तिरस्कृत करने है :

"अद्वैतम् केचिद् इच्छन्ति द्वैतम् इच्छन्ति चापरे।
परं तत्वं न विदन्ति द्वैताद्वैत-विलक्षणम्॥

(अवधूत गीता)

कोई द्वैत और कोई अद्वैत चाहते है। वे यह नहीं जानते कि विशिष्ट चरम सत् द्वैत-अद्वैत दोनो से परे है। 'अमनस्क' पुस्तक मे गोरखनाथ लिखते है—

"भावाभाव-विनिर्मुक्तं नाशोत्पत्ति-विवर्जितम्।
सर्वसंकल्पनातीतं पर-ब्रह्म तदुच्यते॥"

गोरखनाथ कहते है कि चरम-सत्य जिसका उच्चतम आध्यात्मिक स्तर पर अनुभव किया जाता है, वह भाव-अभाव की धारणाओ से परे, उत्पत्ति नाश से पूर्ण रूपेण रहित, समस्त सकल्प-विकल्पो से परे है और उसे परब्रह्म कहा जाना है। 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' के प्रथम अध्याय के चौथे श्लोक मे महान् योगाचार्य ने परब्रह्म को नाम-रूप, अहकार, कारणत्व, क्रिया, आत्माभिव्यक्ति या किसी प्रकार के बाह्यातरिक भेद से रहित बतलाया है। गोरखनाथ, अन्य तत्व-ज्ञानालोकित सतो के साथ कहते है कि परब्रह्म परमात्मा यद्यपि व्यावहारिक रूप से अनिवर्चनीय, अज्ञेय व अतर्क्य है, फिर भी समाधि अवस्था मे पूर्णरूपेण सिद्ध करने योग्य है। समाधि-अवस्था मे व्यावहारिक चेतना समस्त सापेक्षिकता से ऊपर उठकर ब्रह्मरूप हो जाती है। 'पक्षपात-विनिर्मुक्त ब्रह्मसम्पद्यते तदा'—समस्त पक्षपातो से मुक्त होकर तत्वज्ञानालोकित योगी तब पूर्णरूपेण ब्रह्म-रूप हो जाता है। तब वह निम्न-स्तरों के अनुभवो पर आधारित अन्य प्रतिस्पर्धी दृष्टिकोणों के विरोध मे किसी विशेष दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन नही करता। इस प्रकार गोरखनाथ और सिद्ध-योगी-सम्प्रदाय का दर्शन 'द्वैताद्वैत विलक्षणवाद' और "पक्षपात विनिर्मुक्तवाद" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सत्यान्वेषियों के पथ-प्रदर्शन के लिये बौद्धिक धारणाओं को स्वीकार करना फिर भी अनिवार्य है। सत्-चित् आनन्द की धारणा, ब्रह्म (सत्ता) के स्वरूप की ओर सकेत करनेवाली सर्वाधिक मूल धारणा होने के कारण, सत्यान्वेषियों को शिक्षा देते समय, महायोगियों द्वारा स्वीकार की गई है। परम अनुभव मे 'सत्-चित् और आनन्द' परब्रह्म के भिन्न-भिन्न लक्षण नही प्रतीत होते। यह तो उसे परम सत्य के पारमार्थिक अद्वैत, अभेद, स्वत सत्, स्वप्रकाश और आत्मपूर्ण स्वरूप का, मानसिक बौद्धिक स्तरो पर, निकटतम सकेत देने की शब्द-प्रणाली है। बौद्धिक स्तर पर सत्, चित्, आनन्द की धारणायें 'सत्य' के विभिन्न पक्षो या गुणों की ओर सकेत करती हुई एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होती है। अपने सामान्य

अनुभव में हम पाते है कि कुछ वस्तुये अस्तित्व में रहते हुये भी चैतन्य अथवा आनन्द से विहीन रहती है तथा चेतन प्राणी आनद से विहीन रहते है, किन्तु पूर्ण अस्तित्व में पूर्ण चेतना और पूर्ण आनन्द निहित है और पारमार्थिक अनुभव मे सत्, चित् और आनन्द में वस्तुतः कोई भेद नही रहता। योगी गुरु ने बडे मनोहर ढग से चरम सत्ता या परब्रह्म को 'सच्चिदानन्द' मूर्ति अर्थात् जो स्वय को सत्, चित और आनन्द रूप मे प्रकट करता है—कहा है, 'वे सत्यान्वेषियों को ऐसी किन्हीं भ्रांत धारणाओं से बचने के लिये सचेत कर देते है कि पारमार्थिक स्तर पर समाधि अनुभव में सत्, चित् और आनन्द परमात्मा के भिन्न गौरवशाली लक्षण प्रतीत होते है। उच्चतम समाधि अवस्था मे परमात्मा पूर्ण सच्चिदानन्द, भेद-रहित, एक, निर्गुण, अव्यक्त ब्रह्म-रूप है। शिव, परमात्मा या परमेश्वर उस नामरहित अद्वैत परब्रह्म के पवित्रतम नाम है।

छठाँ अध्याय

निजा-शक्ति-संयुक्त परा संवित्

इन प्रकार गोरखनाथ तथा समस्त सिद्ध-योगी दार्शनिक चरम-सत्ता को काल, दिक्, द्वैत और सापेक्षता के परे, पूर्ण सत्, पूर्ण चित् और पूर्ण आनन्द (जिसका अर्थ पूर्ण शुद्धता, पूर्ण सौन्दर्य, पूर्ण शुभ और पूर्ण प्रेम भी होता है) के चरम एकीकरण के रूप मे वर्णित करते है। यह सत्ता पूर्णतया तत्वज्ञानालोकित महायोगी की चरम समाधि अवस्था, जिसमे ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध नही रह जाता और जिसमें अनुभवशील चेतना सत् से अभिन्न हो जाती है, के पारमार्थिक अनुभव मे प्रकट होती है। चरम सत् से अभिन्न यह चरम अनुभव 'परासवित्' कहलाता है। इस अनुभव के समक्ष काल, दिक्, द्वैत, अनेकत्व और सापेक्षिकता के व्यावहारिक जगत का कोई अस्तित्व नही और इसलिये इस जगत-व्यवस्था की तार्किक या सकारण व्याख्या का कोई प्रश्न ही नही उठता। किन्तु हमारे सामान्य अनुभव के समक्ष समस्त सीमाओं, विभिन्नताओ, परिवर्तनों, जटिलताओं व अनेकताओ से युक्त इस जगत-व्यवस्था का निश्चित रूप से अस्तित्व है।

गोरखनाथ तथा सिद्ध-योगी, कुछ अन्य दार्शनिक मतों की भांति, इस व्यावहारिक जगत्-व्यवस्था को मिथ्या या भ्रम अथवा विषयीगत सत्ता मात्र कह कर, इसकी अवहेलना नही करते। भ्रम या भूल की अनिवार्यतः पूर्व शर्त है—एक अपूर्ण और सीमित दृष्टि और बुद्धि वाली चेतना का होना, जो भ्रान्त निरीक्षण और त्रुटिपूर्ण विचार से ग्रस्त हो सके। स्पष्टतया ऐसी अपूर्ण चेतना इस जगत्-व्यवस्था के बाहर नही है, जिसके इस नाना नाम रूपात्मक जगत के मिथ्या भ्रमात्मक आभासों से ग्रस्त होने की सी सभावना हो। न ही हम किसी ऐसी अपूर्ण अनुभवयुक्त-चेतना को चरम सत्ता के अन्दर या बाहर मान सकते है, जिसके लिये यह चरम सत्ता भ्रम या भूल से काल-दिकाश्रित्य व्यावहारिक सत्ताओ के रूप में दिखाई दे सके अथवा जो ऐसी व्यावहारिक जगत् अवस्था को चरम सत्ता पर अध्यासित कर सके। प्रामाणिक या व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने व भूल करने योग्य समस्त अपूर्ण चेतनायें इस जगत-व्यवस्था के अन्तर्गत ही हैं, जिसकी वे अतरग भाग होने से अपना कोई पृथक् अस्तित्व नही रखती। इसलिए यह सोचना नितान्त अनुचित है कि सम्पूर्ण जगत-व्यवस्था की उत्पत्ति वैयक्तिक चेतनाओ की अपूर्णता व अज्ञान से हुई है, जिनकी यह वस्तुगत सत्ताओं को व्यवस्था रूप में प्रतीत होती है। वस्तुतः जगत-व्यवस्था, अनेकानेक व्यावहारिक चेतनाओ तथा उनसे सम्बन्धित विभिन्न स्तरीय वस्तुगत सत्ताओं से युक्त है। व्यावहारिक ज्ञाता व ज्ञेय पदार्थो से युक्त इस सम्पूर्ण व्यवस्था की व्यावहारिक

सत्ता को हमें अपने सामान्य अनुभव के दृष्टिकोण से इसी प्रकार मानना होगा। जहां तक हमारे सामान्य अनुभव का प्रश्न है, इस जगत-व्यवस्था की तार्किक व्याख्या सत्य है। इसे चरम-सत्ता के स्वरूप में ग्रहण करना चाहिये।

गोरखनाथ तथा सिद्ध योगी संप्रदाय की मान्यता है कि स्वत. सत्, स्वत: प्रकाशित, स्वत: पूर्ण, अनन्त और शाश्वत चेतना, जो काल-दिक् सापेक्षिकता से परे चरम-सत्ता है, स्वयं को काल-दिकाश्रित जगत-व्यवस्था के रूप मे प्रकट करती है, जिसमे यह सीमित व्यावहारिक नाना नाम-रूपात्मक अस्तित्वों के विभिन्न स्तरों तथा विभिन्न प्रकार के भौतिक एवं जैविक शरीरों मे अनेकानेक व्यावहारिक परिवर्तनशील चेतनाओं, को जो इस ब्रह्माण्ड मे अपनी भूमिकाये निभाती हैं, उत्पन्न कर उन्हें विकसित, पोषित और नष्ट करती है। स्वय को इस व्यावहारिक नानारूपात्मक जगत-व्यवस्था के रूप में अभिव्यक्त करते हुये भी, चरम-सत्ता अपनी पारमार्थिक एकता व पूर्णता से विरत नही होती। सम्पूर्ण जगत-व्यवस्था तथा इसके अन्तर्गत समस्त वैयक्तिक संज्ञाओं की अपरिवर्तनीय और स्वप्रकाशित आत्मा-स्वरूप यह चमकती रहती है। काल-दिकाश्रित जगत रूप में चरम सत्ता की आत्माभिव्यक्ति की प्रक्रिया आदि अन्त रहित है, किन्तु इसका शाश्वत पारमार्थिक अद्वैत स्वरूप इस व्यावहारिक आत्माभिव्यक्ति से किसी भी प्रकार प्रभावित नही होता है।

किन्तु यह कैसे सभव है? गोरखनाथ तथा तत्वज्ञानालोकित योगी उत्तर देते हैं कि यह चरम-सत्ता, परम चेतना या 'ब्रह्म' की 'निजा-शक्ति' है। उनके अनुसार, इस निजा-शक्ति को पूर्ण सत्-चित्-आनन्द-ब्रह्म के मूल स्वरूप मे उपस्थित मानना होगा, जैसा कि हमारे सामान्य व्यावहारिक अनुभव के समक्ष जगत्-व्यवस्था की उपस्थिति से यह स्पष्ट है। शक्ति एक वास्तविकता है, जो अपनी क्रिया अथवा कार्य से ही जानी जाती है। हमारे सामान्य अनुभव क्षेत्र में भी, एक वस्तु की शक्ति तब तक छिपी रहती है, जब तक वह स्वयं को अपने कार्यो या प्रभावों के रूप मे व्यक्त नही करती। प्रत्यक्ष रूप से एक ही वस्तु विभिन्न प्रकार के कार्यो, विभिन्न दशाओ के प्रभावों तथा विभिन्न प्रकार की अन्यान्य वस्तुओ के सम्बन्धों मे व्यक्त होकर, विभिन्न प्रकार की शक्तिया धारण किये हुए हो सकती है। किन्तु ये समस्त शक्तिया (कम से कम हमारी सामान्य बुद्धि के लिये) अज्ञात और अज्ञेय रह सकती है, जब तक कि ये आत्मप्रकाशित रूप में नही देख ली जाती। अव्यक्तावस्था में भी वस्तु के स्वरूप मे उनका अस्तित्व मानना ही पड़ेगा, चाहे वस्तु के मूल स्वभाव के मात्र भाव-विश्लेषण से हम उन्हें खोज न सके। अस्तु, अगर हम एक वस्तु की शक्ति के विषय में बोलते है, तो इसमें उसकी समस्त सम्भव परिस्थितियों के अन्तर्गत समस्त सम्भव कार्यो या आत्माभिव्यक्तियों की योग्यता आ जानी चाहिये। यह स्पष्ट रूप से पूर्णरूपेण नहीं जानी जा सकती। किसी वस्तु की शक्ति शनै शनै स्वयं को, हमारे तत्व सम्बन्धी अनुभव के विकाश-क्रम में प्रकट करती है। तथापि, यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु

की शक्ति (समस्त सभावनाओं सहित) उस वस्तु के स्वरूप से एकाकार है और उसकी विभिन्न आत्माभिव्यक्तिया भी होती है। हम किसी वस्तु मे कोई नवीन शक्ति उत्पन्न नही कर सकते। तथापि, हम अनुकूल परिस्थितियो के निर्माण द्वारा, वस्तु के स्वभाव में पूर्व स्थित शक्ति की अभिव्यक्ति मे सहायक हो सकते है।

वस्तुत: वस्तुओं के स्वरूप में शक्तियां सर्वाधिक आश्चर्यजनक रहस्य है। विभिन्न प्रकार की भौतिक वस्तुये, विभिन्न स्तर की जीवधारी शरीर रचनाये, विभिन्न स्तरो के मन व बुद्धियां—ये सब उन आश्चर्यजनक शक्तियो के भांडार है, जिनकी उपस्थिति की कल्पना भी नही की जा सकती जब तक कि वे स्वय को विशिष्ट परिस्थितियो मे प्रकट न करे। आधुनिक विज्ञान वस्तुओं की उत्पत्ति के समय से ही उनमे निहित शक्तियो के अनुसधान मे लगे हुए है। भौतिक और रासायनिक विज्ञानो की विभिन्न शाखाये—जैसे ताप, प्रकाश, विद्युत और चुम्बकत्व से सम्बन्ध विज्ञान, जीवविज्ञान, औषधि-विज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि सभी मानव के ज्ञान के प्रभाव के क्षेत्र को, वस्तुओं के स्वरूप मे निहित किन्तु साधारण मानवों के लिए अपरिचित, अब तक अज्ञात और अकल्पित शक्तियो की क्रमिक खोज एवं उनका उपयोग कर, विकसित कर रहे है। पूर्व-पश्चिम के प्राचीन या आधुनिक बहुत से महान् विचारकों का यह निष्कर्ष है, जो अनुचित नही है कि कोई वस्तु शक्तियों के केन्द्र या स्थान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तथा सम्पूर्ण जगत शक्तियों (भौतिक रूप में एकत्रित) से निर्मित है जो अन्तत: एक चरम शक्ति या महाशक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ है।

गोरखनाथ तथा योगी सप्रदाय का मत है कि जगत-व्यवस्था की समस्त सयोजित विभिन्नतायुक्त व्यावहारिक सत्ताये, परमात्मा की विशिष्ट या 'निजा-शक्ति' की काल-दिक् के अन्तर्गत आत्माभिव्यक्तिया है, जिनका मूल स्वरूप पूर्ण सच्चिदानन्द है। व्यावहारिक आत्माभिव्यक्तियो के अतिरिक्त शक्ति परमात्मा से पूर्णतया एकरूप है, किन्तु यह सत्य है कि शक्ति-परमात्मा के पारमार्थिक स्वरूप मे निहित है, काल-दिकाश्रित जगत-व्यवस्था, जिसमें वह व्यक्त होती है से ही प्रकट होता है। उनके अनुसार, शक्ति, ब्रह्म या परमात्मा का शाश्वत सक्रिय पक्ष है। उनके दार्शनिक दृष्टिकोण से चरम-सत्ता अथवा परमात्मा का एक शाश्वत पारमार्थिक पक्ष है तथा एक शाश्वत सक्रिय पक्ष है। पारमार्थिक पक्ष मे चरम-सत्ता शाश्वत शुद्ध अपरिवर्तनीय सत्-चित्-आनन्द है तथा सक्रिय पक्ष मे यह शाश्वत रूप से स्वयं को सदा परिवर्तनशील, सदा-प्राचीन तथा सदा-नवीन काल-दिकाश्रित जगत-व्यवस्था के रूप मे व्यक्त करती रहती है। अथवा यह कहा जा सकता है कि निजा-शक्ति के कारण, काल-दिकातीत, निर्गुण सच्चिदानन्द ब्रह्ममुक्त व आनन्दभाव से शाश्वत रूप मे काल-दिकादि के स्तर पर उतर कर स्वय को विभिन्न प्रकार की व्यावहारिक सत्ताओं तथा व्यावहारिक चेतनाओ का सगुण निर्माता, पालनकर्ता व सहारकर्ता के रूप में प्रकट कर, एक क्रमिक विराट् शरीर तथा असंख्य वैयक्तिक शरीर धारण कर लेता है।

इस प्रकार योगी-सम्प्रदाय के अनुसार चरम सत्ता या ब्रह्म के दो शाश्वत रूप है—एक परिवर्तनरहित, भेद रहित, पारमार्थिक, निर्गुण सत्-चित्-आनन्द-मय तथा दूसरा सदा स्व-विकसित, सदा आत्म-विभाजक, सदा स्व-प्रापचिक तथा स्वशरीरी सक्रिय वैयक्तिक सत्-चित्-आनद। समाधि की चरमावस्था में योगी की चेतना पारमार्थिक सच्चिदानन्द से पूर्णतया आलोकित व एकाकार होती है तथा सच्चिदानन्द का सक्रिय रूप व उससे विकसित जगत-व्यवस्था इस ज्ञाता-ज्ञेय रहित अनुभव मे अस्तित्वहीन प्रतीत होते है। किन्तु जब उस काल-रहित, दिक्-रहित, अहं-रहित और सम्बन्ध-रहित अनुभव के पारमार्थिक स्तर से योगी की चेतना, उस अनुभव से आलोकित होकर, अह, मनस्, इन्द्रियों, काल, दिक् व सापेक्षिकता के स्तर पर उतर आती है, तब यह जगत-व्यवस्था अपनी विभिन्नताओं व परिवर्तनो के साथ पुन. प्रकट हो जाती है, किन्तु समस्त अस्तित्व-स्तरों से युक्त जगत-व्यवस्था सत्-चित्-आनन्द से आलोकित व व्याप्त दिखाई देने लगती है, व्यावहारिक अनुभव की समस्त वस्तुये बाह्य रूप से विभिन्न दिखाई पड़ने पर भी योगी की तत्वज्ञानालोकित चेतना के समक्ष एक स्व-सत्, स्व-विलासिनी पूर्ण चेतना की आत्माभिव्यक्तियां प्रतीत होती है। वह समस्त सत्ताओं मे एक सत्ता, समस्त चेतनाओ में एक चेतना और जगत् के समस्त सुख-दुखों के मध्य एक आनन्द की ही क्रीड़ा का दर्शन करता है।

इस प्रकार समाधि-अनुभव के बाद व्यावहारिक चेतना की 'व्युत्थान' (पुनर्जाग्रत) दशा में परमात्मा का शक्ति-पक्ष अपनी समस्त गरिमाओं, सुन्दरताओं एव भव्यताओं के साथ योगी के सामने प्रकट हो जाता है। जगत् के भासित होनेवाले समस्त दुर्गुणों में वह परमात्मा की पूर्ण शिवता और जगत की समस्त भासमान कुरूपताओं व विभीषिकाओं मे उसकी पारमार्थिक सुन्दरता की अभिव्यक्ति पाता है। अन्य लोगों की भांति उसे भी विभिन्न सांसारिक गोचर पदार्थो का इन्द्रिय-विषयक ज्ञान प्राप्त होता है तथा उसका सामान्य हृदय भी उनके प्रति विभिन्न प्रतिक्रियाये करता है, किन्तु तत्काल वह अपनी तत्वज्ञानालोकित दृष्टि से उन समस्त पदार्थो मे एक सच्चिदानन्द को निहित व उनके माध्यम से प्रकट होता हुआ पाता है और इस प्रकार हमारी परिस्थितियों के समस्त आपत्तिजनक परिवर्तनों में भी वह शात व स्थिर रहता है। वह अपनी अन्तर्दृष्टि से ससीम में असीम, कालाश्रित मे शाश्वत, सापेक्ष में निरपेक्ष, अपूर्ण में पूर्ण, दु:खमय में आनन्दमय, समस्त भौतिक सत्ताओं में परमात्मा के दर्शन करता है। योग के गहनतम अभ्यास के द्वारा उसकी पारमार्थिक चेतना इतनी निर्मल एव प्रकाशवान बन सकती है कि तत्क्षण समाधि के अतिश्रेष्ठ अनुभव एवं सामान्य धरातल विभिन्नताओं से युक्त अनुभवों का आनन्द प्राप्त कर सके। योगी-दार्शनिक, मानसिक व ऐन्द्रिक अनुभवों की विभिन्नताओं को नितान्त मिथ्या या भ्रामक नहीं बताते और न ही वे सम्पूर्ण काल-दिकाश्रित व्यवस्था को तात्विक रूप में असत् बतलाते है। वे इन्हे पूर्ण के सक्रिय पक्ष-परमात्मा की निजा

शक्ति के प्रमाण के रूप में देखते हैं।

(अ) 'इच्छा-मात्र' की धारणा—

परमात्मा की निजा-शक्ति के चरम स्वरूप के विषय में गोरखनाथ कहते है, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, कि यह शक्ति इच्छा मात्र धर्मा है तथा यह इच्छा परमात्मा, ब्रह्म के स्वरूप में शाश्वत रूप से मूलतः निहित है। अपने स्वरूप में निहित इस सर्व शक्तिशालिनी रहस्यमयी इच्छा के सचालन द्वारा वह पारमार्थिक सच्चिदानन्द, शाश्वत रूप से काल-दिक्-सापेक्षिकता से परे, स्वयंप्रकाश व शाश्वत रूप के द्वारा स्वयं को काल-दिकाश्रित व्यावहारिक जगत की विभिन्न लक्षणों से युक्त वस्तुओं व चेतनाओं में अभिव्यक्त करता है।

अब 'इच्छामात्र' से क्या तात्पर्य है तथा किस प्रकार पूर्ण सच्चिदानन्द के स्वरूप से इच्छा का मेल बैठ सकता है? साधारणतया इच्छा से हमारा अर्थ अभिलाषा से होता है, जो अपूर्णता, आवश्यकता, असतोष व दुःख के भाव से सम्बन्धित होती है। यह एक अस्थायी सतुष्टि के भाव की प्राप्ति हेतु तथा दुःख और अपूर्णता एव अनुभूत इच्छाओ के शमन के लिए कतिपय परिवर्तनों या कतिपय वस्तुओ के लिये प्रयत्न और लालसा जगाती है। परमात्मा के पार-मार्थिक स्वरूप में किसी इच्छा के लिए कहां स्थान हो सकता है? इस परिवर्त-नीय तथा सीमित विश्व में अपूर्ण चेतनाओं के स्वभाव मे ही इच्छा या प्रयत्न या प्रयत्न की भावना निवास करती है। काल-दिक्-रहित व अपूर्ण चेतनाओं के जगत् के बीच स्वयं को व्यक्त करने की प्रेरणा देनेवाली वह कौन सी शक्ति हो सकती है? पूर्ण सत्, पूर्ण चित्, पूर्ण आनन्द के अतिश्रेष्ठ स्वरूप में किसी उद्देश्य या अभिप्राय की उपस्थिति कैसे हो सकती है? यह पूर्णतः असंगत बात लगती है?

योगी-दार्शनिक निश्चित रूप से परमात्मा में, व्यावहारिक अर्थ में, किसी इच्छा या आवश्यकता या उद्देश्य या अभिप्राय का आरोप नही करते। वे इच्छा शब्द का इस अर्थ में प्रयोग नही करते। "इच्छामात्र" का अर्थ है आत्माभिव्यक्ति की अन्तर्निहित प्रेरणा, जो परमात्मा के पूर्ण पारमार्थिक स्वभाव मे निहित है। इस अर्थ में इच्छा पूर्णता से जुड़ी हुई है, अपूर्णता से नही, तृप्ति की चेतना से जुड़ी हुई है, अभाव की चेतना से नहीं। अभिलाषायें दुःख से उत्पन्न होती हैं, जब कि 'इच्छामात्र' आनन्द में निहित है। पूर्ण सत् विभिन्न अस्तित्वों के अन्तर्गत आत्माभिव्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणा रखता है, पूर्ण चित् विभिन्न चेतनाओं में आत्माभिव्यक्ति की आंतरिक प्रेरणा रखता है तथा पूर्ण आनन्द विभिन्न प्रकार की प्रसन्नताओं में आत्माभिव्यक्ति की आंतरिक प्रेरणा रखता है। पूर्ण सच्चिदानन्द का यह सक्रिय स्वभाव है। आत्माभिव्यक्तियां अनिवार्य रूप से विकास और ह्रास, प्रसार तथा संकोच, विभिन्नीकरण तथा एकीकरण की प्रक्रियाओं द्वारा होनी चाहिये। जो पारमार्थिक पूर्णता में शाश्वत एकरूप है, वह व्यावहारिक सत्ताओं के विभिन्न स्तरों द्वारा अस्थायी रूप में अभिव्यक्त होता है।

महायोगी गोरखनाथ ने परमात्मा की निजा-शक्ति के क्रमिक प्रकाशन तथा जगत्-व्यवस्था के प्रारभ और विकास एवं भौतिक शरीरों की विभिन्न दशाओं तथा उनके अन्तर्गत चेतन जीवधारियों का बड़ा मनोरंजक वर्णन प्रस्तुत किया है। इसका विवेचन आगे किया जायगा। किन्तु जिस तथ्य पर उन्होंने विशेष बल दिया है, वह यह है कि समस्त काल-दिकाश्रित-जगत-व्यवस्था तथा इसके अन्तर्गत समस्त प्रकार की व्यावहारिक सत्ताओं को उस दिव्य शक्ति की आत्माभिव्यक्तियों के रूप मे देखना चाहिये, जो परमात्मा से मूलतः एकाकार है। ब्रह्म के पारमार्थिक व व्यावहारिक, निर्गुण या सगुण दोनो रूपों को उन्होने समान प्रतिष्ठा दी है। इस सत्य की ओर उन्होंने विशेष ध्यान आकर्षित किया है कि शक्ति शिव के पारमार्थिक रूप में निहित है और शिव शक्ति के व्यावहारिक रूप में निहित है। उन्होंने दिखाया है कि चूकि दिव्य शक्ति परमात्मा से अभिन्न है, और चूकि शक्ति की समस्त आत्माभिव्यक्तियाँ शक्ति से अभिन्न है—एक तत्वज्ञानालोकित व्यक्ति को इस जगत व इसके समस्त अस्तित्वों की दिव्यता की प्रशंसा करना सीखना चाहिये—उसे सबमे ईश्वर और सबको ईश्वर में देखना चाहिये। समाधि-अनुभव में जगत-व्यवस्था की समस्त परिवर्तनशील विभिन्नताये परमात्मा की एक अपरिवर्तनीय पारमार्थिक एकता में विलीन हो जाती हैं तथा तत्वज्ञानालोकित जागृत अनुभव में परमात्मा की एकता जगत् के विभिन्न नामरूपात्मक पदार्थों में देखी जाती है।

सिद्ध योगी गुरु, चरम सत्ता की एक दार्शनिक धारणा बनाते समय, अपने निष्कर्षों को केवल समाधि के उच्चतम स्तर के पारमार्थिक अनुभव पर ही आधारित नही करते, वरन् व्यावहारिक जीवन के साधारणस्तरीय व्यावहारिक अनुभवों पर भी अपेक्षित ध्यान देते हैं। इस प्रकार वे सत्यान्वेषियो के समक्ष चरम सत्ता की सर्वाधिक व्यापक धारणा प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। चरम सत्ता की धारणा पारमार्थिक अनुभव में साक्षात्कृत अद्वय सच्चिदानन्द' के रूप मे भी की जाती है और व्यावहारिक अनुभव की सापेक्षिक सत्ताओं के आध्यात्मिक स्रोत के रूप में भी। वह शुद्ध परमात्मा भी है और शक्ति के माध्यम से प्रकट होनेवाला परमात्मा भी। इस प्रकार योगियों की दृष्टि में परमात्मा निर्गुण भी है और सगुण भी, निष्क्रिय भी है और सक्रिय भी, निर्वैयक्तिक भी है और वैयक्तिक भी, पारमार्थिक भी है और प्रापंचिक भी।

●

सातवाँ अध्याय

शिव और शक्ति का शाश्वत संयोग

अति प्राचीन काल से योगी संप्रदाय के संपूर्ण पवित्र साहित्य में शिव को एक अद्वैत, निर्गुण, स्वतः प्रकाशित, अपरिवर्तनीय, भेदरहित तथा समस्त प्रापचिक सत्ताओं के पीछे चरम आध्यात्मिक सत्ता के रूप में वर्णित किया गया है और आत्म-सशोधक, आत्म-गुणात्मक, आत्म-विभाजक, आत्मगुणात्मक-सक्रिय, दिक्काल-बद्ध एव सापेक्षिक समस्त प्रापचिक सत्ताओं का स्रोत 'शक्ति' को माना गया है। विभिन्नताओं और परिवर्तनों से युक्त यह जगत्, शक्ति का आत्म-प्रकाशन है। हमारे सांसारिक अनुभवों में शिव का पारमार्थिक स्वरूप हमारी सामान्य दृष्टि से ओझल रहता है और हम केवल शक्ति की नानात्मक आत्माभिव्यक्तियों, उसके 'विलास' का दर्शन करते है। शक्ति का वास्तविक रूप भी हमारे समक्ष प्रकट नही हो पाता, क्योंकि हम जगत के समस्त प्रपचो को आत्म-परक अद्वैत शक्ति की आत्माभिव्यक्तियों के रूप मे नही देखते है। समस्त सापेक्षिक उद्‌भवशील सत्ताओ के पीछे न तो हम एक स्वप्रकाशित परम सत्ता का दर्शन करते है और न ही जगत की गौण तथा परिवर्तनशील शक्तियो के पीछे एक स्वतः प्रकट होनेवाली निरपेक्ष चरम सत्ता का ही आभास पाते है। प्रकटतः अनेकत्व और परिवर्तनों के जगत मे हम उत्पन्न होते, जीवित रहते और विचरण करते हैं, किन्तु यह नही जानते कि यह ससार कैसे व कहा से उत्पन्न हुआ तथा कैसे व किस शक्ति द्वारा इसे धारण और व्यवस्थित किया गया है एव किस लक्ष्य की ओर यह निरतर गतिशील है। फिर भी हमारी तार्किक चेतना समस्त अनेकता के पीछे एक एकता ढूढने की आतरिक अभीप्सा का अनुभव करती है। अपने अनुभवों के पीछे एक चरम सत्ता, एक परम शक्ति, जिससे ससार की समस्त दृश्यमान शक्तियां उत्पन्न, व्यवस्थित तथा नियत्रित होती है; एक चरम नियम, जिस पर प्रकृति के समस्त नियम आधारित है, ढूढ निकालने का हम तीव्र औत्सुक्य अनुभव करते है। समस्त दार्शनिक व वैज्ञानिक प्रयास मानव-चेतना में अन्तर्निहित इसी अभीप्सा से प्रेरित होते हैं।

विश्व-वन्द्य तत्वज्ञानालोकित योगियों का यह दावा है कि उन्होने इस आतरिक अभीप्सा की पूर्ण सतुष्टि के लिए आत्म-ज्ञान व आध्यात्मिक अनुशासन के मार्ग का अन्वेषण कर लिया है। आत्म-अनुशासन की इन प्रक्रियाओं के चरम निष्ठापूर्ण आध्यात्मिक अनुशासन के मार्ग का अन्वेषण कर लिया है। आत्म-अनुशासन की इन प्रक्रियाओं के चरम निष्ठापूर्ण अभ्यास के माध्यम से वे अन्त में एक पूर्ण

तत्व-ज्ञानालोकित चेतना को प्राप्त कर लेते हैं, जिसमें समस्त सापेक्षिक सत्ताओं के पीछे एक निरपेक्ष सत्ता का साक्षात्कार हो जाता है, समस्त शक्तियों के पीछे एक चरम शक्ति के दर्शन हो जाते हैं। पूर्व विवेचन में हमने उस चरम अनुभव के स्वरूप की सामान्य धारणा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। साथ ही उस सत्ता के स्वरूप तथा उसमें निहित शक्ति के स्वरूप की भी धारणा बनाने का प्रयास किया है, जिसका दर्शन उस चरम अनुभव में होता है। सिद्ध योगी संप्रदाय—जिसके गोरखनाथ अनुयायी थे और जिसकी दार्शनिक तथा धार्मिक शब्दावली व संकेत-चिन्हों को उन्होंने अपने उपदेशों में प्राय: प्रयुक्त किया, उस पारमार्थिक सत्ता को 'शिव' तथा सर्वजननी, सर्वव्यापिनी शक्ति को—'शक्ति' कहता है। अपने स्वरूप में शक्ति को शाश्वत एवं तात्विक रूप में निहित किये हुये 'शिव' या शिव से शाश्वत संयोगमयी 'शक्ति' इस संप्रदाय के अनुसार परम सत्ता है।

'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' में योगी गुरु गोरखनाथ ने परमात्मा शिव और सर्व जन्मदात्री शक्ति के शाश्वत और तात्विक संयोग को अनेक प्रकार से वर्णित किया है। वह लिखते है—

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः
शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव जानीयात,
चन्द्र-चन्द्रिकयोरिव ॥"

शक्ति शिव में निहित है, शिव शक्ति में निहित है। चन्द्र और चन्द्रिका के समान दोनों में कोई अन्तर न देखो। इस दृष्टान्त में महायोगी चन्द्रमा को अतिशय घनीभूत शान्त ज्योति, जो अपने भीतर स्वतः प्रकाशित है, के रूप में देखते हैं और चन्द्रिका को उसके चारों ओर समस्त दिशाओं में छिटकी हुई किरणों के रूप में, उसकी आत्माभिव्यक्ति मानते है। स्पष्टतः चन्द्रमा की इस धारणा के अनुसार चन्द्र और चन्द्रिका में ठीक उसी प्रकार कोई तात्विक भेद नहीं, जैसे दीपशिखा और दीपालोक में। चन्द्रिका का चन्द्रमा से भिन्न व स्वतंत्र कोई अस्तित्व नहीं है और चन्द्रमा यद्यपि (अलंकृत भाषा में) स्वतः सत् व स्वतः प्रकाशमान है, तथापि चांदनी से भिन्न उसकी कोई आत्माभिव्यक्ति नहीं है।

इसी प्रकार गोरखनाथ कहते हैं, शिव काल-दिकादि स्तर से ऊपर शक्ति का शाश्वत, तथा अनन्त आधार एवं उसकी आत्मा है। दूसरे शब्दों में आत्म-केन्द्रित, स्वचेतन तथा आत्मरत शक्ति का पारमार्थिक रूप है, जिसमें कार्यों या जगत-व्यवस्था के रूप में कोई आत्मोद्घाटन या आत्माभिव्यक्ति नही हुई है। पुनः शिव के पारमार्थिक स्वरूप में निहित शक्ति एक अनन्त और शाश्वत रूप से सक्रिय ऊर्जा है। वह क्रमिक सृष्टि रचना और प्रलय के रूप में शिव की आत्मा-भिव्यक्ति है। शिव को शक्ति की आत्मा कहा जा सकता है और शक्ति को शिव

का शरीर । आत्मा और शरीर में कोई तात्विक भेद नही, क्योकि शरीर आत्मा की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही है । शिव को शक्ति का पारमार्थिक रूप कहा जा सकता है और शक्ति को शिव का प्रापचिक स्तर । शिव से भिन्न और स्वतंत्र, शक्ति का कोई अस्तित्व नही है और यदि शक्ति की अवहेलना की जाय तो शिव की आत्माभिव्यक्ति, उनका नानात्मक आत्म-प्रकाशन संभव नही और आत्मचेतना से सम्पन्न उनका कोई व्यक्तित्व भी सभव नही । शक्ति के कारण ही शिव स्वयं सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञानी, सर्वानंद, सगुण परमेश्वर, जगत का सृजक, पालक और भोक्ता बन जाता है । शिव के पारमार्थिक रूप में शक्ति अव्यक्त रूप से निहित है और शक्ति के जागतिक आत्म प्रकटीकरण में शिव अपनी शक्ति और उसके प्रापंचिक आत्म-प्रकाशनों तथा उसकी अद्भुत क्रीड़ाओं में अन्तर्यामी रूप में रहता है । अपनी शक्ति की जागतिक आत्माभिव्यक्ति की क्रीड़ा की ओट में शिव स्वयं को छिपाकर समस्त जगत-व्यवस्था की अतरग आत्मा के रूप में विलास करता है । जगत से परे पारमार्थिक स्तर पर शक्ति उसमें अन्तर्लीन रहती है ।

गोरखनाथ स्पष्ट शब्दों में कहते हैं :

शिवोपि शक्ति-रहितः शक्तः कर्तु म् न किंचन ।
स्वशक्त्या सहितः सोपि सर्वस्य आभासको भवेद् ।।

(सि० सि० प० ।३)

निज शक्ति से रहित शिव कोई भी कार्य नहीं कर सकते, किन्तु निज शक्ति सहित वे समस्त स्तरों के अस्तित्वों के सृजनकर्ता एव प्रकाशक बन जाते हैं । यह कहा जाता है कि शिव अपनी शक्ति में प्रतिबिम्बित हुये बिना अपने को परमात्मा के रूप में भी अनुभव नही करते; अत: शक्ति उनके रूप का आध्यात्मिक दर्पण है ।

गोरखनाथ आगे लिखते है :

"अतएव परम-कारणम् परमेश्वरः, परात्परः शिवः
स्व स्वरूपतया सर्वतोमुखः सर्वाकारतया स्फुरितुम् शक्नोति,
इत्यतः शक्तिमान् ।"

परात्पर शिव (उच्चतम प्रापंचिक सत्ताओं एवं काल, दिक् तथा क्रिया से परे) अपनी अनन्त शक्ति के द्वारा व्यावहारिक जगत के समस्त स्तरों के अंतिम कारण परमेश्वर तथा सर्वद्रष्टा बन जाते हैं, साथ ही उनका पारमार्थिक स्वत: प्रकाश, आत्मपूर्ण स्वरूप किसी भी तरह इस जगत-व्यवस्था से प्रभावित हुये बिना बहुमुखी (सभी दिशाओं पर दृष्टि रखनेवाला) बनकर समस्त प्रकार की लौकिक सत्ताओं के रूप में अपने को विभासित करता है ।

शिव (परमात्मा) की विशिष्ट क्षमता है अपने अपरिवर्तनीय, अभिन्न स्वत: प्रकाशित, पारमार्थिक अस्तित्व के आनन्द में शाश्वत रूप से डूबे रहना और साथ ही साथ सगुण ईश्वर के रूप में जगत का सृजन, पालन व नाश

करना। परमात्मा का जगत में अन्तर्यामी होना, सिद्ध योगियों के अनुसार, उसके स्वरूप में निहित अनन्त शक्ति का निश्चित प्रमाण है। सिद्ध योगी गोरखनाथ तार्किक पद्धति में कहते हैं—इस प्रकार उसे शक्तिमान होना आवश्यक है। आगे वे अपने कथन को इस प्रकार स्पष्ट करते है—

> **"अतएव एकाकारः अनन्त-शक्तिमान् निजानन्दतया अवस्थितः अपि नानाकारत्वेन विलसन् स्व-प्रतिष्ठाम् स्वयमेव भजति इति व्यवहारः अलुप्त शक्तिमान् नित्यम् सर्वाकारतया स्फुरन् पुनः स्वेनैव रूपेण एक एव अवशिष्यते।"**
>
> (सि० सि० प० ४।१२)

इस प्रकार अपनी अनन्त शक्ति से युक्त शिव तात्विक रूप में अपने पूर्ण आनन्दमय, अभेद, अपरिवर्तनीय स्वरूप में रहते हुये भी विलास रूप में (बिना किसी प्रयास के और अपने स्वरूप की पूर्णता के कारण) अपने को विभिन्न रूपों में प्रकट करते और भोगते हैं और इस प्रकार व्यावहारिक रूप में वे भोक्ता और भोग्य, स्रष्टा और सृष्टि, आधार और आधेय, आत्मा और शरीर, आत्मा और उसकी अभिव्यक्तियां आदि दुहरे रूपों में भासित होते है। वह कभी शक्ति को नही त्यागते और उनकी शक्ति कभी उनको नही छोड़ती—'अलुप्त शक्तिमान् नित्यम्।' इस प्रकार शिव यद्यपि अपनी शक्ति के द्वारा शाश्वत रूप से अपने को समस्त रूपाकारों में व्यक्त करते हैं (सर्वाकारतया स्फुरन्), तथापि वे अनादि काल से आत्मस्वरूप में अद्वैत, परिवर्तनरहित, अभेद सत्ता (एक एवं अवशिष्यते) निर्गुण ब्रह्म के रूप में रहते है।

एक दार्शनिक की भांति गोरखनाथ चरमसत्ता के सम्बन्ध में अति व्यापक दृष्टिकोण रखते है। वह समाधि के पारमार्थिक अनुभव तथा जागृत अवस्था के तत्वज्ञानालोकित अनुभव को समान महत्व देते हैं। वे अनुभव के दोनों स्तरों को समरस कर देते है। वे पारमार्थिक अनुभव के प्रकाश को प्रापंचिक अनुभव के स्तर पर उतार लाते है और प्रापचिक अनुभव की सामग्री को पारमार्थिक अनुभव तक उठा देते है, जिससे परम सत्ता की व्यापकतम धारणा बन सके। निर्विकल्प समाधि के पारमार्थिक अनुभव में भेद, परिवर्तन, द्वैत एवं सापेक्षिकता का कोई स्थान नही होता। परमात्मा की सक्रिय शक्ति का भी कोई निश्चित चिह्न नहीं होता। इस अनुभव में काल व दिक् परमात्मा के पूर्ण स्वतः प्रकाश, काल, दिकातीत एकत्व में विलीन हो जाते हैं। समस्त द्वैत व सापेक्षिकता अद्वैत एकता में लुप्त हो जाती है। समस्त ब्रह्माण्ड स्वतः सत्, आनन्दमय, ज्ञाताज्ञेय-भेद-रहित, पारमार्थिक चेतना में समा जाता है। यह शक्ति से रहित शिव, निर्गुणब्रह्म या केवल शिव अद्वैत परमात्मा के अनुभव के रूप में भासित हो सकता है। निस्सन्देह वह चरम सत्य है, क्योंकि यह अनुभव सत्यान्वेषी के आजीवन सत्यान्वेषण की चरम पूर्ति है। इस अनुभव में सत्यान्वेषण अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

किन्तु प्रापचिक अनुभवों के जगत को, जो इस परम अनुभव में पारमार्थिक स्तर तक उठा हुआ और एकीभूत है, पूर्ण मिथ्या कहकर अपमानित नही किया जा सकता, क्योकि वैसी दशा मे सत्यान्वेषी और सत्य-द्रष्टा का वास्तविक व्यक्तित्व ही नही रह जायगा, न ही सत्यान्वेषण की कोई आध्यात्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक अनुशासन ही होगा और न ही कोई पारमार्थिक अनुभव या चरम सत्ता के स्वरूप का ज्ञान होगा। प्रापचिक जगत या प्रापचिक अनुभव का खंडन एक आत्मविरोधी तर्कणा होगी। समस्त विधि और निषेध व्यावहारिक अनुभव-स्तर तक ही रहते हैं। द्वैत और सापेक्षिकता का खडन स्वयं द्वैत और सापेक्षिकता का अस्तित्व प्रकट करता है। महायोगी का पारमार्थिक अनुभव प्रापचिक अनुभव की चरम पूर्णता होने के कारण, प्रापचिक अनुभव की असत्यता पारमार्थिक अनुभव को भी निरर्थक बना देगी।

दूसरी ओर इस द्वैत और सापेक्षिक जगत को, जिसका कि प्रापचिक अनुभव होता है, स्वतः सिद्ध या स्वत. सत् नही माना जा सकता। चरम सत्य का गहन अन्वेषण शिव के अन्वेषण में परिणत नहीं होगा; शिव अपरिवर्तनीय, अभेद, स्वतः सिद्ध, स्वतः प्रकाश अद्वैत आत्मा है; उसे प्रापंचिक चेतना अपनी अन्तिम आत्मपूर्णता, ज्ञाता-ज्ञेय रहित पारमार्थिक अनुभव में न पा सकेगी, अतः शिव को ही इस व्यवहारिक जगत का चरम सत्य होना चाहिये। इस सदा परिवर्तनशील सापेक्षिक विभिन्नताओं वाली काल दिकयुक्त व्यवस्था मे लौकिक रूप से अपने को विभासित करने के लिये उसकी प्रकृति में विश्व की—आधार और सूत्ररूप में अवश्य ही कोई शक्ति होगी, जो लौकिक सत्ताओ के अनन्त रूपो में उसकी पारमार्थिक प्रकृति की अनन्तता का आनन्द ले रही है।

उसी प्रकार सिद्ध योगी परमात्मा शिव को शाश्वत अद्वैत-द्वैत, पारमार्थिक-व्यावहारिक, आत्मस्थित-आत्मसक्रिय, आत्मकेन्द्रित-आत्मविभाजक, आन्तरिक आत्मानन्द मग्न और वाह्य आनन्दानुभूति से सपन्न निर्गुण, अपरिवर्तनीय पूर्ण मुक्त आत्मप्रकाश करनेवाला सगुण रूप बताते है। शिव शाश्वत रूप से जगत के ऊपर और परे, जगत-व्यापार से निर्लिप्त और साथ ही अनन्त नामरूपात्मक जगत के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करता है। वह एक सर्व शक्तिमान् सर्वज्ञाता जगत-प्रभु के रूप मे सबकी अन्तरात्मा है। वह जगत के भीतर और जगत से परे भी है।

एक तत्वज्ञानालोकित महायोगी शिव के दोनों रूपों—पारमार्थिक एव सक्रिय, अव्यक्त और व्यक्त—को देखता, मानता और आत्मसमर्पण करता है। वह दिव्यात्मा के इन शाश्वत लक्षणों मे से किसी का भी अपमान नही करता। विभिन्नताओं और अनेकताओं से भरे इस लौकिक जगत में शिव की अनन्त शाश्वत आत्म विलासिनी विशिष्ट शक्ति उनको असंख्य रूपों में अभिव्यक्त करती है। शिव के इस सक्रिय रूप को उनकी शक्ति कहा गया है। शक्ति कोई भिन्न लक्षण या गुण नही है। शिव की शक्ति शिव स्वयं ही है। योगियो के लिये शिव

शक्ति हैं और शक्ति शिव हैं। पारमार्थिक रूप में शिव शक्ति रहित प्रतीत होते हैं, क्योंकि उस दशा में शक्ति की कोई बाह्य अभिव्यक्ति नही होती—किन्तु वस्तुतः वे वहां सर्वदा अनुपस्थित नही है। वहां शिव का सक्रिय रूप पूर्णतया उनके पारमार्थिक रूप से अभिन्न और तद्रूप रहता है। प्रापचिक आत्माभिव्यक्ति में उनका सक्रिय रूप अधिक प्रभावशाली रहता है, वहां शिव स्वयं को शक्ति रूप में प्रकट करते है। उस समय वह ब्रह्माण्ड में क्रीड़ा करनेवाले नटराज के रूप में प्रतीत होते हैं। लौकिक स्तर पर नाना प्रकार के परिवर्तनशील रूपों की इस सक्रिय आत्माभिव्यक्ति से शिव के पारमार्थिक रूप में कोई परिवर्तन, द्वैत या अनेकत्व नहीं उद्भूत होता। शक्ति शिव के स्वरूप में दूसरी सत्ता के रूप में न रहकर उनसे तद्रूप प्रतीत होती है। व्यावहारिक स्तर की काल-दिक-युक्त अनन्त प्रकार की अभिव्यक्तियां शक्ति से अभिन्न हैं, अतः शिव से भी अभिन्न हैं। इस प्रकार सिद्ध योगियों के अनुसार शिव यद्यपि सर्वदा शक्तिसहित रहते है और शाश्वत रूप से अपने शक्ति पक्ष के द्वारा स्वयं को जगत् रूप में अभिव्यक्त करते हैं, फिर भी वे शाश्वत अद्वैत, अपरिवर्तनीय, स्वतः प्रकाश, आत्मरत, पूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं। यद्यपि शिव शाश्वत रूप से विभिन्न प्रकार की क्रीड़ायें करते रहते है और विभिन्न लयों में नृत्यरत रहते हैं, फिर भी वे शाश्वत रूप से पूर्ण समाधि अवस्था को प्राप्त रहते है। इसीलिये उनकी महायोगेश्वर के रूप में पूजा की जाती है। समस्त महायोगी उन्हें अपना परम आदर्श मानते हैं।

गोरखनाथ तत्वज्ञानालोकित सिद्ध योगियों की परंपरानुसार शिव और शक्ति के आध्यात्मिक एकत्व की व्याख्या करते हुये, शक्ति को शिव के पारमार्थिक एवं प्रापंचिक स्वरूप की एकता प्रदर्शित करनेवाली कहते हैं। वे कहते है—

"शैवशक्तिर्यदा सहजेन स्वस्मिन् उनमीलिन्याम् निरुत्थान दशायाम्
वर्तते, तदा शिवः स एव भवति। अतएव कुल-अकुल-स्वरूपा
सामरस्य निज भूमिका निगद्यते।"

(सि० सि० पा० ४/१-२)

वह शक्ति (जो प्रापंचिक द्वैतताओं का आधार, कारण और पोषक है) जब अपने मूल स्वतः प्रकाश, शिव के पारमार्थिक स्वरूप में विराजती है, शिव से पूर्ण तदाकार हो जाती है। इस प्रकार वह शिव के कुल (लौकिक) और अकुल (पारलौकिक) दोनों स्वरूपों का सामंजस्य एवं एकता प्रदर्शित करनेवाली है।

'कुल' और 'अकुल' सत्ता के दो अंगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'अकुल' का अर्थ है सत्ता का अलौकिक या अदृश्य-सार और कुल का अर्थ है सत्ता का प्रापंचिक आत्म-प्रकाशन। 'अकुल' अनन्त, शाश्वत, पूर्ण स्वतः सत् अद्वैत एक ब्रह्म की ओर संकेत करता है। 'कुल' उस एक की अनेक सीमित काल-दिक्युक्त सापेक्षिक अभिव्यक्तियों की ओर संकेत करता है। अकुल अपरिवर्तनीय, भेदरहित, पारलौकिक सच्चिदानन्द को और कुल इस पारलौकिक सत्ता की इह

लोकस्तरीय अनेक आत्माभिव्यक्तियों को प्रदर्शित करता है। अन्ततः, स्वतः प्रकाश, विभिन्न चेतना स्तरों की लौकिक सीमित चेतनाओ में एव पारलौकिक सम्पूर्णानन्द के अनेक व्यावहारिक सीमित सुखों में अभिव्यक्त कर, कुल-अकुल को अनेक प्रकार की सीमाओं मे प्रदर्शित करता है। पारलौकिक सच्चिदानद की सांसारिक आत्माभिव्यक्तियो मे कुल-अकुल के लिये लौकिक जगत को आत्म-विलास की सामग्री के रूप में प्रस्तुत करता है। समस्त अस्तित्व जन्म-जरा-मृत्यु से बाधित रहते है, समस्त चेतनाये अज्ञान, मूल ज्ञाता-ज्ञेय-सम्बन्ध, मानसिक-भौतिक प्रक्रियाओं एवं दशाओं के बन्धन मे रहती है। समस्त प्रसन्नतायें, दुखों-अभावों, आवश्यकताओं, सुखदायक पदार्थो एवं सुख भोगने की दशाओं से बाधित होती हैं। कुल रूप में अकुल मुक्त रूप से स्वय को प्रापचिक स्तर पर अभिव्यक्त कर स्व-निर्मित सीमाओं में आनन्दपूर्वक विहार करता है और अपने अकुल रूप में वह शाश्वत, सत्, आनन्दमय, अभिन्न पारमार्थिक आत्मा-रूप में प्रकाशित रहता है, लौकिक आत्माभिव्यक्तियों से निर्लिप्त और परे। शिव के समस्त स्वभाव पर छायी हुई यह उनकी निजा-शक्ति है। शाश्वत रूप से उनके पार-मार्थिक एवं सक्रिय रूपों को जोड़ती है, इसलिये कुल-अकुल स्वरूपा है।

यह देखा जा चुका है कि निरुत्थान या समाधि-अवस्था में शक्ति, शिव-रूपा प्रतीत होती है और व्युत्थान या समाधि से जागृत अवस्था में शिव, शक्ति रूप प्रतीत होते है, वस्तुतः चरम सत्ता के दोनों रूपों में किंचित्मात्र भी भेद नहीं है। योगी की लौकिक चेतना जब सीमित प्रापचिक अनुभव-स्तर से ऊपर उठकर अलौकिक स्तर पर पहुंच जाती है, तब यह अभिन्न, अभेद, अपरिवर्तनीय, निष्क्रिय पारमार्थिक चेतना से, परम सत्ता के अकुल रूप से, पूर्णतया साकार हो जाती है। पुनः जब वह उच्चस्तरीय ज्ञान प्राप्त कर लौकिक स्तर पर उतर आती है, तो कुल के रूप में अकुल का शक्ति द्वारा अभिव्यक्त शिव का अनुभव करती है। विभिन्न लौकिक सत्ताओ के रूप मे वह अलौकिक सच्चिदानद का तथा अपूर्णताओं एव सदा परिवर्तनशील संसार में नाना प्रकार की भूमिकाये प्रस्तुत करनेवाले रूप में शिव का अनुभव करती है। उच्चतम अद्वैत-स्तर और निम्नतर द्वैत-अद्वैत स्तरो पर शिव सापेक्षिक जगत में मुक्त एव प्रसन्नतापूर्वक विलास करते हैं। पारलौकिक स्तर पर यह अनुभव करनेवाली एव अनुभूत-सत्य का भेद-रहित ब्रह्मानुभव होती है और लौकिक स्तर पर उस चरम सत्ता का यह नाना आकार-प्रकारों के रूप मे अनुभव करती है। अतिमानसिक एव पारमार्थिक स्तर पर व्यक्तित्व शुद्ध अनुभव में विलीन हो जाता है और प्रापचिक स्तरों पर इसका व्यक्तिगत अहं समस्त अनुभवों का केन्द्र होता है। समाधि क्रिया में निपुण एक तत्वज्ञानालोकित महायोगी आसानी से अपने ध्यान को एकाग्र कर अनुभव के एक स्तर से दूसरे स्तर पर चला जाता है, इसलिये वह दोनों अनुभव-स्तरो की आंतरिक एकता एव सामंजस्य का अनुभव करता है। वह पारलौकिक अनुभव की सत्ता के स्वरूप में प्रापंचिक जगत के आश्रय एव सक्रिय स्रोत का अनुभव

करता है तथा अपने प्रापंचिक अनुभवों के मध्य पारलौकिक सत्ता को उपस्थित पाता है। इस प्रकार वह शिव के अलौकिक अद्वैत स्वरूप में शक्ति की उपस्थिति का अनुभव करता है और शक्ति के विकास में सच्चिदानन्द शिव के दर्शन करता है। वह कुल को अकुल में और अकुल को कुल में अनुभव करता है। कुल और अकुल महायोगी के आध्यात्मिक अनुभव में परम निकट आनन्दालिगन में आबद्ध प्रतीत होते हैं। वह असीम को ससीम में और ससीम को असीम में अनुभव करता है। वह पदार्थ को आत्मा में और आत्मा को पदार्थ में अनुभव करता है।

"अकुलंकुलमाधत्ते कुलश्चाकुलमिच्छति ।
जल बुद्बुद्वन्यायतः एकाकारः परः शिवः ।।"

(सि० सि० प० ४/११)

अकुल कुल का आलिगन करता है और कुल अकुल के लिये तड़पता है। इनका सम्बन्ध पानी और पानी के बुद्बुदों का सा है। वस्तुतः 'पर शिव' परमात्मा पूर्णरूपेण एक है।

भाव यह है कि इस अकुल (अद्वैत आत्मा) की आन्तरिक प्रवृत्ति स्वयं को कुल (लौकिक द्वैतताओं)के रूप में अभिव्यक्ति करके विलास करने की है और चूँकि अद्वैत आत्मा एवं समस्त द्वैततायें सत्यतः एक ही है, अतः अद्वैत आत्मा से एकाकार होने की समस्त द्वैताओं की आभ्यांतरिक प्रवृत्ति होती है । द्वैत और अद्वैत का सम्बन्ध प्रकट करने के लिए गोरखनाथ बुद्बुदों और जल का उदाहरण देते है। जल मूलतः जल रहता है और साथ ही साथ जल के बुदबुदों के रूप मे भी प्रगट होता है। बाह्य रूप से बुद्बुदे भिन्न वस्तु प्रतीत होते हैं। वे जल से उत्पन्न, जल के तल पर बिहार करते हुये, भिन्न-भिन्न भूमिकाये अदा करते हुये, अन्त में नष्ट होकर निज स्वरूप को जल में ही विलीन करते दिखाई देते है। जल-बुद्बुदे जल बन जाते हैं, यह दृश्य प्रतिदिन देखते हैं। हम उन्हें मिथ्या कहकर झुठला नही सकते, किन्तु जब हम इस दृश्य को गहराई से देखते है, तो पाते हैं कि बुदबुदों के रूप में भी जल सदा जल ही रहता है। वस्तुतः न इसमें कोई परिवर्तन होता है और न ही यह अनेक बनता है। यही स्थिति पारमार्थिक एव निरपेक्ष शिव(अकुल) और काल-दिक्-युक्त प्रापंचिक आत्माभिव्यक्तरूप शक्ति (कुल) के सम्बन्ध में है । विश्वव्यापी शिव के वैयक्तीकरण के कारण भिन्न-भिन्न स्तरों के विभिन्न व्यक्तित्व प्रकट होते, अपनी विशिष्ट भूमिका निभाते और अन्त में अकुल शिव के अभिन्न अस्तित्व में अपनी भिन्नता विलीन कर देते हैं। किन्तु इन काल-दिकादिक आत्मा-व्यक्तियों में शिव कोई भिन्न सत्ता नही बन जाता, न स्वय से भिन्न परिवर्तन कर लेता है और न ही अपने सर्वव्यापी अस्तित्व को विशिष्ट अस्तित्वों में खो जाने देता है। उसकी अखंडता शाश्वत रूप से प्रकट व लुप्त होने वाले समस्त रूपों की खंड सत्ताओं के अन्दर व बाहर वही रहती है। अतः समस्त जागतिक अभिव्यक्तियों में एक महायोगी एकाकारः, परः शिवः, एक अभिन्न-स्वतः प्रकाशयुक्त परमात्मा के दर्शन करता है। वह कुल में अकुल, द्वत में अद्वैत, समस्त परिवर्तनशील सीमित

सत्ताओं में एक अपरिवर्तनीय असीम सत्ता, प्रकृति के समस्त दृश्यों मे एक सच्चिदानन्द के दर्शन करता है। उसके अनुभव में पारमार्थिक एव सक्रिय का पूर्ण सामरस्य हो जाता है।

इस प्रकार सिद्ध-योगी-सम्प्रदाय के दर्शन मे शिव और शक्ति का तात्विक तादात्म्य एक महत्वपूर्ण सत्य है। शक्ति काल-दिक-युक्त जगत-व्यवस्था में स्वयं को अभिव्यक्ति एव आनन्दित करती हुई शिव से भिन्न कुछ नही है। इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के शिव स्वयं निमित्त और उपादान कारण हैं, इस रूप में उन्हें शक्ति कहा जाता है। इस प्रकार पारमार्थिक शिव की शाश्वत सेवा मे शक्ति (व्यावहारिक शिव) सलग्न रहती है। इस प्रकार शाश्वत, अनन्त, अखड, स्वतः सिद्ध, आत्मरत, निरपेक्ष परमात्मा शिव और प्रापचिक जगत मे शाश्वत रूप से अनन्त आत्माभिव्यक्तियों के रूप में शक्ति दोनो एक ही है, दोनो शाश्वत आलिगन-पाश मे बधे हुए हैं। शिव शाश्वत रूप से शक्ति को आलिगन-सूत्र में बाधे हुए है। शक्ति के प्रकाशक एव समस्त जागतिक विकासों के प्रेरक शिव है और शक्ति शाश्वत रूप से शिव के अनन्त सौन्दर्य, सत्ता, चेतना एव शुभ को नाना रूपात्मक प्रापंचिक सत्ताओ मे प्रकट कर, शिव के शाश्वत आनन्द-विलास मे सहयोग दे रही है। पारमार्थिक शिव इस जगत्-व्यवस्था व इसके अन्तर्गत समस्त स्तरो के अस्तित्वों की आत्मा है और सक्रिय शिव अर्थात् शक्ति इस ब्रह्माण्ड एव इसके अन्तर्गत समस्त जीवों का शरीर है।

शिव को जगत्पिता और शक्ति को जगज्जननी कहा गया है और उस स्तर पर वासनात्मक भाव से लिग-भेद का कोई प्रश्न ही नहीं है। समस्त प्रापंचिक सत्ताओं के पारमार्थिक निमित्त कारण के रूप मे शिव जगत्पिता है और सक्रिय भौतिक कारण रूप में जगत् की नानारूपधारिणी, उनका पालन कर पुनः आत्मगत करनेवाली शक्ति या जगन्माता हैं। शिव सब मे आत्मा-रूप में प्रकाशित है और शक्ति अपने विकाश के विभिन्न स्तरों के अन्तर्गत विभिन्न क्रियायों द्वारा उनके लिए शरीर, जीवन तथा बुद्धि और विवेक का स्फुरण करती है एव उनके आत्म-प्रकाशन और आत्मानंद में योगदान करती है। आत्माभिव्यक्ति के प्रापंचिक स्तर पर शक्ति के प्रसारण एवं संकोचन की विभिन्न प्रक्रियाय हैं। वह एक को अनेक और अनेक को एक करती है। वह एक सत्ता में से अनेक सत्ताओं का सृजन करती है तथा पुनः समस्त सत्ताओं की मौलिक एकता प्रदर्शित करती है। वह आध्यात्मिक को भौतिक पदार्थ बनाकर भौतिक को पुनः आध्यात्मिक बना देती है। वह आत्मा के लिए अनेक प्रकार के भौतिक, जैविक, मानसिक शरीर तथा आत्माभिव्यक्ति का क्षेत्र प्रदान करती है। उन समस्त शरीरों एवं समस्त ब्रह्माण्ड क्रीड़ा क्षेत्र की मूलभूत आध्यात्मिक एकता का प्रदर्शन करना शक्ति का ही काम है। वह सांत को अनन्त और पुनः एक अनन्त शाश्वत अपरिवर्तनीय सत्ता को समस्त परिवर्तनीय सीमित सत्ताओं में प्रदर्शित करती है। शक्ति की यह द्विधा क्रीड़ा शाश्वत रूप से चल रही है।

यह स्पष्ट है कि सिद्ध-योगी-सम्प्रदाय सांख्य सम्प्रदाय के कपिल की भांति जगत् के अन्तिम कारण को जड़ प्रकृति नही मानता, जो शाश्वत रूप से पुरुष कही जानेवाली निष्क्रिय आत्म-प्रकाशयुक्त अनन्त आध्यात्मिक आत्माओं से सबंधित और जगत्-विकाश-प्रक्रिया का स्रोत है। न यह सम्प्रदाय इस परम सक्रिय स्रोत को, परमात्मा पर आवरण डाल कर मिथ्या जगत-प्रतीत करनेवाली माया कहता है, जैसा कि रूढिवादी शांकर अद्वैतानुयायी मानते है, न ही यह द्वैतवाद का समर्थन करता है, जिसके अनुसार जगत् की अनेकता का भौतिक कारण, परमात्मा से अस्तित्वत: और शाश्वत रूप से भिन्न एक अनात्मिक यथार्थ या शक्ति अथवा उर्जा है, जो उसके आदेशानुसार जगत का सृजन और पालन करती है और न ही ये इस शक्ति को परमात्मा का शाश्वत गुण मानते हैं, जिनमें पदार्थ और उसके गुण का सा सम्बन्ध हो।

सिद्ध योगियों के अनुसार इस जगत् का स्रोत भौतिक पदार्थ न होकर आध्यात्मिक सत्ता है, अचित् शक्ति न होकर चित् शक्ति है, अविद्या या माया न होकर विद्या या संवित् (ज्ञान अथवा चेतना) है, जो आवरण विक्षेपात्मिका न होकर प्रकाश-विमर्शात्मिका है। वह परमात्मा के अनन्त ऐश्वर्य और सौन्दर्य को विभिन्न स्तरों पर प्रकट करती है। गोरखनाथ इस शक्ति का वर्णन इस प्रकार करते हैं:—

> **"परापर विमर्शरूपिणी संवित नाना शक्तिरूपेण निखिल पिण्डाधारत्वेन वर्तते इति सिद्धान्तः।"**

एक सक्रिय चित्-शक्ति, जिसका स्वभाव परमात्म-प्रकृति को अनेक उच्च एव निम्न स्तर की (सामूहिक एवं वैयक्तिक) सत्ताओं के रूप में प्रकट करना है, अपने को विभिन्न प्रकार की शक्तियों एव अनन्त प्रकार के पिण्डों (शरीरों) के रूप में प्रकट करती है और सर्वव्यापी आध्यात्मिक अस्तित्व के द्वारा उन्हें एकसूत्र करके अपने आप में धारण किये रहती है। उसकी धारणा आत्म-प्रकाशक, आत्म-विभाजक, सर्वव्यवस्थापक, सर्वेककारक, शाश्वत शक्रिय गतिशील सच्चिदानन्द के रूप में की जाती है। वह परम शक्ति, दिव्य जननी, ब्रह्माण्डपोषिका सच्चिदानन्दमयी है।

जगत के सक्रिय स्रोत के सम्बन्ध में सिद्ध-योगी-संप्रदाय का दृष्टिकोण तान्त्रिक मत के निकट प्रतीत होता है। दोनों मतों के अनुसार शक्ति, जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है, जिसमें इसकी स्थिति है तथा जिसमें यह विलीन हो जाता है, चित्-शक्ति है। वह आत्मविलासनी, सत्-चित्-आनन्दस्वरूपणी शिवानी शक्ति है, जो सच्चिदानन्द शिव से आन्तरिक रूप से अद्वैत या शाश्वत आलिंगन में बद्ध है। दोनों मतों की धारणा है कि यह उदात्त एवं सुन्दर जगत-व्यवस्था (जिसमे हम सीमित चेतन प्राणी अपनी अपनी भूमिका का निर्वाह करते है और समाधि अनुभव में पारमार्थिक स्तर पर उठकर परम लक्ष्य आत्म-ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं) एक दुर्गुण या अन्धकार की उपज नही है, वरन् चरम सद्गुण और परम

प्रकाश-मयी शक्ति की उपज है। जगत् उस शक्ति की उपज नहीं, जो सत्य के मुख को विकृत कर दे, किन्तु उसकी उपज है, जो काल-दिक व्यवस्था में परम सत्य के अनन्त सौन्दर्य, ऐश्वर्य एवं आनन्द प्रकट करती है, वह किसी ऐसी शक्ति की उपज नही है, जो परमात्मा के विरुद्ध है, किन्तु उस शक्ति की उपज है, जो आनन्द, पूर्वक अपने प्रभु की प्रेममय सेवा करने को तत्पर रहती है और उसके अनन्त आनन्द-विलास में भाग लेती है। दोनों मतों के तत्वज्ञानालोकित पुरुष, शक्ति में शिव या परमात्मा को व्यक्त देखते है: शक्ति की ब्रह्माण्ड क्रीड़ा मे वे चित् की क्रीड़ा देखते है और जगत की समस्त तरंगों में ब्रह्म की प्रतिछाया देखते है।

अपनी प्रतीयमान अद्भुत जटिलताओं और विभीषिकाओं के कारण इस जगत्-व्यापार को बहुधा शिव का चिद्-विलास—आत्मा का ऐश्वर्य, आत्मा की पारमार्थिक पूर्णता की प्रसन्न आत्माभिव्यक्ति कहा गया है। पदार्थ भी आत्मा की एक प्रकार की आत्माभिव्यक्ति माने गये हैं। वे समस्त भौतिक जगत् में आत्मा की क्रीड़ा देखते है। उनके लिए पदार्थ, जीवन, मनस् व बुद्धि—परमात्मा के मुक्त विलास के रूप हैं, जिनमें वह अपनी विशिष्ट शक्ति से आनन्दमय क्रीड़ा कर रहा है। इस प्रकार वे समस्त संसार को आध्यात्मिक मानते हैं। वे अपने शरीर-रूपों को भी आध्यात्मिक मानते हैं। वे समस्त व्यावहारिक अनुभवों को शिव और शक्ति की आनन्दमयी क्रीड़ा मानकर उनमें आनन्द लेते हैं।

यह सर्वविदित है कि अति प्राचीन काल से सिद्धयोगी निवृत्ति-मार्ग एवं समाधि के पूर्ण आत्म-प्रकाश के आदर्श—कैवल्य अथवा मोक्ष अथवा निर्वाण के आदर्श—पूर्ण शिवत्व के आदर्श के प्रचारक रहे है। इस संप्रदाय के ज्ञानी गुरुओं ने सदैव तप और शाति,देह इन्द्रियों, प्रबल शक्तियो एवं मनस् के संयम, समस्त सांसारिक इच्छाओं, वासनाओं एवं आसक्तियों से मुक्ति, जगत के समस्त् प्रापचिक विषयों से असम्बद्धता तथा आत्मा के आन्तरिक स्वप्रकाश में गहन से गहनतर एकाग्रता की शिक्षा दी और गम्भीरतापूर्वक इनका अभ्यास किया। किन्तु इतना होने पर भी उन्होने ब्रह्माण्ड-व्यवस्था या प्रापचिक अस्तित्व के विषय में न किसी निराशावादी दृष्टिकोंण का प्रचार किया और न ही किसी ऐसे दृष्टिकोंण का स्वागत किया। उन्होंने लौकिक दुःखों एव बन्धनो से मुक्ति की खोज करनेवाले मुमुक्षुओं को यह अनुभव करने के लिए नहीं कहा कि इस प्रापंचिक जगत् में सब कुछ दुःखमय है. गर्हित है, असुन्दर है और घृण्य है, कि इस जगत का मूल किसी अज्ञानता, किसी भ्रम या किसी वंचनामयी शक्ति, जो सत्य के स्वभाव को आवृत कर लेती हैं या विकृत कर देती है, में हैं। अथवा अस्तित्वों के सभी स्तर आसुरी है या समस्त जगत्-व्यवस्था शैतान से प्रेरित है, किवां यह जगत् किसी अन्ध भौतिक शक्ति की आकस्मिक उपज है और मानव को अपने चेतन जीवन में अनिवार्यत: जगत् की उन शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है, जो स्वभावतः मानवीय चेतना की महत्वाकांक्षाओं की शत्रु है।

बहुत से धार्मिक दार्शनिक मतों ने, जिन्होंने मोक्ष को परम लक्ष्य बताकर निवृत्ति मार्ग का प्रचार किया, बलात् उपर्युक्त निराशावादी विचार अपने अनुयायियो को सुनाये। ऐसे दृष्टिकोण और भाव, आत्मानुशासन के लिए कुछ भी मूल्य रखते हों, सिद्ध-योगी-सम्प्रदाय, जिसके अनुयायी गोरखनाथ है, के आध्यात्मिक दर्शन के विरोधी है।

इस मत के अनुसार जगत अज्ञान का नही, वरन् पूर्णज्ञान—जो शिव-शक्ति का लक्षण है—की उपज है, परमात्मा के पारमार्थिक स्वभाव को ढकनेवाला आवरण विक्षेपमयी माया की नहीं, परमात्मा शिव की निजा शक्ति की रचना है, जिसके द्वारा आत्मा, अपने पारमार्थिक सच्चिदानन्द स्वभाव को स्वच्छन्दतया स्वारोपित दिक्काल-सीमाओं के विभिन्न प्रकारों के अन्तर्गत नाना प्रापचिक अस्तित्वों, चेतनाओं, क्रियायों, सुन्दरताओं और सुखो के विविध रूपों में व्यक्त करती है। इस मत के तत्वज्ञानालोकित योगियों ने सत्यान्वेषियों को जगत्-व्यवस्था मे शत्रु-भावमयी शैतानी शक्ति से उत्पन्न दुःख, अशिवत्व एवं घृणोत्पादक दृश्य देखने को न कहकर एक परम प्रेममयी मातृ-शक्ति का आनन्द विलास निरखने को कहा, जो शाश्वत रूप से अपनी सन्तानों के लिए स्नेह और दया से परिपूर्ण है, जो इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में विभिन्न सोपानों और स्थितियो से होते हुये अपनी सन्तानों (उसकी अपनी आत्माभिव्यक्तियों) को उन्हीं मे अवस्थित शिवत्व के पूर्ण प्रकाश और साक्षात्कार की ओर ले जाती है। वे हमें इस जगत् को 'चिद्विलास', 'सौन्दर्य लहरी' और 'आनन्द लहरी'—आत्मा के लीलात्मक वेषों, सौन्दर्य और आनन्द के समुद्र की लहरियों के रूप में समझने और भोगने की शिक्षा देते है।

आठवाँ अध्याय

शक्ति का क्रमिक उन्मीलन

गोरखनाथ की 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' के प्रथम अध्याय में शिव के पारमार्थिक स्वरूप में निहित उस शक्ति के शनैः शनैः आत्म-प्रकटीकरण का वर्णन किया गया है, जो क्रमशः शिव के विराट् ब्रह्माण्ड-शरीर तथा उसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के शरीरधारियों को व्यक्त करती है।

अब तक के विवेचन से यह ज्ञात हो गया होगा कि गोरखनाथ तथा उनके मतानुयायी सत्कार्यवाद का समर्थन करते हैं। उनकी धारणा है कि जगत्-कार्य अपनी वास्तविक उत्पत्ति के पूर्व अव्यक्त रूप में तथा उपादान कारण में उपस्थित रहता है। वे मानते हैं कि सक्रिय रूप में शिव या परमात्मा की आध्यात्मिक शक्ति ही इस सृष्टि-प्रक्रिया, जो विशाल भौतिक जगत के वातावरणात्मक अनुभव के रूप में हमें भासित होती है, में उपादान कारण (निमित्त कारण भी) है। सत्कार्यवादी दृष्टिकोण से उनका कथन है कि इस भौतिक जगत् की समस्त विभिन्न सत्तायें अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व उस चरम दिव्य शक्ति में एकाकार रूप उपस्थित रहती है, जो स्वय भी उस समय निष्क्रिय होकर परमात्मा या शिव से तदाकार रहती है। शक्ति की तब कोई बाह्य अभिव्यक्ति नहीं होती। उस अवस्था मे शिव को शक्ति के स्वामित्व अथवा अपनी सक्रिय सत्ता का भी भान नही होता। शक्ति पूर्णरूपेण शिव में निहित होती है और शिव शाश्वत, अभिन्न, अपरिवर्तनशील परासंवित् या शुद्ध सच्चिदानन्द रूप में विराजते है। तात्विक या पारमार्थिक दृष्टि से यह परमात्मा की शाश्वत् पारमार्थिक स्थिति है तथा व्यावहारिक दृष्टि से प्राक् सृष्टि या महाप्रलय की अवस्था है। सृजन और प्रलय का अर्थ व्यावहारिक जगत् पर ही लागू होता है, परमात्मा अपने पारमार्थिक स्वरूप मे सर्वदा समरूप से विराजता है। सृजन और प्रलय का सम्बन्ध वैभिन्य-पूर्ण जगत् से है तथा 'पूर्व' और 'पर' शब्द काल और परिवर्तन के प्रसंग में ही प्रयुक्त होते हैं। सृष्टि स्रजन के पूर्व और प्रलय के बाद परमात्मा अपनी पारमार्थिक स्थिति में विराजता है। उस समय काल और दिक् का भी कोई अस्तित्व नही दिखाई देता, किन्तु स्रजन और प्रलय के तथ्य इस बात का सकेत देते है कि अद्वितीय परमात्मा में उसकी शक्ति के रूप में जगत का मूल अवश्य रहना चाहिये। बीजरूप होने के कारण उस शक्ति की कोई आत्म-अभिव्यक्ति नही होती, इसलिये वह पूर्ण रूप से परमात्मा में एकाकार रहती है।

व्यावहारिक या इहलौकिक दृष्टिकोण से मूल कारण और उसके क्रमिक परिणाम या कार्यो के सम्बन्ध पर विचार करने पर पता चलता है कि जो कारण

रूप में गुप्त रहता है, वह कार्यरूप में प्रकट हो जाता है। जो कारण मे बीज रूप में उपस्थित है, वह कार्य में वस्तु रूप में प्रकट हो जाता है। जो कारण में अविकसित है, वह कालान्तर मे परिणामों के रूप में विकसित हो जाता है। इस दृष्टिकोण से विकास या सृजन अथवा कारणत्व की प्रक्रिया स्पष्टतया ऐक्य से अनैक्य की ओर, सरलता से क्लिष्टता की ओर, समरूपता से विषमरूपता की ओर, बीज-रूपता से वस्तुस्थिति की ओर, अव्यक्त अवस्था से अधिकाधिक व्यक्त अवस्थाओं की ओर कुछ प्रगति प्रदर्शित करती है और प्रलय या विनाश की प्रक्रिया पुन: अनेकत्व से एकत्व की ओर, क्लिष्टता से सरलता की ओर, विषमरूपता से सम-रूपता की ओर, वस्तुस्थिति से बीजरूपता की ओर, स्थूल व्यक्त अवस्थाओं से किसी सूक्ष्म अव्यक्त अवस्था की ओर उन्मुख दिखाई देती है। सृजन से पूर्व और पूर्ण विनाश या प्रलय के अनन्तर ब्रह्माण्ड की दोनों स्थितियां पूर्ण रूप मे समान या एक ही दिखाई पड़ती हैं। व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्माण्ड-सृजन के पूर्व की अवस्था तथा ब्रह्माण्ड-विनाश या प्रलय के तत्काल बाद की अवस्था अव्यक्त शून्य और असत् अवस्था है। व्यावहारिक प्रक्रिया की दृष्टि से यह कहना कदापि अनु-चित नही कि सृष्टि-रचना शून्य से प्रारम्भ होकर शून्य में समाप्त हो जाती है अथवा अव्यक्त से प्रारम्भ होकर अव्यक्त में विलीन हो जाती है या असत् से प्रारम्भ होकर असत् में ही लुप्त हो जाती है।

किन्तु यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि इस कालान्तर जगत्-प्रक्रिया का कभी भी पूर्ण प्रारम्भ या पूर्ण अन्त नही होता, क्योंकि काल का आदि और अंत काल के अन्तर्गत नहीं हो सकता। वर्तमान सृष्टि-प्रक्रिया की पूर्ववर्तिनी प्रलयावस्था के पूर्व भी सृष्टि होनी चाहिये और इस सृष्टि के अनन्तर होनेवाली प्रलयावस्था के बाद फिर सृष्टि होनी चाहिये। इस प्रकार सृष्टि के अनन्तर प्रलय और प्रलय के पहले सृष्टि का चक्र चलता रहता है। व्यावहारिक दृष्टिकोंण से जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का चक्र बिना किसी अन्तिम आदि-अन्त के शाश्वत चल रहा है। प्रत्येक प्रलय में भेदरहित एकता के रूप में भावी सृष्टि का द्रव्य या मूल कारण प्रतीत होनेवाली शून्यावस्था में उपस्थित रहता है तथा प्रत्येक सृजन के मूल में विनाश उपस्थित रहता है, जो अन्तिम रूप मे अनिवार्यतः प्रलय की ओर अग्रसर होता है। व्यावहारिक दृष्टिकोंण से यह सृष्टि, स्थिति और प्रलय-चक्र एक शाश्वत व्यवस्था है और यही जगत्-प्रवाह का दृष्टिकोंण है, जिसे गोरख-नाथ तथा सिद्ध योगी स्वीकार करते है। तात्विक दृष्टि से कारण को कार्यो की अस्थायी पूर्वावस्था ही न मानना होगा। नानात्मक एवं परिवर्तनशील जगत् का अन्तिम कारण काल-दिक् से ऊपर तथा कालादिकादि सम्बन्धों से रहित है। जगत्-प्रक्रिया को उत्पन्न करने में उसे काल-दिक्-प्रक्रिया से गुजरना आवश्यक नही है। समस्त कालदिकादि प्रक्रियाये तथा सम्बन्ध इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के अन्तर्गत है, जो 'चरम' से उत्पन्न होती है। स्वत: सिद्ध, भेद-रहित, अपरिवर्तनशील, स्वत प्रकाश, असीम शक्तिधारी परमात्मा से इस जगत् की उत्पत्ति की तुलना बीज से

पेड़, दूध से दुग्ध-पदार्थ या धागे से वस्त्रो की उत्पत्ति अथवा मिट्टी से मिट्टी के बर्तनो की उत्पत्ति या हमारे साधारण अनुभव जगत् की किसी भी वस्तु की उत्पत्ति से नही की जा सकती। इन समस्त दशाओं में कारण और कार्य एक ही अनुभव स्तर के होते हैं, वे समान रूप से कालदिक् आदि परिस्थितियों, प्रकृति के नियम तथा शक्तियों से शासित होते हैं। ऐसी किसी भी प्रकार की अवस्था की तुलना कालातीत, दिकातीत, पारमार्थिक, आध्यात्मिक स्तर की होने के कारण कालदिक्-सापेक्षिक-व्यावहारिक स्तर के कार्यो से नही की जा सकती। जहां कारण एक अनन्त शाश्वत निरपेक्ष अद्वैत आत्मा और कार्य समस्त सम्भव भिन्नताओं, क्लिष्टताओं, परिवर्तन की अवस्थाओं मे ढाला गया हो, जहां कारण पूर्ण स्वतत्र, पूर्ण आत्म सतुष्ट, अनन्त शुभ, सौन्दर्य एवं आनन्दमय पारमार्थिक अवस्था में हो और कार्य विभिन्न प्रकार के जीवों वाला हो, जो नाना बन्धनों, दुखों, प्राकृतिक एव नैतिक बुराइयों, कुरूपताओं एव अपूर्णताओं से पीड़ित हों, वहां तुलना कैसे की जा सकती है? यहां कारण भी विशिष्ट है और परिणाम भी विशिष्ट। अनन्त-अनादि संसार का सृजन और प्रलय-चक्र इस व्यावहारिक स्तर की अवस्थाये है तथा इसी रूप में सबसे परे परमात्मा से उसके कार्य की भांति सम्बन्धित हैं। उस परमात्मा को इस अनादि अनन्त जगत्-व्यवस्था का चरम कारण मानना होगा तथा बिना उसके पारमार्थिक स्वरूप मे किसी परिवर्तन, रूपान्तर या बाधा के अथवा उसकी ओर से बिना किसी प्रयास से इस जगत्-व्यवस्था की रचना भी माननी होगी। इस विशिष्ट कारण-कार्य-सम्बन्ध का स्वरूप क्या हो सकता है?

यह पहले ही ज्ञात हो चुका है कि सिद्ध योगी दार्शनिक इस अद्भुत कारण-कार्य-सम्बन्ध को चिद् विलास या शिव-शक्ति-विलास कहते है, जिसका अर्थ है पूर्ण मुक्त पारमार्थिक आत्मा की व्यावहारिक स्तर पर आत्माभिव्यक्ति की आनन्दमयी लीला। इस दृष्टिकोण का तात्पर्य यह है कि आत्मा के स्वरूप में निहित कोई विशिष्ट शक्ति है, जिससे यह चैतन्य अपने पारमार्थिक-आध्यात्मिक स्वरूप मे बिना किसी रूपान्तर या परिवर्तन अथवा बिना किसी प्रयास या इच्छा के अपने अनन्त ऐश्वर्य को काल-दिक् सापेक्षिकता के व्यावहारिक स्तर पर अभिव्यक्त कर आनन्द लूटता है। उसकी दिव्य शक्ति का मुक्त उद्घाटन, क्रमिक सहअस्तित्व वाली नाना सीमाओ और सम्बन्धों के व्यावहारिक स्तर के अनेकों चेतन और अचेतन, सजीव और निर्जीव, मानसिक और भौतिक, सीमित व परिवर्तनशील पदार्थो में देखा जा सकता है। विकास की यह प्रक्रिया कली का पुष्प में, बीज का पौधे के रूप में और भ्रूण का भौतिक शरीर के रूप में उद्घाटन की तरह नही है। कालातीत, दिकातीत, निरपेक्ष पारमार्थिक स्तर पर शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप मे अव्यक्तता-व्यक्तता, सकोचन-प्रसारण, आविर्भाव तथा तिरोभाव का कोई प्रश्न नही उठता। ये समस्त धारणायें व्यावहारिक स्तर तक ही सम्बद्ध रहती है।

तत्वज्ञानालोकित महायोगियों के दृष्टिकोण से जिस सत्य का काल-दिक्

तथा सापेक्षकता से परे पारमार्थिक स्तर पर पूर्ण साक्षात्कार होता है, वह सर्वदा व्यावहारिक स्तर पर काल, दिक् सापेक्षिकता की स्थितियों में साक्षात्कार की प्रक्रिया में रहता है। यह पूर्ण का अनेकों अपूर्णो में, निरपेक्ष का अनेकों सापेक्षों मे, एक दिव्य अपरिवर्तन-शील का व्यावहारिक विभिन्नताओं में, एक आध्यात्मिक सत्ता का मानसिक-भौतिक वैभिन्यों में एक प्रकार का क्रमिक साक्षात्कार है। एक उच्चतम स्तरीय पूर्ण आत्मा का स्वतः निर्मित काल-दिक् दशाओं-सीमाओं में, निम्न स्तर की नाना नामरूपात्मक सत्ताओं में यह स्वच्छन्द विलास आत्मानन्द लूटने के हेतु हो रहा है। जिस अनन्त आनन्द-राशि को पारमार्थिक स्तर पर वह स्वयं में निहित रखता है, उसे वह जगत् की अनन्त वस्तुओं में विकीर्ण कर देता है। इसे चिद्-विलास या शिव की शक्ति का आत्म प्रकटीकरण कहा जाता है।

शांकर मत के वेदान्ती पारमार्थिक परब्रह्म के व्यावहारिक स्तर पर आत्म-प्रकाशन को चिद्-विवर्त कहकर पुकारते है, इसीलिये उन्हें विवर्तवादी कहा जाता है। विवर्त और परिणाम में भेद यह है कि परिणाम से तात्पर्य कारण का कार्य मे आंशिक या पूर्ण रूपान्तर है, जब कि विवर्त का तात्पर्य कारण की, बिना किसी परिवर्तन या विकृति के कार्यो के रूप में, जो निम्न स्तर के होते हैं, प्रतीति मात्र है। विवर्तवादियों के मतानुसार परमात्मा समस्त विकारो व परिवर्तनों से परे है। उसे वस्तु रूप जगत्-व्यवस्था का वास्तविक कारण नहीं माना जा सकता। उसे इस प्रतिभासिक जगत्-व्यवस्था का प्रतिभासिक कारण मानना चाहिए। इस प्रकार के प्रातिभासिक कारण-कार्य सम्बन्ध के उदाहरण में वे रज्जु में सर्प, सीपी मे रजत, मृग-मरीचका आदि के उदाहरण दिया करते है। ये सब दोष-दृष्टि या अध्यास के उदाहरण है। ज्ञाता को ज्ञेय पदार्थ के सच्चे स्वरूप का ज्ञान होते ही अभ्यासित मिथ्या वस्तु का भ्रम दूर हो जाता है। ये सब विवर्त के उदाहरण है। इन्ही से अद्वैत वेदान्ती यह निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि अनेकता और परिवर्तन का व्यावहारिक जगत् अविद्या से ग्रसित लोगों के लिए परमात्मा की मिथ्या प्रतीति मात्र है। परमात्मा के स्वरूप का सच्चा ज्ञान प्राप्त होते ही उन्हें पता लग जाता है कि जगत् की न कभी उत्पत्ति हुई और न ही उसका कोई अस्तित्व है। शांकर मतानुयायी परम्परागत रूप से इस प्रापचिक जगत के मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए घोर प्रयास करते है तथा परब्रह्म के अद्वैत स्वरूप से इस मिथ्या प्रतीति का तार्किक सामंजस्य स्थापित करने के लिए एक रहस्यमयी अनिर्वचनीय माया की धारणा प्रस्तुत करते है, जिसे वे परमात्मा की वास्तविक विशिष्ट शक्ति न कहकर सत्-असत्-अनिर्वचनीया, रहस्यमय रूप से ब्रह्म को शाश्वत नाम-रूपात्मक प्रपंच रूप में भासित कराने वाली कहते है।

योगी वेदान्तियों से इस मत में सहमत हैं कि परमात्मा एक अविनाशी, अपरिवर्तनीय, अद्वैत सत्ता है और यह अनन्त-अनादि प्रापंचिक जगत-व्यवस्था न तो उसकी मनमानी रचना का परिणाम (आरम्भवाद) है और न ही उसकी आत्म-विकृति या आत्म-रूपान्तर (परिणामवाद) का फल है। योगियों को अद्वैत

वेदान्तियो का विवर्तवाद अमान्य नही है, अगर विवर्त से तात्पर्य एक उच्च-स्तरीय सत्ता का निम्नस्तरीय सत्ताओ मे प्रकट होना अर्थात् एक पारमार्थिक आत्मा का व्यावहारिक जगत् की नानात्मक अनेकताओं में अभिव्यक्त होना हो। किन्तु तत्वज्ञानालोकित योगी इसका कोई कारण नही पाते कि इस प्रकार का आत्माभिव्यक्तिकरण मिथ्या क्यों माना जाय और न ही वे परमात्मा की व्यावहारिक जगत् की सत्ताओं के रूप में इस आत्माभिव्यक्ति के कारण के रूप में अनिर्वचनीय माया की आवश्यकता स्वीकार करते है। वेदान्तियों की माया को योगियों ने और भी महत्व प्रदान करते हुए उसे परमात्मा की मूल प्रकृति में निहित चिद्-शक्ति (आत्मा की अनुपम, अगम्य, शाश्वत तथा अनेक रूपात्मक अभिव्यक्ति में समर्थ अनन्त शक्ति) कहा है। इसके द्वारा परमात्मा अपनी पारमार्थिक महिमा की व्यावहारिक जगत् की अनेक सत्ताओं में आनन्द एव स्वतन्त्रता पूर्वक अभिव्यक्ति करता है। इस आश्चर्यजनक जगत्-व्यवस्था की व्याख्या करने के लिए उन्हें रज्जु-सर्प, सीपी-रजत, मृग-मरीचिका के सादृश्य अस्वीकार है, क्योंकि ऐसे सादृश्य-विधान अतार्किक रूप से एक अपूर्ण द्रष्टा के अस्तित्व को मानकर चलते है, जिसे इस व्यावहारिक जगत्-रचना के पूर्व होना चाहिये। माया को अगर जननी माना जाता है तो उसे ब्रह्म की वास्तविक शक्ति मानना ही समीचीन होगा।

अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति' मे योगी गुरु गोरखनाथ ने महामाया या योगमाया के जगत् के रूप मे क्रमिक आत्मप्रकटीकरण का बड़ा मनोहर वर्णन किया है। वर्णन का प्रारम्भ पारमार्थिक सच्चिदानन्द ब्रह्म की धारणा से होता है, जिसमें शक्ति अभिन्न तथा अव्यक्त रूप मे निहित रहती है। शक्ति तब इच्छामात्र-धर्मा होती है और ब्रह्म-धर्मा होती है, जिससे वह अभिन्न होती है। यह इच्छा अद्वैत ब्रह्म मे निहित होती है, किन्तु किसी भी प्रकार से व्यक्त नहीं होती। इस अद्वैत और पूर्ण ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप में पूर्ण इच्छा-शक्ति की उपस्थिति समस्त अस्तित्वो के स्तरो पर उसके आत्म-प्रकाशन और आत्म-आनन्द की पूर्ण स्वच्छन्दता का प्रमाण है। उसकी स्वतन्त्रता को सीमित या बाधित करने वाली कोई दूसरी शक्ति नही। और न ही किसी विशेष काल अथवा रूप मे उसकी आत्म अभिव्यक्ति के लिए निर्देशक शक्ति ही कोई है। परब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप मे पूर्ण इच्छा-शक्ति की उपस्थिति को स्वीकार कर योगी मत परमात्मा के निजानन्द के लिए उसके अनन्त शाश्वत सच्चिदानन्द स्वरूप को अनेकों काल, अनेको चेतनाओं और सत्ताओ के रूप में अभिव्यक्त होने की पूर्ण स्वतन्त्रता को मान्यता देता है। परब्रह्म की शक्ति का प्रकटीकरण पूर्ण स्वच्छन्द है, इसलिए इसे उचित अर्थ में आनन्द-विलास कहा गया है।

दिव्य शक्ति के आत्म-प्रकटीकरण का क्रमिक वर्णन करते हुये गुरु गोरखनाथ उसकी आत्म-अभिव्यक्ति की पांच अवस्थाये बताते है तथा प्रत्येक अवस्था के पांच गुण वर्णित करते है। अपने मूल रूप मे यह निजाशक्ति है, वहा वह इच्छा मात्र तथा शिव से अभिन्न है। इस मूलावस्था या प्रथमावस्था के पाच

गुण है:—(१) नित्यता, (२) निरंजनता, (३) निस्पंदता, (४) निराभासता और (५) निरुत्थानता । (१. १०) नित्यता का अर्थ है शाश्वतता अर्थात् यह शक्ति शिव में शाश्वत एव अभिन्नरूपेण उपस्थित है। निरंजनता का अर्थ है विशुद्धता, निष्कलंकता अर्थात् यह शक्ति पूण शुद्ध है तथा शिव के पूर्ण आत्म-प्रकाशन मे भाग लेती है। निस्पदता का अर्थ है कम्पनरहितता अर्थात् शक्ति के मूल स्वरूप मे अभी कोई आन्तरिक परिवर्तन की सक्रिय अन्त: प्रेरणा नही है। वह पूर्ण शान्त, गम्भीर तथा शिव की दिव्य गोद में प्रगाढ़ निद्रा में मग्न है। निराभासता का अर्थ है अप्रतिबिम्बता या आभासरहितता अर्थात् शक्ति का अभी शिव से भिन्न अस्तित्व नही है तथा शिव का स्वरूप उसपर प्रतिबिम्बित नहीं हो रहा है। निरुत्थानता का अर्थ है कि वह अभी शिव के पारमार्थिक स्वरूप से भिन्न और जागृति नहीं हुई है। इस अवस्था में शिव शक्ति है तथा शक्ति शिव है। यह शुद्ध परासंवित् है।

दूसरी अवस्था में निजा शक्ति के भीतर सक्रियता की एक गूढ प्रवृत्ति—उन्मुख व जागृति होती है। सुप्त प्रतीत होने वाली निजा शक्ति व्यावहारिक स्तर पर अपनी अनन्त सम्भावनाओं को शनै: शनै: अभिव्यक्त करने की तीव्र आन्तरिक प्रेरणा लेकर उद्बुद्ध हो उठती है। यह शक्ति जो शिव के आध्यात्मिक व पारमार्थिक रूप से पूर्ण एकाकार एव अव्यक्त थी अब शिव के स्वरूप के अन्तर्गत एक स्पष्ट अंग के रूप में किंचित् व्यक्त होने लगती है। शिव सूक्ष्म रूप मे अपने अन्तस् में निहित इस अनन्त शक्ति पर अपने स्वामित्व का किंचित् अनुभव करने लगते हैं और यह अनुभव वे अपने गत्यात्मक रूप में करना चाहते है। अभेद, अपरिवर्तनशील, स्वत: सिद्ध, निरपेक्ष, आत्म-सन्तुष्ट परमात्मा शिव से अभिन्न शक्ति उसकी आत्म-अभिव्यक्ति के अनन्त रूपों में प्रकट होने लगती है। शिवान्तर्गत शक्ति शिव के आनन्दानुभव का उपादान प्रतीत होने लगती है। यहा शक्ति पूर्णतया शिव रूप न रहकर शिव मे तथा शिव के लिए रहती है। इस स्तर पर इसे पराशक्ति कहा जाता है। गोरखनाथ कहते हैं.—'तस्य उन्मुखत्वमात्रेण पराशक्तिरुत्थिता' (१ १ ६)। यह पराशक्ति शिव की निजा शक्ति का प्रथम सूक्ष्म उद्घाटन है। वह समस्त शक्यिों, वैयक्तिक चेतनाओ तथा प्रपच की जननी है। अभी तक उसमें कोई वास्तविक हलचल या क्रिया नही होती। निरुत्थान दशा से शक्ति की यह पहली उत्थान दशा है। गोरखनाथ इस पराशक्ति के भी पांच गुण बताते हैं:—(१) अस्तिता, (२) अप्रमेयता, (३) अभिन्नता, (४) अनन्तता और (५) अव्यक्तता (१ १. ११)। पराशक्ति का प्रथम लक्षण अस्तिता कहा गया है, जिसका तात्पर्य है अस्तित्व का गुण। स्पष्ट रूप से आशय यह है कि आत्मप्रकटीकरण के पूर्व पराशक्ति, जिसके लिये अस्तित्व विशेषण भी प्रतीत नही होता, निजा शक्ति की भांति शिव से पूर्ण तदाकार थी। शुद्ध सत् परमात्मा के स्वरूप को इस पराशक्ति के अस्तित्व-लक्षणसे मिलाना नही चाहिये, क्योकि उसके मौलिक पारमार्थिक स्वरूप में उद्देश्य-विधेय अथवा द्रव्य-गुण का सम्बन्ध नही

होता। पराशक्ति के स्वरूप का दूसरा लक्षण अप्रमेयता है, जिसका अर्थ होता है अमाप्यता। समस्त मर्यादाओं, प्रापचिक नियमो, कालदिक् आदि की व्यवस्था की जननी होने से उसके स्वभाव की थाह नही पाई जा सकती। उसकी माप-तौल काल, दिक्, सख्या, गुण आदि किसी भी सीमा, मापदण्ड या मर्यादा के द्वारा नही की जा सकती।

तीसरा लक्षण अभिन्नता अथवा अपृथकता है। तात्पर्य यह है कि उसके अन्दर या बाहर कोई ऐसी वस्तु नही है, जिससे यह स्वतन्त्र इकाई के रूप में पृथक ठहराई जा सके और न ही वह स्वय परमात्मा शिव, जिसके लिये उसका अस्तित्व है, से ही भिन्न है।

चौथा गुण अनन्तता है, जिसका अर्थ है असीमता या अक्षयता। पराशक्ति यद्यपि अभी तक शिव के पारमार्थिक स्वरूप से अभिन्न होती है, पर स्वयं में काल-दिकादि अनन्त व्यावहारिक अभिव्यक्तियों का अक्षय भाण्डार धारण किये रहती है। अनादि काल से स्वयं को अनन्त रूपो में अभिव्यक्त करते रहने पर भी उसकी शक्ति या संभावनाये कभी समाप्त नही होंगी तथा इससे सर्वदा नवीन सृष्टि का सृजन होता रहेगा। शिव के पारमार्थिक सक्रिय रूप का द्रव्य भाण्डार भला कभी काल, दिक एव सापेक्षिकता के व्यावहारिक स्तर की अभिव्यक्तियों में समाप्त हो सकता है।

पांचवा गुण अव्यक्तता है, जिसका तात्पर्य है अप्राकट्य। इसका अर्थ है कि शक्ति का अनन्त भाण्डार जो शाश्वत रूप से उसमें उपस्थित है, अब तक पूर्णतया अभिव्यक्त नही है। पराशक्ति के अन्तर्गत अनन्त ज्ञान, अनन्त बल, अनन्त सौन्दर्य, अनन्त अच्छाई, असीम आभा, अनन्त जीवन, अनन्त प्रेम, अनन्त आनन्द—चेतन जीवन के समस्त परम आदर्शो की पूर्ण साक्षात्कृत उपस्थिति है, किन्तु ये सब उसके कालातीत, दिकातीत पारमार्थिक रूप मे अव्यक्त, अभिन्न तथा एकाकार रहते है। परमात्मा के मूल स्वभाव का सक्रिय पक्ष इस स्थिति में पारमार्थिक एवं व्यावहारिक, पूर्ण सच्चिदानन्द एव दिक्कालसापेक्ष आत्माभि-व्यक्ति के स्तरो के संगम पर है। अभी तक अव्यक्त किन्तु व्यक्तता की ओर उन्मुख इस अनन्त, अक्षय सृजनात्मक इच्छा-शक्ति से युक्त शिव प्रकटीकरण तथा आत्म-चेतन, आत्मनियत्रित, सृजनात्मक व्यक्तित्व के रूप में आनन्दपूर्ण आत्म-योग की दिशा में अग्रसर होते प्रतीत होते हैं।

दिव्य शक्ति के पराशक्ति के रूप में आत्म-प्रकटीकरण का जैसा प्रति-पादन गोरखनाथ ने किया है, वह हमे इस औपनिषदिक धारणा का स्मरण दिलाता है—'तद् ऐक्षत, बहुस्याम, प्रजायेय'—उस (अद्वैत ब्रह्म) ने इच्छा की कि मै अनेक हो जाऊ, मै प्रपच के रूप में उत्पन्न हो जाऊ। पूर्ण सत् एक एव अद्वैत (एकमेवाद्वितीयम्) ने दिक्कालयुक्त स्तर पर अपने रूपों मे उत्पन्न होने की तथा स्वयं को ब्रह्माण्ड एव उसकी अन्तर्यामी आत्मा के रूप में अभिव्यक्त करने की इच्छा की। यह ध्यान रखना चाहिये कि पारमार्थिक आत्मा के लिये इच्छा करना

एवं साक्षी होना एक ही है और इससे उसके पूर्ण शान्त आत्म-प्रकाशयुक्त स्वरूप मे कोई परिवर्तन नही आता। यहां हमे नासदीय सूक्त का एक मन्त्र याद आता है—'कामस्तदग्रे समवर्तताधि'—सृजन करने की इच्छा का सर्वप्रथम अस्तित्व हुआ और यह इच्छा मनस् का प्रथम बीज थी—'मनसो रेतः प्रथमं यद् आसीत्'।

तीसरे स्तर पर पराशक्ति के अनन्त पारमार्थिक अन्तःकरण मे किसी प्रकार का स्पन्दन अथवा आन्तरिक हलचल हुई। दिव्य इच्छा मे बाह्य आत्माभिव्यक्ति के लिये आन्तरिक प्रेरणा उठी, यद्यपि बाह्य परिवर्तन नही हुआ। इस प्रकार के आन्तरिक स्पन्दन से सक्रिय शक्ति को अपरा शक्ति कहा गया है—'तस्य स्पन्दन मात्रेण अपराशक्तिरुत्थिता (१.१.७)।

अपराशक्ति के पांच गुण है:–(१)स्फुरता,(२)स्फारता,(३)स्फुटता,(४)स्फोटता, और(५)स्फूर्तिता (१.१.१२)। इनमें प्रत्येक गुण के वास्तविक महत्व या अर्थ को प्रकट करना कठिन है। स्फुरता का तात्पर्य है कि इस स्तर पर यह मात्र अस्तित्वगुणयुक्त नही वरन् आन्दोलित अस्तित्वधारी है। यह आन्दोलन आत्माभिव्यक्ति की आन्तरिक हलचल का परिणाम है। स्फुरता का अर्थ है कि शक्ति अब शिव की चेतना के समक्ष अधिक व्यक्त रूप में है। स्फुरता का अर्थ यह प्रतीत होता है कि शक्ति में निरन्तर और भी विस्तार एवं आत्म-प्रकटीकरण की प्रवृत्ति है, एक सतत आत्म-प्रकाशन एव अभिव्यक्तिकरण की प्रेरणा है। स्फोटता का अर्थ है कि शक्ति के मनस् में विद्यमान किन्तु वस्तुतः अव्यक्त सत्ताये व्यावहारिक स्तर पर वास्तविक आत्माभिव्यक्ति का अवसर ढूढ़ रही है। स्फूर्तिता का अर्थ है कि शक्ति के मन में एक असीम उत्साह, आह्लाद है— अपनी आन्तरिक महिमाओ को व्यावहारिक स्तर पर शनैः शनैः प्रकट करने का। इस प्रकार जिसे अपराशक्ति कहते है, वह दिव्य शक्ति की पारमार्थिक महिमाओ को काल-दिक्-युक्त स्तर पर आत्माभिव्यक्तिकरण का एक अगला कदम है। परमात्मा शिव के स्वभाव का सक्रिय पक्ष इस अवस्था में कुछ अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त हो जाता है। इस सृजनात्मक इच्छाशक्ति का एकमात्र स्वामी, प्रकाशक, द्रष्टा, भोक्ता एव आत्मा-ब्रह्म अथवा शिव इस स्तर पर अपने सक्रिय स्वभाव के माध्यम से बहुत कुछ आत्म-प्रकाशक जैसा प्रतीत होता है, यद्यपि वह अपने पारमार्थिक रूप मे सभी प्रकार के कार्य तथा काल, दिक् और सापेक्षिकता के जगत् से परे है।

यहां फिर हमें स्मरण रखना चाहिये कि अनेकता और क्रमिकता का व्यावहारिक जगत् अभी अस्तित्व में नही आया है। वहां न पृथ्वी है, न जल, न अग्नि, न वायु, न आकाश, न सूर्य है न चन्द्र, न तारागण, न दिन है न रात, न प्रकाश है न अन्धकार, न गर्मी न सर्दी, न ज्ञाता है और न ज्ञेय-पदार्थ या घटना ही है। बिना किसी अन्तर्बाह्य के, बिना किसी अहं चेतना के केवल शिव या ब्रह्म ही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वह निर्विकल्प समाधि अवस्था से अभी-अभी उठा है और अपने अन्दर असीम शक्ति की स्फुरणा एव अनिर्वचनीय सृजनात्मक आत्माभिव्यक्ति के लिये उत्कंठित आह्लाद के प्रति सतर्क हो गया है। उसकी

चेतना आन्तरिक रूप से अब भी शुद्ध, आनन्दमय, अपरिवर्तनीय, भेदरहित अवस्था मे पारमार्थिक आनन्द के रस में डूबी हुई है, किन्तु साथ ही साथ वह आत्माभिव्यक्ति के लिये कुछ सक्रिय एवं आन्दोलित हुई भी प्रतीत होती है।

तब चतुर्थ अवस्था आती है, जिसमें शिव की सक्रिय चेतना में एक शुद्ध 'अह' का भाव प्रकट होता है। उसकी चेतना सोचती है—'मैं आत्म-चेतन हूं', यद्यपि यहां ज्ञाता (मैं) ज्ञेय (आत्म, अपना व्यक्तित्व) का कोई भेद नहीं है। एक शुद्ध अहं-भाव समस्त गूढान्दोलित सक्रिय चेतना पर छाया रहता है। इस स्थिति में दिव्य शक्ति को सूक्ष्मा-शक्ति कहा गया है। गोरखनाथ कहते है— 'तत' अहमता-मात्रेण सूक्ष्माशक्तिः उत्पन्ना' (१.१.८)।

व्यावहारिक आत्म-प्रकाशन की दिशा में शक्ति की आत्माभिव्यक्ति के इस स्तर पर शिव एकमात्र आत्म-चेतन, आत्म-नियंता, सक्रिय व्यक्तित्व के रूप मे प्रतीत होते हैं। इसके पूर्व शिव मानो स्वयं में ही डूबे हुये एक निर्वैयक्तिक या अतिवैयक्तिक आत्मा, अपने सर्वशक्तिमान सक्रिय स्वभाव को भूले हुये से प्रतीत होते है। अब वे एक सगुण ईश्वर का रूप धारण कर लेते है, किन्तु अब भी वे अद्वितीय और एक हैं। अभी तक उनकी आत्म चेतना में कोई भेद या सापेक्षिकता नही है। वे बिना किसी मानसिक-भौतिक शरीर के, बिना किन्ही अगों एवं विभिन्न आत्माभिव्यक्तियों के तथा बिना किसी आन्तरिक और बाह्य भेद के एक सुगठित व्यक्तित्व के रूप में अपने प्रति जागरूक हैं। महायोगी दार्शनिक सामान्य रूप से इस सूक्ष्म शक्ति के पांच गुण बताते है—(१) निरामषता, (२) निरन्तरता, (३) निश्चलता, (४) निश्चितता और (५) निर्विकल्पता (१.१.१३)।

निरामषता का तात्पर्य है कि यह दिव्य अह-चेतना स्वयं में कोई द्वैत या अनेकत्व या सापेक्षिकता नही रखती है। निरन्तरता का तात्पर्य है कि इस अह-चेतना में कोई क्रमभग अथवा काल-दिक् या कोई व्यवधान नही है। निश्चलता का अर्थ है कि इस चेतना मे कोई चचलता, प्रसार या संकोच अथवा इसकी तीव्रता में विस्तार-सकोच आदि नही है। निश्चयता का अर्थ है पूर्ण दृढ़ता अथवा आत्मज्ञान की संपूर्णता अर्थात् व्यावहारिक या धारणात्मक ज्ञान की सी किसी सन्दिग्धता, त्रुटि अथवा अनिश्चितता को यहां स्थान नही है। निर्विकल्पता का अर्थ है कि यह दिव्य आत्म-ज्ञान इस प्रकार का नही जिससे किसी व्यावहारिक प्रक्रिया, मानसिक धारणा या सिद्धान्त की सृष्टि हो सके। इसमे व्यावहारिक ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध तक नही है। यह शुद्ध सर्वज्ञता है। शिव अपनी शक्ति सहित सब कुछ है, अतएव उनका आत्मज्ञान वास्तव में सर्वज्ञान है।

इस प्रकार यद्यपि शिव पूर्ण दिव्य व्यक्तित्व के रूप में आनन्दपूर्ण आत्मानुभव कर रहे है, तथापि द्वैत-अनेकत्व रहितता, कालक्रमरहितता, दिशात्मक सहस्तित्वरहितता, ज्ञान-क्रिया भाव की व्यावहारिक प्रक्रिया की रहितता, सीमितता, अपूर्णता, आदर्श-प्राप्ति रहितता, अनुभवगत सन्दिग्धता, अनिश्चितता, असम्पूर्णता की रहितता उनकी पूर्ण प्रशान्त एवं सर्वव्यापी आत्मचेतना के परिचायक है। वे

अपनी अद्वतता, अपनी सर्वशक्तिमत्ता, अपनी सर्वज्ञता तथा अपने असीम एव पूर्ण अस्तित्व को देख रहे है, किन्तु उनके इस देखने में कोई प्रक्रिया, प्रयास या सापेक्षिक आश्रय नहीं है। शिव के आत्म-चिन्तन एव आत्मानुभव की शक्ति, जिसे विमर्श शक्ति कहा जाता है, इस स्तर पर प्रकट होती है।

यह नितान्त स्पष्ट है कि शिव ब्रह्म या परमात्मा की अह चेतना व्यावहारिक जगत् के व्यक्तियों की अह चेतना से पूर्णतया भिन्न प्रकार की है। यही कारण है कि गोरखनाथ ने बार-बार इस पूर्ण चैतन्य शिव की आत्म चेतना मे ससीम व्यक्तियों की अह चेतना के लक्षणों का अभाव बताया है। इस पूर्ण आलोकित अहं चेतना के गुण से परमात्मा अपना अनुभव परम आध्यात्मिक व्यक्तित्व के रूप में करता है। जगत के व्यक्ति की आत्म-चेतना या अह चेतना कितनी ही प्रबुद्ध क्यों न हो अविद्या के प्रभाव से मुक्त नहीं है और इसीलिये उसमें द्वैत और अनेकत्व, प्रक्रिया और परिवर्तन, ससीमता और अपूर्णता आदि होते हैं। परमात्मा की अहं चेतना को उसकी शुद्ध विद्या का प्रकाशन कहा गया है। यह उसकी शक्ति का गुण है।

परमात्मा की इस अहं चेतना की ओर उपनिषदों ने 'अहं ब्रह्मास्मि' की धारणा में संकेत किया हैं। एक योगी गहन आध्यात्म-विद्या के आचरण तथा गंभीर ध्यान-साधना से अपने प्रापंचिक अहं को पूर्ण शुद्ध ज्ञानमय कर परमात्मा के अहं में भागीदार बना सकता है। उसके वैयक्तिक अहं की समस्त सीमाये, द्वैततायें एवं सापेक्षिकताये लुप्त हो जाती हैं और वह परमात्मा से एकत्व का अनुभव करने लगता है। योगी की चेतना का आध्यात्मिक स्तर पर यह उठ जाना भी दिव्य शक्ति का एक प्रकार का आत्म-प्रकटीकरण ही है। इसका वर्णन आगे किया जायेगा। यहां हम दिव्य शक्ति के काल, दिक्, अनेकत्व एव परिवर्तन के स्तर पर आत्म प्रकाशन की प्रक्रिया का विवेचन कर रहे है। परमात्मा की पूर्ण सक्रिय आत्म चेतना ही स्वच्छन्द रूप से तथा आनन्दपूर्वक स्वय को व्यावहारिक जगत्-व्यवस्था के रूप में प्रकट कर रही है।

पंचम अवस्था में शिव की यह दिव्य शक्ति उसके आत्म-चेतन-व्यक्तित्व में एक विशिष्ट मानसिक शक्ति का रूप ज्ञान, अनुभव तथा इच्छा की प्रक्रियायें उत्पन्न करने के लिये, उनके विषयों के उद्भव के पूर्व ही, धारण कर लेती है। इस शक्ति को कुण्डलिनी शक्ति कहा गया है—'ततो वेदनाशीला कुण्डलिनी-शक्ति-रुद्गता' (१ १.६)।

गोरखनाथ अपने सहज ढग से इस कुण्डलिनी शक्ति के पांच गुण बताते हैं—(१) पूर्णता, (२) प्रतिबिम्बिता, (३) प्रबलता, (४) प्रोच्छलता, (५) प्रत्यङ्मुखता (१.१.१४)।

पूर्णता का अर्थ है पूर्ण चरित्रता। इसकी आत्मप्रकटीकरण, आत्मानेकीकरण तथा आत्मरूपान्तर की असीम सम्भावनायें भी हो सकती है। इस आश्चर्यजनक रूप से ब्रह्माण्ड का उपादानकारण होकर वह अपने में कुण्डलिनी रूप

में समस्त काल-दिक्-युक्त ब्रह्माण्ड को अवस्थित रखती है। सृष्टि प्रक्रिया, जो व्यावहारिक स्तर पर उसकी कुण्डलमुक्तता है, का उसे बीज कहा जा सकता है। प्रतिबिम्बिता का अर्थ है कि वह एक दर्पण है, जिस पर शिव के पारमार्थिक स्वरूप का, भौतिक-जैविक-मानसिक-बौद्धिक नाना रूपों में प्रतिबिम्ब पड़ता है। प्रबलता का अर्थ है सर्वशक्तिमत्ता, अनेकानेक स्तरों के विभिन्न अस्तित्वों का अपने भीतर से स्रजन करने, उनका पालन एवं नियमन करने तथा पुनः अपने भीतर समेटने की अनन्त क्षमता और असीम शक्ति। प्रोच्छलता का अर्थ है, उसका आत्म-रूपान्तरण, आत्म-प्रसारण, आत्म-गुणन और साथ ही आत्म-समायोजन का छिपा हुआ गुण। वह अपनी आन्तर व बाह्य गतिविधियों में पूर्ण स्वच्छन्द या आत्म-नियंत्रित है। और अपने से उत्पन्न एव अपने अंक में पोषित ससीम कालबद्ध जीवों पर उसका पूर्ण शासन है। प्रत्यग्मुखता का अर्थ है कि संसार का सृजन, पालन एव विनाश करते हुये भी सर्वदा उसका आनन परमात्मा शिव की ओर उन्मुख रहता है, जो उसकी आत्मा और उसका प्रभु है, उसका प्रकाशक एव प्रेरक है, उसके अस्तित्व एव उसके विकास का एकमात्र प्राणतत्व है और जिसमे, जिसके द्वारा एव जिसके लिये वह शाश्वत रूप से विद्यमान रहती और गतिविधि करती है, तथा जिसके अनन्त विलास के लिये वह सृष्टिरचना की क्रीडा करती है। शक्ति का मुख मदैव शिव की ओर रहता है, अतएव उसकी समस्त सन्ताने, उसकी समस्त आत्माभिव्यक्तियाँ भी सर्वदा शिव के मिलन की ज्वलन्त अभीप्सा रखती हैं, सब चेतन अथवा अचेतन रूप से शिव के आनन्ददायक एकत्व की ओर प्रगति करती रहती है। शिव की शक्ति अपने व्यक्तित्व से प्रत्येक आकृति का स्रजन, शिव के आत्माभिव्यजन एव आत्मभोग के लिये विशिष्ट आधार के रूप मे करती है। वस्तुतः शिव ही प्रत्येक जीव एवं सृष्टि की आत्मा हैं।

नवाँ अध्याय

शिव का सृष्टि पुरुष (विश्व रूप) के रूप में आत्म-प्रकाश (अभिव्यक्तीकरण)

शक्ति के शनैः शनैः शिव के आध्यात्मिक-पारमार्थिक स्वरूप के अन्तर्गत आत्मोन्मीलन का प्रतिपादन करने के बाद गोरखनाथ इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इस प्रकार शिव का परम आध्यात्मिक शरीर उत्पन्न होता है, जिसमें शक्ति के आन्तरिक आत्मोन्मीलन के पांचों स्तरों की समस्त विशेषतायें इस व्यवस्थित रीति से व्यक्त और संयोजित होती है, मानो वे उसकी आत्म-चेतना के अन्तर्गत ही हो। सिद्ध-योगियों ने परमात्मा के इस चरम आध्यात्मिक शरीर को 'पर-पिण्ड' कहा है। 'एवं च शक्ति-तत्व-गुण-योगात् परपिण्डोत्पत्तिः' (१/१/१५)। गोरखनाथ एक पूर्व प्रमाण को उद्धृत करते हुये अपने कथन का सार रख देते है। वह कहते हैं—'उक्तं च, निजा-परा-अपरा-सूक्ष्मा-कुण्डलिन्यासु पंचधा, शक्ति-तत्व-क्रमेणोत्थो जातः पिण्डः परः शिव.।' यह कहा जा चुका है (प्रामाणिक तत्व-ज्ञानालोकित योगियों द्वारा) कि शिव अपने स्वभावान्तर्गत शक्ति के क्रमिक विकास अपने विशिष्ट लक्षणों सहित पांचों रूपों निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा तथा कुण्डलिनी के माध्यम से परपिण्ड के रूप में उत्पन्न हुये।

यह सावधानीपूर्वक स्मरण रखने की बात है कि हमारी भाषा व विचार शक्ति की स्वाभाविक सीमाओं के कारण, शिव में शाश्वत रूप से निहित तथा-कथित क्रमिक आत्मोन्मीलन को व्यावहारिक क्रमता और विकास की भाषा मे वर्णित करना पड़ता है, किन्तु हमारे व्यावहारिक अर्थ में काल का जो भाव है, वह वास्तव में आध्यात्मिक या पारमार्थिक स्तर पर नही रहता और न ही वह शिव के स्वभाव में निहित शक्ति के आत्मोन्मीलन या आत्म-जागरण का निर्धारक है। शक्ति के आत्मोन्मीलन की प्रत्येक अवस्था एवं उसके शिव का विलास शाश्वत है। पर-पिण्ड रूप में शिव का जन्म भी काल-व्यवस्था का दृश्य या वस्तु नहीं है। जो हमारे साधारण वर्णन में उत्तरावस्था कही जाती है, वह पूर्वावस्थाओ को लांघकर या उनकी विशेषताओं को नष्ट करके नही आती है। शिव के स्वभाव मे निहित शक्ति के आत्मोन्मीलन की क्रमिकता के सम्बन्ध मे, हमारी बौद्धिक धारणा मानसिक विश्लेषण तथा उस दिव्य आध्यात्मिक शक्ति के परम महिमामय स्वभाव के विविध पक्षों के व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर, दिक्कालगत व्याख्या से कुछ अधिक नही कह सकती। वस्तुतः शिव शाश्वत रूप से अपनी शक्ति के

आत्मोन्मीलन के समस्त पक्षो से युक्त है तथा उनकी सर्वव्यापक, सर्वसमाहारी तथा सर्वयोगी आध्यात्मिक चेतना में समस्त अवस्थाओं के समस्त विशिष्ट लक्षण आश्चर्यजनक रूप से व्यवस्थित तथा समाहित है। पूर्व-वर्णित शक्ति की विभिन्न अवस्थाओं के लक्षण हमारे अनुभव-स्तर के दृष्टिकोण से प्राय. एक-दूसरे के विरोधी प्रतीत हो सकते है, किन्तु शिव की चेतना सर्व-विरोधी-गुणाश्रय है। शिव सक्रिय जागृतावस्था के साथ निर्विकल्प समाधि का आनन्द लूटते है।

पर-पिण्ड के जन्म का तात्पर्य परमात्मा का अपने स्वयं प्रकाश पारमार्थिक स्वरूप की पूर्ण स्थिरता और शाति को धारण करते हुये, अपनी समस्त शाश्वत अनन्त महिमामयी शक्तियों तथा उनके गुणो एवं इन शक्तियों और गुणों की पूर्ण चेतना के साथ परम पुरुष के रूप मे आत्मप्रकाशन है। योगाचार्य पतंजलि के 'योग-सूत्र' की भाषा में वे क्लेश, कर्म, विपाक व आशय के स्पर्श से भी पूर्ण-तया मुक्त हैं, किन्तु साथ ही वे पुरुष विशेष है। पतजलि के अनुसार क्लेश का अर्थ अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (जीवन-वासना या मृत्यु-भय) है। कर्म का अर्थ ऐच्छिक तथा इच्छाजनित क्रियाय हैं, जो किन्ही इच्छित परि-णामों की प्राप्ति या किन्ही असिद्ध आदर्शो की सिद्धि के लिये की जाती है। विपाक से तात्पर्य इन क्रियाओ के फलों का है, जिन्हें कर्ता कर्म-सिद्धान्तानुसार (सुख दुख रूप में) भोगता है। आशय का अर्थ उपचेतन मनस् में लगे हुये क्लेश, कर्म और विपाक-जनित वे सस्कार है, जो नये कर्म, नये क्लेश व नये विपाक उत्पन्न करते हैं।

व्यावहारिक व्यक्तित्व की धारणा से जुडे हुये ये सामान्य लक्षण हैं। किन्तु दिव्य व्यक्तित्व इस प्रकार के लक्षणों के बन्धन से सदा-सर्वदा मुक्त है तथापि वह एक पुरुष विशेष है एक पूर्ण आत्म-चेतन व्यक्तित्व। उसमे अस्तित्व, शक्ति, ज्ञान, बुद्धि, नैतिक एव सौन्दर्यात्मक विशिष्टता, आध्यात्मिक प्रकाश—किसी भी दृष्टि से कोई अपूर्णता नही है। वह पूर्णरूपेण सक्रिय व पूर्णरूपेण निष्क्रिय है। वह अपने अन्तस् में अपने पारमार्थिक स्वरूप का पूर्ण आनन्द भोगता है और साथ ही वह दिक्कालबद्ध सृष्टि व्यवस्था की नामरूपात्मक विभिन्नताओं में आत्म-प्रकटीकरण एवं आत्मभोग की अन्तःप्रेरणा से भी युक्त है। वह पूर्ण रूपेण शांत व स्थिर है, तथापि अपने अन्तस् में सृष्टि-क्रिया एव आत्म-विस्तार हेतु एक भीषण आन्दोलन अनुभव करता है। वह पूर्ण रूप से अपनी शाश्वत समाधि-अवस्था में लीन रहने तथा सृष्टि की प्रत्येक घटना और प्रक्रिया के प्रति पूर्णरूपेण तटस्थ एव होने पर भी प्रत्येक घटना और प्रक्रिया का अन्तर्निहित प्रेरक, नियन्ता तथा विश्वात्मा है। वह अपने में समस्त दिक्कालयुक्त जगत को और इसके प्रत्येक अंश मे अपने को देखता है. फिर भी उसकी चेतना मे किंचित् मात्र भी विक्षेप नही है। वह पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दोनों ही स्तरों पर एक साथ विराजता है।

इस प्रसंग मे यह ध्यान देने योग्य है कि पतंजलि के योग-सूत्र में प्रमुख

दार्शनिक सिद्धान्तों का और योगी सम्प्रदाय के आदर्शो एव आत्मानुशासन के उपायों का भी प्रशंसनीय निरूपण है, किन्तु पतंजलि की शिव या ईश्वर विषयक धारणा ठीक वैसी ही नहीं है जैसी कि गोरखनाथ तथा सिद्ध-योगी-सम्प्रदाय की शिव या परम पुरुष विषयक धारणा। पतंजलि ने मुख्यतया कपिल के सांख्य दर्शन का तात्विक दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाया है, जिसे सिद्ध योगी 'आदि विद्वान्' कहकर संबोधित करते है। भगवद्गीता में ईश्वर की विभूतियों के रूप में सिद्धो में कपिल का विशेष रूप से उल्लेख किया गया—'सिद्धानां कपिलो मुनि:' किन्तु कपिल के दर्शन में जैसा कि इनके अनुयायियों में माना जाता रहा है, शाश्वत ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं है। उसकी तात्विक तर्कणा के अनुसार जगत-व्यवस्था का परम भौतिक कारण मूल प्रकृति है. जिसके साथ अनन्त निष्क्रिय शुद्ध आत्माये, जिन्हें वह पुरुष कहता है, किसी अविवेक या अविद्या से जुड़ी हुई है। प्रकृति और पुरुष शाश्वत रूप से परस्पर विरोधी स्वभाव के है। सारी जगत व्यवस्था प्रकृति से विकसित है तथा शुद्ध और अपरिवर्तनीय होते हुये भी पुरुष किसी प्रकार उसकी आत्मा बन गया है। समस्त वैयक्तिक शरीर, समस्त इन्द्रियां, मन, अहंकार, बुद्धि आदि जड़ प्रकृति की रचनाये हैं। आत्मायें केवल दृष्टा या साक्षी हैं किन्तु ये किसी प्रकार अविद्या के कारण मानसिक भौतिक देहों से अपने को भ्रमात्मक रूप से तादात्म्य कर नाना क्लेशों से पीड़ित होती है। कालान्तर में वे तत्व ज्ञान प्राप्त कर इस मिथ्या तादात्म्य से छुटकारा पाकर, प्रकृति के बन्धन एवं दु:खों से मुक्त होकर अपने निजी आध्यात्मिक स्वरूप को पा लेती हैं।

कपिल के अनुसार कोई शाश्वत अनन्त परमात्मा हमारे सामान्य अनुभव के तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता (ईश्वरा-सिद्धेः प्रमाणाभावात्) तथा इस ब्रह्माण्ड रचना के लिये ऐसे किसी ईश्वर को मानने की आवश्यकता भी नहीं है। कपिल की दार्शनिक प्रक्रिया दृढ़ तर्कपरक है। अति प्राचीन काल से अनेकों सत्यान्वेषियों ने उनके दार्शनिक दृष्ठिकोण का अनुसरण भी किया है। महर्षि पतंजलि ने आत्मानुशासन की योग-प्रक्रिया का प्रतिपादन करते हुये मुख्य रूप से कपिल के दार्शनिक दृष्टिकोण को अपनाया है तथापि उन्होंने पूर्णालोकित पुरुष विशेष के रूप में ईश्वर के शाश्वत अस्तित्व को स्वीकार किया है। पतंजलि ने ईश्वर को समस्त योगियो का परम आदर्श तथा समस्त आध्यात्मिक ज्ञान का परम स्रोत माना है। उनके अनुसार ईश्वर में पूर्ण ज्ञान शाश्वत व अनिवार्य रूप से निहित है। समस्त कालों, देशों व युगों के समस्त सत्यान्वेषियों का वह शाश्वत गुरू (दिव्य प्रकाश प्रदाता) है। पतंजलि के अनुसार चरम सत्य के अनुभव व समाधि की प्राप्ति का सबसे प्रभावशाली उपाय ईश्वरप्राणधान है। पतंजलि ईश्वर को जगत्-व्यवस्था का एकमात्र और अतिम कारण नहीं मानते और न ही उसे जगत् की परिवर्तनशील नाना नामरूपात्मक विभिन्नताओं में अभिव्यक्त मानते हैं।

सिद्ध योगियों के समान ही पतंजलि के मतानुसार ईश्वर या शिव महा-

योगीश्वर महाज्ञानीश्वर, महात्यागीश्वर है और इस परम व्यक्तित्व का समस्त युगों के योगी, ज्ञानी और त्यागी सर्वदा ध्यान धरते हैं। इस परम व्यक्तित्व में योग, ज्ञान और त्याग के परम आदर्श पूर्णरूपेण सिद्ध है और यह आत्मानुशासन, आत्मोत्थान एवं आत्मज्ञान के मार्ग की शाश्वत प्रेरणा आशा और शक्ति का स्रोत है। पतंजलि के मतानुसार वह प्रकृति का परम स्वामी है, क्योंकि वह अपने पूर्ण आत्मज्ञान द्वारा प्रकृति व उसकी जगत्-व्यवस्था से ऊपर उठ जाता है और प्रकृति उसे कभी भी किसी भी प्रकार के बन्धन में नही बांध सकती। पतजलि प्रकृति के बन्धन से पीड़ित पुरुषों पर ईश्वर के अनुग्रह और कृपा को स्वीकार करते हैं जिसके द्वारा जीव त्रितापो से मुक्त होकर आध्यात्मिक तत्व ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु इस दिव्य पुरुष विशेष को प्रकृति का स्वामी पतंजलि इस अर्थ में स्वीकार करते दिखाई नहीं देते कि वह प्रकृति के विकास तथा जगत् की प्रत्येक कार्य-विधि पर शासन करता है अथवा इस अर्थ में कि प्रकृति अपने अस्तित्व के लिये उस पर निर्भर करती है।

पतंजलि व कपिल दोनों के लिये प्रकृति एक स्वतः स्थित, स्वतः विकसित होनेवाली भौतिक सत्ता है और अपने अस्तित्व तथा विकास के लिये ईश्वर पर निर्भर नहीं है। गोरखनाथ व सिद्ध-योगी सम्प्रदाय इस दृष्टिकोण से मूलतः भिन्न मत रखते हैं। उनके मतानुसार प्रकृति परम-पुरुष, शिव या ब्रह्म की निहित शक्ति का एक अंग है और शिव के अस्तित्व से भिन्न उसका कोई अस्तित्व नहीं है। प्रकृति का विकास केवल दिव्य शक्ति का आत्मोन्मीलन है। उनके दृष्टिकोण से यह ब्रह्माण्ड ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति है, इसलिये प्रत्येक रूप मे प्रकृति का पूर्ण स्वरूप ईश्वर है। उनके अनुसार प्रकृति एक स्वतंत्र भौतिक सत्ता न होकर मूलतः परमात्मा के स्वरूप का एक अंग है, अतः आध्यात्मिक सत्ता है। नाना जीवात्मायें तथा अनेक पुरुष उस एक अद्वैत परब्रह्म की व्यष्टिगत आध्यात्मिक आत्माभि-व्यक्तियां हैं और उनमें से प्रत्येक एक विशेष मानसिक-भौतिक आकार में मूलतः शिव है। इस प्रकार योगसूत्र में प्रतिपादित ईश्वर की धारणा गोरखनाथ तथा सिद्ध-योगी-मत द्वारा मान्य शिव या ईश्वर की धारणा का प्रतिनिधित्व आशिक रूप में ही करती है। कपिल व पतंजलि के मतानुसार प्रत्येक पुरुष या जीव मोक्ष या कैवल्य अवस्था में प्रकृति से पूर्णतया पृथक हो जाता है, किन्तु शुद्ध चित् के रूप में अन्य मुक्त पुरुषों तथा ईश्वर से भिन्न शाश्वत रूप में अपना व्यक्तित्व तथा अस्तित्व रखता है। जब कि गोरखनाथ तथा सिद्ध-योगी-मत के अनुसार ऐसा प्रत्येक मुक्त पुरुष ईश्वर या शिव से अपनी अभिन्नता का अनुभव करके शिवत्व प्राप्त कर लेता है और प्रकृति या शक्ति को अपने से अभिन्न अनुभव करने लगता है।

गोरखनाथ व सिद्ध-योगी मत ने परमात्मा के चरम व्यक्तित्व के लिये जो ब्रह्माण्ड-जननी शक्ति के क्रमिक आत्मोन्मीलन से युक्त है, पर-पिण्ड शब्द का

प्रयोग किया है। पिण्ड शब्द का अर्थ है व्यवस्थित पूर्ण इकाई, अनेक अगों की एक सजीव इकाई अथवा अनेकता को निर्मित या अनेकता को समायोजित किये हुये एक सत्ता। इसमें प्रत्येक अंश मे पूर्ण व्याप्त रहता है, अनेक भागों में एक समाया रहता है तथा उसे सजीव एव समायोजित रखता है यद्यपि सम्बन्धित अंशों में उनकी अपनी विशिष्ट विशेषताये भी हो सकती है। समस्त अश अशी मे तथा अंशी के लिये होते है और उनके विशिष्ट गुणों की पूर्णता व उनके अस्तित्व का अंतिम उद्देश्य भी उस पूर्ण अशी में ही निहित होता है। अशो में और भी वृद्धि हो सकती है, वे स्वयं भी अपने सूक्ष्मतर भागों के व्यवस्थित पूर्ण हो सकते है, उनमें परिवर्तन तथा रूपान्तर भी हो सकते है किन्तु उनके ये आत्मगुणन, आत्मविभाजन और आत्म-रूपान्तर पूर्ण के ही अन्तर्गत होते है और ये सभी पूर्ण के जीवन की एकता में भाग लेते है। अपने समस्त परिवर्तनों के साथ अश पूर्ण की जीवन-गाथा में योगदान करते है और पूर्ण की जीवन-शक्ति अशों के परि-वर्तनों की गति को निर्धारित करती है। अंग या अश पूर्ण की सापेक्षता मे ही अंग या अंश हैं और पूर्ण भी अंगों की सापेक्षता में ही पूर्ण है। वे परस्पर सम्बद्ध हैं। मुख्य बात ध्यान में रखने की यह है कि अनेकता में एकता व्याप्त रहती है।

गोरखनाथ पिण्ड शब्द को कुछ विशेष महत्व देते है और वे इस शब्द का प्रयोग विभिन्न संदर्भों में बार-बार करते है। उनका आशय अस्तित्व के समस्त स्तरों–उच्चतम आध्यात्मिक स्तर से लेकर निम्नतम भौतिक स्तर तक–में अनेकता में एकता के सत्य पर बल देना प्रतीत होता है। समस्त सत्यान्वेषियों को वे यह ध्यानपूर्वक लक्षित करने की शिक्षा देते है कि हमारे ज्ञान और विचार के स्तरों की समस्त वस्तुसत्तात्मक धारणाओं में अनेकता मे एकता का विचार निहित है। हमारे ज्ञान व विचार के प्रत्येक क्षेत्र की समस्त भिन्नताओं में एकता निहित होती है, जो उनको पूर्ण की इकाइयों या अगो के रूप में व्यवस्थित करती रहती है। इसी प्रकार समस्त एकताओं के भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अग या अंश होते है, जो पूर्णो के गहन विश्लेषण से जाने जा सकते हैं। इस प्रकार गोरखनाथ उच्चतम आध्यात्मिक सत्ता के स्तर पर भी अतिवादी वेदान्तियो के शुद्ध अद्वैत का और साथ ही द्वैतवादियों के शुद्ध द्वैत एव बहु-पदार्थ-वादियो के अनेकतावाद का भी खंडन कर देते हैं। दूसरी ओर वे निम्नतम भौतिक स्तर पर बाह्यकारणो से संगठित होनेवाले और बिखरने वाले नाना असम्बन्धित भौतिक परमाणुओं के सिद्धान्तों का भी खंडन करते है। अद्वैत आत्मा उनके लिये अपनी निजी शक्ति से युक्त है जो उससे अभिन्न है। पूर्ण सत्ता इस प्रकार न केवल शुद्ध अद्वैत, न केवल द्वैत और न अनेकत्व-युक्त है। वे इस सिद्धान्त का प्रयोग सर्वत्र करते है। यह विचार लघुतम (कीटाणु) से लेकर विशालतम जीवित शरीरों के अनुभव से भी सिद्ध होता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड असंख्य प्रकार के पिण्डों से युक्त एक पिण्ड माना गया है। एक विराट् समष्टि-पिण्ड में असंख्य व्यष्टि-पिण्ड समाविष्ट है।

परमात्मा को, निज स्वरूप में निहित शक्ति के जागृत होने से स्वयं को

शाश्वत एव अनन्त स्वतः पूर्ण व्यक्तित्व वाला जानने पर—चरम शरीर या पर-पिण्ड कहा गया है। गोरखनाथ शिव या परमात्मा के इस आत्म-चेतन आध्यात्मिक व्यक्तित्व का वर्णन करते हुये उसे पांच प्रकार की आध्यात्मिक चेतनाओ से जो उसकी सर्वव्यापी दिव्य आत्मचेतना में विना एक दूसरे को प्रतिच्छायित किये हुये एक साथ प्रकाशित रहती है, युक्त बतलाते है—

अपरम्पारं, परमपदं, शून्यं निरंजन परमात्मेति

(सि० सि० प० १-१७)

महायोगी ने साधारण सत्यान्वेषियों के लिये प्रत्येक के स्वरूप का बुद्धि-गम्य या कम से कम बोधगम्य वर्णन प्रस्तुत करने का प्रयास किया यद्यपि वे स्वय जानते थे कि ये सब मनोवैज्ञानिक धारणाये अपूर्ण वर्णन मात्र हैं। वे 'अपरम्पारम्' का अर्थ 'स्फुरता मात्रम्' करते है। यह हमें एक अपरिवर्तनीय आत्मरत पारमार्थिक चेतना का विचार प्रदान करता है। जिसमे शिव और उसकी शक्ति मे सूक्ष्म भेद का चिह्न भी नही है। यह परमात्मा की निजा शक्ति जब कि वह उनके पूर्ण पारमार्थिक स्वरूप मे निहित रहती है, अर्थात् जब शिव का सक्रिय पक्ष पूर्णतया अव्यक्त रहता है, से सम्वद्ध उनकी विशुद्ध चेतना की ओर सकेत करता है। पर-पिण्ड की निजी चेतना में यह शुद्ध अह रहित चेतना प्रमुखतया चमकती है।

'परमपद' का अर्थ वे वताते है 'भावना-मात्रम्'। यह शिव के सक्रिय रूप के पराशक्ति के रूप में सूक्ष्म उद्घाटन की ओर संकेत करता है। जब दिव्य चेतना में उस पर सूक्ष्म-रूप से प्रतिबिम्ब पड़ता है। शिव यहां शक्ति के साक्षी बन जाते है (जो वस्तुतः क्रिया नहीं है) और साक्षी मात्र से शक्ति को सक्रियता की प्रेरणा देते है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि योगियों द्वारा शुद्ध निर्लिप्त साक्षी की दिव्य चेतना का ध्यान परम-पद के रूप में किया गया है, जिसे वे साधना द्वारा अपनी चेतना के अन्तर्गत सिद्ध करना चाहते हैं।

गोरखनाथ के अनुसार शून्य का तात्पर्य 'स्व-सत्ता-मात्रम्' अर्थात् शुद्ध सत् है। यहां दिव्य चेतना एक शुद्ध शून्य पृष्ठभूमि अथवा अनन्त पोषक तत्वो से युक्त स्वत. स्फुरणशील शक्ति के आधार के रूप में रहती है। यह शक्ति के अपरा शक्ति के रूप में, आत्मोद्घाटन की स्थिति, की ओर सकेत करता है जिसमे शक्ति प्रापंचिक आत्माभिव्यक्ति के लिये स्फुरित होती दिखाई देती है और शिव अपने को दृश्यों के पीछे छिपाये हुये दृष्टिगत होते हैं, प्रापंचिक दृष्टिकोण से शून्य से बन जाते है यद्यपि शक्ति की आत्मा और स्वामी के रूप में वे उसे प्रकाशित और प्रेरित करते रहते है। बहुत से योगी 'मै' और 'मेरे' के बोध से मुक्ति पाने के लिये शिव का ध्यान और उनकी पूजा 'शून्य' के रूप में करते है। वे सभी प्रकार के बन्धनों और दुःखों से पूर्ण मुक्ति पाने के लिये अहंभाव के नाश का अभ्यास करते प्रतीत होते हैं।

'निरजन' की व्याख्या गुरू गोरखनाथ ने 'स्व-साक्षात्कार मात्रम्' अर्थात् अपनी शक्ति से विशिष्ट और उसका अतिक्रमण करनेवाले अपने आपको विशुद्ध 'अहं' और आत्मा के रूप में अनुभव करनेवाले परमात्मा के रूप में की है। अपनी चेतना के इस रूप मे वह 'साक्षी' और आत्म-विकासक शक्ति के रूप मे 'आत्म-चेतन' रहता है। शिव की आत्म चेतना में शाश्वत अपरिवर्तनीय स्वयं साक्षी आत्मा और शाश्वत स्वतः विकसित सूक्ष्म अनन्त शक्ति में एक प्रकार का द्वैत-अद्वैत सम्बन्ध प्रतीत होने लगता है। वह अपने में अपनी सक्रियता को भी अनुभव करता है और साथ ही स्वयं के अपरिवर्तनीय, निर्लिप्त, शांत और स्थिर स्वभाव को भी। यह उसकी सक्रिय रूपा सूक्ष्मा-शक्ति के आत्मोद्घाटन की ओर सकेत करता है। इसमें शिव के पारमार्थिक स्वरूप में 'अह' की अभिव्यक्ति बहुत महत्व की वस्तु है। दिव्य चेतना का यह रूप समस्त बन्धनों, अपूर्णताओं, सीमाओं के परे शुद्ध अहंभाव की ओर सकेत करता है। बहुत से योगी अपने भीतर शुद्ध मुक्त 'अहं चेतना' का अनुभव या सिद्धि करने के लिये शिव का ध्यान निरंजन के रूप में करते हैं।

शिव की सर्वव्यापी चेतना का पाचवां रूप स्वय की विश्वात्मा या परमात्मा के रूप में चेतना है। ब्रह्माण्ड-जननी कुण्डलिनी शक्ति की आत्मा एव स्वामी के रूप में यह स्वय अनन्त शक्ति, अनन्त चैतन्य, अनन्त शुभ, अनन्त सौन्दर्य, अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रेम आदि का भंडार रखता है। अपनी विशिष्ट शक्ति के द्वारा काल, दिक् एवं सापेक्षिकता के अनन्त रूपों में, व्यावहारिक जगत् में आत्माभिव्यक्ति के लिये शिव अपनी शक्ति सहित पूर्ण आध्यात्मिक व्यक्तित्व सम्पन्न चेतना लिये हुये प्रतीत होते है। इस अवस्था में वह शाश्वत स्वतः सिद्ध निज पारमार्थिक चेतना के साथ ही व्यावहारिक आत्माभिव्यक्ति के नाना नाम-रूपों में आनन्द भोगते हुये प्रतीत होते है।

गोरखनाथ अपनी सामान्य विवेचन प्रणाली के अनुरूप ही प्रत्येक दिव्य चेतना के रूप के पांच-पांच गुण बताकर निष्कर्ष निकालते है कि शिव पर-पिण्ड के रूप में उन २५ गुणों की पूर्ण समायोजित इकाई है। पर-पिण्ड की आत्म-चेतना में सब रूपों और सब स्तरों की चेतनाये आश्चर्यजनक रूप से व्यवस्थित और एकत्रित हैं। सब दिव्यताओं से युक्त वह चरम दिव्यता है। निज शक्ति के आत्मोद्घाटन के साथ उसका आत्मचेतन व्यक्तित्व गौरवान्वित हो जाता है।

सिद्ध योगियों ने इस 'पर-पिण्ड' को 'अनादि पिण्ड' व आदि पिण्ड कहा है अर्थात् दिव्य व्यक्तित्व कारणरहित अजन्मा, एक, परमसत् तथा समस्त पिण्डों का आदि या चरम स्रोत है।

इस अनादि पिण्ड या अजन्मा सर्वसर्जक दिव्य व्यक्तित्व के पांच अन्य गौरवशाली आत्म प्रगटीकरण बतलाये गये हैं—परमानन्द, प्रबोध, चिद् उदय, प्रकाश और सोहम् भाव। 'परमानन्द' का अर्थ है कि उसकी प्रशान्त प्रकृति मे

ग्रानन्द का एक भावनात्मक ग्रान्दोलन उठा है। इसके लक्षण बताये गये है—स्पन्द, हर्ष, उत्साह ग्रौर इनके साथ ही निष्पन्द ग्रौर नित्य सुखत्वम्। इस प्रकार भावनात्मक ग्रानन्द की एक बड़ी लहर उसके सक्रिय रूप को, बिना ग्रान्तरिक शान्ति व ग्रात्मानन्द में हस्तक्षेप किये, संचालित करती है।

'प्रबोध' का ग्रर्थ है—मानो उसकी पारमार्थिक ग्रात्मचेतना में एक नवीन प्रापंचिक जागृति हुई हो, मानो वह प्रगाढ़ निद्रा, जो वस्तुतः उसकी समाधि दशा है, से ग्रभी-ग्रभी उठा हो। ग्रब उसकी ग्रात्म-प्रकाशित-चेतना का ग्रालोक उसके प्रापंचिक, ग्रात्माभिव्यक्ति के लिये प्रयत्नशील, गौरवपूर्ण ग्रंगों पर पड़कर उन्हें प्रकाशित कर देता है। इसकी व्याख्या निम्नलिखित गुणो से की गई है—उदय, उल्लास, ग्रवभास, विकास ग्रौर प्रभा।

'चिद् उदय' से गोरखनाथ का तात्पर्य है पारमार्थिक चेतना की ग्रात्मज्ञानी-सर्वज्ञानी, ग्रात्मप्रकाशी-सर्वप्रकाशी, ग्रात्मनियन्ता, सर्वनियता के रूप में ग्रात्माभिव्यक्ति। इस स्वरूप के गोरखनाथ निम्नलिखित लक्षण बताते है—सद्भाव, विचार, कर्तृत्व, ज्ञातृत्व एवं स्वतंत्रत्व।

'प्रकाश' का गोरखनाथ ग्रर्थ करते हैं कि दिव्य व्यक्तित्व के ग्रात्म-चेतन-स्वरूप में शक्ति की प्रेरणा से उत्पन्न ग्रनेक प्रकार के ग्रान्दोलनों के होते हुये भी वह ग्रान्तरिक रूप से उन ग्रान्दोलनों से ग्रप्रभावित एवं निर्लिप्त रहता है तथा उसकी पारमार्थिक चेतना सर्वदा प्रापचिक जगत् की समस्त सत्ताग्रों एवं ग्रभिव्यक्तियों के बीच दिव्य पारमार्थिक स्तर पर विराजती है। प्रकाश के वे निम्नलिखित लक्षण बताते हैं—निर्विकारत्व, निष्कलुत्व, निर्विकल्पत्व, समता ग्रौर विश्रान्ति। इस प्रकार एक ग्रोर जहां दिव्य व्यक्तित्व ग्रधिकाधिक सचेतन एवं विकसित हो रहा है, वही दूसरी ग्रोर उसकी चेतना का पारमार्थिक ग्रग ग्रविचलित एवं ग्रावरणरहित है।

ग्रंत में गोरखनाथ ग्रनादि-पिण्ड की ग्रात्मचेतना में 'सोऽहम्' भाव के उद्घाटन का वर्णन करते हैं। उसके वे निम्नांकित लक्षण बताते है—ग्रहता, ग्रखड ऐश्वर्य, स्वात्मता, विश्वानुभव-सामर्थ्य ग्रौर सर्वज्ञानत्व। ग्रहंता का ग्रर्थ है सर्वव्यापी भाव। सारा ब्रह्माण्ड विचार रूप से उसकी चेतना में उपस्थित रहता है ग्रौर वस्तु रूप से उसकी ग्रात्मा का एक ग्रतरंग भाग बन जाता है। उसका ग्रहं मानो सर्वत्र प्रसारित हो जाता है ग्रौर उसके स्वभाव में निहित ऐश्वर्य उसकी ग्रात्मचेतना में वस्तुरूप हो जाता है। इस प्रकार वह ग्रपने भीतर ग्रखंड ऐश्वर्य का ग्रनुभव करता है। ग्रपनी चेतना के समक्ष व्यक्त, ग्रात्माभिव्यक्ति रूप इस समय सृष्टि पर वह पूर्ण ईश्वरत्व ग्रनुभव करता है। 'स्वात्मता' का ग्रर्थ है कि वह ग्रपने समस्त ऐश्वर्य को ग्रात्म-निहित एवं ग्रपने से ग्रभिन्न ग्रनुभव करता है। 'वह स्वयं जगत् हैं'—यह भाव उसकी चेतना में स्पष्ट रहता है। उसका स्वात्मानुभव उसके ग्रखण्ड स्वतः प्रकाशयुक्त स्वभाव की मूलभूत ग्रद्वतता

मे विना कोई व्यवधान उपस्थित करते हुये विश्वानुभव, सम्पूर्ण दिक्काल-व्यवस्था की चेतना में विकसित प्रतीत होता है। इस प्रकार उसकी प्रापचिक आत्माभि-व्यक्ति से अभिन्न रूप से सम्बद्ध दिक् और काल, अनेकता और परिवर्तन, विभिन्नता और सापेक्षता उसकी आत्मचेतना के अन्तर्गत उदबुद्ध होते है। उसकी आत्मा उनमे और उनसे परे रहती है और इस प्रकार वह एक और अनेक, अपरिवर्तनीय और परिवर्तनशील, पारमार्थिक और व्यावहारिक का खेल विना किसी अव्यवस्था के खेलती रहती है। अपने निजी आत्मज्ञान में शिव सर्वज्ञ हो जाते है। वे सबको अपने मे और स्वय को सबमें जानते है। महायोगी गोरखनाथ इस रूप में परमात्मा (आत्मनिहित शक्ति वाला) के आदर्श ब्रह्माण्ड शरीर, जिसे वे 'आयपिण्ड' के गौरवशाली नाम से निरूपित करते है, के साथ विश्वात्मा के रूप में आत्मप्रकटीकरण का वर्णन करते है (सि० सि० प० १/२५-३०)

इस प्रकार यह माना गया है कि परमात्मा के स्वरूप में दिव्यशक्ति की प्रापचिक आत्माभिव्यक्ति, आत्मरति की आन्तरिक प्रेरणा के कारण किसी प्रकार की जागृति, सक्रियता एव विकास (जिसे वेदों मे 'तपस्' कहा गया है, यथा-ऋते च सत्य चाभिधात् तपसो व्यजायत्) होता है। वह स्वय को अनन्त आभा, ऐश्वर्य एवं वैभवयुक्त सर्वशक्तिमान दिव्य व्यक्तित्व के रूप में प्रकट करता है। शिव के आदर्श ब्रह्माण्ड की जागृत आत्म-चेतना का अर्थ है—ब्रह्माण्ड की समस्त महिमाओ के स्वामित्व का मान।

सिद्ध-योगी सम्प्रदाय की 'आयपिण्ड' की यह धारणा वेदो की 'हिरण्यगर्भ' की धारणा के अनुरूप दिखाई देती है। वेदों मे यह घोषणा की गई है—'हिरण्य-गर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' अर्थात् दिव्य व्यक्तित्व समस्त ब्रह्माण्ड व्यवस्था के साथ अपने सूक्ष्म रूप में उसके गर्भ में निहित है। स्वयं को अभिव्यक्त कर वह समस्त अस्तित्वो का स्वामी बन गया है, जो शनैः शनैः उसके स्वरूप मे से काल-दिक्-व्यवस्था के रूप मे विकसित होंगे। यह भी कहा गया है 'स शरीरी प्रथम', स वै पुरुष उच्यते'—उसे प्रथम शरीरधारी और दिव्य पुरुष कहा गया है। उसे वेदान्त-दर्शन में 'सगुण ब्रह्म' और बहुधा 'कार्य ब्रह्म' कहा गया है।

बहुत से दार्शनिक सिद्धान्त, जो परम सत्ता को एक, अभिन्न, निर्गुण, अपरिचर्तनीय, निराकार और पारमार्थिक आत्मा मानते है, तार्किक एव आध्यात्मिक आवश्यकता के कारण एक पूर्ण आत्म-चेतन, पूर्ण आत्मप्रकाश, भव्य एव गौरवशाली गुणों से सम्पन्न, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् दिव्य व्यक्तित्व का धारणा बनाने के लिये विवश प्रतीत होते है। यह धारणा परब्रह्म के काल-दिक्-सापेक्षिकता से परे, पारमार्थिक रूप तथा उसको दिक्कालबद्ध, मापेक्षिक, परि-वर्तनशील, प्रापंचिक आत्माभिव्यक्ति के बीच एक कड़ी और मिलन-भूमि का काम करती है। एक और अनेक, असीम और ससीम, अपरिवर्तनीय और परि-वर्तनशील के मध्य, शाश्वत और कालाश्रित के बीच एक आत्म-चेतन-व्यक्तित्व

होना चाहिये, जो एक है और साथ ही अपने भीतर अनेक को एकत्रित व व्यवस्थित करता है, जो अपने अनन्त और अपरिवर्तनीय स्वरूप के सम्बन्ध में तथा अपनी अनन्त प्रकार की सीमित एव व्यावहारिक स्तर की सभावनाओ के विषय में जागरूक है, जो अपने को प्रापचिक अस्तित्वों के समस्त रूपों और स्तरों में व्यक्त अनुभव करता है और साथ ही सबको प्रभु व आत्मा तथा एक पूर्ण निर्लिप्त पारमार्थिक साक्षी-चेतन के रूप में अपने को पाता है। दिव्य व्यक्तित्व आन्तरिक रूप मे पारमार्थिक स्तर पर और बाह्य रूप में प्रापचिक स्तर पर रहता है तथा उसकी आत्म-चेतना में दोनों का आश्चर्यजनक समायोजन है। योगियो ने इस दिव्य पुरुष को महायोगेश्वर योगियो का परम आदर्श कहा है। वह आदिनाथ, आदिगुरु, आदिसिद्ध है। इस तत्वज्ञानालोकित पूर्ण महायोगी के आध्यात्म-ज्ञान में पारमार्थिक एव व्यावहारिक दोनों स्तरों का पूर्ण व शाश्वत सामंजस्य है। वह स्वय को जगत् के समस्त अस्तित्वों उनकी सीमाओ व उनसे परे अनुभव करता है। पूर्ण शुद्ध आनन्दमय चेतना के रूप मे जगत् से परे और साथ ही जगत् के नाना नामरूपात्मक अस्तित्वो मे स्वय को अभिव्यक्त कर आनन्द भोगता है। सिद्ध योगी सम्प्रदाय का यह 'आद्यपिण्ड' या ब्रह्माण्ड पुरुष है।

ब्रह्माण्ड की रचना-प्रक्रिया सिद्ध योगी सम्प्रदाय के अनुसार पारमार्थिक चेतना की अधिकाधिक प्रकट और स्पष्ट सक्रिय शक्ति की आत्माभिव्यक्ति है। एक ओर इसे परमात्मा के शाश्वत, अनन्त, पूर्ण निराकार, स्वत. प्रकाश, पारमार्थिक स्वरूप के शनैः शनै. आत्म-आवरण, आत्म-बन्धन, आत्म-सीमितीकरण और आत्म-भौतिकीकरण के रूप में देखा जा सकता है और दूसरी ओर उसके पारमार्थिक स्वरूप मे शाश्वत रूप से निहित और उससे अभिन्न उसकी अनुपम शक्ति के प्रापचिक आत्मोद्घाटन के माध्यम से उसके आत्मविकास, आत्म-विभाजन, आत्मविस्तार एव आत्मरमण के रूप में। इसकी कल्पना—विभिन्न प्रकार की वर्णमयी छायाये, जो एक ओर इसे बाधित करती है और दूसरी ओर इसके विभिन्न रगों को प्रकट करती है—उत्पन्न करनेवाले अखण्ड प्रकाश के रूप में अथवा अपने वक्ष पर बडी और छोटी तरगे, जो एक ओर इसकी प्रशान्तता को भंग करती है और दूसरी ओर इसे भव्यता प्रदान करती है, उठानेवाले अनन्त समुद्र के रूप मे की जा सकती है। अनन्त, अभिन्न और स्वत-पूर्ण-ज्ञान, जिसमें प्रक्रिया और ज्ञाता-ज्ञेय-भेद का अभाव है, स्वयं का अनुभव विचार करनेवाले अनेक ज्ञाताओं तथा नाना रूप एवं चरित्रो के ज्ञेय पदार्थो के पारस्परिक सम्बन्धों में व्यावहारिक स्तर पर व्यक्त कर, समस्त प्रकार की व्यावहारिक सभावनाओं में पूर्ण सत्य रूप से प्रकट है, जो पारमार्थिक स्तर पर अखण्ड है। अनन्त निराकार भिन्न-भिन्न प्रकार के साकार आनन्द-भोक्ता एव आनन्ददायक पदार्थों मे अपने को अनुभव करता है। वह आदि-अंत-रहित पारमार्थिक स्वरूप को काल-दिक्-युक्त प्रापचिक स्तर पर प्रकट कर विलास करता प्रतीत हो रहा है। शिव की जगत् रूप में आत्माभिव्यक्ति का यह मूल कारण है।

दिव्य सत्, दिव्य ज्ञान, दिव्य शक्ति, दिव्य आनन्द, दिव्य सौन्दर्य, दिव्य प्रेम तथा दिव्य शालीनता—निराकार दिव्य के पारमार्थिक स्वरूप में पूर्णरूपेण निहित है और वे प्रापंचिक स्तर पर अनेक रूपों में अभिव्यक्त हैं, जो जगत्-व्यवस्था में विभिन्न परिस्थितियो व सीमाओं से शासित है। यह दिव्य आत्मा उन सबका स्वामी, साक्षी, ज्ञानदाता एवं आदर्श है। वह स्वयं अनेक प्रकार के प्रापंचिक गौरवशाली रूप धारण कर आनन्द भोगता है। शिव, जो पारमार्थिक रूप में एक, भेद-रहित, निर्विकार, स्वतः प्रकाश—सत्ता है, प्रापंचिक आत्मा-भिव्यक्ति में सर्वशक्तिशाली सर्वज्ञ विराट् वैभवयुक्त, पूर्ण सगुण ईश्वर है। दिव्य शक्ति उनका अभिव्यक्त शरीर बन जाती है और जितनी अधिक शक्ति विभाजित की जाती है, उतना ही अधिक यह दिव्य शरीर प्रकट होता है। एक सर्व-प्रकाशक जगदात्मा के रूप में शिव समस्त ब्रह्माण्ड में समाये हुये हैं और आत्मानन्द का भोग करते है।

दसवाँ अध्याय

शिव के ब्रह्माण्ड शरीर का विकास

आदर्शमूलक, अति-भौतिक स्तर पर 'आदि-पिण्ड' के स्वरूप का भव्य वर्णन प्रस्तुत करने के पश्चात् महायोगी गोरखनाथ इस 'आदिपिण्ड' के स्वरूप से भौतिक जगत-व्यवस्था के विकास का वर्णन प्रस्तुत करते है। आदिपिण्ड के रूप मे ब्रह्माण्ड-पुरुष शिव, अपनी शक्ति के और अधिक उद्घाटन के माध्यम से स्वयं मे से दिक्काल-युक्त एक भौतिक ब्रह्माण्ड शरीर को विकसित करते है और उसे अपनी सर्व-समायोजक, सर्वयोगी आत्म-चेतना का अभिन्न अग बना लेते है। ब्रह्माण्ड जो आदिपिण्ड के रूप में सूक्ष्म या विचाररूपेण सत् था, शिव के ब्रह्माण्ड शरीर के रूप में वस्तुगत व भौतिक रूप में सत् हो जाता है। इस देह को गोरखनाथ 'महा-साकार-पिण्ड' की सज्ञा से विभूषित करते है। शिव स्वय को इस 'महा-साकार-पिण्ड', इस भव्य कालदिकाश्रित जगत-व्यवस्था, इस आश्चर्य मे डाल देनेवाली क्लिष्टताओं और भीषण परिवर्तनों से पूर्ण भौतिक सृष्टि के रूप मे प्रकट कर आत्मानन्द भोगते हैं। यह शिव की महाशक्ति की आत्मा-भिव्यक्ति का एक रूप है। शिव अपनी अनन्त, शाश्वत महाशक्ति सहित, इस भौतिक जगत-व्यवस्था की समस्त विभिन्नताओं में निहित है, इस समस्त प्रपंच को सयोजित और अनुशासित करते है और इस कालदिकाश्रित भौतिक रचना की विभिन्न प्रकार की सीमाओं और क्लिष्टताओ में और इनके माध्यम से अपने पारमार्थिक स्वरूप की भव्यताओं को व्यक्त करते हैं और उनका आनन्द भोगते हैं।

एक तत्वज्ञानालोकित योगी इस भौतिक ब्रह्माण्ड के समस्त वैविध्यपूण क्रिया-कलापों में 'महा शक्ति-विलासी शिव' की आनन्दमय आत्माभिव्यक्ति देखता है। वह इस जगत को, जो चर्म-चक्षुओं से देखा जा सकता है और जो विशिष्ट रूपो मे दिव्य स्वरूप की सुन्दरता, उदात्तता और गरिमा की प्रशसा और भोग के लिये एव एक निष्काम क्रीड़क भाव से परमात्मा के जगत् की दिव्य लीला मे सत्कर्मो के सपादन द्वारा सक्रिय भाग लेने के लिये अवसर प्रदान करता है, दिव्य शरीर के रूप में देखता है और उससे प्रेम करता है। योगी अनुभव करता है कि वह इस दिव्य शरीर मे जीवित रहता है, विचरण करता है और अपना अस्तित्व रखता है, कि वह उससे कभी पृथक नही होता है, कि वह जागृत, स्वप्न या सुषुप्ति—किसी भी अवस्था में परमेश्वर से प्रत्यक्ष सम्पर्क कभी नही खोता है। समस्त दृश्यमान जगत की व्यवस्था में, समस्त सुखद व दुखद परिस्थि-तियाँ योगी को पवित्र प्रतीत होती हैं, क्योंकि वे दिव्य शरीर में निहित तथा

शिव-शक्ति की आत्म-अभिव्यक्तियों की क्रीड़ा के भाग हैं। भौतिक सृष्टि की शिव के ब्रह्माण्ड शरीर या 'महा साकार पिण्ड' के रूप मे धारणा, सिद्ध योगियों के दर्शन का सबसे भव्य विचार है।

गोरखनाथ इस 'महा साकार पिण्ड' का विकास इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

आद्यान्महाकाशो महाकाशान्महावायुः महावायोर्महातेजो।
महातेजसो महासलिलम्, महा सलिलात् महापृथिवी॥
(सि० सि० प० १/३१)

आद्य-पिण्ड से महा आकाश, महा आकाश से महा वायु, महावायु से महातेजस्, महातेजस् से महासलिल, महासलिल से महापृथ्वी विकसित होती है।

यह पहले दिखाया जा चुका है कि आद्य पिण्ड या प्रथम ब्रह्माण्ड व्यक्तित्व के रूप में सूक्ष्म अथवा आदर्शात्मक स्वरूप में शिव को पूर्ण आत्म-चेतन स्वरूप में प्रकट रहती है। अब उसकी शक्ति की आत्माभिव्यक्ति की अगली प्रक्रिया से यह ब्रह्माण्ड-व्यवस्था अधिकाधिक स्थूल भौतिक रूपों में प्रकट होती है और आद्य पिण्ड को एक महान् भौतिक आकार-दिक् में अनन्त और काल में अनादि-प्रदान करती है। भारतीय दर्शन के समस्त मुख्य मतों के अनुरूप गोरखनाथ व सिद्ध-योगी इस भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना पच-महाभूतों से मानते हैं, जिन्हें महातत्व भी कहा जाता है। वे हैं आकाश, वायु, तेजस्, सलिल और पृथ्वी। समस्त सूर्य-चन्द्र-तारागण व नक्षत्र-ग्रहों सहित समस्त प्रकार की भौतिक वस्तुओं, सभी जातियो के समस्त प्रकार के जीवित और चेतन प्राणियों सहित यह भौतिक ब्रह्माण्ड, इन पच महाभूतों की आश्चर्यजनक रचना और संगठन है।

इन महाभूतों में आकाश सबसे सूक्ष्म है और शिव के सक्रिय मानसिक आध्यात्मिक ब्रह्माण्ड शरीर आद्य पिण्ड से सीधा विकसित हुआ है। इससे अधिक स्थूल व क्लिष्ट रूपधारी तेजस् वायु से विकसित माना गया है। तेजस् से अधिक स्थूल व क्लिष्ट रूप वाला सलिल तेजस् से विकसित होता है। पृथ्वी सर्वाधिक स्थूल और क्लिष्ट है, अतः उन सब तत्वों में सबसे अधिक भौतिक है और यह सलिल से विकसित हुई मानी गई है। आकाश वायु मे व्यापक है, वायु आकाश सहित तेजस् में व्याप्त है, तेजस् वायु-आकाशयुक्त सलिल मे व्याप्त है और आकाश, वायु और तेजस् के साथ सलिल पृथ्वी में व्याप्त है। आद्य पिण्ड आन्तरिक रूप से उन सबमें व्याप्त है, वह उनको जीवितसमन्वित व सयोजित रखता है तथा वही इन सब भूतों से निर्जीव भौतिक पदार्थ व सजीव भौतिक शरीरों से युक्त स्थूल पार्थिव जगत का निर्माण करता है। यह भौतिक जगत् 'पंच भौतिक जगत्' या केवल 'पार्थिव जगत्' कहा जाता है। महायोगियों द्वारा इसकी धारणा शिव-शक्ति के महा साकार पिण्ड के रूप में की गयी है।

अपनी सामान्य पद्धति में गोरखनाथ इन पंच महाभूतों या पंच भौतिक

महान्त्वो मे से प्रत्येक को पांच गुणो से युक्त वतलाते है :

अवकाशऽछिद्रमस्पृशत्व नीलवर्णत्वं ।
शब्दत्वमिति पंचगुणा आकाशः ।।

(सि० सि० प० १/३२)

अवकाश का अर्थ है रिक्तता या व्याप्यता । यद्यपि यह समस्त दिक् में व्याप्त है, इसमे विना किसी अवरोध के समस्त भौतिक सत्ताओं के विकास, अस्तित्व व मुक्त विचरण के लिये स्थान है । यह अवरोधहीन सत्ता है । जब अन्य सब भौतिक सत्ताये दिक् के किसी भाग मे विलीन हो जाती है, आकाश वहा उपस्थित रहता है । जब अन्य दृश्यमान व भौतिक वस्तुये दिक् का कोई भाग घेर लेती हैं, तब भी आकाश वहां उपस्थित रहता है । दूसरा गुण या लक्षण है अछिद्र, जिसका अर्थ है अखण्ड क्रमता या खंड विहीनता । यह विशिष्ट या भिन्न भागों में विभाज्य नही है, इसके खण्ड नहीं किये जा सकते । यह सर्वव्यापी है । कोई भी सामग्री इसके अन्तर्गत विकसित हो; दिव्य शक्ति स्वय को इसके हृदय मे किसी भी अन्य भौतिक रूप मे प्रकट या अभिव्यक्त करे, यह सबमें समाया रहता है और इसकी अखण्डता अक्षुण है । तीसरा गुण अस्पृशत्व है, जिसका अर्थ है अछूतापन । इसमें कोई स्पृश्यतत्व नही है । यद्यपि यह अन्य समस्त भौतिक सत्ताओं को, जो इससे व इसमे विकसित होती है—धारण किये हुये है, तथापि उनसे यह अछूता रहता है । उनमें जो परिवर्तन होते है, उनसे यह अप्रभावित रहता है । यद्यपि यह समस्त वस्तुओ—ठोस, द्रव्य और गैस-युक्त मे तथा ताप, प्रकाश, विद्युत्त तथा आकर्षण-शक्ति इत्यादि–मे समाया हुआ है, तथापि यह उनकी पृष्ठभूमि मे और उनसे अप्रभावित रहता है । चौथा गुण नील-वर्णत्व है, जिसका अर्थ है नीले रग का होना । हम प्राय: नील के आकाश के विषय में वात करते है । किन्तु वस्तुत. इसका अर्थ वर्ण-विहीनता है । आकाश का वास्तव मे कोई इन्द्रिय-प्रत्यक्ष गुण नही है । वर्ण प्रकाश की विशिष्ट प्रतीतियां हैं और प्रकाश आकाश से विकसित होता है तथा वह आकाश को किसी एक वर्ण विशेप मे नहीं दिखा सकता । आकाश सर्वाधार रहते हुये भी दृष्टि-पटल की सामग्री नही बनता ।

आकाश का पांचवा गुण शब्दत्व (ध्वनि का गुण) कहा गया है । भारत के समस्त दार्शनिक मतों मे शब्द को आकाश का मूल गुण माना गया है । वास्तव मे इसका अर्थ किसी विशेष प्रकार की ध्वनि से नही है, किन्तु समस्त ध्वनियों की सभावना से है । इसका तात्पर्य यह नही कि आकाश सुना जा सकता है या इसमे किसी प्रकार का श्रव्यत्व गुण है । भारतीय मत सामान्य रूप से और योग-शास्त्र विशेष रूप से ध्वनि-विकास की चार अवस्थाये बताते है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी । इन सब मे वैखरी, ध्वनि का स्थूलतम रूप है और यही श्रवणेन्द्रिय को उपलब्ध होती है । मध्यमा, पश्यन्ती और पराध्वनि के क्रमशः सूक्ष्मतर रूप है । ध्वनि के सूक्ष्म रूप हमारी श्रवणेन्द्रिय को सुनाई नही पड़ते जब

तक वे किन्हीं विशेष भौतिक प्रक्रियाओ द्वारा स्थूल रूपों में अभिव्यक्त न किये जायँ। ध्वनि सूक्ष्मतम रूप मे, एक अनुत्पन्न, अखण्ड, निरन्तर समस्त विशिष्ट ध्वनियों के उद्गम 'महानाद' के रूप मे आकाश के मौलिक स्वरूप में निहित है तथा इसमें अन्य स्थूलतर तत्वों की सापेक्षता में ध्वनि के स्थूलतर रूपों मे प्रकट होने या उन्हे उत्पन्न करने की योग्यता उपस्थित है। इस विषय पर विचार करने के अवसर अन्य प्रसंगो में आयेगे।

अनन्त अवकाश वाला, स्थूल मौलिक उपादानों व अन्य इन्द्रियगत गुणों तथा किसी प्रकार की गति या तरगो से रहित, पूर्णरूपेण शान्त और स्थिर शुद्ध महाकाश को शिव-शक्ति का 'व्योमपिण्ड' कहा जा सकता है। काल-दिकाश्रित ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में शिव-शक्ति की यह प्रथम आत्म-अभिव्यक्ति है। इस शरीर से महा वायु विकसित होता है, जो इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में शिव-शक्ति की भौतिक आत्माभिव्यक्ति के दूसरे स्तर का प्रतिनिधित्व करता है। महा-वायु के भी पांच गुण वर्णित किये गये है :

संचारः संचालनम् स्पर्शनम् शोषणम्
धूम्र वर्णत्वम् इति पंचगुणों महा-वायु"
(सि० सि० प० १।३३)

वायु का प्रथम गुण संचार या गति है। इसका तात्पर्य दिक् के एक भाग से दूसरे भाग की ओर संचरण करने से ही नही, वरन् समस्त प्रकार के आन्दोलनों, प्रकम्पनों तथा तरंगों से है। महाकाश के पूर्ण शांत और स्थिर वक्षस्थल पर जब संचार लक्षित होता है तब वह एक नवीन विकास, एक नवीन भौतिकतत्व, जिसे महावायु कहा गया है, के जन्म की सूचना देता है। इसमें न केवल सचार का गुण है, वरन् सचालन का भी गुण है। इसमें निष्क्रिय प्रतीत होनेवाले पिण्डो को गतिमान करने का गुण विद्यमान है। योगसूत्र एवं अन्य भारतीय मत समस्त गतियों, समस्त तरंगों और आन्दोलनों, समस्त भौतिक रासायनिक वैद्युत और जैविक परिवर्तनों, तत्वों के समस्त संगठनों व विघटनों—जिनका हम प्रकृति में अनुभव करते हैं—को इस महाभूत 'महावायु' जो महाकाश से तथा महाकाश के अन्तर्गत विकसित होता है, की क्रियाशीलता से उत्पन्न बताकर इनका निरूपण करते हैं।

यह नितान्त स्पष्ट है कि महान् भारतीय विचारक 'वायु' शब्द का प्रयोग इस प्रसंग में साधारण हवा के अर्थ में नही करते हैं। भारतीय शब्दावली में हवा एक पांच भौतिक पदार्थ मानी गई है तथा इसके पंचीकरण में महाभूत वायु का निस्सन्देह रूप में महत्वपूर्ण योग रहता है।

तीसरा गुण स्पर्श कहा गया है, जिसका तात्पर्य है कि यह स्पर्शेन्द्रिय-ग्राह्य है अथवा यह स्पर्शेन्द्रिय को उत्तेजित करती है। महावायु के स्पर्श गुण का यह अर्थ नहीं कि यह हमारी स्थूल स्पर्शेन्द्रिय द्वारा छूने योग्य है। हमारी विशेष

इन्द्रियां स्थूल भौतिक पदार्थो के विशिष्ट गुणो का ही बोध प्राप्त कर सकती है जो पंच महाभूतो के सगठन या समायोजन की विशिष्ट अभिव्यक्तिया है। उनमें से किसी भी मौलिक तत्व का उन्हे प्रत्यक्ष बोध प्राप्त नही होता है। किन्तु इनमें से प्रत्येक मौलिक तत्व का विशेष सम्बन्ध, विशेष प्रारभिक इन्द्रियो से होता है। वायु का स्पर्श-इन्द्रिय से विशेष सम्बन्ध है और हमारी स्पर्श सवेदनाये समायोजित पिण्डो में वायु की विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ मानी जाती है। अनेक मतों के अनुसार मुख्यत. वे जो चरम भौतिक तत्वों को प्रारम्भिक ऐन्द्रिक अनुभव के रूप मे मानते हैं, वायु का प्रमुख गुण स्पर्श है या स्पर्शत्व वायु का प्रमुख लक्षण है।

वायु का चौथा गुण शोषण है, जिसका अर्थ है अन्य स्थूल तत्वों के जो इससे विकसित हुये है यथा अग्नि, सलिल और पृथ्वी—छोटे-छोटे कणों का इसमें समा जाना। इस प्रकार यह अग्नि की उष्णता को, जल की शीतलता को और पृथ्वी की गन्धता को बिना नष्ट किये अपने मे समा लेता या सोख लेता है और इस प्रकार यह उन गुणों से युक्त हो जाता है। अन्यथा वायु अपने में न उष्णता न शीतलता और न ही कोई गन्ध रखता है। पांचवां गुण धूम्र-वर्णत्व कहा गया है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है धुये के रग से युक्त होना। ध्यान रखना चाहिये कि आकाश की भाति वायु भी दृष्टि-प्रत्यक्ष सामग्री नही है। इसका कोई प्रतीत होने वाला रग नही है। किन्तु संभवतः किसी विशेष अर्थ में महायोगी गोरखनाथ ने नील वर्णत्व और धूम्रवर्णत्व को क्रमशः आकाश व वायु का गुण कहा है। संभवतः उनके मस्तिष्क में यह विचार होगा कि किसी भी साकार वस्तु अर्थात् जिस किसी का भी भौतिक आधार है, उसमें किसी न किसी प्रकार का वर्ण होना चाहिये, चाहे वह हमारे स्थूल नेत्रों को दिखाई दे या अदृश्य रहे। क्योंकि आकाश और वायु महासाकार पिण्ड (वस्तुगत भौतिक जगत) के प्रथम दो मौलिक अग है, अतएव उनका कुछ न कुछ रूप और रग होना चाहिये। यद्यपि वे ऐसे स्थूल भौतिक रूपों मे अभी तक व्यक्त न हों, जोकि स्थूल चर्म चक्षुओं की सामग्री बन सके। स्थूल दृश्यमान रंग, इन सूक्ष्म रंगों से विकसित हुये माने जाते है। शाब्दिक अभिव्यञ्जना की अपूर्णताओं के कारण इन अदृश्य रगों को स्थूल दृश्यमान रगों में व्यक्त करना पडता है। यह स्मरण रखने की बात है कि ये दो सूक्ष्म भौतिक तत्व 'आकाश' और 'वायु' दिव्य शक्ति के भौतिक रूपों मे आत्मोद्-घाटन के प्रथम दो स्तरों का प्रतिनिधित्व करते है जहां पर प्रकाश, उष्णता व ध्वनि जिनका हम सामान्यतया अनुभव करते है, सूर्य, तारागण, ग्रह-नक्षत्र तथा नाना प्रकार की भौतिक वस्तुये और भौतिक पिण्ड अभी विकसित नही हुये है।

समस्त अवकाश मे व्याप्त, सब प्रकार की विशिष्ट सामग्रियो, गतियों व आन्दोलनों से रहित महाकाश को 'शिव का व्योमी ब्रह्माण्ड शरीर' कहा गया है। योगी प्रायः अपना ध्यान शिव-शक्ति के इस 'महाकाशरूप' अनन्त व स्थिर व्यक्तित्व पर केन्द्रित करते है। वे अपने अह को इसमें लीन कर देते है। जब गति या संचार विकसित होता है: तब वेग या बल व्यक्त होता है और परिवर्तन

स्वरूप इस व्योमी ब्रह्माण्ड शरीर मे शिव-शक्ति महावायु रूप में प्रकट होते हैं। 'महावायु' (निस्सन्देह शिव-शक्ति को आत्मस्थ किये हुये) प्रकृति के समस्त वेगों या बलों का स्रोत माना गया है। हमारे शरीर की सजीवनी सक्रिय शक्ति या प्राणवायु भी इस महावायु की अभिव्यक्ति मानी गई है। ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे 'वायु' प्रमुख सक्रिय तत्व है। 'वायु' प्राण बल युक्त प्रतीत होता है, जो अन्य समस्त तत्वो को बल प्रदान करता है।

शिव-शक्ति के विराट्-शरीर में महावायु से महा-तेजस् विकसित होता है। महा तेजस् को भी पाच मौलिक गुणों से युक्त, वर्णित किया गया है, जो इस प्रकार है—दाहकत्व पाचकत्व, उष्णत्व, प्रकाशत्व, और रक्तवर्णत्व। दाहकत्व का अर्थ है जलाने या भस्म करने का गुण। इसका कार्य स्थूल भौतिक शरीरो के अगो के सगठन को नष्ट करना और उनको सूक्ष्म अन्तर्निहित तत्वों में परिवर्तित करना है। पाचकत्व का अर्थ है एकीकरण का गुण या भौतिक वस्तुओं के रूपान्तर का गुण, जिससे उनमे नवीन लक्षण या विशेषताये उत्पन्न हो जाये। जीवित शरीरो मे यह तेजस् का प्रभाव है कि वे अपना भोजन पचा सकते है व भौतिक पदार्थो को जैविक कीटाणुओं और प्राण वायु में परिवर्तित कर देते है। जीवित पौधों मे यह अग्नि या तेजस् है जो पत्तों, फूलों व फलों मे रंग और स्वाद इत्यादि परिवर्तन लाता है। मिट्टी के पात्रों मे तेजस् का प्रयोग उनके रग परिवर्तित कर देता है। ये समस्त तथ्य अग्नि के पाचकत्व के उदाहरण स्वरूप दिये गये है। उष्णत्व का अर्थ है ताप और प्रकाशत्व का अर्थ है आलोक। तेजस् के ये दो मौलिक गुण है, ठीक वैसे ही जैसे संचार व संचालन वायु के दो मौलिक गुण है, जिससे तेजस् विकसित हुआ हैं।

महाकाश तथा महावायु की भांति महातेजस् भी सर्वव्यापी है। महातेजस् की विशिष्ट अभिव्यक्तियां हैं—सूर्य, तारागण, प्रचण्ड अग्नियाँ तथा विद्युत के स्फुल्लिग इत्यादि। उनकी विभिन्न गतियाँ; महावायु की अभिव्यक्तियाँ हैं। ताप, प्रकाश, जलाना, रूपान्तर करना इत्यादि जो महातेजस् की अभिव्यक्तियाँ हैं, वे सब सचार या कम्पन से विकसित हुई है, जो महावायु के विशेष गुण हैं। ये सब महाकाश के वक्ष मे विराजते है। ध्वनि भी, जो अपने सूक्ष्मतम स्वरूप, प्रशान्त महानाद के रूप मे महाकाश का गुण है, महावायु व महातेजस् के सचालन से स्थूल से स्थूलतर रूपो में अभिव्यक्त होती है। आगे महातेजस् को रक्तवर्ण वाला कहा गया है। निस्सन्देह हमारे सामान्य इन्द्रियानुभव के आधार पर इसको समझने के लिये शाब्दिक अर्थ नहीं लगाना चाहिये। महातेजस् अपने आप में कोई दृश्यमान रंग नही रखता। सब रग इससे विकसित होते हैं और दृगिन्द्रिय (नेत्र) भी इससे विकसित होती है। किन्तु भारतीय दार्शनिक मतों में अदृश्य सत्ताओं को भी विशिष्ट वर्णो वाली कहा गया है। इस प्रकार सांख्य दर्शन सत्व, रजस् व तमस् को क्रमशः श्वेत, रक्त व श्याम वर्ण वाला बताता है। श्रुति कहती है कि लाल रंग या रक्त वर्ण तेजस् में निहित है, श्वेत रग अपस् या सलिल

या जल मे और श्यामवर्ण या काला रग पृथ्वी या अन्न में निहित है। सामान्यतः हमारे साधारण इन्द्रियानुभव के पाच मौलिक वर्ण इन पच महाभूतो में सूक्ष्म रूप में निहित माने गये है, जिनसे उनका स्थूल रूप विकसित होता है। सर्वव्यापी महातेजस् शिव-शक्ति का 'ज्योतिमय' या तेजोमय (आग्नेय शरीर) रूप है और इसी रूप मे योगियों द्वारा इसका ध्यान किया जाता है।

शिव के ब्रह्माण्ड शरीर मे महातेजस् से महासलिल विकसित होता है। महासलिल के पांच गुण है—प्रवाह, आप्यायन, द्रव, रस और श्वेत वर्णत्व। प्रवाह का अर्थ है धारा या निरन्तर बहाव। आप्यायन का अर्थ है आरोपण गुण। द्रव का अर्थ तरलता है। रस का अर्थ आस्वाद्यता है और श्वेत-वर्णत्व का अर्थ है सफेद रग का होना। शिव-शक्ति के भौतिक आकार (ब्रह्माण्ड) की विकास-प्रक्रिया में विभिन्न प्रकार के ससीम व्यष्टि पिण्डों के विकास के योग्य होने के लिये महातेजस् आंशिक रूप से कोमल गुणो से युक्त होकर महासलिल के रूप में शीतल हो जाता है। महासलिल को हमारे सामान्य अनुभव के स्थूल जल के रूप मे नही समझना चाहिये। महासलिल शिव-शक्ति का शीतल सुखद द्रवरूप (तरल शरीर) है।

शिव-शक्ति की आत्माभिव्यक्ति इस ब्रह्माण्ड रचना की प्रक्रिया के अन्तिम स्तर पर महापृथ्वी महासलिल से विकसित होती है। महापृथ्वी के पाच गुण है—स्थूलता, नानाकारता, काठिन्य, गन्ध और पीतवर्णत्व। स्थूलता का अर्थ है भारीपन। शिव-शक्ति की भौतिक आत्माभिव्यक्ति के रूपो मे यह सर्वाधिक स्थूल रूप है। अन्य चार रूप इसकी अपेक्षा सूक्ष्मतर है। नानाकारता का अर्थ है अनेक प्रकार के आकार व रूप धारण करने की योग्यता। काठिन्य का अर्थ है ठोसपन। गन्ध का अर्थ है घ्राणेन्द्रिय का विषय बनने की योग्यता। पीतवर्णत्व का अर्थ है पीला रग। ये इस भौतिक ब्रह्माण्ड (शिव-शक्ति का महासाकार पिण्ड) के पच महाभूतों में सबसे अधिक स्थूल तत्व के विशिष्ट लक्षण बताये गये है। यह शिव-शक्ति की स्थूल मूर्ति है।

क्योकि ये सब महाभूत, जिन्हें महातत्व भी कहा जाता है, शिव-शक्ति के अतिभौतिक आद्य पिण्ड के सक्रिय स्वरूप मे से विकसित होते और शिव-शक्ति के भौतिक ब्रह्माण्ड शरीर को प्रकट करने के लिये अग रूप में सगठित रहते है, अतएव प्रत्येक के गुण एक दूसरे मे अनेक प्रकार से प्रवेश कर इस प्रापचिक भौतिक ब्रह्माण्ड को एक अद्भुत, क्लिष्ट और साथ ही आश्चर्यजनक सयोजित व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत कर देते है। गुरु गोरखनाथ इस 'महासाकार-पिण्ड' को पूर्व वर्णित पच महाभूतों के २५ गुणों से युक्त बतलाते है। शिव अपनी विशिष्ट शक्ति युक्त इस 'महासाकार-पिण्ड' में इस प्रापचिक ब्रह्माण्ड व्यवस्था सहित स्थूल, ऐन्द्रिक, भौतिक स्तर पर उतर आते है और स्वय को नाना नाम-रूपात्मक दिक्काल युक्त व्यवस्था मे प्रकट कर आनन्दपूर्वक विविध क्रीडाये करते हुये इसके सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक सक्रिय ईश्वर बन जाते हैं। शिव-शक्ति इस

सम्पूर्ण जगत में सर्वत्र, प्रत्येक भाग में अन्तर्निहित हैं।

आकाश, वायु, तेजस्, सलिल और पृथ्वी की धारणा के विषय में भारतीय दार्शनिक विचार-परम्परा के समस्त मतो में एक सामान्य समानता है। वे इस ब्रह्माण्ड को पंच महाभौतिक सृष्टि कहते है। इस धारणा मे आस्था का मूल कारण भी समान है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि काल-दिकाश्रित वस्तुगत भौतिक जगत् के अस्तित्व का एक मात्र प्रमाण हमारा इन्द्रियानुभव ही है, वही इस जगत् के स्वरूप ज्ञान का मूल स्रोत है। हमारी पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं: श्रवणेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, दर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय एव घ्राणेन्द्रिय। भौतिक शरीर मे इन इन्द्रियों के माध्यम के रूप में, विशिष्ट अग होते है जिनके द्वारा वे बाह्य जगत् के विशेष पदार्थो के सम्पर्क में आती व कार्य करती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन विशिष्ट इन्द्रियों के क्रमश: विशिष्ट विषय हैं। हमारी रचना कुछ इस प्रकार हुई है कि हम अपने सामान्य जीवन मे स्वाभाविक रूप से इस जगत् को इन ऐन्द्रिक गुणों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के रूप में देखते व समझते है। इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकालते है कि बाह्य भौतिक जगत् आवश्यक रूप से पांच-भौतिक तत्वों से निर्मित होना चाहिये, जिनकी ये पांच प्रारंभिक विशेषतायें या गुण हैं। इस प्रकार आकाश का आवश्यक गुण शब्द, वायु का स्पर्श, तेजस् का रूप, सलिल का रस और पृथ्वी का गन्ध है। इस दृश्यमान जगत् की रचना-सामग्री, इन चरम भौतिक तत्वो में प्रत्येक तत्व से–अपने पूर्ववर्ती तत्व से–अपेक्षाकृत अधिक स्थूल और क्लिष्ट है। इस प्रकार वायु, आकाश के शब्द गुण सहित स्वयं का स्पर्श गुण भी धारण किये रहता हैं। शब्द और स्पर्श तेजस् में प्रवेश कर रूप के साथ स्थित रहते हैं। इसी प्रकार सलिल शब्द, स्पर्श, रूप व रस युक्त होता है और पृथ्वी शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध से युक्त होती है। इन चरम महाभूतों में एक प्रकार की विकास-प्रक्रिया भी मानी गयी है। कभी-कभी इसे पंचीकरण-प्रक्रिया कहते है। जिससे पाचों तत्वों का आंशिक गुण उन सबमें प्रवेश कर जाता है। गोरखनाथ जैसा कि पहले देखा जा चुका है, सामान्यत: स्वीकृत मौलिक ऐन्द्रिक गुणों के अतिरिक्त उनमें से प्रत्येक के अन्यगुण भी बतलाते हैं। गोरखनाथ इन गुणों यथा आकाश में रिक्तता, वायु में सचार, तेजस् मे ताप, सलिल मे तरलता और पृथ्वी में ठोसपन को अपेक्षाकृत अधिक प्राथमिक महत्व देते है।

यद्यपि भारतीय दार्शनिक मतों मे पंचभूतों को जगत् का भौतिक या उपादान कारण मानने में मतैक्य है, तथापि उनमे मूलभूत अन्तर इस प्रश्न को लेकर है कि यह अद्भुत समायोजित ब्रह्माण्ड व्यवस्था (नाना स्तरीय सजीव व चेतन प्राणियों सहित) उनसे (पंच महाभूतों से) कैसे उत्पन्न हो जाती है? जड़वादी दर्शन यथा लोकायत अथवा चार्वाक के हठधर्मी दृष्टिकोण के अनुसार भौतिक तत्व ही चरम सत्ताये हैं, जिनसे समस्त जीवित बुद्धियुक्त, चेतन प्राणियो सहित, समस्त नियमों व व्यवस्थाओं से युक्त यह ब्रह्माण्ड-व्यवस्था क्रमिक रूप से विकसित हुई है। समस्त ब्रह्माण्ड प्रकृति की अनेक सगठन व विघटन की

स्वाभाविक प्रक्रियाओं द्वारा नियत्रित है, या नियति-नियत्रित चेतन व अचेतन, सजीव व निर्जीव पदार्थ इसमें उत्पन्न होते व कालान्तर में पुनः नष्ट हो जाते हैं। जडवादी मतानुसार चैतन्य आत्मा या चेतना कुछ विशेष प्रकार से व्यवस्थित भौतिक पिण्डो का गुण है, जो पच महाभूत (किन्ही-किन्ही के अनुसार चार महाभूत, वे आकाश की कोई भौतिक सत्ता नही मानते) की रचनाये है तथा इनसे पृथक् या स्वतंत्र चेतना का कोई अस्तित्व नही है। यह कहना अनावश्यक है कि वे इस ब्रह्माण्ड व्यवस्था की व्याख्या करने के लिये किसी परमात्मा या ईश्वर के अस्तित्व की तार्किक या आध्यात्मिक आवश्यकता अनुभव नही करते।

कुछ मत कट्टर रूप से तार्किक है (यथा न्याय व वैशेषिक) जो जड़वादियों की भांति इन पच महाभूतों को परमाणु के आकार में शाश्वत रूप से स्वतः सत् 'नित्य द्रव्य' मानते है, किन्तु जड़वादियो के प्रतिकूल उनका यह विचार है कि ये महाभूत मूलतः जड होने के कारण स्वय गतिमय नहीं बन सकते तथा अपने आपको इस प्रकार व्यवस्थित नही कर सकते कि ऐसी आश्चर्यजनक ब्रह्माण्ड-व्यवस्था उत्पन्न कर सकें। साथ ही, वे जड़ होने के कारण अपने मे से किसी भी प्रकार की चेतना उत्पन्न नहीं कर सकते। न्याय वैशेषिक आत्मा और मनस् को भी नित्य द्रव्य मानते है। वे नित्य अनेक जीवात्मा और नित्य एक परमात्मा को भी मानते है। उनका मत है कि ईश्वर अपनी आन्तरिक अनन्त शक्ति व बुद्धि के प्रयोग के द्वारा एक व्यवस्थित ढग से इन पांच प्रकार के भौतिक परमाणुओं से जो उमकी तथाकथित रचना नही है, ब्रह्माण्ड व्यवस्था का निर्माण करता है। उनके मतानुसार पचमहाभूत इस वस्तुगत जगत् के उपादान है और ईश्वर उसका निमित्त कारण। साथ ही ईश्वर इस समस्त जगत्-प्रपच का चरम शासक है। यह जगत् परमात्मा का अश, उसकी आत्माभिव्यक्ति या उसका शरीर नही है और जीवात्माये भी परमात्मा के आत्मांश या उसकी आत्माभिव्यक्तिया नही है। न्यायवादी दार्शनिक अनेक तार्किक नैतिक और सृष्टि-रचना संबधी तर्क देकर, इस ब्रह्माण्ड के निमित्त-कारण के रूप में ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करना चाहते है। वे ईश्वर को सब जीवात्माओं का नैतिक नियन्ता या शासक सिद्ध करना चाहते है। जीव ईश्वर की कृपा से तथा उसकी उपासना करके मुक्ति या अपवर्ग प्राप्त कर सकता हैं। मुक्ति में ये आत्माये न केवल समस्त बन्धनों से छुटकारा पा जाती है, वरन् वे प्रापंचिक चेतना से भी मुक्त हो जाती है। क्योंकि प्रापंचिक चेतना आत्मा और मनस् के सम्बन्ध के अतिरिक्त कभी नही रह सकती।

सांख्य मतानुसार पंच महाभूत, पंच तन्मात्राओं से विकसित हुये है, जो अपने शुद्ध एवं सूक्ष्म रूप में 'अपचीकृत सूक्ष्म महाभूत' है। ये अहम् तत्व से विकसित हुई हैं, जो व्यावहारिक मनस्, पंच कर्मेन्द्रियों, और पच ज्ञानेन्द्रियों का भी स्रोत है। अतः इस मत के अनुसार भौतिक जगत के चरम तत्व (हमारे भौतिक व्यष्टि शरीरों सहित) तथा इस वस्तु-जगत से सम्बद्ध हमारे ज्ञान और

क्रिया के प्राथमिक उपकरण उस एक उच्चतर तत्व, अह से उत्पन्न है या उसकी परस्पर सम्बद्ध अभिव्यक्तियां है, जो हमारे अनुभव के ज्ञाता-ज्ञेय पक्षो तथा ज्ञान और क्रिया के उपकरणो और विषयो का मिलन-विन्दु है। अहतत्व को इसीलिये 'भूतादि'—समस्त भूतों तथा भौतिक तत्वो से युक्त समग्र जगत् का स्रोत भी कहा गया है। यह अहतत्व व्यष्टिगत अह नही है, जो सदैव व्यष्टि मन, इन्द्रियो तथा वस्तु सत्ताओ के ही सन्दर्भ मे व्यक्त होता है। अहतत्व एक सिद्धान्त है, एक सत्ता है, एक तत्व है जो दो प्रकार से व्यक्त होता है, वैयक्तिक मनो और इन्द्रियों से युक्त वैज्ञानिक ज्ञाताओ की अनेकता मे एक ओर तथा भौतिक तत्वो द्वारा निर्मित विभिन्नतायुक्त वस्तुगत भौतिक जगत् मे दूसरी ओर। यह अहंकार 'महत् तत्व' से विकसित माना गया है, जो मूल प्रकृति या अव्यक्त तत्व जगत के भौतिक कारण, का प्रथम व्यक्त रूप है। तथापि सांख्य यह नही मानता कि जीव प्रकृति से विकसित हुये है। सांख्य मतानुसार अनन्त शुद्ध, अपरिवर्तनीय, पारमार्थिक चैतन्य रूप जीव या 'पुरुष' प्रकृति और उसकी विकसित सत्ताओ से नित्य सयुक्त है और उनका प्रकृति के गुणो, कार्यो और उसकी सीमितताओ में भाग लेना आभास या भ्रम मात्र है। जब किसी जीव को मन और बुद्धि की शुद्धि के अनन्तर यह तत्वज्ञान हो जाता है कि वह शुद्ध, अपरिवर्तनीय, असीम चैतन्य प्रकृति के प्रापचिक व्यापारों से स्वतत्र है, तब वह इस व्यावहारिक जगत के बाह्य बन्धन से मुक्त होकर अपने पारमार्थिक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार सांख्य मतानुसार महाभूत चरम सत्ताये नही है, यद्यपि वे इस वस्तुगत जगत् के चरम भौतिक तत्व है। यह वस्तुगत जगत् परमात्मा से विकसित नहीं माना गया है, किन्तु मूल प्रकृति से विकसित माना गया है जिससे समस्त व्यावहारिक ज्ञान, क्रिया, ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां विकसित होती है। इस प्रकृति का शाश्वत स्वामी परमात्मा नही माना गया है। प्रकृति को स्वतंत्र व चरमसत्ता माना गया है।

औपनिषदिक विचारक, सिद्ध-योगी-सम्प्रदाय की भांति पच महाभूतों की उत्पत्ति परमात्मा या ब्रह्म या आत्मा से बताते है। तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली के ऋषि घोषित करते है—

तस्माद् वा एतस्माद् आत्मन आकाश. सम्भूतः आकाशाद् वायुः वायोरग्निः, अग्नेरापः, अदभ्यः पृथिवी।

परमात्मा (अपरिवर्तनीय, पारमार्थिक, सत्यम्, ज्ञानम्, अनन्तम् ब्रह्म) से जो प्रत्येक जीव का आत्मा भी है, आकाश उत्पन्न होता है, आकाश से वायु विकसित होती है, वायु से अग्नि, अग्नि से अप् या जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है।

यह दृष्टिकोण अन्य ऋषियों द्वारा भी समर्थित है। समस्त उपनिषदो का मत है कि अपने स्वरूप मे निहित अनन्त बल और बुद्धि युक्त एक अपरिवर्तनीय अभेद पारमार्थिक परमात्मा (ब्रह्म, आत्मा, शिव) इस समस्त काल-दिकाश्रित

जगत व्यवस्था का एकमात्र (भौतिक, निमित्त व अंतिम) कारण है। ब्रह्म को अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध वर्णित किया गया है और साथ ही उसे भूत योनि (समस्त भूतों का उद्गम-स्थान) भी कहा गया है। वह अप्राण, अ-मनः साथ ही ब्रह्माण्ड मे समस्त जीवन व मनस् का एकमात्र स्रोत है और उन सबकी अन्तर्यामी आत्मा है। उपनिषद् स्पष्ट घोषित करते है कि ब्रह्म से ये समस्त भूत उत्पन्न हुये, ब्रह्म इन सबको धारण किये हुये है, ब्रह्म की ओर ये सब अग्रसर हो रहे है, और पुनः वे ब्रह्म मे प्रवेश कर अपने भेदों को नष्ट कर डालते है। ठीक यही महायोगियों का भी दृष्टिकोण है।

दर्शन के वेदान्ती मत अपनी दार्शनिक कल्पना का आधार उपनिषदो के प्रामाणिक कथनों को बनाते है। किन्तु उनमे से कुछ इस विचार से कि आत्मा और पुद्गल मे, समस्त काल-दिकादिक सम्बन्धो से परे शुद्ध पारमार्थिक चैतन्य और कालदिकाश्रित सतत् परिवर्तनशील अनेकरूपात्मक भौतिक प्रपच मे मूल भूत अन्तर है। वे उनसे इतना अधिक प्रभावित है कि वे यह तार्किक धारणा बनाने मे असफल हो जाते है कि जगत् पारमार्थिक चैतन्य से कैसे उत्पन्न हुआ अथवा वह कैसे उसकी वास्तविक आत्माभिव्यक्ति है। अतः वे महाभूतों के जगत् का केवल भ्रमात्मक अस्तित्व मानते हैं जो 'माया' या 'अविद्या' कही जानेवाली किसी अवर्णनीय गूढ शक्ति तथा इस मिथ्याभास के अधिष्ठान ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। वेदान्ती दार्शनिको में रामानुज और श्रीकठ तथा कुछ अन्य दार्शनिक, महायोगियों का अनुसरण करते हुये इस महाभूतों के प्रपच या ब्रह्माण्ड को परमात्मा की, उसमे निहित वास्तविक शक्ति के गुण के कारण आत्माभिव्यक्ति तथा उसका पिण्ड रूप मानते है।

पुद्गल की आत्मा से उत्पत्ति और आत्मा मे उसका विलय, कालदिकाश्रित प्रापंचिक सत्ताओं की एक अनन्त शाश्वत अपरिवर्तनीय पारमार्थिक चैतन्य से उत्पत्ति तथा अन्त में उसमें उसका पूर्ण विलय या एकत्व क्लिष्ट सापेक्षिक जड़ जगत् की अनेकता में एक अद्वैत चित् की मुक्त क्रीड़ामय आत्माभिव्यक्ति तथा इस अनेकत्व का पूर्ण आनन्दमय एकत्व मे विलयन्, ये बाते तत्वज्ञानालोकित महायोगियों के समक्ष अजेय धारणात्मक समस्याये उत्पन्न नही करतीं, क्योंकि शरीर, मन व बुद्धि के अनुशासन व शुद्धि से तथा गहन ध्यानावस्था के अभ्यास से वे सुगमतापूर्वक अनुभव के एक स्तर से दूसरे स्तर पर चले जाते हैं, प्रापंचिक पुद्गल-स्तर से पारमार्थिक आत्मा के स्तर पर व पुन बाद के स्तर से पूर्व के स्तर पर लौट आते हैं। परिवर्तनशील अनेकत्व के स्तर से चरम एकत्व के स्तर पर जाना-आना उनके लिये नितान्त स्वाभाविक बन जाता है। वे एक साथ पारमार्थिक और अद्वैत आत्मा के सक्रिय रूप का अनुभव करते हैं। पुद्गल को भी वे चरम रूप मे आध्यात्मिक सत्ता के रूप में अनुभव करते है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा अन्य उपनिषदों में भी तत्वज्ञानालोकित महायोगियों के ऐसे आध्यात्मिक अनुभवों के प्रबल प्रमाण मिलते हैं। उपनिषदों

में यह कहा गया है—'ते ध्यान योगानुगता अपश्यन् देवात्म-शक्ति स्वगुर्णैनि गूढाम्' वे (तत्वज्ञानालोकित महायोगी) ध्यान-योग के तीव्रतम अभ्यास से परमात्मा की निजा शक्ति को देखते है, जिसका वास्तविक स्वरूप उसकी आत्माभिव्यक्तियों से आवृत है। वे परमात्मा से अभिन्न इस शक्ति का दर्शन करते है जो स्वय को विभिन्न अनुभव स्तरो पर नाना प्रापचिक रूपों मे अभिव्यक्त करती है। परमात्मा की इस परा-शक्ति की स्वाभाविक आत्माभिव्यक्तिया है—ज्ञान, बल और क्रिया—'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च'। बुद्धि, बल और क्रिया की समस्त अभिव्यक्तियां—सृजन और विनाश, विकास और ह्रास, प्रसार और संकोचन, सगठन और विघटन इत्यादि—परमात्मा (जिसे ब्रह्म, शिव या अन्य नाम दिया जा सकता है) की इस चरमशक्ति की विभिन्न आत्माभिव्यक्तिया है और ये सब मिलकर परमात्मा के ब्रह्माण्ड शरीर या महासाकार पिण्ड का निर्माण करते है। परमात्मा उन सबमें है और वे सब परमात्मा में हैं। वे सब परमात्मा के द्वारा निर्मित और परमात्मा के लिये ही है। महायोगी इस महान् सत्य का वास्तविक रूप मे अनुभव करते है। उनके लिये यह समस्त ब्रह्माण्ड शिव-शक्ति का शरीर व उनकी मुक्त आनन्दमय आत्माभिव्यक्ति है।

शिव के महासाकार पिण्ड की संरचना तथा उसके स्वरूप का वर्णन प्रस्तुत करने के पश्चात् महायोगी गोरखनाथ बलपूर्वक कहते है :

"स एव शिवः' वह (महासाकार पिण्ड) वस्तुतः शिव स्वयं ही है। (सि० सि० प० १/३७) शरीर को आत्मा से पृथक नही मानना चाहिये। शिव के ब्रह्माण्ड शरीर को शिव से भिन्न नही मानना चाहिये, जो स्वय इस ब्रह्माण्ड या विराट् देह की आत्मा हैं। यह नितान्त सत्य बात है कि आत्मा काल-दिक् के परे चली जाती है और देह-कालदिक् के अन्तर्गत ही रहती है, आत्मा पारमार्थिक चैतन्य है और शरीर या देह प्रापचिक पुद्गल, आत्मा पूर्णतया एक एवं अपरिवर्तनीय है और देह परिवर्तन तथा विभिन्नता की क्रमिक प्रक्रिया है। तथापि यह स्पष्ट है कि देह का आत्मा से पृथक् कोई अस्तित्व नही—कोई सत्ता नही है। देह आत्मा के द्वारा व आत्मा के लिये अस्तित्ववान् रहती है या आत्मा स्वयं को देह के माध्यम से अभिव्यक्त करती है। आत्मा देह से परे चली जाती है और फिर भी देह में निहित रहती है। आत्मा शरीर के प्रत्येक अंग में और समस्त शरीर में व्याप्त रहती है। जब एक बुद्धिमान व्यक्ति शरीर को देखता है, तब वह इसमें अभिव्यक्त आत्मा को भी देखता है। जब एक तत्व ज्ञानालोकित योगी भौतिक जगत् को देखता है, तब वह इस जगत् में शक्ति द्वारा अभिव्यक्त शिव को भी देखता है। एक योगी की आध्यात्मिक अन्तः प्रेरणा के लिये भौतिक जगत् भी शिव है, क्योंकि वह इस शिव का साकार रूप या शरीर है तथा शिव स्वय को इसमें व इसके द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। परमात्मा की आत्माभिव्यक्ति होने के कारण यह भौतिक जगत् योगी की तत्व-ज्ञानालोकित दृष्टि के समक्ष एक

आध्यात्मिक सत्ता के रूप में व्यक्त रहता है। शिव अपने काल-दिकाश्रित ब्रह्माण्ड शरीर के रूप मे भी शिव ही रहते है। इस प्रकार शिव की अद्वैतता योगी की दृष्टि से कभी ओझल नही होती। अनेक को व्याप्त करनेवाला एक सदैव एक ही रहता है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि परमात्मा अपनी विशिष्ट शक्ति की आत्माभिव्यक्ति के प्रत्येक स्तर पर स्वयं को नये-नये रूपो, गुणों, आकारों और महिमाओं में व्यक्त करता है। भौतिक ब्रह्माण्ड शरीर उसकी स्थूलतम आत्माभिव्यक्ति है। इस विराट् ब्रह्माण्ड शरीर में परमात्मा का अनन्त ज्ञान और शक्ति, उसका अनन्त शिवत्व और सौन्दर्य, उसकी अनन्त शुद्धता और आनन्द, उसका अनन्त प्रेम व स्नेह अनन्त प्रकार के ससीम रूपों मे व्यक्त होता है और वह अपनी गंभीर प्रशान्त आत्मचेतना में उनका भोग करता है।

शिव के सक्रिय रूप से ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के विकास का सिद्धान्त प्रतिपादित करने के पश्चात् महायोगी गोरखनाथ कहते है कि इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के सम्बन्ध मे परमात्मा शिव स्वय को मुख्यत. आठ दिव्य रूपों मे, आठ ब्रह्माण्ड देवो के रूपों मे प्रकट करते हैं, जिन्हे महासाकार पिण्ड शिव की अष्टमूर्ति कहा गया है :—

> **"शिवाद् भैरवो, भैरवात् श्रीकठः श्री कंठात् सदाशिवः सदाशिवात्**
> **ईश्वरः, ईश्वराद् रुद्र रुद्राद् विष्णुः, विष्णोब्रह्मा—इति महासाकार पिण्डस्य"**
> **(मूर्त्यष्टकम् सि० सि० प० १/३७)**

प्रथम स्वय शिव, दूसरे भैरव. तीसरे श्रीकठ, चौथे सदाशिव, पांचवें ईश्वर, छठे रुद्र, सातवे विष्णु और आठवे ब्रह्मा। ये महा-साकारपिण्ड शिव की अष्टमूर्तिया कही गई है।

शिव अपनी इन विशेष दिव्य आत्माभिव्यक्तियो के माध्यम से ब्रह्माण्ड के विभिन्न कार्यो—सृजन, पालन, विनाश के कर्म करना तथा उन्हे व्यवस्थित करना, इस सतत् परिवर्तनशील और विभिन्नतायुक्त ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे नियम व व्यवस्था बनाये रखना, जीवित प्राणियों के जगत् मे न्याय का शासन स्थापित करना तथा उनमें सुख, दुख का समतापूर्ण वितरण करना, उनपर कृपा करना और उनके समक्ष सत्य, सौन्दर्य, शुभ, प्रेम तथा परम पारमार्थिक एकत्व के उच्च और उदात्त आदर्श प्रस्तुत करना और इन आदर्शो की सिद्धि के लिये अवसर प्रदान करना आदि-आदि को सपादित करते हुये प्रतीत होते है। वे सब शिव से अभिन्न है। वही दिव्य सत्ता इन सबमे सक्रिय है। शिव की एक शक्ति की अनेक प्रकार की आत्माभिव्यक्तियों को ध्यान मे रखते हुये ही, शिव को अनेक गौरवशाली नाम दिये गये है और अनेक भव्य शक्तियो-गुण और कर्म उन नामों के साथ जोड़े गये हैं। हिन्दू ग्रन्थो में ब्रह्मा, विष्णु व रुद्र के नाम सर्वाधिक व्यापक रूप में प्रसिद्ध है और वे ब्रह्माण्ड की रचना, पालन व विनाश के विराट् कार्यो से

सम्बधित है, जो इस काल-दिकाश्रित व्यवस्था की निरंतरता और चिर नवीनता के लिये समान महत्व के है। ब्रह्मा को सृजन का स्वामी माना गया है। शिव के इस महासाकार पिण्ड के अन्तर्गत वह समस्त सजीव व निर्जीव, चेतन व अचेतन, तार्किक व अतार्किक, बडी व छोटी, विभिन्न प्रकार के गुण, बल और प्रवृत्तियों से युक्त विभिन्न स्तरीय देहो का रचयिता है। विष्णु इन सबके पालनकर्ता है। वे व्यष्टि पिण्डों की इन समस्त विभिन्न व्यवस्थाओ में संतुलित सम्बन्ध बनाये रखते है और इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे निहित धर्म के अनुसार उनके आचरण और भाग्य पर नियत्रण रखते है। वे इस व्यवस्था के दिव्य शासक है। रुद्र को विनाश का देवता माना गया है। वे कालान्तर में इन व्यष्टि पिण्डों को नष्ट करके पुन. इन्हें इनके मूल तत्वो मे मिला देते हैं। सृजन अनेकत्व व विभिन्नता की प्रक्रिया है और विनाश एकत्व या एकीकरण की प्रक्रिया है। ये समस्त प्रक्रियाये शिव के विराट् ब्रह्माण्ड शरीर (महा साकारपिण्ड) में निरन्तर चलती रहती है।

ग्यारहवाँ अध्याय

ब्रह्माण्ड शरीर में विभिन्न लोकों का विकास

परमात्मा के इस भव्य 'महा-साकार-पिण्ड'—इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे हम अनेक प्रकार की प्रापचिक सत्ताओ का अनुभव करते है, जिन्हे विभिन्न लोक कहा जा सकता है, यद्यपि वे सब इस ब्रह्माण्ड शरीर में सुव्यवस्थित रूप से सयोजित एव परस्पर सम्बद्ध है। इन लोकों मे प्रत्येक से सम्बन्धित शिव की एक विशिष्ट दिव्य आत्माभिव्यक्ति है। प्रथम, भौतिक शरीरों व दैहिक शक्तियों का जगत् यात्रिक, रासायनिक, ताप, विद्युत तथा अन्य शक्तियो से युक्त है, जिसमे जीवन, मनस् और आत्मा की कोई स्पष्ट अभिव्यक्ति नही है, जो प्राकृतिक नियमो (किसी नैतिकता और आध्यात्मिकता के शासन अथवा अपने क्रिया-कलापो मे किसी उद्देश्य अथवा प्रयोजन की ओर स्पष्ट सकेत न करनेवाले) से शासित होते है जिनमे छोटे व बड़े पैमाने पर सृजन, रक्षण और विनाश की प्रक्रियायें, समस्त कालावधियो तथा समस्त दिक्-क्षेत्र में प्राकृतिक रूप मे घटित हो रही है। इसे 'जड जगत्' कहा जाता है।

दूसरा जीवन और प्राण-शक्तियों का लोक है जो जैविक नियमो अथवा प्राण के नियमो से शासित होता है। यह 'प्राण जगत्' है। हमारे साधारण अनुभव मे जीवन सर्वदा भौतिक शरीरो यथा पौधो, कीटाणुओ, पक्षियो, पशुओ, मनुष्यो इत्यादि से सम्बद्ध होता है। इन शरीरो से पृथक जीवन की कल्पना करना हमारे लिये अत्यन्त कठिन है। किन्तु जीवन तथाकथित पुद्गल से भिन्न है, यह बात असन्दिग्ध है। भौतिक शरीरो को जीवन सजीव व व्यवस्थित कर विशिष्ट लक्षण प्रदान करता है। किस प्रकार भौतिक जगत् मे जीवन प्रकट होकर भौतिक शरीरो से इतने घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, यह एक जटिल समस्या है। जीवन वैयक्तिक शरीर मे व्याप्त होकर उसे सप्राण एव व्यवस्थित करता है तथा उसके कार्यो को इसी मे अन्तर्निहित किसी आदर्श के साक्षात्कार के लिये सुनियोजित करता है। जीवित शरीरो का पिण्ड सप्रयोजन या उद्देश्य द्वारा शासित है। शरीर सूक्ष्म बीज के रूप मे हो या फल, फूल, पत्तो व शाखाओं से युक्त विशाल वृक्ष के रूप मे विकसित हो, शरीर चाहे शुक्रकीटाणु के रूप मे हो या पूर्ण विकसित अगों से युक्त पशु या मानव देह के रूप मे विकसित हो, वही जीवन जो इसे परिवर्द्धित और विकसित करता है, इसकी वृद्धि और विकास के प्रत्येक स्तर पर इसके सम्पूर्ण व प्रत्येक अंग मे व्याप्त रहता है। यद्यपि भौतिक शरीर पुद्गल के प्राकृतिक नियमो से शासित होते है,

किन्तु सजीव शरीरों में जैविक नियम या प्राण के नियम इन प्राकृतिक नियमों से अधिक शक्तिशाली सिद्ध होते है तथा प्राकृतिक नियमों पर शासन करते है। जब किसी सजीव शरीर में प्राण-शक्ति प्राकृतिक शक्तियों की तुलना मे दुर्बल हो जाती है, तो उसे मृत्यु का सामना करना पड़ता है, जिसका अर्थ है कि यह एक शुद्ध भौतिक शरीर की स्थिति में पहुंच जाता है ।

सप्राण शरीर उत्पन्न होते, विकसित होते और जरावस्था तथा मृत्यु को प्राप्त होते है, किन्तु जीवन इन सबसे मुक्त रहता है। प्राण उन शरीरों का अतिक्रमण कर जाता है, जिनके द्वारा यह स्वयं को किसी भी कालावधि के लिये प्रकट कर सकता है। प्राण पुद्गल मे साकार होता है, किन्तु वह स्वय भौतिक नही है। ब्रह्माण्ड शरीर में, प्राण-जगत् भौतिक या जड़ जगत् से मूलतः श्रेष्ठ है, क्योंकि दिव्य शक्ति निष्प्राण पुद्गल की अपेक्षा सप्राणता मे अधिक व्यक्त व प्रकट रहती है। प्राण शरीर से श्रेष्ठ है। शरीर प्राण की अभिव्यक्ति का साधन व आधार है। प्राण या जीवन एक उच्च स्तर से भौतिक शरीरों में उतरता प्रतीत होता है, जिन्हें यह आंशिक रूप से अपने स्तर पर उठा ले जाता है। जड़ जगत् मे यह प्राण की ही शक्ति है जो सृजन और विनाश की भौतिक प्रक्रियाओं का सजीव आकारों में रूपान्तर करती है और भौतिक शरीरों मे ऐसे आश्चर्य-जनक परिवर्तन लाती है, जो किसी भी यांत्रिक बल द्वारा सभव नही हो सकते। पुद्गल के ऊपर प्राण-बल प्रकृति के प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई देता है। शुद्ध पुद्गल की तुलना में प्राण एक उच्चस्तरीय सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है।

तीसरा मनो-जगत् है। मनस् के स्वभाव में व्यावहारिक चेतना उपस्थित रहती है। मनस् स्वय को विभिन्न प्रकार के प्रपचों यथा सवेदन, प्रत्यक्षानुभव, मूल प्रवृत्ति, प्रेरणा, भाव (सुख, दुःख इत्यादि), इच्छा, सवेग, संकल्प, ज्ञान, सन्देह, कल्पना, स्मृति, स्वप्न, भ्रम, विभ्रम, विचार, लक्ष्य-निर्धारण इत्यादि में प्रकट करता है। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति मनस् की दशाये है। प्रेम और घृणा, दया और क्रूरता, सहानुभूति और स्वार्थपरता, साहस और कायरता, ईर्ष्या और भय, काम, क्रोध, लोभ, महत्वाकांक्षा, उदारता, दानशीलता आदि-आदि ये समस्त 'मनो-जगत्' के प्रपंच है। मनोजगत् के ये प्रपच साधारणतया अधिक विकसित और अधिक सजीव भौतिक शरीरो मे, और विशेष रूप से स्नायुमण्डल व मस्तिष्क, जो सजीव शरीर के सूक्ष्मतम व श्रेष्ठतम भाग है, में अनुभव किये जाते है। चूकि हमारे सामान्य अनुभव मे मनो-प्रपंच अनिवार्यतः व्यक्तिक सजीव शरीरों से सम्बन्धित मिलते हैं, अतः हमारे लिये भौतिक शरीर से पृथक् मनस् के अस्तित्व की कल्पना करना अत्यन्त कठिन है।

सामान्यत यह पाया जाता है कि मनस् और शरीर एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं और प्रत्येक दूसरे से बाधित या दूसरे पर आश्रित हैं। किन्तु मनस् शरीर का कोई विशेष भाग धारण नही करता, क्योंकि एक भौतिक शरीर

की भाति इसको अपने अस्तित्व व कार्य हेतु दिक् का कोई विशेष भाग घेरने की आवश्यकता नही पड़ती, न ही स्थूल भौतिक शरीर की मृत्यु के साथ मनस् मर जाता है। मनस्, यद्यपि प्राण और शरीर से सम्बन्धित है, तथापि वह उनका अतिक्रमण कर जाता है। जिस अर्थ में एक जीवित भौतिक शरीर मरणशील है, मनस् उस अर्थ में मरणशील नही है। मनस्, जीवित भौतिक शरीर का भौतिक-जगत् मे आत्माभिव्यक्ति के एक कारण या साधन रूप में उपयोग करता है। किन्तु जैसा कि समस्त प्रमुख भारतीय धर्म व दर्शनो की मान्यता है, एक ही मनस् एक भौतिक शरीर से अपने सम्बन्ध तोड़ सकता है (जब कि शरीर विघटित होकर अपने मूल तत्वों में विलीन हो जाता है), शरीर-रहित अवस्था में रह सकता है (अर्थात् बिना किसी स्थूल भौतिक शरीर के रह सकता है) और पुन: एक नये भौतिक शरीर, जिसे वह अपनी आत्माभिव्यक्ति के नये कारण-रूप में ग्रहण करता है, में नया जन्म ले सकता है (उससे सम्बन्ध बना सकता है)। इस प्रकार एक ही मनस्, जब तक यह अतिम रूप मे शिव के ब्रह्माण्ड मनस् या परमात्मा के स्वरूप मे विलीन नहीं हो जाता है, एक के बाद दूसरी अनेक भौतिक देहो में से यात्रा कर सकता है।

प्रसंगवशात् यह स्मरणीय है कि एक सिद्ध योगी का असाधारण या अलौकिक मनस् अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा एक ही समय कितने ही स्थूल भौतिक शरीरो को निर्मित कर. उन्हे विभिन्न रूपों में आत्माभिव्यक्ति का कारण या साधन बना सकता है। यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि मनोजगत् के समस्त प्रपच लौकिक या अलौकिक, शिव शक्ति के ब्रह्माण्ड शरीर 'महा साकार पिण्ड' में विकसित होते है, और वे अनिवार्यत: परमात्मा के 'चिद् विलास' रूप है। इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में मनस् पुद्गल और प्राण से श्रेष्ठ व उच्चस्तरीय सत्ता है, अतएव यह उनके ऊपर नियंत्रण व प्रभाव डालने की योग्यता रखता है।

चौथे, हम शिव-शक्ति के इस ब्रह्माण्ड शरीर मे एक बुद्धि या तर्क के जगत् के विकास का अनुभव करते है, जिसे उच्चतर मनस् कहा जा सकता है। यह मुख्यत. अध्यवसाय या सत्य निश्चय के रूप में अभिव्यक्त होता है। बुद्धि प्रामाणिक व अप्रामाणिक ज्ञान मे सगत व असगत विचार में, वास्तविक प्रत्यक्ष या भ्रान्त प्रत्यक्ष अर्थात् भ्रम मे, उचित और अनुचित निर्णय इत्यादि में भेद निर्धारित करती है और सत्य के आदर्श की प्राप्ति के लिये मनस् के स्वाभाविक कार्यो को नियोजित करती है। मानव मनस् में सत्य-प्राप्ति की अभीप्सा इसपर बुद्धि के प्रभाव के कारण उठती है। बुद्धि अपने सत्य के मापदण्ड से मनस् के साधारण क्रिया-कलापों पर निर्णय देती है, उनमें से कई को त्रुटिपूर्ण बताकर उनकी भर्त्सना करती है तथा उनको सुधारने में अपना बल व प्रभाव मनस् पर डालती है, जिससे वह सत्य की खोज के योग्य हो सके। यह बुद्धि के अनुशासित व आलोकित प्रभाव का फल है कि मनस् में सत्य और असत्य का भेद उत्पन्न होता है तथा

मनस् सत्यान्वेषण की प्रेरणा व अनत्य की अवहेलना की उत्कंठा अनुभव करता है। इस ब्रह्माण्ड प्रक्रिया में मनस् के प्रपंच पर शासन करने का बुद्धि को एक अन्तर्निहित अधिकार प्राप्त है।

अपने सामान्य अनुभव मे हम उच्चस्तरीय सजीव भौतिक शरीरों, विशेषतया मानव में अन्यधिक विकसित मनस् के सम्वन्ध मे बुद्धि की निश्चित अभिव्यक्तियाँ पाते है। निम्नकोटि के पशुओं के जीवन मे, मनस् की विभिन्न प्रकार की अभिव्यक्तियाँ होने पर भी बुद्धि के सयोजित व अलौकिक व्यापार के बहुत कम प्रमाण प्राप्त होते है। मानवेतर प्राणियो या पशुओं में बुद्धि अव्यक्त रहती है। यद्यपि उनमे विभिन्न स्तर के मानसिक, जैविक और भौतिक विकासों के चिह्न प्राप्त होते है। अनुभववादी दार्शनिक प्राय: मानव को विचारशील प्राणी और शेष समस्त प्राणियो को विचार-शक्ति-विहीन प्राणी कहते है, क्योंकि प्रथम (प्राणियों मे सर्वश्रेष्ठ) में विचार-शक्ति विकसित होती है तथा अन्य सबमे अविकसित रहती है। भारतीय दार्शनिक प्राय: यह मानते है कि बुद्धि मनस् के साथ समस्त प्राणियो, समस्त सजीव शरीरो में विद्यमान रहती है, किन्तु इसकी अभिव्यक्ति मनस् के विकास और भौतिक शरीर की योग्यता या अनुकूलता पर निर्भर होने के कारण महा निम्नवर्ग के प्राणियों (पशु-पक्षियो) मे वैयक्तिक विचार तर्क-शक्ति के रूप मे व्यक्त नही होती है। मानव के मनोवृत्ति सम्पन्न भौतिक शरीर मे यह स्वय को स्पष्ट अहचेतनायुक्त व्यक्तिक विचार-शक्ति के रूप में प्रकट करती है। ब्रह्माण्ड मनस् और ब्रह्माण्ड प्राण के साथ ब्रह्माण्ड बुद्धि शरीरहीन प्रतीत होनेवाले पुद्गल तक मे निस्सन्देह सर्वव्यापक है। शिवशक्ति का ब्रह्माण्ड शरीर ही इन समस्त रूपों मे अभिव्यक्त है। यद्यपि हमारे सामान्य अनुभव में बुद्धि अनिवार्यत: भौतिक शरीर जीवन और मनस् से सम्बन्धित ज्ञात होती है, तथापि अपने मौलिक रूप मे यह उन सबका अतिक्रमण कर जाती है। योगियो के अनुसार शुद्ध बुद्धि इन भौतिक, जैविक और मानसिक शरीरो की सीमाओं से ऊपर उठकर चरम सत्य से एकत्व प्राप्त कर सकती है। विज्ञान या बुद्धि जगत् मनोजगत से श्रेष्ठनर व उच्चतर है।

पांचवें, शिव के इस विराट् शरीर मे हम एक 'धर्मजगत्' का अनुभव करते है, जिसका अनिवार्यत: अर्थ है एक नैतिक व्यवस्था। नैतिकता शुभ और अशुभ, उचित और अनुचित, पुण्य और पाप, आदर्श और यथार्थ, करणीय और अकरणीय, श्रेष्ठ और निकृष्ट, उच्च और निम्न के भेद मे निहित है। इसका तात्पर्य है किसी आदर्श, जिसमें यथार्थ के शासन और उसके गुणो के मूल्याकन का अधिकार अन्तर्निहित है, की ओर सकेत करके यथार्थ प्रपच के विषय मे आंतरिक महत्व से सम्पन्न निणय देना। शिवशक्ति की इस ब्रह्माण्ड-रूप-आत्मा-भिव्यक्ति में यह धर्म के विकास का फल है कि अनेक प्रपच (चाहे वे भौतिक हो या जैविक हों, या मानसिक हो) जो स्वाभाविक क्रम मे प्रकट होकर इस विभिन्नतायुक्त ब्रह्माण्ड मे अपनी भूमिका का निर्वाह करते है, किन्तु आदर्शानुकूल

नहीं होते, उन्हें बुरा कहकर उनकी विगर्हणा की जाती है, जबकि दूसरो की आदर्शानुकूल होने के कारण, अच्छे और उचित के रूप मे प्रशसा की जाती है। धर्म स्वयं को अच्छाई या औचित्य के आदर्श के इस स्वाभाविक स्वत्व के रूप मे प्रकट करता है कि वस्तुस्थिति या यथार्थ इसके द्वारा निर्देशित और नियन्त्रित होना चाहिये अथवा इसके द्वारा परीक्षित व शासित होना चाहिये।

हमारे अनुभव-जगत् में प्राकृतिक विकास की प्रक्रिया पर धर्म शासन करता है और इस प्रकार हम देखते है कि बाधक शक्तियो के होते हुये भी निम्न से निम्न स्तरों मे उच्च से उच्च सत्ता-स्तर विकसित होते है और विघटन या अव्यवस्था की शक्तियो को समस्त स्तरो पर पराजित कर एक आश्चर्यजनक सयोजित व्यवस्था स्थिर रखी जाती है। यह धर्म है, जो घोषित करता है कि संगठन व व्यवस्था की शक्तियाँ विघटन और अव्यवस्था की शक्तियों से अधिक श्रेष्ठ है, प्रेम और दया की शक्तियाँ घृणा और क्रूरता से अधिक श्रेष्ठ हैं, शान्ति और अहिंसा की शक्तियां युद्ध और हिंसा की शक्तियो से अधिक श्रेष्ठ है; सृजन व रक्षण की शक्तिया विनाश और विघटन की शक्तियो से अधिक श्रेष्ठ है; यद्यपि वे सभी परमात्मा के सक्रिय स्वरूप से ब्रह्माण्ड-मच पर स्वाभाविक रूप से प्रकट होकर अपनी-अपनी भूमिकाये निभाती है। ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे यह धर्म की शक्ति है, जो उच्च और श्रेष्ठ शक्तियों को विजयिनी बनाती है। शिवशक्ति की विभिन्न स्तरीय ब्रह्माण्ड रूप आत्माभिव्यक्तियो में यह धर्म है—जो स्वय भी उन्ही शिवशक्ति की एक गौरवशाली आत्माभिव्यक्ति है, जो शुभ और अशुभ में, उचित और अनुचित में, वांछनीय और अवाछनीय मे श्रेष्ठ और निकृष्ट मे, उच्च और निम्न में भेद प्रकट करे—शुभ और उचित का अशुभ और अनुचित के ऊपर शासन करने के अधिकार का दावा करता है। धर्म यह निर्णय करता है कि इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे क्या रहना चाहिये और क्या नष्ट कर देना चाहिये। शिवशक्ति के 'महासाकार पिण्ड' में विकसित होने के अनन्तर धर्म, इस प्रकार, इस दिव्य शरीर में एक असाधारण भव्य एव उदात्त भूमिका का निर्वाह करता है। दिक्कालबद्ध मानसिक-भौतिक शरीर के एक 'नैतिक शरीर', एक नैतिक व्यवस्था के रूप मे परिवर्तित करने के हेतु धर्म प्रकट होता है। इस जगत् में समस्त प्रकार के नैतिक द्वन्द्वों का स्रोत धर्म है।

धर्म मानव के विचारशील स्वभाव से सम्बन्धित नैतिक चेतना मे अपनी विशेष अभिव्यक्ति पाता है और मानव के ऐच्छिक कार्यो—बाह्य व आतरिक भौतिक व जैविक, मानसिक व बौद्धिक—पर अपना विशेष प्रभाव डालता है। एक विचारशील प्राणी, शिवशक्ति की विचारशील आत्माभिव्यक्ति के रूप में मानव, इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे, एक सापेक्षिक तथा अनुबद्ध स्वातंत्र्य, इच्छा-स्वातंत्र्य, क्रियास्वातत्र्य, विचार-स्वातंत्र्य, अपने भौतिक शरीर एव इन्द्रियों तथा जीवन व मनस् और बुद्धि को नियन्त्रित व नियोजित करने की स्वतन्त्रता और अपने वातावरणों पर पर्याप्त सीमा तक प्रभाव डालने की स्वतंत्रता से

सम्पन्न है। वह अपने अह के भाव से अनुभव करता है कि वह स्वयं का स्वामी है या हो सकता है; अपने मानसिक भौतिक शरीर का स्वामी है या हो सकता है और उन परिस्थितियों का भी स्वामी हो सकता है, जिनमें वह अपने को पा सकता है। यद्यपि वह निज स्वामित्व तथा बाह्य परिस्थितियों के स्वामित्व की स्वतंत्रता पर विभिन्न प्रकार की सीमाओं को आरोपित अनुभव करता है, तथापि वह अपने अन्तर्मन में अनुभव करता है कि अपने ऐच्छिक प्रयासों के गुण से इन बन्धनों को दूर करने अथवा उनसे ऊपर उठने, पूर्णतया नही तो कम से कम पर्याप्त सीमा तक की उसमे शक्ति है, यह उसका अधिकार है और उसका कर्तव्य है। मानव अपनी आन्तरिक चेतना मे अनुभव करता है कि स्वतंत्रता उसका जन्मसिद्ध अधिकार है और इस स्वतंत्रता को, अपनी सीमित स्वतत्रता, जो वस्तुतः उसे प्राप्त है, के बुद्धिमत्तापूर्ण एव व्यवस्थित प्रयोग के द्वारा वह अत्यधिक विकसित कर सकता है। शिवशक्ति के इस महासाकार पिण्ड में मानव को यह सापेक्षिक एव सक्रिय स्वतंत्रता प्राप्त है और यह स्वतंत्रता तथा नैतिक चेतना और कर्तव्यों व उत्तरदायित्वो की चेतना दिव्यता की ब्रह्माण्डरूपा आत्माभिव्यक्ति का एक गरिमामय पक्ष प्रस्तुत करती है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि पूर्ण स्वतंत्रता आत्मा के मौलिक स्वरूप में निहित है तथा आत्मा या परमात्मा की ब्रह्माण्डरूपा आत्माभिव्यक्ति में इस स्वतत्रता की अभिव्यक्तियों के विभिन्न स्तर हैं। जड़ जगत् मे यह स्वतंत्रता वस्तुतः अव्यक्त रहती है, प्राण जगत् में यह बहुत सूक्ष्म रूप से व्यक्त रहती है, क्योंकि स्वातंत्र्य-चेतना का वहां अभाव रहता है। विचारशक्तिहीन (पशु) मनस् के जगत् में प्राण-जगत् से अधिक स्वतत्रता व्यक्त रहती है, किन्तु यहां भी स्वतंत्रता की कोई स्पष्ट चेतना नही होती। अतः यहां किसी प्रकार की नैतिक चेतना भी नही होती। केवल विचारशील मनस् के जगत् में स्वतंत्रता की स्पष्ट चेतना प्रकट रहती है (यद्यपि यह स्वतत्रता सीमित होती है)। आंशिक सीमित सापेक्षिक स्वतत्रता की यह चेतना नैतिक चेतना या धर्म-चेतना से सम्बन्धित है तथा इस सापेक्षिक चेतना की व्यवहारिक अभिव्यक्तियाँ नैतिक या धार्मिक निर्णय की विशेष सामग्रियाँ है। यद्यपि इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे धर्म सर्वव्यापक और प्रापंचिक अस्तित्वों के समस्त क्षेत्रो मे अन्तर्निहित है, तथापि इस व्यवस्था में चेतन सापेक्षिक स्वतत्रता का क्षेत्र, धर्म के क्षेत्र में विशेष रूप से आता है। यहां नैतिक विभेद प्रमुख रूप से अभिव्यक्त रहता है।

मानव की नैतिक चेतना, जो सीमित स्वतत्रता की चेतना से बाह्य रूप में सम्बन्धित है, इस वस्तुगत सृष्टि में, जिसमें वह जीवित रहता, विचरण करता तथा इस सीमित स्वतत्रता का उपयोग करने का पर्याप्त क्षेत्र पाता है, धर्म के साम्राज्य में एक अन्तर्निहित विश्वास रखती है। उसका विश्वास है कि इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में पुण्य, सुख तथा जीवन, मनस् और बुद्धि के विकास एव उत्थान के लिये अनुकूल स्थितियों से पुरस्कृत होता है और पाप दुःख तथा

प्रतिकूल अवाछनीय स्थितियो से दडित होता है। उसका विश्वास है कि धर्म के नियमानुसार इस ससार में प्रत्येक व्यक्ति अपने अच्छे व बुरे कार्यो का अच्छा व बुरा फल भोगता है। प्रत्येक व्यक्ति भौतिक व मानसिक स्तरो पर अपनी सीमित स्वतंत्रता के उचित व अनुचित उपयोग का फल भोगता है। उसकी नतिक चेतना उसमे यह आत्म-विश्वास पदा करती है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता है तथा उसके कार्यो के गुण व दोषो के अनुसार, समय आने पर, यह ब्रह्माण्ड-व्यवस्था उसे उचित फल या बदला देती है, भारतीय दार्शनिकों ने इसे 'कर्म-सिद्धान्त' कहा है। इसका तात्पर्य है ब्रह्माण्ड-प्रक्रिया मे धर्म का साम्राज्य, इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में जड़ व अनैतिक दिखाई देनेवाले प्रपंचों पर भी नैतिक न्याय का अनुशासन—कम से कम उस सीमा तक, जिस सीमा तक वे इस जगत् मे सीमित स्वतत्रतायुक्त प्राणियों के समक्ष आत्म-विकास व आत्माभिव्यक्ति की अनुकूल व प्रतिकूल दशाये प्रस्तुत कर उनके सुख और दु खो को प्रभावित करते हैं। इस ब्रह्माण्ड-प्रक्रिया में धर्म के शासन मे यह विश्वास मानव-मन मे नैतिक सम्मान का एक भाव तथा व्यावहारिक जीवन मे कर्तव्य व उत्तरदायित्व के प्रति एक सक्रिय भाव जागृत करता है।

ठीक जैसे मानव के प्रामाणिक प्रत्यक्ष, अनुमान या तर्क रूप मे अभिव्यक्त उसकी बौद्धिक चेतना इस ब्रह्माण्ड व्यवस्था मे प्राकृतिक क्रम की वस्तुगत सत्ता का प्रमाण है, उसी प्रकार उसकी नैतिक चेतना इस व्यवस्था में धर्म या नैतिकता की वस्तुगत सत्ता के निश्चित प्रमाणस्वरूप उपस्थित रहती है। शिव-शक्ति का ब्रह्माण्ड शरीर बौद्धिक चेतना के समक्ष स्वय को एक प्राकृतिक व्यवस्था के रूप में प्रकट करता है तथा नैतिक चेतना के समक्ष एक 'नैतिक व्यवस्था' एक 'धर्म जगत्' के रूप में प्रकट करता है।

इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे धर्म के शासन पर गहन आस्था, पुनर्जन्म के सिद्धान्त—जन्म के अनन्तर जन्म एव नैतिक आदेशानुसार नयी-नयी परिस्थितियों में नये-नये शरीरों को धारण करना जो वस्तुत: समस्त भारतीय दार्शनिकमतों द्वारा मान्य है, का आधार है। प्रत्येक जन्म में एक व्यक्तिक अहम् पूर्व जन्मों के अच्छे व बुरे कर्मो का अच्छा व बुरा फल भोगता है और अपनी नैतिक चेतना की मांगों को पूरा करने के लिये नये अवसर प्राप्त करता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक कि व्यक्ति चेतना के उच्चतम स्तर पर उठकर धर्म के क्षेत्र के परे नहीं चला जाता है; एक योगी अपनी शुद्ध नैतिक और बौद्धिक चेतना द्वारा अपने कितने ही पूर्वजन्मों को स्मरण कर सकता है और अपने ध्यान को उस दिशा में केन्द्रित कर दूसरे लोगो के पूर्वजन्मों के विषय मे भी जान सकता है।

छठें, शिव-शक्ति के इस विराट् शरीर मे एक रस-जगत् (सौन्दर्यात्मक व्यवस्था) है। मानव की शुद्ध सौन्दर्यात्मक चेतना के समक्ष यह विशेष रूप से प्रकट होता है। समस्त ब्रह्माण्ड-शरीर में रस व्याप्त है। यह समस्त ब्रह्माण्ड को एक भव्य सुन्दर व्यवस्था बना देता है। इस अनन्त विभिन्नतायुक्त ब्रह्माण्ड में

समस्त रूप व समस्त स्तरों की सत्तायें सौन्दर्यतत्व से युक्त है तथा वे समस्त ब्रह्माण्ड के सौन्दर्य मे भाग लेकर उसे (सौन्दर्य को) बढाती है। आश्चर्य-जनक रूप से परस्पर सम्बन्धित व सगुफित जड़, जीवन, मनस् और बुद्धि-जगत्, ये समस्त सम्पूर्ण व्यवस्था के सौन्दर्य से गर्भित है और वे सब इस ब्रह्माण्ड-शरीर मे शिव-शक्ति के चिद् विलासी आत्म प्रकटीकरण के सौन्दर्य को अपनी निर्धारित भूमिकाये निभाकर पूर्णतया प्रकट करते है। धर्म-जगत् में प्रतीत होनेवाले समस्त नैतिक भेद रस-जगत् के सौन्दर्य मे विलीन हो जाते है। परिष्कृत सौन्दर्यात्मक चेतना, जो धर्मजगत् के समस्त नैतिक द्वन्दो मे तथा उनके माध्यम से प्रकट रस का अनुभव करती है, समस्त शुभ व अशुभ, समस्त पुण्य व पाप, समस्त उचित और अनुचित, जो इस ब्रह्माण्ड प्रक्रिया और विशेषतया मानव-स्वाभाव मे विकसित होते है, को स्वीकार करती है और सौन्दर्य के तत्व के रूप मे उनका आन्दोपभोग करती है।

शुद्ध सौन्दर्यात्मक चेतना, जो स्वभावतया रस-जगत् में निवास करती है, विनाश मे भी उतना ही सौन्दर्य पाती है, जितना कि सृजन मे, प्रकृति के हिंसक और रौद्र रूप मे उतना ही सौन्दर्य पाती है, जितना कि उसके सौम्य और हित-कारी रूप में; जीवित प्राणियों की विपत्तियो और पीड़ाओ में उतना ही सौन्दर्य पाती है, जितना कि उनके सुखों और समृद्धियों में। यह परमात्मा के समग्र ब्रह्माण्ड-शरीर के सौन्दर्य व गौरव की प्रशसा कर आनन्द भोग करती है और सम्पूर्ण को प्रत्येक भाग में प्रतिबिम्बित अनुभव करती है। जिस मनुष्य की आलोकित सौन्दर्यात्मक चेतना उसकी मानसिक, बौद्धिक और नैतिक चेतना के ऊपर छाई रहती है, उसका बाह्य वातावरण कैसा भी क्यो न हो, उसे रस-जगत् सर्वसमायोजित मधुर सौन्दर्य के जगत् में जीवित रहने, विचरण करने और शरीर धारण करने का आह्लादित अनुभव प्राप्त होता है। इस प्रकार वह इस ब्रह्माण्ड व्यवस्था के प्रति गहन प्रेम व प्रशंसा का भाव अनुभव करता है, परमात्मा की इस सुन्दर आत्माभिव्यक्ति की गौरवगरिमा व ऐश्वर्य में योगदान देनेवाले उन सबके प्रति एक गहन प्रेम व प्रशसा उसके मन में रहती है, जो अपनी नियत भूमिकाये निभा कर इसके सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं।

मानव की सौन्दर्यात्मक चेतना के लिये ब्रह्माण्ड में व्याप्त रस स्वय को नाना प्रकार के प्रापंचिक रूपो मे अभिव्यक्त करता है, जो मनस् में विभिन्न प्रकार के भाव सवेग और स्थायी भावो को उत्तेजित करते है। किन्तु इन सभी का ग्रहण और भोग सौन्दर्य व आनन्द के रूप मे किया जाता है। रस-तत्व पर विचार करते हुये दार्शनिक इसकी अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों का वर्णन करते है; यथा—मधुर, करुण, वीर, रुद्र, भीषण, हास्य, अद्भुत, शान्त, वीभत्स, इत्यादि। वास्तव मे रस की अभिव्यक्ति के विभिन्न रूप पूर्णतया वर्णित नहीं किये जा सकते तथा उनके द्वारा उत्तेजित विभिन्न प्रकार के भावों का भी यथावत् वर्णन करना कठिन है। उल्लेखनीय बात यह है कि हमारे सामान्य अनुभव मे जो

वीभत्स या भीषण या करुण प्रतीत होता है, चाहे भौतिक जगत् में हो अथवा पशु जगत् में या मानव जगत् में और हमारे मनों में विकर्षण या आतंक या खेद के भाव उत्तेजित करता है, वह भी इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में निहित सौन्दर्य या रसाभिव्यक्ति का एक रूप है और वह शुद्ध आलोकित सौन्दर्यात्मिक चेतना द्वारा इस रूप में प्रशंसनीय आनन्द प्रदान करता है। हम अपने साधारण अनुभव के अनेक दृश्यों के सौन्दर्य की प्रशंसा कर उनका आनन्द भोगने में असफल रहते हैं, क्योंकि हमारी इन्द्रियां और मनस् उनको उनके वास्तविक रूप में देखने, पूर्ण जिसके कि वे अंग हैं, की सापेक्षकता में उनका निरीक्षण करने, इस सुन्दर ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में उनके वास्तविक स्थान व कार्यों को मान्यता प्रदान करने के लिये समुचित रूप में अनुशासित व आलोकित नहीं हैं। भलीभांति विकसित सौन्दर्य चेतना वाले व्यक्ति प्रायः समस्त प्रकार के दृश्यों व जीवों से युक्त इस ब्रह्माण्ड को एक महान कलाकृति कहते हैं, जिसमें प्रत्येक वस्तु अपने उपयुक्त स्थान पर है और जिसमें समस्त भाग (पृथक्-पृथक् देखने पर उनमें कितना ही वैभिन्य और विरोध क्यों न हो) इस सम्पूर्ण के उदात्त सौन्दर्य में भाग लेकर अपना-अपना योग देते हैं। कभी-कभी वे इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था को सबसे मधुर व श्रेष्ठ संगीत की सतत धारा बताते और समस्त दृश्य (संसार) को उस शाश्वत और अनन्त संगीत की लय, ध्वनि और प्रकार इत्यादि बताकर इनका आनन्द भोगते हैं। कभी-कभी यह ब्रह्माण्ड-व्यवस्था एक महान् पौराणिक काव्य या एक महान् नाटक कही जाती है। एक महायोगी शिव-शक्ति की प्रापंचिक आत्माभि-व्यक्तियों के समस्त रूपों के सौन्दर्य और औदात्य का आनन्द भोगता है और उन्हें चिदविलास की संज्ञा से विभूषित करता है।

मानव, शिव-शक्ति का यह महासाकारपिण्ड एक आनन्द (आध्यात्मिक आनन्द) जगत् है। ब्रह्माण्ड-व्यवस्था का यह आनन्द रूप महायोगी, महाज्ञानी और महाभक्तों की तत्त्वज्ञानालोकित आध्यात्मिक चेतना के समक्ष प्रकट होता है। इस चेतना के समक्ष, हमारे सामान्य अनुभव के समस्त सुख और दुःख, आनन्द के तत्त्व के रूप में अनुभूत किये जाते हैं। व्यावहारिक अर्थ में आनन्द का तात्पर्य है अस्तित्व की चरम पूर्णता, जीवन और शक्ति की पूर्णता मनस् और तर्क की पूर्णता, नैतिकता और धर्म की पूर्णता, शुभ और सौन्दर्य की पूर्णता। शिव-शक्ति की इस ब्रह्माण्डरूपा आत्माभिव्यक्ति के समस्त पक्षों की चरम पूर्णता व्यावहारिक चेतना जो अद्वैत परमात्मा के पारमार्थिक और सक्रिय, स्वप्रकाश और आत्मप्रकाशक स्वभाव शिव-शक्ति के चरम स्वरूप की आध्यात्मिक ज्योति से पूर्णतया आलोकित होती है, के समक्ष अनावृत हो जाती है।

मन्यत., यह आनन्द परमात्मा शिव-शक्ति के शाश्वत व पूर्ण संयोग के यथार्थ और शाश्वत रूप का प्रतीक है और परमात्मा की अभिव्यक्ति के समस्त स्तरों के समस्त रूप इस आनन्द की नाना अभिव्यक्तियां हैं। इस प्रकार महा-साकार पिण्ड या परमात्मा का ब्रह्माण्ड शरीर भी ब्रह्मानन्द की काल-दिगाश्रित

विभिन्नतायुक्त अभिव्यक्ति है। भौतिक ब्रह्माण्ड के समस्त निर्माणकारी तत्व, जिन्हें योगियों द्वारा महाभूत या महातत्व कहा गया है, आनन्द के आत्माकार हैं। समस्त पुद्गल और प्राण और मनस् और बुद्धि, जो इस ब्रह्माण्ड शरीर मे विकसित हुये है, इस आनन्द की आत्माभिव्यक्ति के रूप हैं। इन्द्रियो व मनोजगत् तथा धर्मजगत् के समस्त द्वैत, रसजगत् की विभिन्न प्रकार की सौन्दर्यानुभूतियाँ—ये सभी परमात्मा के आनन्द से विकसित हुई है तथा आनन्द इन सबमे व्याप्त है। आनन्द सर्वाधार है। इस जगत् के साधारण अनुभव मे प्रतीत होनेवाली समस्त अपूर्णताये और अशुभ और पाप तथा कष्टो के अन्तर्गत तथा उनके पीछे आनन्द सत्य के रूप मे विद्यमान है। सच्चे अर्थों में, इस ब्रह्माण्ड मे आनन्द के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नही है। इसी कारण उपनिषदों मे घोषित किया गया है कि इस जगत् की समस्त प्रापञ्चिक सत्ताये आनन्द से उत्पन्न होती है, आनन्द में निवास करती है, आनन्द के पूर्ण साक्षात्कार की ओर अग्रसर होती है और अन्त में आनन्द मे समा जाती है। यह ब्रह्माण्ड आनन्द के दिक्कालान्तर्गत नाना रूपो के अतिरिक्त कुछ नही है। इस सृष्टि के सच्चे ज्ञान—इसके आनन्द, जो परमात्मा के मूल स्वरूप है, की विभिन्नतायुक्त अभिव्यक्ति के रूप में साक्षात्कार महायोगी, महाज्ञानी और महाभक्त स्वय को और इस सृष्टि को आनन्दमय देखते है।

योगी दार्शनिकों द्वारा यह सकेत किया जा चुका है कि शिव-शक्ति के ब्रह्माण्ड-शरीर में विभिन्न जगतो या विभिन्न अस्तित्व स्तरो और अनुभवों का इस प्रकार का वर्गीकरण या स्तरीयकरण कभी भी पूर्ण अथवा व्यापक या निश्चित नहीं हो सकता। विभिन्न दृष्टिकोणों से वर्गीकरण या स्तरीयकरण के विभिन्न सिद्धान्त अपनाये जा सकते है तथा इस प्रकार वर्गीकरण व स्तरीयकरण भी विभिन्न रूपों वाला हो जायेगा। विभिन्न स्तर की प्रापञ्चिक चेतनाओं के लिये, विभिन्न जगत् या अस्तित्व-स्तर प्रकट होते हैं और ये चेतनाये भी ब्रह्माण्ड-शरीर मे विकसित होती है। इसके अतिरिक्त ऐसे समस्त वर्गीकरण मानव-कल्याण और अनुभव पर आधारित हैं और कौन यह प्रमाणित कर सकता है कि मानव-अनुभव और कल्पना ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के समस्त अंगो – परमात्मा की ब्रह्माण्ड-रूपा आत्माभिव्यक्ति के समस्त रूपों को जान सकती है —या मानव-अनुभव और विचार को ही इस समस्त ब्रह्माण्ड क्रम के सम्पूर्ण व सच्चे स्वरूप का एकमात्र या सच्चा निर्णायक मानना चाहिये ?

आत्म-एकाग्रता और आत्म-आलोचन के समुचित यौगिक तरीकों के गहन अभ्यास से मानव-चेतना प्रापचिक ज्ञान की सीमाओं से ऊपर उठकर, ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के परे जाकर, जगदाधार परमात्मा से पूर्ण तादात्म्य प्राप्त करने की योग्यता पा सकती है। किन्तु उसका अनिवार्यत: यह अर्थ नही कि ऐसी तत्व-ज्ञानालोकित मानव-चेतना परमात्मा के समस्त प्रापंचिक ब्रह्माण्ड-शरीर शिव-शक्ति की अनन्त विभिन्नतायुक्त काल-दिकाश्रित आत्माभिव्यक्तियों का पूर्ण

व विशद ज्ञान प्राप्त कर सकती है। एक पूर्ण तत्वज्ञानालोकित महायोगी के प्रापचिक अनुभव व ज्ञान को सर्वव्यापक नही माना जा सकता। एक महायोगी की सर्वज्ञातता का अर्थ इस ब्रह्माण्ड के समस्त विवरणो का प्रापचिक ज्ञान नही, किन्तु समस्त अस्तित्वों के चरम सत्य का सवेदनात्मक या आध्यात्मिक ज्ञान है।

शिव-शक्ति के 'महासाकार पिण्ड' के विभिन्न पक्षो का अनन्त ऐश्वर्य सर्वश्रेष्ठ मानवीय वुद्धि, एक महाज्ञानी, महायोगी, महाभक्त की चरम आध्यात्मिक तत्वज्ञानालोकित व्यावहारिक चेतना के लिये भी अगम्य है। इसीलिये शास्त्र परमात्मा के इस ब्रह्माण्ड-शरीर मे असंख्य व विभिन्न प्रकार के ब्रह्माण्ड बतलाते है। मानव-अनुभव और ज्ञान केवल एक ही ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सीमित है और इस एक ब्रह्माण्ड का ऐश्वर्य भी पूर्णज्ञान की सीमा से परे है। बहुत से शास्त्रों मे इस ब्रह्माण्ड मे चौदह लोक या भुवन गिनाये गये है। इनका उल्लेख गोरखनाथ ने भी किया है। हम 'भू' के निवासी है। इस 'भू' के ऊपर भुवः, स्व., महः, जन., तप., तथा सत्य है, जो क्रमशः उच्चतर लोक है और जिनमे क्रमशः उच्चतर स्तर के जीव निवास करते है एव जिनमे प्रत्येक का अधिष्ठाता एक-एक देवता है। इस 'भू' के नीचे भी लोक है, यथा—अतल, वितल, सुतल, महातल, तलातल, रसातल तथा पाताल (सि० सि० प०।१।२-४)। विभिन्न स्तर के स्वर्ग और नरक भी गिनाये गये है। ये समस्त शिव-शक्ति के ब्रह्माण्ड-शरीर की अकल्पनीय महानता की ओर सकेत करते है। सृजन, रूपातर और विनाश की प्रक्रियाओ मे से यात्रा करता हुआ यह ब्रह्माण्ड नित्य नवीन तथा नित्य युवा है तथा दिक्काल में इसका कोई आदि और अन्त नही और इसकी एकता के अन्तर्गत विभिन्नताओं की कोई सीमा नही।

सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति मे महायोगी गोरखनाथ, शिवशक्ति के ब्रह्माण्ड-शरीर मे विभिन्न लोकों-अनुभव व अस्तित्व के विभिन्न स्तरो—का उल्लेख करते है, तथा जैसा कि आगे देखा जायेगा, वह बतलाते है कि किस प्रकार एक योगी अपने शरीर, जिसे वह ब्रह्माण्ड-शरीर का सक्षिप्त रूप कहते है—में इन समस्त लोकों का अनुभव कर सकता है। पूर्व वर्णित सप्त निम्न और सप्त उच्च लोकों या भुवनों के अतिरिक्त, वह कुछ और भी उच्चतर लोको का वर्णन करते है, यथा—'विष्णुलोक', 'रुद्रलोक', 'ईश्वरलोक' 'नीलकठलोक', 'शिवलोक' 'भैरवलोक' 'अनादिलोक', 'कुललोक' 'अकुललोक' 'परापरलोक' तथा 'शक्तिलोक'। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, महायोगी कभी यह नही मानते कि ऐसी गणना पूर्ण है या हो सकती है। यह तो संकेतमात्र है। यह सकेत करती है कि किस प्रकार परमात्मा के ब्रह्माण्ड-शरीर की अनन्त विराट्ता का ध्यान किया जा सकता है। जिस 'योगमत' का वे प्रचार करते है, वह प्रत्येक अध्यात्म जिज्ञासु को न केवल परमात्मा की ब्रह्माण्डरूपा आत्माभिव्यक्ति के अनन्त विस्तार, अनन्त क्लिष्टता, अनन्त गरिमा, अनन्त सौन्दर्य, अनन्त शुभ, अनन्त ऐश्वर्यपूर्ण व्यवस्था व सामजस्य, उलझन में डाल देनेवाली बाह्य विभिन्नताओं के मध्य पूर्ण आन्तरिक

एकता पर ही ध्यान धरने की शिक्षा देता है, बरन् अति गहन ध्यान और चिन्तन के माध्यम से उसके अपने वैयक्तिक शरीर की अनन्त महानता और पवित्रता और ब्रह्माण्ड-शरीर के साथ उसकी मौलिक एकरूपता के साक्षात्कार की भी सीख देता है।

व्यष्टि-पिण्ड (वैयक्तिक शरीर) का समष्टि-पिण्ड (ब्रह्माण्ड-शरीर) से समरसकरण, निज आत्मा और सृष्टि मे एक ही रस अथवा एक ही आध्यात्मिक अनन्तता, सौन्दर्य और आनन्द का साक्षात्कार सिद्धयोगी-सम्प्रदाय द्वारा प्रचारित एक महान आदर्श है। सिद्धयोगी-सम्प्रदाय का यह अर्थ आदर्श अद्वैत-वेदान्तमत के 'ब्रह्मात्मज्ञान' के आदर्श से भिन्न है, जैसाकि विस्तार से हम आगे देखेंगे, तथा जिसके अनुसार (अद्वैत वेदान्तानुसार) समस्त ब्रह्माण्ड-व्यवस्था और इसकी समस्त व्यक्तिक चेतनाये तथा सत्ताये मिथ्या है तथा जीवात्मा (मिथ्या व्यक्तिक शरीर, चेतना और अस्तित्व की उपाधियों से मुक्त) का ब्रह्म (इस मिथ्या ब्रह्माण्ड क्रम की उपाधि से मुक्त) से पारमार्थिक तादात्म्य है। योगी संप्रदाय ब्रह्म (अपनी समस्त ब्रह्माण्डरूपा आत्माभिव्यक्तियो सहित) और जीवात्मा (जिसकी व्यक्तिक चेतना ब्रह्म चेतना से पूर्णालोकित है और जिसका व्यक्तिक मानसिक भौतिक शरीर ब्रह्म के ब्रह्माण्ड-शरीर की महिमाओ को प्रकट करता है) के समरसकरण के आध्यात्मिक आदर्श का प्रचार करना है। इस प्रकार योगी गुरु हमारे समक्ष इस प्रापचिक सृष्टि की, जो ब्रह्म या शिव की अद्वितीय शक्ति के अनन्त गौरव की वास्तविक अभिव्यक्ति है, एक गरिमामय धारणा प्रस्तुत करते हैं और वे हममें यह चेतना जगाना चाहते हैं कि हम भी इस महाशक्ति की महिमा के सच्चे भागीदार है तथा जो कुछ भी ब्रह्माण्ड मे अभिव्यक्त है, वह हममें भी अभिव्यक्त है।

सिद्धयोगी-सप्रदाय, भारतीय दर्शन और धर्म के अन्य प्रमुख अधिकांश मतो के अनुरूप यह दृष्टिकोण अपनाता है कि इस प्रापचिक ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे प्रत्येक लोक के तीन, अनिवार्यतः परस्पर-सम्बन्धित पक्ष है, जिन्हे आध्यात्मिक, आधिभौतिक और दैविक कहा जाता है। आध्यात्मिक पक्ष से तात्पर्य है इस चेतना की विभिन्न आत्माभिव्यक्तियों और इसके अनुभवों को विशिष्ट और निश्चित रूप देने के लिये ज्ञान-भाव-क्रिया की इन्द्रियों की समुचित व्यवस्था के साथ प्रापंचिक चेतना का कोई विशेष स्तर तथा प्रापचिक अनुभवों का कोई विशेष क्रम। आधिभौतिक पक्ष का तात्पर्य है इन इन्द्रियों के माध्यम से इस चेतना के समक्ष प्रकट की गई एक विशेष स्तर की वस्तुगत या बाह्य सत्ताये। ये वस्तुगत सत्ताये इस चेतना के बाह्य शरीर का निर्माण करती हैं, जिस बाह्य क्षेत्र में यह स्वयं को अनेक प्रकार के ज्ञान, भाव, इच्छा और कर्म के रूप में अभिव्यक्त करने का अवसर पाती हैं, साथ ही अनेक प्रकार के पदार्थ जो इस क्षेत्र मे प्रकट और लुप्त होते हैं, इस चेतना स्तर पर सत्य रूप में देखे जाते है।

आध्यात्मिक और आधिभौतिक अंगों को एक ही व्यवस्था की सत्ताओं

की आत्मगत और वस्तुगत—या मानसिक और भौतिक—अभिव्यक्तियाँ माना जा सकता है और किसी के भी पृथक या दूसरे से असम्बन्धित अस्तित्व का कोई प्रमाण नही है। उदाहरणार्थ—आधिभौतिक या वस्तुगत जगत्, जिसमे हम वस्तुत निवास करते है, के विशेष स्वरुप व अस्तित्व का प्रमाण हमारे ऐन्द्रिक अनुभवों मे उपस्थित रहता है, दिक् मे विस्तीर्ण काल मे निरन्तर समस्त प्रकार की ध्वनियो, रगों, स्वादो, गन्धों, आकार-प्रकार, ताप, विद्युत-प्रकाश इत्यादि के समस्त दृश्यो सहित इसके अन्तर्गत विभिन्न कोटि के प्राणियो की उत्पत्ति तथा इसके विकास का सम्पूर्ण इतिहास तथा इस वस्तुगत जगत् की वास्तविकता या सत्ता का एकमात्र प्रमाण हमारे इन्द्रियप्रत्यक्ष, मनस् और बुद्धि मे ही है। विशेष रुप से निर्मित इन्द्रियो, मनसो और बुद्धियों की यह विशिष्ट व्यवस्था हमारे जगत् का आध्यात्मिक या आत्मगत पक्ष है और इन इन्द्रियो, मनसो और बुद्धियो की सत्ता या वास्तविकता का प्रमाण, उन पदार्थो को प्रकट करने मे निहित है। नेत्र रंगो के अस्तित्व के प्रमाण है और रग, प्रत्यक्ष नेत्रों के अस्तित्व का प्रमाण है। वे इस प्रकार पारस्परिक रुप से सबधित है कि उनके अस्तित्व के स्रोत को एक मानना असगत नही है। यही बात अन्य सब पर भी घटित होती है। प्रापचिक अस्तित्व के प्रत्येक स्तर का एक आध्यात्मिक और एक आधिभौतिक पक्ष होता है और इनमे प्रत्येक दूसरे की सत्ता को प्रकट करने में योगदान करता है। यह माना गया है कि प्रत्येक लोक मे वस्तुगत सत्ताओं के अनुभव के लिये एक पृथक् आध्यात्मिक व्यवस्था है और उस आध्यात्मिक व्यवस्था के अनुभूत पदार्थ बनने योग्य एक पृथक् आधिभौतिक व्यवस्था है।

एक जगत् के आधिदैविक अग का तात्पर्य है कि शिव-शक्ति के ब्रह्माण्ड शरीर मे प्रत्येक विशिष्ट लोक सुनिर्मित, सुव्यवस्थित प्रबन्ध है जिसपर एक महान देवता-शिव-शक्ति की एक गौरवशाली आध्यात्मिक अभिव्यक्ति करनेवाला—शासन करता है। वह इस जगत् के समस्त क्रिया-कलापों को सयोजित और शासित रखता है, समस्त विभिन्नताओं और परिवर्तनो मे इसकी एकता और निरन्तरता स्थिर रखता है, जो इस विशेष जगत् की अन्तर्यामी आत्मा के रुप मे प्रकट होता है और जो इस जगत् के आध्यात्मिक और आधिभौतिक पक्षों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित रखने का प्रमाण देता है। प्रत्येक लोक का अधिष्ठाता या स्वामी एक देवता है, जो इसके जीवन और आत्मा के रुप में प्रकाशित रहते हुये, इसकी शरीरिक एकता स्थिर रखता है और ऐसा प्रत्येक देवता शिव-शक्ति का एक विशेष आध्यात्मिक आत्म-उद्घाटन है। प्रत्येक जगत् या लोक मे मुख्य देवता, पुनः स्वयं को अनेक लघु देवताओं में प्रकट करता है, उन्हें अंग देवता (प्रमुख देवता के शरीरांगों के समान) कहा जाता है और जो सक्रिय आध्यात्मिक सस्थानो के रुप में जगत् के आध्यात्मिक और आधिभौतिक अगों को संयोजित और शासित करते प्रतीत होते है। इस प्रकार शास्त्र एक ही लोक (जगत्) मे अनेक कार्यो, शक्तियो और चरित्रोवाले देवताओ का वर्णन करते है। वे सब

इस अनन्त और शाश्वत ब्रह्माण्ड-शरीर मे शिव-शक्ति की विशिष्ट आध्यात्मिक आत्माभिव्यक्तियाँ है और इस प्रकार शिव-शक्ति से अभिन्न है। इन देवताओं की प्रापचिक सत्तायें हमारे साधारण अनुभव-पदार्थो व हमसे उच्चतर स्तर की होती है। समस्त स्तर के लोक (जगत्) अपने आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक पक्षोसहित परमदेवता परमात्मा परब्रह्म अपनी अनन्त दिव्य शक्ति सहित शिव की आध्यात्मिक व्यापकता के माध्यम से पूर्णरूपेण सगठित, सयोजित और एकताबद्ध है। समस्त स्तरो के लोको सहित, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड—व्यवस्था इस प्रकार परमात्मा की गौरवशाली आत्माभिव्यक्ति है। गोरखनाथ तथा तत्वज्ञाना-लोकित सिद्ध योगी सम्प्रदाय के अनुसार यही परमात्मा का महासाकार पिण्ड है।

●

बारहवाँ अध्याय

ब्रह्माण्ड-शरीर में व्यष्टि शरीरों का विकास

यह देखा जा चुका है कि गोरखनाथ और सिद्ध योगी-सम्प्रदाय के दृष्टि-कोण मे चरम सत्ता एक है, जो काल और दिक्, द्वैत और सापेक्षिकता, द्रव्यता और कारणत्व, गुण और संख्या, समस्त क्रिया और परिवर्तन, समस्त प्रापंचिक अस्तित्व और प्रापंचिक चेतनाओ के परे है। वह जीव और पुद्‌गल ज्ञाता और ज्ञेय, चेतन और अचेतन, कारण और परिणाम, निर्माता और निर्मित, सजीव और निर्जीव, कर्ता और कर्म इत्यादि के समस्त भेदो से परे है। वह पूर्णतया अभेद्य, अपरिवर्तनीय, निर्गुण, निष्क्रिय, निराकार और अनाम है। सर्वप्रथम उसे 'नाम-रहित एक' कहा गया है।

किन्तु चरम सत्ता के समस्त अस्तित्वो, समस्त चेतनाओं, हमारे वास्तविक और सभाव्य अनुभवों को इस सृष्टि के समस्त प्रापचिक स्तरों का चरम स्रोत और आधार मानना चाहिये। अत हमारी धारणा के उद्देश्य की दृष्टि से चरम सत्ता को शुद्ध पूर्ण और चरम सत्, शुद्ध पूर्ण और चरम चित् और इसी प्रकार शुद्ध पूर्ण और चरम आनन्द कहा गया है।

सत्-चित-आनन्द की यह धारणा निस्सन्देह अमूर्त के अर्थ मे नही की गयी है, वरन् यह सबसे परे नामरहित और एक चरम सत्ता के मौलिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमे मूर्त और अमूर्त गुण और गुणी के भेद का अस्तित्व नही होता। इस चरम सत्ता के सिद्ध योगी-सप्रदाय 'परासवित्' कहते हैं। सामान्य विवेचनों में इस 'परासवित्' को शिव या ब्रह्म या परमात्मा या आदिनाथ अथवा परमातमा का अन्य कोई सर्व-स्वीकृत दिव्य नाम दिया जाता है। इस सम्प्रदाय मे 'शिव' नाम की विशेष महत्ता है, क्योंकि धार्मिक और आध्यात्मिक अनुशासन के हेतु इस सम्प्रदाय ने 'शैव-मत' को स्वीकार किया है। इस प्रकार, इस सम्प्रदाय के मत मे शिव पूर्ण सत्य, चरम सत्ता है। वह परा-सवित्, शुद्ध और पूर्ण सच्चिदानन्द इस सृष्टि के समस्त अनुभवों, चेतनाओ, अस्तित्वों के समस्त स्तरों का चरम स्रोत है।

अस्तु, शिव या ब्रह्म या 'परा संवित्' एक ओर तो स्वतः सत्, स्वप्रकाश्य, स्वतः पूर्ण, अभेद्य, अपरिवर्तनीय, अद्वैत, काल, दिक् और सापेक्षिकता के परे पारमार्थिक चैतन्य या आत्मा हैं, और दूसरी ओर विस्मयकारी विभिन्नता से युक्त व परिवर्तनशील संयोजित और व्यवस्थित ब्रह्माण्ड-व्यवस्था और इसके अन्तर्गत वैयक्तिक अस्तित्वों के समस्त स्तरो, समस्त काल-दिकाश्रित, सापेक्षिक,

प्रापचिक सत्ताओं के चरम आधार स्रोत व पोषक है। अनिवार्य रूप से इसका तात्पर्य यह है कि चरम सत्ता मे परमार्थिक और सक्रिय दोनों पक्ष होने चाहिये; अपरिवर्तनीय, अभेद्य, आत्मपूर्ण चैतन्य का एक पक्ष और दूसरा स्व-सशोधक, स्वभेदक. स्वप्रकाशक, स्वगुणक सृष्टिकर्त्री शक्ति का पक्ष। इस प्रकार योगी सम्प्रदाय की धारणा है कि अपने से अभिन्न और अपने मे निहित अनन्त शक्ति सहित शिव परमात्मा है, प्रापचिक आत्माभिव्यक्ति के हेतु विशिष्ट शक्ति सहित चरम सत्ता है। विना शक्ति के शिव ब्रह्माण्ड के न तो आधार हो सकते है और न ही उनकी कोई प्रापचिक आत्माभिव्यक्ति हो सकती है, और विना शिव के शक्ति का कोई अस्तित्व ही न होता। शक्ति स्वत सत्-स्वप्रकाश शिव में, शिव के माध्यम से तथा शिव के लिये शाश्वत रूप से उपस्थित रहती है। शिव और शक्ति का कोई पृथक्-पृथक् अस्तित्व नही है। शिव का सक्रिय अग शक्ति है। परमात्मा या शिव के पारमार्थिक स्वरूप मे शक्ति की शाश्वत उपस्थिति के कारण, शिव शाश्वत रूप से 'निर्गुण' और 'सगुण' है—शाश्वत रूप से अपरिवर्तनीय एक या इकाई है और शाश्वत रूप से स्वय को अनेक रूपो मे अभिव्यक्त कर आनन्द भोगते है, शाश्वत रूप से अपने परमार्थिक स्वरूप में विराजते है और स्वय को प्रापचिक सृष्टि के विभिन्न सम्बन्धों के रूप मे शाश्वत रूप से प्रकट कर रहे है।

शिव अपनी शक्ति के क्रमिक आत्मोद्घाटन के द्वारा स्वय को अधिकाधिक व्यक्त रूपों, अधिकाधिक सगुण लक्षणो, अधिकाधिक पिण्ड रूपो मे प्रकट करते है। यद्यपि अपने परमार्थिक स्वरूप मे वे शाश्वत रूप से अपरिवर्तनीय है। मूल रूप मे उनकी शक्ति उनसे तद्रूप है तथा इसे शिव की निजाशक्ति कहते है। यह शक्ति शुद्ध इच्छामात्र होने के कारण शुद्ध चैतन्य से अभिन्न है। यह शक्ति क्रमिक रूप से स्वय को परा शक्ति, अपरा शक्ति, सूक्ष्मा शक्ति और कुण्डलिनी शक्ति के रूप में प्रकट करती है। इन्हें दिव्य शक्ति के आत्मोद्घाटन की प्राक्-सृष्टि-रचना की अवस्थाये माना जा सकता है। इन अवस्थाओं में शिव परपिण्ड रूप होते है। प्रत्येक अवस्था में शिव नया नाम और नये लक्षण धारण कर लेते है, यथा 'अपरम्परम्' परम पदम्, शून्यम्, निरजनम्, परमात्मा। इन नामो और गुणों सहित शिव अनादिपिण्ड के रूप मे प्रसिद्ध हो जाते है। इस प्रकार जबकि अपनी निज शक्ति के मुक्त और चिद् विलास के कारण उनकी उपाधियाँ विकसित होती जाती है, इन समस्त उपाधियों के स्वामी और आत्मा शिव सर्वदा उनसे परे अपनी शाश्वत पूर्णता के आनन्द का उपभोग करते है।

दिव्य शक्ति के और अधिक आत्मोद्घाटन से 'अनादिपिण्ड' के स्वरूप मे पांच और तत्व अपनी विशेषताओं सहित विकसित होते है। उनके नाम है परमानन्द प्रबोध, चिदुद्य, प्रकाश और अहभाव। वे अपने विशिष्ट लक्षणों से परमात्मा शिव के स्वरूप को अधिक सगुण बनाकर 'आद्यपिण्ड' का निर्माण करते हैं। 'आद्यपिण्ड' को अभी तक अविकसित काल-दिकाश्रित प्रापंचिक ब्रह्माण्ड-

व्यवस्था का कारण शरीर माना गया है, जो अमूर्त या बीज रूप मे शिव के इस कारण शरीर मे व्यक्त है। शिव के स्वरूप में नित्य सक्रिय शक्ति उनके लिये सदा नवीन लक्षणों का उद्घाटन और अधिकाधिक क्लिष्ट शरीरो का निर्माण करती रहती हैं। शिव उन सबमें अन्तर्यामी आत्मा, उनके स्वामी, प्रकाशक, सयोजक और भोक्ता के रूप मे प्रकाशमान रहते है। वे सब उनके 'विलास रूप' प्रतीत होते है।

इस प्रकार आद्यपिण्ड या शिव के कारण, शरीर मे शक्ति की अगली आत्मोद्घाटन-प्रक्रिया होती है और कालदिकाश्रित ब्रह्माण्ड-शरीर, जिसे महासाकार पिण्ड कहा जाता है, शनै शनैः विकसित होता है। आद्यपिण्ड की प्रकृति से क्रमिक प्रक्रिया के रूप मे अपने-अपने विशिष्ट लक्षणो सहित महाआकाश, महावायु, महातेजस, महासलिल और महा पृथ्वी विकसित होते है और इन्ही का पुंजीभूत रूप शिव को है। इस भव्य महासाकारपिण्ड में विभिन्न जगत्, विभिन्न अनुभव और अस्तित्व स्तर, विभिन्न प्रापचिक सत्ताये तथा उनके समक्ष प्रकट विभिन्न प्रापचिक अनुभव, विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ और क्रियायें, विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध और क्लिष्टताये विकसित होती है और वे सभी शिव के इस ब्रह्माण्ड-शरीर मे आश्चर्यजनक तथा सुन्दर रूप मे व्यवस्थित, सयोजित और एकान्वित होती है। सृजन, पालन और विनाश की प्रक्रियाये सर्वदा इस ब्रह्माण्ड-शरीर मे घटित हो रही है और उनके माध्यम से यह ब्रह्माण्ड-शरीर चिरनवीन नित्य जीवित और नित्य सुन्दर बना रहता है। अपनी शक्ति की आत्मोद्घाटित प्रक्रिया से शिव स्वय यह ब्रह्माण्ड-शरीर बन जाते है। इस प्रकार गोरखनाथ तथा सिद्ध योगियों द्वारा यह ब्रह्माण्ड एक भव्य और सुन्दर दिव्य शरीर, शिव या ब्रह्म की सृष्टि के इस रूप मे स्वय उपस्थित माना गया है। सृष्टि की समस्त विभिन्नताये उनके लिये शिव की नानात्मक आत्माभिव्यक्तियाँ है और इस प्रकार मूलतया आध्यात्मिक एव आनन्ददायक है।

इस प्रकार गोरखनाथ कहते है कि शिव स्वय को इस महासाकार पिण्ड रूप मे अभिव्यक्त कर इसके शासन के लिये स्वय को आठ दिव्य ब्रह्माण्ड व्यक्तित्वों के रूप मे प्रकट करते है, जिन्हें इस महासाकार पिण्ड की अष्टमूर्तियाँ कहा जाता है। इन ब्रह्माण्ड देवताओ के नाम है, शिव (स्वय), भैरव, श्रीकण्ठ सदा-शिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा। ये गरिमामय देवता निस्सन्देह स्वयं शिव ही है, जो परमात्मा है, इस समग्र सृष्टि और इसके अन्तर्गत समस्त लोक-स्तरो के स्वामी और उनकी अन्तर्यामी आत्मा है। किन्तु वे ब्रह्माण्ड-व्यवस्था तथा उसके अन्तर्गत विकसित सप्तलोकों से सम्बद्ध, उनमें निहित व उनपर शासन करनेवाली आठ ब्रह्माण्ड चेतनाओ के रूप मे परमात्मा की विशिष्ट गौरवपूर्ण आत्माभिव्यक्तियाँ प्रतीत होते है।

शिव स्वय प्रथम मूर्ति-चरम ब्रह्माण्ड व्यक्तित्व माने गये हैं, जिनका स्वप्रकाशित चैतन्य सबसे परे, सर्वान्तर्यामी, सर्व प्रकाशक और सर्व सयोजक है

और जो अपने ब्रह्माण्ड-शरीर में समस्त लोकस्तरो, अनुभव व अस्तित्व के समस्त स्तरो पर शासन करते है तथा उनकी गति व मर्यादा निर्धारित करते है। शिव से तथा शिव के अन्तर्गत भैरव, द्वितीय मूर्ति, दूसरा ब्रह्माण्ड देवता, विकसित होता है, जिसकी चेतना पूर्णतया आध्यात्मिक है, जो पूर्ण आध्यात्मिकता व आनन्दमयता के साम्राज्य मे विराजता है, जिसकी दृष्टि में समग्र ब्रह्माण्ड-व्यवस्था शिव का ब्रह्माण्ड-शरीर आनन्द व चैतन्य से परिपूर्ण है, जिसमे कोई अपूर्णता और सीमा नही, कोई बन्धन और दुःख नही तथा परमात्मा पर कोई आवरण नही है। इसी कारण भैरव की प्राय योग और ज्ञान के पूर्ण आदर्श के रूप मे उपासना की जाती है। अध्यात्म जिज्ञासु का लक्ष्य है चेतना के उस स्तर को प्राप्त करना, जिसका भैरव प्रतिनिधित्व करता है। गोरखनाथ प्रायः भैरव को एक योगी का आदर्श बतलाते है। तीसरे ब्रह्माण्ड देवता श्रीकण्ठ है, जो भैरव से विकसित होते है। वे सौन्दर्यात्मक चेतना की पूर्णता का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते है। वे सर्वदा सौन्दर्य या रस-जगत् मे निवास करते है। उनके लिये ब्रह्माण्ड-शरीर रसमय है, एक पूर्णरूपेण सुन्दर व्यवस्था है, जिसका प्रत्येक भाग पूर्ण के सौन्दर्य मे योगदान करता है और उससे मधुर रूप में समन्वित है। वे सर्वोत्कृष्ट सगीतज्ञ, सर्वोत्कृष्ट कवि, सर्वोत्कृष्ट चित्रकार और सर्वोत्कृष्ट कलाकार है तथा उनके लिये परमात्मा की समस्त ब्रह्माण्डरूपा आत्माभिव्यक्ति सगीत की एक पूर्णलय, एक पूर्ण कविता, एक पूर्ण चित्र, एक पूर्ण कलाकृति, एक पूर्ण नृत्य है। शिव के ब्रह्माण्ड-शरीर या महासाकारपिण्ड की सर्वव्यापक सुन्दरता सर्वदा उनकी चेतना के समक्ष प्रकट रहती है और वे इस सौन्दर्यजगत् मे अपनी आभा बिखेरते है और इसपर शासन करते है। ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे अन्तर्निहित सौन्दर्य की सिद्धि के लिये योगी, कला-साधना के चरम आदर्श के रूप मे इनकी उपासना करते है। उन्हे रसेश्वर, सौन्दर्य का स्वामी माना जाता है। उनको आदर्श मानकर एक योगी स्वय को इस सुन्दर ब्रह्माण्ड के अनुकूल बनाने तथा अपने समस्त आत्म-चेतन व्यक्तित्व को पूर्ण सयोजित और सुन्दर बनाने के लिये व्यवस्थित आत्म-अनुशासन के मार्गो का अनुसरण करता है।

सदाशिव को गोरखनाथ चौथा ब्रह्माण्ड देवता बतलाते है। वे श्रीकठ से विकसित हुये है। वे नैतिक चेतना की पूर्णता का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते है। वे धर्म जगत् के अन्तर्यामी व सर्वनियन्ता आत्मा है। उनके लिये ब्रह्माण्ड-व्यवस्था एक पूर्ण नैतिक व्यवस्था है, जिसमें शुभ का आदर्श या पूर्ण नैतिक उत्कृष्टता का सिद्धान्त नियामक रूप में अन्तर्निहित है तथा जिसमें यह आदर्श समस्त नैतिक द्वन्द्वो तथा प्रकट विरोधों के मध्य क्रमश सिद्ध किया जा रहा है। उसकी चेतना के समक्ष समस्त प्रतीत होनेवाले अशुभ और पाप समस्त घृणा, क्रोध, सकट तथा कष्ट इत्यादि इतने सुन्दर रूप में निर्मित, नियोजित व सयोजित हैं कि वे समस्त ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे पूर्ण शुभ के आदर्श की सिद्धि मे योगदान करते है। अतएव वह ऐसे समस्त भासित होनेवाले भ्रमों व त्रुटियों को क्रीड़क

भाव से देखता है और सबके प्रति दयालु, उदार तथा क्षमाशील रहता है। धर्म या नैतिक द्वन्द्वों के क्षेत्र मे रहनेवाले समस्त व्यक्तियो द्वारा स्वच्छता, शुभता, नैतिक श्रेष्ठता तथा सत्पथ से कभी विचलित हो जाने पर क्षमाशीलता की तत्परता के विकास हेतु प्रेरणा व शक्ति पाने के लिये उनकी उपासना की जाती है। उनका पूर्ण शुभ, पूर्ण धर्म के आदर्श के रूप मे ध्यान किया जाता है।

शिव के ब्रह्माण्ड शरीर मे पाचवी दिव्य मूर्ति को ईश्वर कहा गया है। उन्हे सदाशिव से विकसित बतलाया गया है। इस प्रसग में ईश्वर तार्किक या बौद्धिक चेतना की पूर्णता का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है। उनके लिये ब्रह्माण्ड-व्यवस्था एक भव्य तार्किक व्यवस्था है, जिसमें काल-दिकाश्रित प्रापञ्चिक सत्ताओ की विभिन्नताओं में से सत्य का आदर्श क्रमश. अनावृत तथा सिद्ध किया जा रहा है। उनकी चेतना मे सत्य का पूर्णरूपेण साक्षात्कार होता है और जो जगत् व्यवस्था में सत्य खोजते है उनका वह चरम आदर्श है। समस्त सत्यान्वेषियों का वह प्रेरणा स्रोत है तथा सबका समस्त कालो मे सर्वज्ञ गुरु है। वह समस्त मनसों में सत्य के लिये अभीप्सा जगाता है और उन्हे अज्ञान और त्रुटियों से बचाकर सत्य की ओर ले जाता है। ईश्वर की कृपा और उपासना से एक सत्यान्वेषी की बुद्धि तत्वज्ञानालोकित हो जाती है और वह समस्त लोक-व्यवस्था का एक तार्किक व्यवस्था के रूप में साक्षात्कार करता है तथा समस्त मानसिक, जैविक तथा भौतिक प्रपचो मे सत्य के दर्शन करता है। यह ईश्वर की कृपा का फल है कि मानव की समस्त शाखाये—समस्त विज्ञान और दर्शन, समस्त भाषाये और साहित्य, इस मानव-समाज मे विकसित हुये है।

ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में छठे दिव्य व्यक्तित्व रुद्र है, जिन्हे ईश्वर से विकसित बतलाया गया है। इस प्रसंग मे रुद्र को ब्रह्माण्ड मनस् का प्रतिनिधित्व करनेवाला माना जा सकता है। वे मनो-जगत् के शासक और अन्तर्यामी है। वे स्वय को शिव के ब्रह्माण्ड शरीर मे समस्त प्रकार के मानसिक प्रपचो तथा समस्त प्रकार की मानसिक शक्तियों के रूप मे अभिव्यक्त करते है, उनपर नियंत्रण रखते है तथा उनमे एकता और व्यवस्था स्थिर रखते हैं। उन्हे सर्वशक्तिमान, सर्व-ज्ञाता तथा समस्त मनसो को, जो उन्हे खोजते है, ज्ञान, बल, महानता तथा प्रतिभा प्रदान करनेवाला माना गया है। किन्तु वे सत्य-शिव-सुन्दर और आध्यात्मिक आनन्द के आदर्शो से प्रत्यक्ष रूप मे सम्बन्धित नही दिखाई देते है, जिनका प्रतिनिधित्व ईश्वर, सदाशिव, श्रीकण्ठ और भैरव करते हैं। रुद्र (इस धारणा के अनुसार) मुख्यतया मनोबल के विकास, इच्छाओं और महत्वाकाक्षाओ की प्राप्ति ज्ञान की परिधि के विस्तार तथा मानसिक वातावरण की अनुकूलता के लिये पूजे जाते है।

परमात्मा की विराट् दिव्य आत्माभिव्यक्तियो की परपरा मे सातवे स्थान विष्णु ग्रहण किये हुये है, जिन्हे रुद्र से विकसित माना गया है। विष्णु यहां 'विश्व प्राण' का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते है। वे सृष्टि मे सर्वव्यापक प्राण-

शक्ति है। वे प्राण-जगत् की आत्मा और उसके स्वामी है। वे स्वय को शिव के ब्रह्माण्ड शरीर के समस्त प्रकार की प्राण-शक्तियो और जैविक प्रपचों मे अभिव्यक्त कर, उनपर नियत्रण तथा उनमे एकता व व्यवस्था स्थिर रखते है। इस धारणा के अनुसार विष्णु भी इस ब्रह्माण्ड मे निहित उच्च बौद्धिक, नैतिक, सौन्दर्यात्मिक और आध्यात्मिक आदर्शो से प्रत्यक्ष रूप मे सम्बन्धित नही है, किन्तु वे प्राण-जगत् पर शासन करनेवाली अन्तर्यामी आत्मा है, जिसके समन्वित विकास पर मनो-जगत् तथा पूर्व वर्णित आदर्शो की इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे सिद्धि सभव है। अत. उपासको मे प्राण-बल के विकास व उत्थान तथा जैविक क्षेत्र मे शांति, सुव्यवस्था व एकता के लिये उनकी उपासना करनी चाहिये।

प्रसगवश यह उल्लेख किया जा सकता है कि रुद्र सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिये रुद्र परमात्मा (अपनी पूर्ण चेतना तथा अनन्त शक्तियुक्त) का नाम है, विष्णु मत के अनुयायियों के लिये विष्णु या नारायण उसी परमात्मा का नाम है और इसी प्रकार कृष्ण-मतावलम्बियो व राम-मतावलम्बियो के लिये कृष्ण या राम उसी परमात्मा के नाम है। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो के अनुयायी उसी चरम सत्ता, अनाम, एक पूर्ण सच्चिदानन्द, समस्त अस्तित्वो के आध्यात्मिक आधार व स्रोत के विभिन्न पवित्र नाम बतलाते है। सच्चे योगी, ज्ञानी और भक्त इन नामो के बारे मे कभी नही झगड़ते। प्रत्येक नाम की महिमा, उसके विषय में संप्रदाय की धारणा से आकी जा सकती है।

गोरखनाथ की धारणा के अनुसार शिव के ब्रह्माण्ड शरीर में आठवी दिव्य मूर्ति ब्रह्मा है, जिन्हें विष्णु से विकसित माना गया है। ब्रह्मा स्थूल भौतिक जगत् की आत्मा व स्वामी है। वे स्वय को समस्त प्रकार के भौतिक शरीरों, भौतिक बलों और भौतिक दृश्यों मे अभिव्यक्त कर उन्हे नियत्रित, नियोजित करके इस भौतिक ब्रह्माण्ड को एकता प्रदान करते हैं। उन्हें परमात्मा के विराट् शरीर के अन्तर्गत स्थूल भौतिक शरीरों से युक्त, समस्त स्थूल वैयक्तिक अस्तित्वों के विभिन्न रूपों का वास्तविक निर्माता व सक्रिय स्रोत माना गया है। उन्हें आध्यात्मिक, सौन्दर्यात्मिक और नैतिक चेतना तथा जीवन, मनस् और बुद्धि को नाना प्रकार के भौतिक शरीरों को प्रदान करनेवाला कहा जा सकता है। उनके माध्यम से शिव अपनी शक्ति के साथ अवतरित होकर स्वय को स्थूलतम तथा निम्नतम अस्तित्व व अनुभव के भौतिक और ऐन्द्रिक स्तर पर व्यक्त करत हैं। इस प्रकार ब्रह्मा को हमारे सामान्य इन्द्रियानुभव के जगत् की भौतिक विभिन्नता का रचयिता माना गया है। भौतिक आकार या शरीरधारी वैयक्तिक जीवो के रूप में हम भौतिक जगत् में ब्रह्मा के अस्तित्व व अवलोकन (चेतन इच्छा) से उत्पन्न होते हैं तथा उनके नियम से शासित होते हैं, अतएव उनके प्रति आभार प्रदर्शन तथा उनकी उपासना करना हमारे लिये आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार यद्यपि सामान्य रूप में गोरखनाथ समस्त ब्रह्माण्ड शिव के इस महासाकारपिण्ड को पंच भौतिक अर्थात् शिव के आदिपिण्ड से विकसित पाच

महाभूतों से निर्मित मानते है, तथापि वे इस काल-दिकाश्रित ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे विभिन्न ब्रह्माण्ड सत्ताओं तथा ब्रह्माण्ड चेतनाओं के विभिन्न स्तरो के विकास की ओर भी संकेत करते है। यह ध्यान रखने की वस्तु है कि जिस विकास-क्रम का वे वर्णन करते है, वह निम्न स्तरो से उच्च स्तरो पर पहुचने की प्रक्रिया का सूचक न होकर, आध्यात्मिक अनुभव व आध्यात्मिक चेतना के उच्चतम स्तर से शनै शनैः चेतना व अस्तित्व के निम्नतर स्तरों पर उतरने की प्रक्रिया—जब तक वह निम्नतम इन्द्रियगत व भौतिक स्तर पर पहुच नही जाते, का सूचक है। चरम सत्ता शाश्वत रूप से उच्चतम पारमार्थिक स्तर पर विराजती है, अतएव उसकी ब्रह्माण्डरूपा आत्माभिव्यक्ति को निश्चित रूप से निम्नतर प्रापचिक स्तरों की ओर उन्मुख होना चाहिये। उसके स्वरूप का अनन्त ऐश्वर्य जो पारमार्थिक स्तर पर पूर्णरूपेण सगठित रहता है, निम्नतर स्तरो पर नाना रूपों मे अधिकाधिक उद्घाटित होता है। किन्तु ऐसे समस्त स्तरो मे असीम आनन्द के उच्चतम स्तर पर पुनः लौटने की अभीप्सा प्रापचिक सत्ताओ और कार्यो के स्वभाव में अन्तर्निहित आदर्श के रूप में सर्वदा रहती है। इस प्रकार अवतरण और उन्नयन की प्रक्रिया, अनेकता की ओर प्रवृत्ति और साथ ही एकता की ओर प्रवृत्ति—इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में प्राप्त होती है।

दर्शन के इस मत का एक अन्य लक्षण भी उल्लेखनीय है। इसमें ब्रह्माण्ड-शरीर और ब्रह्माण्ड-तत्वो के विकास के अन्तर्गत प्रापंचिक व्यष्टि-सत्ताओं और प्रापचिक व्यष्टि चेतनाओ की विभिन्न व्यवस्थाओं का विकास होता है। एक पूर्ण रूप मे समस्त सृष्टि-शक्तियो व तत्वो सहित समष्टि-पिण्ड, सर्वप्रथम शिव-शक्ति के पारमार्थिक स्वरूप मे अभिव्यक्त होता है और तब शनै. शनैः कालान्तर मे अनेक व्यष्टि पिण्ड, समष्टि पिण्ड को अधिकाधिक विभिन्नतायुक्त रूप प्रदान करने के लिये, दिक और काल की सापेक्षता मे, इसके अन्तर्गत विकसित होते हैं। परमात्मा का चरम एकत्व उनकी अनन्त शक्ति के शनै. शनै. आत्मोद्घाटन के माध्यम से उनकी ब्रह्माण्डगत आत्माभिव्यक्ति मे विभिन्नता व नाना नाम रूपात्मकता से युक्त एकता का रूप धारण कर लेता है।

जहा तक सार्वभौमिक ब्रह्माण्ड-नियमों का सम्बन्ध है, अष्ट दिव्य व्यक्तित्वो तथा उनसे सम्बन्धित अस्तित्व व चेतना के स्तरो के विकास के साथ ही शिव-शक्ति के समष्टि पिण्ड या महासाकार पिण्ड का निर्माण पूर्ण हो जाता है। ब्रह्मा का स्तर सबसे निम्नतर व स्थूलतम है तथा हमारे इन्द्रियानुभव के स्थूल जगत् से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। इसी कारण गोरखनाथ इस जगत् की व्यष्टि सत्ताओ व चेतनाओं का विकास ब्रह्मा के अवलोकन से चित्रित करते है। यह अवलोकन या चेतन इच्छा 'प्रकृतिपिण्ड' के रूप मे प्रकट होती है, जिससे समस्त व्यष्टि-पिण्ड विकसित होते है। गोरखनाथ यह कहते है :

> **तद् ब्रह्मणः सकाशाद् अवलोकनेन नर-नारी रूपः प्रकृति पिण्डः**
> **सम्पुत्पन्नस्तन्च पच पंचात्मकं शरीरम्।**

(सि० सि० प० १/३८)

वे प्रकृति-पिण्ड को नर-नारी रूप के सम्मिलन के स्वरूपवाला बतलाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके मतानुसार समस्त सजीव व्यष्टि-शरीर पितृत्व व मातृत्व के तत्वों के मिलन से उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार अपनी रचना में नर-नारी तत्वों को धारण किये होते है। प्रत्येक व्यष्टि-शरीर प्रकृति-पिण्ड की विशिष्ट अभिव्यक्ति है, जिसमे दोनों तत्व, ब्रह्मा इस भौतिक जगत् मे व्यष्टि-शरीरों का रचयिता, की इच्छा से सयुक्त है। ब्रह्मा के जगत् में प्रकृति-पिण्ड से विभिन्न प्रकार की भौतिक क्षमताओं, योग्यताओ और शक्तियों से युक्त जीवो के व्यष्टि-शरीर उत्पन्न होते है। वे सब अन्तिम रूप मे शिव के ब्रह्माण्ड शरीर की वैयक्तिक अभिव्यक्तियाँ हैं और इस प्रकार मूल रूप से उनसे (शिव) अभिन्न है।

योगी गुरु गोरखनाथ वैयक्तिक मानव-शरीर की सरचना मे विशेष अभिरुचि रखते है। प्रथम, मानव शरीर मे व्यष्टि-पिण्ड के समस्त वाह्य और आतरिक अग या इन्द्रियाँ पूर्ण रूप से विकसित व अभिव्यक्त रहती हैं। व्यष्टि पिण्ड के निम्न स्तरों में अनेक अग प्रत्यक्ष रूप से प्रकट न होकर केवल मूल या वीज रूप में विद्यमान रहते है। शास्त्रों में प्राय: चौरासी लाख योनियाँ बतलाई गई है और मानव शरीर उनमे सर्वाधिक विकसित, क्लिष्ट, संयोजित व सर्वाधिक व्यवस्थित है। इसमें भौतिक, जैविक, मानसिक तथा बौद्धिक समस्त अग समानुपात से विकसित है और वे कुशलता से एक दूसरे के साथ सहयोग करते है। इसमें प्राण और मनस् और बुद्धि प्रमुखतया व्यष्टि-रूपों में व्यक्त होते है और अपनी आत्माभिव्यक्तियों के लिये सापेक्षिक रूप में अधिक मुक्त क्षेत्र पाते हैं। नैतिक, सौन्दर्यात्मक और आध्यात्मिक चेतनाये भी मानव-शरीर में भव्य रूप में व्यक्त और विकसित होने का पर्याप्त अवसर पाती हैं।

इस प्रकार व्यष्टि के रूप में मनुष्य को, अपनी श्रेष्ठ शरीर-रचना के कारण इन समस्त विभिन्न लोकों मे निवास करने तथा विभिन्न अस्तित्व व अनुभव-स्तरों में भाग लेने का असाधारण अवसर प्राप्त है। अपनी प्रापचिक चेतना सहित कोई भी व्यक्ति, आत्मानुशासन एवं आत्मशोधन के समुचित मार्गों का अनुसरण कर, अनुभव और अस्तित्व के एक लोक से दूसरे लोक में चले जाने की शक्ति प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड-व्यवस्था की विकास-प्रक्रिया में व्यक्तिक मानव-शरीर का एक महत्वपूर्ण स्थान है, काल-दिकाश्रित ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के अन्तर्गत शिव-शक्ति की प्रापंचिक आत्माभिव्यक्ति की प्रक्रिया में मानव देह एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण किये हुये है। इसी कारण गोरखनाथ ब्रह्मा के प्रकृति पिण्ड से विकसित मानव देह की मानसिक, भौतिक संरचना का बहुत सूक्ष्म व व्यापक वर्णन प्रस्तुत करते हैं। भौतिक स्तर पर व्यष्टि-सत्ताओं के जगत् के तात्कालिक दिव्य स्रोत ब्रह्मा माने गये हैं।

दूसरे, गोरखनाथ तथा सिद्ध योगी संप्रदाय व्यक्तिक मानव शरीर को शिव-शक्ति के ब्रह्माण्ड शरीर का लघु रूप मानते हैं। एक योगी ध्यान और

चिन्तन के गहन अभ्यास से समस्त ब्रह्माण्ड को अपने भीतर अनुभव कर सकता है तथा स्वयं को समस्त ब्रह्माण्ड से एकाकार कर सकता है। ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के समस्त लोक, समस्त अस्तित्वो की विभिन्न व्यवस्थाये तथा समस्त अनुभवों के अनेक स्तर पूर्ण विकसित मानव देह में किसी रहस्यमय ढग से अपना प्रतिनिधित्व पाते हैं। प्रकटतः दिक् का थोड़ा सा भाग घेरनेवाली स्थूल पार्थिव स्तर पर थोड़े समय के लिये जीवित रहनेवाली मानव देह शिव-शक्ति के महासाकार पिण्ड का सुन्दर दर्पण है। समस्त ब्रह्माण्ड की क्लिष्टताओं, विभिन्नताओं, सौन्दर्य तथा गरिमा को मानव देह सूक्ष्म रूप में प्रकट करती है। क्रमिक आत्मशोधन व उच्च आत्मानुशासन से जब मनुष्य की प्रापंचिक चेतना निम्नस्तरो के बन्धनों, सीमाओं तथा अपूर्णताओं से मुक्त होकर इस लघु लक्षित होनेवाले शरीरिक ढांचे के अनन्त ऐश्वर्य के बारे मे आलोकित हो जाती है, तब उसमे एक श्रेष्ठ प्रतिभा-सम्पन्न आत्म-चेतना का उदय हो जाता है और वह स्वयं को समस्त बन्धनों व दु:खों से मुक्त अनुभव करने लगता है। वह तब सबको अपने में और स्वयं को सबमें देखता है और उसके लिये बन्धन, क्रोध तथा कष्ट का कोई कारण नही रह जाता। समस्त ब्रह्माण्ड-व्यवस्था को मानव शरीर के अन्तर्गत अनुभव करने की इस सभावना व योग्यता ने इस देह का महत्व व मूल्य बहुत अधिक कर दिया है और इसीलिये गोरखनाथ मानव शरीर के स्वरूप का विशेष रूप से वर्णन करते है।

तीसरे, दिव्य शक्ति जो अपनी ब्रह्माण्ड-रूपा-आत्माभिव्यक्ति की प्रक्रिया में पूर्ण एकत्व व आनन्द के उच्चतम पारमार्थिक आध्यात्मिक स्तर से शनै. शनैः अनन्त अपूर्णताओं व विभिन्नताओ के निम्नतम प्रापचिक भौतिक स्तर पर उतर आती है, पुनः मानव शरीर के ही अन्तर्गत और उसी के माध्यम से योग, ज्ञान और भक्ति के आत्मचेतन मार्गो के द्वारा पारमार्थिक आध्यात्मिक स्तर पर पहुच जाती है तथा परमात्मा शिव से पूर्णरूपेण आनन्दमय एकत्व प्राप्त कर लेती है। शक्ति का अवतरण तथा उसकी विभिन्नता से युक्त आत्माभिव्यक्ति ब्रह्माण्ड-व्यवस्था की सृजन, पालन और विनाश की प्रक्रियाओं से प्रकट होती है; जबकि शक्ति के उन्नयन व आत्मैकत्व की श्रेष्ठनम अभिव्यक्ति मानव की प्रापंचिक चेतना में आध्यात्मिक अभीप्सा तथा उसके व्यवस्थित आध्यात्मिक आत्मानुशासन, आत्मोत्थान तथा आत्मावलोकन मे होती है। मानव अपने विकसित व्यक्तित्व के द्वारा परमात्मा शिव का अनुभव अपनी तथा सृष्टि की वास्तविक आत्मा के रूप में कर सकता है। इसी कारण शिव-शक्ति की ब्रह्माण्ड-रूपा-आत्माभिव्यक्ति में मानव शरीर का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान तथा कार्य माना जाता है।

तेरहवाँ अध्याय

व्यष्टि-पिण्ड की रचना

गोरखनाथ मानव व्यक्तित्व के स्वरूप के विषय में व्यापक दृष्टिकोण अपनाकर इसकी रचना का यौगिक दृष्टि से विश्लेषण करते है। वे मानव-शरीर को (१) भूत पिण्ड, (२) मानसिक शरीर, जिसे अन्तःकरण पंचक कहा है, (३) कुल पचक, (४) व्यक्ति पचक, (५) प्रत्यक्षकरण पचक, (६) नाड़ी संस्थान तथा (७) दश वायु अथवा दस प्राण वायु से युक्त बतलाते है।

(१) स्थूल भौतिक शरीर

पांच स्थूल भौतिक तत्वों से निर्मित प्राण-बल व मनोबल से युक्त भौतिक पिण्ड या भौतिक शरीर ब्रह्मा की सृजनेच्छा द्वारा निर्मित सोद्देश्य रचना है। तथापि, शरीर के विभिन्न भागों में विभिन्न तत्व अधिक स्पष्ट अनुपातों में प्रकट होते है। अस्थि, मास, त्वक्, नाड़ी तथा रोम अर्थात् समस्त ठोस अगो मे भूमि या पृथ्वी तत्व सर्वाधिक प्रकट रहता है और गोरखनाथ उन्हे भूमि के पांच गुण (संभवतः विशिष्ट अभिव्यक्तियों के अर्थ में) कहते है। शरीर के तरल तत्वो यथा लाला (थूक) मूत्र, शुक्र, शोणित और स्वेद—में अप् या सलिल तत्व अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट रहता है और उन्हे अप् के पांच गुण कहा जाता है। क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, कान्ति और आलस्य को गोरखनाथ भौतिक दृश्य मानते है, जिनमें तेजस् तत्व की विशिष्ट अभिव्यक्तिया है। उनके अनुसार, ये दृश्य जीवित शरीर के विभिन्न भागो में तेजस् या अग्नि के विभिन्न कार्यो और प्रभावों के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। धावन, भ्रमण, प्रसारण, आकुंचन और निरोधन ये शरीरिक क्रिया कलाप है, जो मुख्य रूप से वायु तत्व से निर्धारित होने के कारण वायु के गुण कहे जाते हैं। राग, द्वेष, भय, लज्जा और मोह को आकाश तत्व की विशिष्ट अभिव्यक्तियां माना जाता है और तदनुसार उन्हें आकाश के पाच गुण कहा जाता है। इस प्रकार महायोगी स्थूल भौतिक शरीर को पांच स्थूल भूतों तथा उपर्युक्त पच्चीस गुणों से युक्त वर्णित करते है। (सि० सि० प० १/३६-४३)

यह ध्यान देने योग्य है कि भौतिक शरीर के प्रति महाभूतों के विशिष्ट योगदान की गणना करने में महायोगी ने कुछ दृश्यों का उल्लेख किया है, जो प्रकटतः हमारे प्राण या मानसिक स्वरूप की अभिव्यक्तिया है। किन्तु वे अधिकांशतः हमारी परिवर्तनशील भौतिक दशाओं के कारण उत्पन्न होती हैं। भौतिक शरीर के अनुशासन और समुचित उपचार द्वारा उनमें से अनेक को ठीक प्रकार से व्यवस्थित किया जा सकता है। इसीलिये इस शरीर के चरम तत्वों से उनकी

उत्पत्ति चित्रित की जाती है। यह अकाट्य तथ्य है कि हमारे मनस् और जीवन पर, हमारे स्वभावों और आदतो पर, हमारी प्रवृत्तियों और रूचियो पर भौतिक शरीर अत्यधिक प्रभाव डालता है। इसीलिये योगी इस शरीर की रचना तथा भौतिक क्रिया-कलापो पर नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान के हेतु नियत्रण तथा नियोजन को अत्यधिक महत्व देते है।

(२) अन्तःकरण पंचक या मानसिक शरीर

तदनन्तर गोरखनाथ मनस् के स्वरूप अथवा मानव व्यक्तित्व के मानसिक शरीर के विश्लेपण की ओर अग्रसर होते हैं। गोरखनाथ के दर्शन को समझने के लिये यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि पूर्ण की सत्ता अशो से मूलत पूर्ववर्ती है, जिसकी ये आत्माभिव्यक्तिया है। पूर्ण वास्तव मे एक है और यह स्वयं को अनेक रूपों में व्यक्त करता है और इन अभिव्यक्तियों की सापेक्षता मे ही इसे पूर्ण कहा जाता है। चरम रूप मे शिव (परमात्मा) अपने मे निहित और अपने से तद्रूप शक्ति के सहित अद्वैत सत्ता है तथा अपनी शक्ति के आत्मोद्घाटन और आत्म-विभाजन के अनेक स्तरों के माध्यम से वे ब्रह्माण्ड शरीर, जो रचना की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध तथा एकान्वित अनेक आत्माभिव्यक्तियो के सहित एक सत्ता है, की ब्रह्माण्डात्मा बन जाते हैं। पुनः शिव ब्रह्माण्ड-शरीर में ब्रह्माण्डात्मा रूप में अद्वैत सत्ता है और वे स्वयं को अनेक ब्रह्माण्ड देवताओं और अनुभव व अस्तित्व के परस्पर सबंधित लोकों के रूप में प्रकट करते है तथा स्वयं इनकी आत्मा, केन्द्र, शासक व ऐक्यकर्ता के रूप में रहते है। इस प्रकार वे अपने में व्यवस्थित और एकान्वित अनेकानेक विभिन्नताओ के रूप में स्वयं को व्यक्त कर, अत्यधिक विशाल और गौरवशाली पूर्ण का रूप धारण कर लेते हैं। पुनः इस अतिशय क्लिष्ट ब्रह्माण्ड व्यक्तित्व के रूप मे अपनी शक्ति के और अधिक आत्म-विभाजन के द्वारा वे स्वय को काल, दिक्, कारणत्व और सापेक्षिकता की सीमाओं से विभिन्न रूपों में बाधित असख्य प्रकार के व्यष्टि शरीरों, व्यष्टि चेतनाओं और व्यष्टि जीवो के रूप में प्रकट करते है। इन सबमें शिव स्वय को प्रकट कर आनन्दमयी क्रीड़ा कर रहे हैं तथा वे उन सबकी अन्तर्यामी आत्मा व सर्वशक्तिमान प्रभु है। उनकी सापेक्षता में शिव और अधिक क्लिष्ट एवं गौरवमय पूर्ण बनते प्रतीत होते है। पुन. दिव्य आत्मा से सयुक्त प्रत्येक व्यष्टि शरीर एक पूर्ण इकाई है, जो इसके विकास की प्रारभिक अवस्थाओ मे अव्यक्त इन्द्रियों, बलों और गुणों की अभिव्यक्ति से अधिकाधिक विषम और क्लिष्ट बन जाता है। जितने अधिक विभिन्न रूपों में वे व्यक्त होते है, उतने ही वे व्यष्टि शरीर में संगठित व एकान्वित होते जाते हे तथा शरीर उतनी ही क्लिष्ट इकाई बनता जाता है। इस प्रकार वह प्रत्येक स्तर पर पूर्ण अगों को व्यवस्थित करता है और अंग पूर्ण की समृद्धि में योगदान करते रहते है, प्रत्येक जीवित अग पुनः पूर्ण की भूमिका का निर्वाह करते हुये अगो को जन्म देता है, जो इसे समृद्ध करते है। इस प्रकार से विकास-प्रक्रिया चलती रहती है और चरम सत्ता अगो के अन्तर्गत अंगों की

उत्पत्ति के द्वारा वृहत्तर और पूर्ण इकाई बनती जाती है। ये समस्त अंग चरम कारण में अव्यक्त अवस्था मे बीज या मूल रूप से उपस्थित रहते है और व्यक्तावस्था मे भी वे उससे मूलतः एकरूप है। गोरखनाथ और उनके सम्प्रदाय का यह 'सत्-कार्य-वाद' है। कारण-कार्यो मे परिवर्तित होता है और कार्यो से वह समृद्धि बनता है। इस प्रकार पूर्ण अग बन जाता है तथा अंगो से युक्त वह अधिकाधिक क्लिष्ट रूप में पूर्ण बन जाता है। चरम सत्ता, इस चरम कारण में कुछ भी नितान्त नवीन नही जुड़ता, सब कुछ उसी में से विकसित होता है।

हम अपने वास्तविक अनुभव मे पाते है कि जीवित व्यष्टि शरीर से, उसीके अन्तर्गत क्रमश व्यष्टि मनस् विकसित होता है, जब शरीर समुचित रूप से विकसित होकर विभिन्न इन्द्रियों व अगो, जिनके द्वारा मानसिक प्रपचो की अभिव्यक्ति होती है, से युक्त हो जाता है। भौतिक शरीर के सूक्ष्मतम कीटाणु के रूप में जन्म के साथ ही जीवन या प्राण इसमे समाविष्ट होकर इसमे वृद्धि की योग्यता भर देता है, जिसका तात्पर्य है विकसित विभिन्नताओं का विकासशील आत्मविभाजन तथा सहज सगठन। मनस् की अभिव्यक्ति के बहुत पूर्व से ही भौतिक शरीर मे प्राण-शक्तिया सक्रिय होकर उसके विकास को निर्धारित करती है। निस्सन्देह, शरीर में मर्मस्थलों के विकास के साथ-साथ प्राण-बल भी अधिकाधिक प्रकट होता जाता है। शरीर में निहित प्राण-शक्ति के द्वारा इन्द्रियों, मस्तिष्क व स्नायु-मण्डल आदि उपयुक्त अंगों के विकास पर ही मनस् की अभिव्यक्ति निश्चित रूप से निर्भर करती है। किन्तु यौगिक दृष्टिकोण के अनुसार इसका यह अर्थ कदापि नही कि अगों के विकास के पूर्व मनस् का अस्तित्व ही नहीं होता, कि यह शरीरांगों की उपज है और इन्द्रियों के विकास के बाद नये सिरे से निर्मित या उत्पन्न होता है। वस्तुतः मनस् एक जीव-कीटाणु (प्रोटोप्लाज्म) में भी अव्यक्त दशा में रहता है, किन्तु केवल इसकी बाह्य प्रापचिक आत्माभिव्यक्ति अगों के विकास पर निर्भर करती है। अपनी अव्यक्तावस्था मे भी भौतिक अगों के विकास की गति के निर्धारण में मनस् निर्णायक प्रभाव डालता है और इसी कारण अगों का विकास इस प्रकार से होता है कि वे मनस् की आत्माभिव्यक्ति के उपयुक्त साधन बन सकें।

योगी सजीव व्यष्टि शरीरों की सापेक्षता में और उनपर आधारित प्रतीत होनेवाले व्यष्टि मनसो मे ब्रह्माण्ड मनस् की व्यष्टिगत आत्माभिव्यक्तियाँ देखते हैं। वैयक्तिक जीवनों में भी वे व्यष्टिगत भौतिक शरीरों की सापेक्षता मे और उनपर आधारित प्रतीत होनेवाले ब्रह्माण्ड जीवन की व्यष्टिगत आत्माभिव्यक्तियाँ देखते है। यह देखा जा चुका है कि विश्व-मनस् और विश्व-प्राण शिव-शक्ति के ब्रह्माण्ड-शरीर या महासाकार मूर्ति में से तथा उसके अन्तर्गत विकसित होते है। अतः प्रत्येक व्यष्टिगत जीव 'शिव-शक्ति' का अवतार माना जाता है। एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिये। विकास की ब्रह्माण्ड-प्रक्रिया में मनस् प्राण

से पूर्ववर्ती है, भौतिक शरीर से प्राण पूर्ववर्ती है, जबकि व्यष्टिगत अस्तित्वो की विकास-प्रक्रिया मे सर्वप्रथम भौतिक शरीर प्रकट होता है, तदनन्तर प्राण और उसके उपरान्त मनस् प्रकट होता है। अस्तित्व और अनुभव के उच्च से उच्च स्तर एक के बाद एक प्रकट होते है। ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे जो सर्वप्रथम होता है, वह व्यष्टिगत अस्तित्वो की विकास-प्रक्रिया मे सबके पश्चात् प्रकट होता है।

अब, मनस् स्वय को शनैः शनैः सजीव व्यष्टि-शरीर में व्यक्त करता है। यद्यपि विभिन्न प्रकार के पशु-शरीरों मे मनस् की अभिव्यक्ति के विभिन्न स्तर है, यहां हम विशेषतया मानव शरीर से सम्बन्धित है, जिसमे शारीरिक अग (जो क्रमिक रूप से विकसित होते है) मनस् की पूर्णतम अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त है। अपनी क्रमिक आत्माभिव्यक्ति में मनस् स्वभावत: स्वय को विभाजित करता है, अपने प्रापचिक रूप मे स्वय को अधिकाधिक क्लिष्ट बनाता और साथ ही अपनी समस्त अभिव्यक्तियो को इस प्रकार व्यवस्थित करता है कि वे एक पूर्ण समष्टि का रूप धारण कर ले। गोरखनाथ (पांच की संख्या के साथ जो महत्व व पवित्रता जोडते है, उसके अनुसार) मनस् की समस्त प्रापचिक अभिव्यक्तियों को पांच नामो के अन्तर्गत वर्गीकृत करते है, मनस्, बुद्धि, अहकार, चित्त और चैतन्य और वे उनको 'अन्त:करण पंचक' (पांच प्रकार के आन्तरिक साधन या इन्द्रिया अथवा व्यावहारिक मनस्) कहते है (सि० सि० प० १/४४) उनके मतानुसार अन्त करण या मनस् मूलतः एक है, किन्तु अपने विभिन्न प्रकार के पाच कार्यो या प्रापचिक अभिव्यक्तियो के अनुरूप यह पाच भिन्न रूपो मे दिखाई देता है।

अपनी स्वाभाविक रीति से गोरखनाथ मनस् के इन विभागों में से प्रत्येक को पाच विशेषताओ से युक्त अथवा पाच प्रकार के मनोवैज्ञानिक दृश्यो मे व्यक्त हुआ बतलाते है। मनस् अथवा अनुशासनरहित व्यावहारिक मन ऐसे दृश्यों मे प्रकट होता है (१) सकल्प, (२) विकल्प, (३) मूर्च्छा, (४) जड़ता और (५) मनन। बुद्धि (तर्क या अनुशासित मनस्) को ऐसे दृश्यो में (१) विवेक, (२)वैराग्य, (३)शाति, (४) सतोष और (५)क्षमा के रूप मे अभिव्यक्त बताया गया है। बुद्धि उच्च मनस् है, जो निम्न मनस् को नियोजित करता है।

अहकार इन दृश्यो में (१) अभिमान, (२) मदियम् (ममत्व का भाव अथवा शरीर, इन्द्रियों, मनस् बुद्धि आदि के कर्मो को अपना मानने का भाव) (३) मम-सुखम्, (४) मम दुखम् और (५) मम इदम् के रूप मे व्यक्त होता है। अहकार व्यक्ति में व्यक्तित्व का भाव तथा शरीर मे समस्त प्रकार के भौतिक, जैविक और मानसिक परिवर्तनों और विभिन्नताओं के मध्य एकता और स्थायित्व का भाव प्रदान कर उसकी सरचना में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अहकार समस्त शारीरिक, जैविक और मानसिक दृश्यो मे अहंता का भाव उत्पन्न कर अह को उनका स्वामी तथा वातावरणो और पदार्थो का स्वामी मानता है। व्यष्टि मनसो के विकास की उच्च अवस्थाओं मे वस्तुत. बुद्धि और

अहकार संयुक्त पाये जाते है ।

चित्त की अभिव्यक्ति के दृश्य ये है : (१) मति, (२) धृति, (३) स्मृति, (४)त्याग, (५) स्वीकार । ऐमा प्रतीत होता है कि चित्त मुख्यतः प्राचीन सस्कारों को धारण करने तथा उन्हें पुनः प्रकट करने और मनस् के अर्धचेतन व्यापारों को व्यक्त करने के लिये प्रकट होता है । चैतन्य के प्रमुख दृश्य है : (१) विमर्श, (२) शीलन, (३) धैर्य, (४) चिन्तन और (५) निस्पृहत्व । (सि० सि० प० १ : ४४-४६) ।

इस प्रकार गोरखनाथ व्यष्टि-शरीर में मनस् की अभिव्यक्ति के पच्चीस रूप गिनाते है । इन गुणों से युक्त व्यष्टि-मनस् को अन्तःकरण अथवा वैयक्तिक आत्मा की इस प्रापचिक जगत् मे आत्माभिव्यक्ति का आन्तरिक कारण कहा जाता है तथा विभिन्न इन्द्रियों, स्नायुमण्डल तथा जैविक अंगों इत्यादि से युक्त भौतिक शरीर को वाह्य कारण या प्रापचिक जगत् में आत्मा की अभिव्यक्ति का वाह्यकरण कहा जाता है । भौतिक शरीर को वैयक्तिक आत्मा, अर्थात् शिव की व्यष्टिगत आध्यात्मिक-अभिव्यक्ति का स्थूल शरीर कहा जाता है और मानसिक व जैविक शक्तियों से युक्त अन्तःकरण को सूक्ष्म शरीर कहा गया है । योगी-सम्प्रदाय के अनुसार इन प्रापंचिक शरीरों से प्रतीयमान आत्म-तादात्म्य करने से आत्मा व्यष्टिगत बन जाती है, जबकि मूलतः आत्मा स्वयं शिव से भिन्न अन्य कुछ नहीं है ।

इस प्रसंग में यह जान लेना चाहिये कि भारतीय दर्शन के कुछ मत (सांख्य आदि) अन्तःकरण के तीन मूलभूत विभाजन मानते है, मनस्, बुद्धि और अहंकार, जब कि कुछ अन्य (वेदान्त आदि) चार विभाजन करते है—मनस, बुद्धि, अहंकार और चित्त । गोरखनाथ एक ओर जोड़ देते है, जिसे वे चैतन्य कहते हैं । प्रत्येक विभाग के दृश्य की व्याख्या मे वे अन्य मतो द्वारा मान्य सिद्धान्त का यथावत् अनुसरण नही करते है । उनका दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक की अपेक्षा यौगिक अधिक हैं । मनस मुख्यतया पशु-मन व मानव-मन के निम्न स्तरों से सम्बन्धित है, जिसे योगी को वश में करना है तथा उससे परे जाना हैं । बुद्धि मानव-मनस के उच्च स्तरों—जिनमें उच्च नैतिक, सौन्दर्यात्मक और आध्यात्मिक चेतना के दृश्य भी सम्मिलित हैं, से सम्बन्धित है । अहंकार अहं-भाव से सम्बन्धित है । चित्त मुख्यतः अर्ध-चेतन मनस् की ओर संकेत करता है और इसे भी वश में करके शुद्ध करता व उदात्त बनाना है । चैतन्य प्रमुखतया मानव-चेतना के उच्च स्तरों की ओर संकेत करता है और इन्हें भी स्वयं परमात्मा के साक्षात् अनुभव के लिये तत्व ज्ञानालोकित व एकाग्र करता है ।

(३) कुल पचक

भौतिक पिण्ड और अन्तःकरण पंचक के विकास का विवेचन करने के अनन्तर गोरखनाथ कुल-पंचक के विषय में बतलाते हैं । योगियों और तांत्रिकों की साधना और दर्शन में सर्वाधिक क्लिष्ट और उलझन में डालनेवाला शब्द

'कुल' है। इसे भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णित किया गया है तथा विभिन्न प्रसंगों मे विभिन्न अर्थो मे प्रयुक्त किया गया है। हमने अन्यत्र कुल और अकुल के अर्थो का विवेचन किया है। वर्तमान प्रसंग मे 'कुल' शब्द का प्रयोग कुछ भिन्न अर्थ मे किया गया प्रतीत होता है। यहां गोरखनाथ कुल को पाच रूपो मे प्रकट बतलाते है, यथा—सत्व, रजस्, तमस्, काल और जीव (सि० सि० प० १/५०) ये सभी परोक्ष रूप से मानसिक भौतिक व्यापार पर अपना प्रभाव डालते है और उनको विशिष्ट रुचियां तथा प्रवृत्तियां प्रदान करते है।

सत्व का प्रभाव ऐसे मानसिक व्यापारों मे व्यक्त होता है, यथा—दया, धर्म, क्रिया, भक्ति और श्रद्धा। यह सत्व का प्रभाव है, जो मानव मनस को उच्च आध्यात्मिक और नैतिक आदर्शो से प्रेरित करता है, उसे चेतना के उच्चतर स्तरो पर ले जाता है, उसे मूल प्रवृत्तियों, इच्छाओं, प्राकृतिक वासनाओं तथा महत्वाकाक्षाओ को वश मे करने की प्रेरणा देता है और उसके विचारों, सवेगों तथा इच्छाओ को पूर्ण सत्य, शिव, सुन्दर एव मुक्ति के साक्षात्कार की ओर नियोजित करता है।

रजस् का प्रभाव ऐसे व्यापारो या दृश्यों मे व्यक्त रहता है, यथा—दान, भोग शृ गार, वस्तु-ग्रहण तथा स्वार्थ-संग्रहण मानव के स्वभाव पर यह रजस् का प्रभाव है जो उसे सक्रिय स्फूर्तिवान् तथा साहसोद्योगी बनाता है और उसे आत्म-गौरव, स्वार्थो, सासारिक महत्वाकाक्षाओं, सत्ता व समृद्धि और सुख की उपलब्धि एव कलात्मक आनन्दों के भोग की दिशा मे सचालित करता है। आसुरी प्रकृति के लोगो में रजस् की प्रधानता होती है, जब कि दवी-प्रकृति के लोगों में सत्व प्रधान होता है।

तमस् का प्रभाव ऐसे लक्षणों की ओर ले जाता है, यथा—विवाद, कलह, शोक, वध और वचन—जिन्हे बुरे या अशुभ या शैतानी लक्षण कहते है। वे मानव स्वभाव मे तमस् की उपज माने जाते है।

काल का प्रभाव कल्पना, भ्रान्ति, प्रमाद तथा अनर्थ के रूप मे प्रकट होता है। काल हमारे ऊपर गहन प्रभाव डालता है। विकास की गतियां और शरीरों की प्रगति कार्यो के फल, जीवन की अनुकूल और प्रतिकूल दशाये, ये सभी बहुत अशों में काल से प्रभावित रहते है।

इस प्रसग में जीव से तात्पर्य है व्यावहारिक चेतना की समस्त परिवर्तनीय अवस्थाओं में व्यक्त वह चेतना, जो इन समस्त परिवर्तनों के मध्य वैयक्तिक अस्तित्व व चेतना की एकता और तद्रूपता को स्थिर रखती है। ये अवस्थाये है—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुर्यातीत।

बिना अपने व्यक्तित्व को खोये एक ही व्यष्टि-मनस् का इन समस्त अत्यधिक विभिन्न अवस्थाओं में से यात्रा कर लेना गोरखनाथ के अनुसार, यह प्रदर्शित करता है, कि इन समस्त परिवर्तनशील अवस्थाओं मे एक उच्च शक्ति

निहित है, जो इनकी साक्षी और नियामक है, और इसे वे 'जीव' कहते है । सत्व, रजस्, तमस्, काल और जीव को अदृश्य नियामक शक्तियां माना जाता है, जो अनेक उपायों से युगपत् प्रभाव डालकर व्यष्टि-मनम् के चरित्र के विकास को निर्देशित करती है और व्यक्ति के स्वभाव को क्लिष्ट तथा साथ ही सयोजित बना देती है । गर्भावस्था से लेकर व्यक्ति के विकास की समस्त अवस्थाओं में वे अपना प्रभाव डालती है तथा प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव में निहित रहती है । गोरखनाथ उन्हें 'कुल पचक' कहते है । यह कुल ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में व्यष्टि शरीरो और मनसों के विकास को निर्धारित करने के लिये दिव्य शक्ति से विकसित हुआ प्रतीत होता है और व्यष्टि मनसों को ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के अनुसार चरम पूर्णता की ओर अग्रसर करता प्रतीत होता है । वे सब शिव-शक्ति के ब्रह्माण्ड-शरीर मे अपनी नियत भूमिका का निर्वाह करते है । (सि० सि० प० ५०-५५) ।

(४) व्यक्ति पंचक

इसके पश्चात् गोरखनाथ व्यक्ति पचक का विवेचन करते है, जिसका तात्पर्य है—व्यष्टि-मनस् की आत्माभिव्यक्तियो के पांच रूप । उनका वर्गीकरण वे इच्छा, क्रिया, माया, प्रकृति और वाक् के अन्तर्गत करते है । इनमे से प्रत्येक पांच रूपों में अभिव्यक्त होता है । इच्छा—उन्माद, वासना, वांछा, चिन्ता और चेष्टा के रूप में व्यक्त होती है । ये इच्छा की अभिव्यक्ति के पांच रूप हैं ।

इच्छा के पश्चात् क्रिया आती है । गोरखनाथ के अनुसार क्रिया—स्मरण, उद्योग, कार्य, निश्चय तथा स्वकुलाचार के रूप में व्यक्त होती है । प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव के निर्माण में धर्म और अधर्म, शुभ और अशुभ लक्षण, उच्च नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शो की ओर प्रवृत्ति तथा उनके विपरीत प्रवृत्ति दोनो ब्रह्माण्ड योजना के अनुसार सामान्य रूप से विकसित होती है । व्यष्टि-चेतना के विकास के साथ मनुष्य को स्वेच्छा से अधर्म की शक्तियों को दबाकर, दुर्गुणों व दुष्प्रवृत्तियों से छुटकारा पाकर, अपने स्वभाव को नैतिकता और आध्यात्मिकता के उच्च स्तरों पर ले जाना चाहिये ।

'इच्छा' और 'क्रिया' तथा 'व्यक्ति' के अन्य रूप प्राय: मानव-स्वरूप के निर्णायक कारणों, यथा—सत्व, रजस्, तमस्, काल और जीव—में से किसी एक या दूसरे की, विशेष अवधि में, प्रधानता से बहुत अधिक प्रभावित रहते है । इसीलिये विभिन्न व्यक्तियों की इच्छाये एवं क्रियायें विभिन्न प्रकार के पदार्थो की ओर प्रेरित पाई जाती हैं, तथा शुभ या अशुभ पदार्थ एक ही व्यक्ति के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न अर्थ रखते है ।

गोरखनाथ 'माया' को मानव-व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का एक रूप मानते हैं । इसकी उपस्थिति व्यक्ति के अपने अहं तथा स्वार्थों को अनुचित महत्व देने तथा उनकी पूर्ति के लिये दूसरे लोगों के साथ मिथ्याचरण करने में प्रतीत होती

है। यह मानव-स्वभाव के दुर्गुणो में से एक है, जिन्हें स्वेच्छया आत्मानुशासन और तत्वज्ञानावलोकन, जो आत्माभिव्यक्ति के उच्च रूप है—के द्वारा नियत्रित तथा अतिक्रान्त करना है। माया के पाच रूप ये है—मद, मात्सर्य, दभ, कृत्रिमत्व और असत्य। मानव के सक्रिय स्वभाव में निहित माया के ये पाच रूप गोरखनाथ द्वारा बतलाये गये है। ये मानव-स्वभाव मे रजस् और तमस् की प्रबलता की ओर इगित करते है। निम्नस्तरो पर मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में से अपनी भूमिकाये निभाते है, किन्तु मानव-व्यक्तित्व के उच्चतर स्तरो तक उठने के आकांक्षी व्यक्तियो के द्वारा इन्हे नियत्रित और अतिक्रान्त होना चाहिये।

'व्यक्ति' के चौथे प्रकार को गोरखनाथ 'प्रकृति' कहते है। प्रकृति की अभिव्यक्ति के भी पांच रूप वर्णित किये गये है: (१) आशा, (२) तृष्णा, (३) स्पृहा, (४) काक्षा और (५) मिथ्या। ये व्यक्ति के ऐसे स्वभाव के सूचक है, जिससे ये विकसित होते हैं। इन्हे सांसारिक वस्तुओं अथवा उच्च आदर्शो की ओर नियोजित किया जा सकता है। ये व्यष्टि-मनस् की आत्माभिव्यक्तियाँ है और उसके विकास मे योगदान करती है।

'व्यक्ति' का पाचवा रूप 'वाक्' है। गोरखनाथ के अनुसार वाक् के पांच स्तर है: परा, पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरी और मात्रिका। 'परा' के स्तर पर वाणी पूर्णरूपेण चेतना से तद्रूप रहती है। सूक्ष्म ध्वनि या विचाररूप मात्र मे भी व्यक्त न होकर यह चेतना मे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा अथवा इच्छा के रूप में विद्यमान रहती है। इस परावाक् को शास्त्रों में प्राय. 'शब्द-ब्रह्म' कहा गया है। इसमें शब्द, को किसी विशिष्ट रूप मे पूर्णतया अव्यक्त होने के कारण, इसके चरम मूल, ब्रह्म, परम चेतना, व्यष्टि तथा साथ ही ब्रह्माण्ड-व्यवस्था की आत्मा से पूर्णरूपेण तदाकार माना जाता है। यह वहा चेतना मे निहित शक्ति के रूप मे है। समस्त प्रकार की ध्वनिया परावाक् से उत्पन्न होती है और उसमे पूर्णतया एकान्वित रहती है। इस परावाक् को प्रणव (ओम्), जो समस्त ध्वनियों की ध्वनि, का समस्त ध्वनियो का वास्तविक सार, समस्त स्तरों की ध्वनियो व वाणियों की एकता का आधार है, चरम स्वालोकित रूप माना गया है। इस परावाक् मे वाक् और चित्, जो इसका चरम आधार व स्रोत है, मे कोई अन्तर नही है।

'पश्यन्ति' के स्तर पर वाक् सूक्ष्म विचारो के रूप में अभिव्यक्त होता है, जिन्हें चेतना प्रत्यक्ष रूप मे देखती है। इस स्तर पर वाक् शुद्ध चेतना से भिन्न आन्तरिक प्रत्यक्ष की सामग्री बन जाता है और चेतना स्वय को विचार प्रवाह में व्यक्त अनुभव करने लगती है। यह वाक् का आदर्शात्मक रूप है, जो चेतना से भिन्न होते हुये भी चेतना के लिये तथा चेतना में विद्यमान रहता है और स्थूल भौतिक शरीर मे इसकी कोई अभिव्यक्ति नही होती। यह किसी उच्चारित ध्वनि के रूप में व्यक्त नही है, वाक् यहा मानसिक स्तर पर व्यक्त है, किन्तु भौतिक या जैविक स्तर पर नही। किन्तु इन स्थूलतम स्तरों पर अभिव्यक्ति की प्रेरणा और इच्छा भौतिक साकारता पर प्रबल प्रभाव डालती है।

'मध्यमा' के स्तर पर, वाक् शरीर-व्यवस्था में किसी प्रकार के आन्दोलन—जैविक व भौतिक अंगों—मानसिक विचारों की मौखिक अभिव्यक्ति में, जिनकी सहकारी सक्रियता की आवश्यकता होती है, में किसी संगठित कम्पन तथा विचारों और भावो को उच्चरित वाणी के स्थूल रूपों में व्यक्त करने के लिये मौखिक अगो मे किसी प्रकार की सहज गतिशीलता के रूप मे प्रकट होता है। मध्यमा वाक् वाणी के आदर्शात्मक रूप तथा उच्चारित ध्वन्यात्मक रूप के मध्य आती है, मानसिक भाषण और मौखिक भाषण के मध्य इसका स्थान माना जाता है। इस स्तर पर शरीर सगठन मे आन्तरिक वाणी को बाह्य अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिये आन्तरिक प्रयास के रूप में कुछ सूक्ष्म ध्वनिया उत्पन्न हो जाती है। वाक् अब भी शरीर के भीतर ही है और शब्द तथा वाक्यों के रूप में इसकी कोई बाह्य अभिव्यक्ति नहीं है।

'वैखरी' के स्तर पर, मौखिक इन्द्रियो के सहकारी प्रयासों के द्वारा वाक् उच्चारित वाणी या दूसरों को सुनाई देनेवाले उच्चारित शब्दों के रूप मे प्रकट हो जाता है। बैखरी वाक् के द्वारा व्यक्ति अपने मानसिक विचारों को दूसरों तक पहुंचा सकता है और उनको अपने विचारो, भावो तथा इच्छाओं से अवगत कराकर उनमें भाग लेने योग्य बना सकता है। यद्यपि एक बहुत ही क्लिष्ट शारीरिक प्रक्रिया से वखरी वाणी उत्पन्न होती है, किन्तु मानव-शरीर में जैविक और भौतिक इन्द्रियो के अद्भुत संगठन ज्ञानार्जन तथा स्वभाव के परिणामस्वरूप सुविकसित व्यष्टि शरीरों मे यह प्रक्रिया नितान्त सहज और स्वाभाविक बन जाती है। वागेन्द्रियों के समुचित विकास तथा समुचित शिक्षा व स्वभाव के अभाव में, वैखरी वाक् की क्षमता भली प्रकार विकसित नही होती। शरीर-संरचना या अंगों की रुग्णावस्था का वैखरी वाक् पर विनाशकारी प्रभाव पड़ता है और कभी-कभी तो यह पूर्णरूपेण अवरुद्ध हो जाती है। वैखरी वाक् मानव की आत्माभिव्यक्ति का सबसे मूल्यवान और सशक्त उपाय है। इसकी अनुपस्थिति में मानव जाति में संस्कृति, सभ्यता और समाज की स्थिति तथा तत्व ज्ञान और आत्म साक्षात्कार की कोई संभावना ही न रहती। वैखरी वाक् के माध्यम से ही समस्त प्रकार के विकास तथा प्रगति संभव हो सकी है। समस्त मानवीय भाषायें वैखरी वाक् की साकार प्रतिभाये है।

गोरखनाथ के अनुसार, वाक् का पांचवा स्तर 'मात्रिका' है। मात्रिका वैखरी वाक् के चरम ध्वनि तत्वों की ओर सकेत करती है। समस्त शब्द और वाक्य, जिनके रूपों में समस्त देशों, जातियों, युगों और जलवायु के समस्त मानव प्राणियों की वैखरी वाणी अभिव्यक्त होती है, का विश्लेषण तथा विचार करने पर कतिपय चरम मौखिक ध्वनियों से निर्मित पाये जाते है, जिनका प्रतिनिधित्व वर्ण या अक्षर करते है। ये मौखिक भाषा की इकाइयां है। उन्हें और अधिक विश्लेषित या विभाजित नहीं किया जा सकता। अनेक दार्शनिक मत उन्हें ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में नित्य मानते हैं, जब कि उनसे निर्मित शब्द और वाक्य अनित्य हैं

और उत्पन्न तथा नष्ट होते रहते है। वे समस्त भाषाओं, समस्त प्रकार की उच्चारित वाणियो के बीज माने जाते है। इस प्रकार उन्हें मात्रिका कहा जाता है जिसने जगत् की विभिन्न भाषाओं के समस्त प्रकार के शब्द और वाक्य विकसित हुये हैं। यद्यपि वे समस्त मौखिक भाषाओं के आधार है, तथापि वे प्राय: उनसे विकसित शब्दों और वाक्यों से अज्ञात रूप में सयुक्त माने जाते है। उनका मौलिक स्वरूप और गहन महत्व तत्वज्ञानालोकित व्यक्तियों द्वारा पर्याप्त विचार और ध्यान के द्वारा अन्वेषिन किया जाता है। कालान्तर में, जब समाज में भाषागत अध्ययन विकसित हो जाता है, विद्यार्थी अक्षरो के अध्ययन से प्रारभ करके उनसे निर्मित शब्दों और वाक्यो के अध्ययन की ओर अग्रसर हो सकते है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि सिद्ध-योगी तथा तान्त्रिक मतों के अनुसार मात्रिका वर्ण केवल वैखरी वाक् अथवा शब्दों और वाक्यो के चरम निर्माण तत्व ही नहीं हैं। गहनतम ध्यान और विचार के द्वारा उन्होंने इन अक्षरों की अन्तरात्मा में प्रवेश करके यह खोज की है कि प्रत्येक अक्षर शिव-शक्ति का एक विशिष्ट ध्वनि शरीर है और सजीव भौतिक शरीर के अन्तर्गत किसी विशिष्ट केन्द्र से सम्बन्धित व व्यक्त होता है। इस प्रकार प्रत्येक अक्षर प्राण-शक्ति व आध्यात्मिक तात्पर्य से परिपूर्ण होता है। इन मात्रिका वर्णो में शिव और शक्ति के पक्षों को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करने के लिये प्रत्येक अक्षर 'विन्दु' (जिसकी ध्वनि उच्चारण में 'भ' के सदृश होती है) के योग के साथ उच्चारित किया जाता है। कहा जाता है—

विन्दु: शिवात्मको बीज शक्तिर्नादस्तयोर्मिथ:
समवाय इतिख्यात: सर्वागम विशारदै:।।

विन्दु शिव को प्रदर्शित करता है और बीज शक्ति को। दोनों के पारस्परिक मिलन से नाद विकसित होना है। जो आगमों के ज्ञाता हैं, उन्हें यह भली-भाति विदित है।

इस प्रकार योगी प्रत्येक प्रारंभिक ध्वनि (नाद) और उसका प्रतिनिधित्व करनेवाले अक्षर में शिव-शक्ति के सयोग का दर्शन करते है। शिव समस्त ध्वनियों और वर्णो की सर्वगत अपरिवर्तनीय आत्मा है और यह तथ्य प्रत्येक अक्षर में संलग्न विन्दु से सकेतित होता है: शक्तिनाद और वर्ण के विभिन्न रूपों को धारण करती है। समस्त प्रकार की उच्चारित भाषाये, मानसिक विचारों की समस्त प्रकार की शाब्दिक अभिव्यक्तियाँ, मानव जिह्वा द्वारा उच्चरित समस्त प्रकार के शब्द और वाक्य मूल नाद और वर्ण की क्लिष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं, इसलिये योगी उन सबमें शिव-शक्ति की आत्माभिव्यक्तियाँ देखते हैं।

योगियों ने मात्रिका-वर्णो और नादों की स्थिति शरीर के विशेष केन्द्रों में खोज निकाली है, जिन्हें 'चक्र' कहा जाना है। इनके विस्तृत वर्णन की यहां आवश्यकता नहीं है। योगियों द्वारा साधित मन्त्र योग में ये वर्ण और नाद गहन

आध्यात्मिक महत्वयुक्त मत्रो के रूप मे विकसित हुये है। मंत्र किसी आध्यात्मिक अर्थ को प्रकट करनेवाले सकेत-चिन्ह ही नही हैं, वरन् उनमे अत्यधिक शक्ति निहित है। निर्धारित प्रक्रियाओं से मत्रो का जप उनमे निहित शक्तियों को प्रकट कर देता है और यह साधको की विभिन्न मानसिक तथा आध्यात्मिक क्षमताओ को, विकास एवम् साथ ही अनेक जादुई अनुभवों की उपलब्धि की ओर अग्रसर करता है। बीज मत्रो की रहस्यमयी शक्तियो को सक्रिय करके एक सिद्ध या अनुभवी व्यक्ति चमत्कार दिखला सकता है। समस्त बीज मत्रों में ओम् (प्रणव) को, सर्वमान्य विशिष्ट स्थान प्राप्त है। शिव-शक्ति का यह पूर्ण प्रतीक है (सि० सि० प०। ५६-६१)

(५) प्रत्यक्षकरण पंचक

तदुपरान्त गोरखनाथ कतिपय अन्य सहायक सक्षम तथा भौतिक कारणों का उल्लेख करते है, जो व्यष्टि-शरीर के रक्षण, विकास और पुनर्नवीकरण में भी व्यावहारिक रूप से योगदान करते है तथा जिन्हे मानव-जीवन के चरम आदर्श के साक्षात्कार के लिये भली प्रकार नियत्रित व नियमित करना चाहिये। इन्हें वे 'प्रत्यक्षकरण पचक' कहते है। इनकी गणना वे कर्म, काम, चन्द्र, सूर्य और अग्नि के रूप मे करते है। व्यक्ति के शारीरिक जीवन पर इनका प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है, यद्यपि वे प्राय: सूक्ष्म रूपों में कार्य करते है।

कर्म का अर्थ है कार्य या क्रिया। एक व्यक्ति द्वारा अपने शरीरांगों, इन्द्रियों, मानसिक विचारों तथा इच्छाओं के माध्यम से किये गये उचित या अनुचित कार्य, उसके जीवन पर प्रत्यक्ष लाभदायक या हानिकारक, प्रभाव डालते है और उसका भावी जीवन यहां तक कि पुनर्जन्म भी उनके मनोवैज्ञानिक और नैतिक परिणामों से बहुत अंशों तक निर्धारित रहता है। गोरखनाथ अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म के पांच रूप बतलाते है, यथा—शुभ, अशुभ, यश:, अपकीर्ति और अदृष्टफलसाधन।

एक व्यक्ति द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य तीन प्रकार के फल उत्पन्न करता है। प्रथम को दृष्टफल कहा जाता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—प्रत्यक्ष प्रभाव, अर्थात् वे फल जिनका कारण कार्य सम्बन्ध हमारी इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष रूप में देखा और निर्धारित किया जा सकता है। ये हमारे कर्मों के बाह्य परिणाम है। स्वास्थ्यप्रद भोजन भूख मिटाता व शरीर को बल प्रदान करता है। जब एक व्यक्ति स्वार्थ से प्ररित होकर दूसरे को हानि पहुचाता है, तो पीड़ित आदमी कष्ट पाता है और पीड़ा देनेवाला सुख पाता है। ऐसी समस्त घटनाये दृष्टफल के उदाहरण है। सासारिक जीवन में हम वास्तव में अपने कर्मों के ऐसे प्रभाव अनुभव करते है। कुछ कार्य हमें सुख-समृद्धि प्रदान करते है तथा कुछ दु:ख और दैन्य के कारण बनते हैं, कुछ कार्य हमें प्रशंसा और आदर दिलाते हैं तथा अन्य कलंक और तिरस्कार। ये समस्त दृष्टफल के उदाहरण है। दूसरे, हमारे कार्य

हमारे मनस् मे अपने अनुरूप सस्कार अर्जित कर देते है, जो हमारी रुचियो, प्रवृत्तियों, इच्छाओ, रतियो व विरतियों के कारण बनकर हमारे आगामी कार्यो को प्रभावित करते है। हमारे कर्मो से हमारे स्वभाव और चरित्र का निर्माण होता रहता है। जैसे कर्म हम करते है, वैसे हम बन जाते है। इसे हमारे कर्मो का सस्कारफल कहा जाता है।

योगी-मत के अनुसार और वास्तव मे भारतीय विचारधारा के समस्त प्रमुख मतों के अनुसार, हमारे कर्मो के सस्कारफल बहुत गभीर व दुर्व्यापी होते है। हमारे बहुत से कर्म हमारे मनस् मे इतने गहन सम्कार उत्पन्न करते है कि वे हमारे देह-नाश या भौतिक मृत्यु पर भी नष्ट नही होते। हमारा मानसिक शरीर भौतिक शरीर की मृत्यु के साथ नही मरता है। भौतिक शरीर कालान्तर में विघटित होकर पचमहाभूतो मे विलीन हो जाता है, किन्तु मानसिक शरीर मृत्यु के अनन्तर भी अपना व्यक्तित्व स्थिर रखता है और जीवन-काल मे किये गये कर्मों से उत्पन्न सस्कार अपने साथ ले जाता है। मानसिक शरीर अपने निहित संस्कारों को धारण किये हुये, विशेष अवधि के लिये 'लिग शरीर' के रूप मे स्थित रह सकता है तथा इसके अनन्तर एक नवीन भौतिक पिण्ड से सम्बन्धित हो सकता है। पिछले जन्म मे किये गये कर्मो से उत्पन्न पुराने सस्कार, इस नये शरीर में भी मूल प्रवृत्तियो के निर्माण, स्वभाव, रुचि तथा नयी परिस्थितियों के साथ समायोजन की योग्यता आदि पर बहुत अधिक प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार वतमान शरीर मे हमारा स्वभाव बहुत अशों तक पिछले जन्म मे किये गये हमारे कर्मों से उत्पन्न सस्कारो से ढलता है और हमारे भावी जन्म का स्वरूप भी हमारे वर्तमान जीवन में किये गये कर्मो से उत्पन्न सस्कारो से निर्मित होगा। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि पुराने कुसस्कारों का विनाश करने तथा शुभ कर्मों के ऐच्छिक आचरण के द्वारा अच्छे सस्कारो का विकास करने के लिये, मानव-जीवन के अन्तर्गत सक्रिय आत्माभिव्यक्ति के समस्त क्षेत्रो मे पर्याप्त स्वतत्रता है तथा इस प्रकार अपने मनोवैज्ञानिक स्वभाव मे पर्याप्त परिवर्तन करने एव उच्च से उच्च जीवन-स्तरों की ओर अग्रसर होने के स्वर्ण अवसर हमे प्रदत्त है।

तीसरे, हमारे सात व दार्शनिक बतलाते है कि प्रत्येक कर्म और विशेषतया प्रत्येक ऐच्छिक व जानबूझकर किया गया कर्म, पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म के रूप मे कुछ अदृष्टफल उत्पन्न करता है, जिसका पुरस्कार व प्रतिकार ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के नियमानुसार कालान्तर मे मिलता रहता है, पुरस्कार जीवन मे अधिक आनन्द व सुख के अवसरों के रूप में मिलता है तथा प्रतिकार या दण्ड नाना प्रकार के कष्टों व दुखों तथा अस्तित्व के निम्नस्तरो पर पतित होने के रूप में प्राप्त होता है। धार्मिक या नैतिक कर्म शुभ 'अदृष्ट' उत्पन्न करते है तथा अधार्मिक या अनैतिक कर्म अशुभ 'अदृष्ट' उत्पन्न करते है। अदृष्ट को अपूर्व भी कहा जाता है और यह बहुत सीमा तक व्यक्तियों के भाग्य का निर्णायक होता है। प्राय: इस अपूर्व 'अदृष्ट फल' को शास्त्रों में 'कर्म' कहा गया है। संस्कार फल

की भांति यह कर्म या अदृष्टफल भी प्रायः उसी शरीरिक जीवन मे नष्ट नही हो जाता। मृत्यु के अनन्तर यह जीवन के सुखों-दुखों, अनुकूल-प्रतिकूल दशाओं तथा उच्च व निम्न अस्तित्व-स्तरों का कारण बनता है तथा भावी जीवन की गति को निर्धारित करता है। सुखी व उन्नतिशील जीवन के लिये सर्वाधिक महत्व की बात है—पुण्य संचय व पापनाश। हमारे कर्मो के इन तीन प्रकार के फलो से हमारे भौतिक शरीर का निर्माण भी बहुत अशो तक प्रभावित होता है। जिसे प्रायः कर्म-सिद्धान्त या कर्म नियम कहा जाता है, वह विशेषतः 'अदृष्टफल' की ओर सकेत करता है तथा ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में नैतिक न्याय के सिद्धान्त को प्रदर्शित करता है।

योगी गुरु गोरखनाथ ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में सजीव व्यष्टि-शरीरों की उत्पत्ति व वृद्धि का दूसरा प्रत्यक्ष कारण 'काम' को बतलाते हैं। यहा 'काम' शब्द से समस्त जीवित प्राणियों में विद्यमान 'यौन प्रवृत्ति' का तात्पर्य है, जो संसार की जनसख्या-वृद्धि में मूलभूत भूमिका निभाती है। शिव-शक्ति के ब्रह्माण्ड विलास के आधारभूत नियमो में से एक यह है कि सामान्यतया समस्त जीवित प्राणियों की उत्पत्ति नर-नारी के संभोग से होती है और वे आपस में इन दो लिगो मे विभाजित हैं। 'अण्डज' और 'जरायुज' प्राणियों में यह तथ्य अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त है। मनुष्य जरायुज (गर्भ से समस्त अगों के सहित उत्पन्न) प्राणियों में सर्वोत्तम है। अन्य सजीव शरीरों का जन्म भी किसी न किसी प्रकार से मैथुन नियम से शासित है। संभोग के माध्यम से पिता के शरीर से विन्दु, बीज या शुक्र निकलकर माता के गर्भ में प्रवेश कर जाता है, जहां वह अन्तःस्रावित रजस्, शोणित या रक्त से युक्त हो जाता है। शुक्र एव रज का मिलन एक नवीन सजीव शरीर को जन्म देता है, जो अपनी जाति व अंश के लक्षणों को अनुकूल अवस्थाओं में विकसित करता हुआ एक सक्रिय व्यक्तित्व का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार शिव-शक्ति के ब्रह्माण्ड शरीर में विभिन्न स्तरो के जीवों की उत्पत्ति में एक दिव्य योजना के अनुसार 'काम' अपनी अनिवार्य भूमिका निभाता है। विभिन्न स्तरों के जीवों के स्वभाव में काम विभिन्न प्रकार की क्रीड़ायें भी करता हुआ प्राप्त होता है।

गोरखनाथ के अनुसार उच्च स्तरों के प्राणियों और विशेषतः मानव-जाति के स्वभाव में काम के पांच लक्षण प्रमुख दिखाई देते हैं—रति, प्रीति, क्रीडा, कामना और आतुरता। रति का अर्थ है—पुरुष और स्त्री में यौन लगाव। प्रीति का अर्थ है- पारस्परिक प्रेम व सहयोग से उत्पन्न सुख। क्रीड़ा का अर्थ है—वे खेल जो उनकी यौन वासनाओं की तुष्टि करते हैं। कामना का अर्थ है अधिकाधिक मैथुन व विलास से उत्पन्न शक्ति और उत्साह की क्षीणता और तदनुसार उससे क्षणिक विरक्ति। तथापि, सृष्टि-रचना की योजना में काम का महत्व अकाट्य व स्वतः प्रकट है। काम की प्रेरणा से ही मनुष्य उत्पन्न होते हैं। उनके अनेक भौतिक व जैविक अंगों तथा मानसिक गुणों के विकास का कारण भी काम ही है।

गोरखनाथ चन्द्र, सूर्य और अग्नि को अन्य तीन प्रत्यक्ष कारण बतलाते है, जो इस जगत् मे जीवन के विकास पर अपना प्रभाव डालते है। हमारे तथा समस्त जीवो के जीवनो पर सूर्य, चन्द्र और अग्नि के भौतिक प्रभाव समस्त विचारशील व्यक्तियों को स्पष्ट रूप से विदित है। उनके बिना पृथ्वी पर जीवन का होना सभव ही न था। रात और दिन, पाक्षिक परिवर्तन, ऋतुओं के परिवर्तन, तापमान तथा जलवायु की दशाओं के परिवर्तन, वर्षा का वितरण, वायुमण्डल की दशाओं के परिवर्तन, समुद्रो का ज्वार-भाटा, मिट्टी की उर्वरा-शक्ति इत्यादि, जिन पर जीवन बहुत अशो तक निर्भर करता है, स्पष्टतया पृथ्वी के चारों ओर चन्द्र-सूर्य की गति व पृथ्वी के अन्तर्गत निहित ताप के कारण प्रकट होते है। वेद में सूर्य को प्राय: पृथ्वी के समस्त सजीव और निर्जीव अस्तित्वो की आत्मा कहा गया है। यह भी कहा गया है कि 'वर्षा सूर्य से आती है, अन्न वर्षा से आता है, और अन्न समस्त प्रजा के प्राण रक्षित रखता है। सूर्य सागर और नदियो से आकाश में भाप उठाता है और यह भाप ऊपर बादल बनकर पुन: पृथ्वी तल पर वर्षा के रूप में उतर कर भूमि को अन्नादिक की उपज के योग्य बना देती है, जिनपर समस्त प्राणियों के जीवन, पालन व वृद्धि आधारित है। चन्द्र अपनी शीतल किरणो से बहुत सीमा तक जीवन-विकास मे योगदान करता है।" शास्त्रों मे चन्द्र को 'सोम' माना गया है, जो जीवन-दाता 'रस' से परिपूर्ण है। गीता मे भगवान श्रीकृष्ण कहते है:—"मै स्वय को जीवन रस प्रदाता सोम या चन्द्र के रूप में प्रकट कर समस्त प्रकार के पेड़-पौधों का पालन करता हूँ।" जीवन-पालन के लिये अग्नि का महत्व सर्वविदित है। पृथ्वी के हृदय मे संचित ताप इस भूमितल को सजीव प्राणियों के निवास योग्य बनाने मे बहुत सहायता देता है। ताप जीवित सजीव शरीर का एक लक्षण है। जब शरीर में से ताप निकल जाता है तो इसे मृत कहते है और इसका विघटन प्रारभ हो जाता है। हमारे भौतिक अस्तित्व के विकास व रक्षण मे अग्नि की उपयोगिता तथा आवश्यकता का महत्व कभी कम नही हो सकता। इस प्रकार चन्द्र सूर्य, और अग्नि को, उनके भौतिक अर्थो मे, जीवन के प्रत्यक्ष कारण मानना उचित ही है।

किन्तु योगियो के लिये चन्द्र, सूर्य और अग्नि के कुछ गहन अर्थ भी हैं, जिन्हे साधारण लोग नहीं जानते। वे चन्द्र, सूर्य और अग्नि को जीवित शरीर के अन्दर देखते है और यह अनुभव करते है कि इन तीनो तत्वों के समुचित रूप से व्यवस्थित तथा सयोजित संचालन पर ही शरीर की वृद्धि व स्वास्थ्य निर्भर करते हैं। जीवित शरीर प्रमुखत: अन्न तथा अंगों व जीवन-कोषाणुओं मे इसके उचित मिश्रण व रूपान्तर से ही निर्मित होता है। इसी तथ्य के अनुसार भौतिक शरीर को 'अन्नमय-कोष' कहा गया है। बाह्य जगत से ग्रहण किया गया अन्न पहले रस के रूप मे परिवर्तित होता है और वह रस क्रमश: रक्त, मेदा, मास, अस्थि, मज्जा और शुक्र में बदल जाता है। आयुर्वेद में इन्हे सप्त धातु कहा जाता है। इन सप्त धातुओं में से किसी दिव्य योजना के अनुसार व्यक्ति के (जिस योनि

मे वह जन्मता है उसके अनुसार) समस्त अंगो का विकास होता है। शरीर तथा मनस् के भी ढाचे के निर्माण में वशानुगतता एक प्रमुख भूमिका निभाती दिखाई पड़ती है। ये समस्त निर्माण अन्ततः अन्न, उसके पाचन तथा जीव-कोषाणुओ मे उसके रूपान्तरो पर निर्भर करते है।

अस्तु, यौगिक शब्दावली के अनुसार, चन्द्र जीवित शरीर मे उस शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है, जो अन्न को इस प्रकार पचाती तथा जीव-कोषाणुओं में परिवर्तित करती है कि उससे शरीर की व्यापक क्षमता अथवा शरीर के तात्विक स्वरूप मे अन्तर्निहित आदर्श के अनुसार विभिन्न शरीर बन सके। इस प्रकार यह शरीर के निर्माण की सामग्री प्रदान करता है। इसे प्राय सोम तथा समस्त रसो का स्रोत कहा गया है। इसे समस्त पोषण का स्रोत, आनन्द एवं माधुर्य का मूल तथा प्रत्येक जीवित शरीर के भोग्य का निर्माता कहा जाता है। सूर्य और अग्नि को अन्न पाचक एव रूपान्तरकारिणी ऐसी शक्तियां कहा गया है, जो शरीर में अन्न-पदार्थो को पचाकर, उन्हे शरीर के पूर्ण विकास के लिये अगों, कोषाणुओ तथा आवश्यक तत्वो में परिवर्तित कर देती है। वे पचे हुये तथा रूपान्तरित अन्न से प्रापचिक सत्ताओं की उच्चतर व्यवस्था के लिये सामग्री प्राप्त करके जैविक व मानसिक बल, शक्ति, स्फूर्ति, प्रतिभा और यहा तक कि बौद्धिक, नैतिक एव आध्यात्मिक शक्तियो के विकास में भी योगदान करती है। इसके अनुसार सूर्य और अग्नि को भोक्ता कहा गया है। प्रत्येक जीवित शरीर को भोक्तृभोग्यात्मक माना गया है। यह भोक्ता और भोग्य का एकीकरण है, जो जीवित शरीर का निर्माण करता है। इस अर्थ मे इसे 'अग्नि-सोमात्मक' भी कहते हैं। यहां अग्नि, सूर्य और अग्नि दोनों का प्रतिनिधित्व करती है। कभी-कभी सम्पूर्ण जगत् को 'अग्नि-सोमात्मक जगत्' कहकर वर्णित किया गया है, जिसका अर्थ है कि सम्पूर्ण प्रापचिक जगत् भोक्ता-भोग्य के द्वैत के मिलन से विकसित हुआ है।

इस प्रकार चन्द्र, सूर्य और अग्नि को विश्व-शक्तियों और साथ ही साथ जीवित व्यष्टि शरीरों में जैविक शक्तियों के रूप मे देखा गया है। विश्व-शक्तियों और जैविक शक्तियों में अनवरत रूप से पारस्परिक क्रिया होती रहती है। यथार्थ में, जैविक शक्तियां विश्व-शक्तियों की विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ है। व्यष्टि जीवन का विकास विश्व-शक्तियों के अनुकूल संचालन पर निर्भर करता है। ताप, प्रकाश, वायु, जल तथा पृथ्वी की शक्तियों एव गुरुत्वाकर्षणीय, चुम्बकीय, रासायनिक, वैद्युत तथा यांत्रिक शक्तियों तथा अन्य समस्त शक्तियों, जो शिव-शक्ति के भौतिक ब्रह्माण्ड-शरीर में अपनी-अपनी भूमिकाओं का निर्वाह करती है, के मध्य होनेवाली आश्चर्यजनक पारस्परिक क्रियाये इस धरती के व्यष्टि जीवन की वृद्धि एवं व्यष्टि शरीरान्तर्गत जैविक प्रपंच पर अपना प्रभाव डालती है। जीवित शरीर के अन्दर की शक्तियों को बाह्य शक्तियों से भली प्रकार समायोजन स्थापित कर उनके सहकारी कार्यों से शरीर का विकास करना होता है। योगी

सम्प्रदाय के अनुसार ये समस्त बाह्य और आन्तिरक बल दिव्य शक्ति की विभिन्न आत्माभिव्यक्तियां है। योगी प्रत्येक शरीर-व्यवस्था मे ब्रह्माण्ड-व्यवस्था को प्रतिबिम्वित एव सक्रिय देखते है। वे 'काम' और 'कर्म' को भी व्यष्टि जीवन में विश्व-जीवन की अभिव्यक्तियो के रूप में देखते है।

गोरखनाथ चन्द्र की १७ कलाये, सूर्य की १३ कलायें और अग्नि की ११ कलाये बतलाते है। कलाओं से तात्पर्य विभिन्न प्रकार की उन शक्तियो से है, जो सूर्य चन्द्र आदि से प्रस्फुटित होकर जीवित व्यष्टि शरीरों की रक्षा और वृद्धि के हेतु विभिन्न प्रकार से कार्य करती है तथा साथ ही ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में सयोजन, व्यवस्था, नवीनता, सौन्दर्य एव गौरव को स्थिर रखती है। चन्द्र की सोलह कलाये, सूर्य की बारह कलाये तथा अग्नि की दस कलाये व्यष्टि शरीरो तथा ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में सक्रिय रहती है, जब कि उनमें से प्रत्येक की एक मौलिक कला होती है, जो इसे परमात्मा के सीधे आध्यात्मिक सम्पर्क में रखती है, जिसके फलस्वरूप इसकी अत्यान्तरिक प्रकृति आलोकित व आनन्दमय रहती है तथा जिसके कारण इन तीनो मे मौलिक एकता स्थिर रहती है। सत्यतः चन्द्र, सूर्य और अग्नि शिव की उसी महाशक्ति की अभिव्यक्तियाँ है और इस प्रकार वे एक दूसरे से मूलतः अभिन्न है। अन्ततः भोक्ता और भोग्य एक हैं, और उनके चरम स्वरूप में समस्त भोक्ता-भोग्य सम्बन्ध लुप्त हो जाते हैं। योगी की तत्वज्ञानालोकित दृष्टि मे कर्म, काम, चन्द्र, सूर्य और अग्नि से सभी चरमरूप में शिव-शक्ति की, विभिन्न रूपो में प्रकट होनेवाली, लीलामयी आत्माभिव्यक्तियाँ है।

चन्द्र की सोलह सक्रिय कलाओं के नाम हैं:—उल्लोला, कल्लोलिनी, उच्छलन्ती, उन्मादिनी, तरंगिणी, शोषिणी, लपटा, प्रवृत्ति, लहरी, लोला, लेलिहाना, प्रसरन्ती, प्रवाहा, सौम्या, प्रसन्नता और प्लवन्ती। सस्कृत मे ये नाम इनके विशिष्ट लक्षणों व कार्यो के विषय मे कुछ अस्पष्ट विचार प्रस्तुत करते है। सजीव शरीर या जगत्-व्यवस्था में इन कलाओं के विशिष्ट कार्यो के विषय में इन नामों का अनुवाद व इनकी व्याख्या करना निरर्थक होगा। उनसे कोई स्पष्ट धारणा नही बनाई जा सकती। चन्द्र की १७ वीं या तात्विक कला 'निवृत्ति' कही गई है, जिसकी सजीव शरीर-निर्माण मे कोई सक्रिय प्रापंचिक क्रिया नही होती, किन्तु जिसे समस्त अन्न-पदार्थो व आनन्द-भोग की वस्तुओं का चरम सार-तत्व या चरम भोग्य माना गया है, जिसकी उपलब्धि होने पर जीवन-रक्षा के समस्त संघर्षो से निवृत्ति और अमृतत्व की प्राप्ति हो जानी चाहिये। इसी कारण इसे अमृत कला भी कहते है। योगी का लक्ष्य, शक्ति की गहन एकाग्रता के अभ्यास द्वारा प्रापचिक रूप मे सक्रिय अन्य समस्त १६ कलाओ से ऊपर उठकर १७ वीं अमृत कला के आनन्द का उपभोग करना है।

सूर्य की १२ सक्रिय कलाओं के नाम है:—तापिनी, ग्रसिका, उग्रा, आकुचनी, शोषिणी, प्रबोधनी, स्मरा, आकर्षिणी, तुष्टि-वर्धिनी, उर्मिरेखा, किरणवती और प्रभावती। सूर्य की ये शक्तियाँ पार्थिव पदार्थो के विभिन्न परिवर्तनों तथा व्यष्टि

शरीरों के अन्तर्गत अन्न-पदार्थो के विभिन्न रूपान्तरो के विशिष्ट कार्य-सम्पादन करती हैं। तेरहवी कला, जिसे निजा-कला कहते हैं और जो ब्रह्माण्डगत या शारीरिक क्रियाओं में प्रत्यक्ष रूप से कोई भाग नहीं लेती, 'स्वप्रकाशता' है। इस निजा-कला अथवा तात्विक लक्षण के सदर्भ में सूर्य परमात्मा, जो समस्त विभिन्नताओं—अपनी ही आनन्दमयी आत्माभिव्यक्तियों—का चरम भोक्ता है, से तद्रूप प्रतीत होता है।

अग्नि की दस सक्रिय कलाओं के नाम है:—दिपिका, रजिका, ज्वालिनी, विस्फुलिगिनी, प्रचण्डा, पाचिका, रौद्री, दाहिका, रागिनी, शिखावती। ११ वीं कला, जो इसकी पारमार्थिक कला है, का नाम 'ज्योति' है, जो सर्व प्रकाशक, सर्व जीवनदाता और सर्वभोक्ता परमात्मा के प्रत्यक्ष संयोग में है। वैदिक ग्रन्थों में सूर्य, अग्नि और चन्द्र को प्राय. ब्रह्म कहकर गौरवान्वित किया गया है।

इस प्रकार यह प्रकट होता है कि चन्द्र, सूर्य और अग्नि न केवल अपने व्यक्तिगत व विश्वगत अग ही रखते है, वरन् पारमार्थिक अंग भी रखते हैं। वे ब्रह्माण्ड-प्रक्रिया को स्थिर रखने तथा जीवित व्यष्टि शरीरों के निर्माण में ही योग न देकर शिव-शक्ति के स्वज्योतिर्मय, स्वप्रकाशमान् आनन्दमय पारमार्थिक स्वरूप को प्रकट करने में भी अपनी भूमिका निभाते हैं। योगी, अपने में तथा ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में चन्द्र, सूर्य और अग्नि के मौलिक लक्षणों पर ध्यान केन्द्रित करके इस तथ्य तक पहुंचते हैं कि वे चरम रूप में एक-दूसरे से अभिन्न हैं और शिव उनमें गौरवपूर्ण रूपों मे अभिव्यक्त है।

(सि० सि० प० १/६२-६७)

(६) नाड़ी संस्थान अथवा स्नायु मण्डल

व्यष्टि शरीर और विशेषतया मानव शरीर की रचना की जानकारी के लिये योगी-सम्प्रदाय स्नायु-मण्डल के ज्ञान को बहुत महत्व प्रदान करता है। स्नायु-मण्डल आश्चर्यजनक रूप में शरीर के समस्त अगों को व्यवस्थित कर एक दूसरे से सगठित कर देता है और सम्पूर्ण शरीर की एकता के निदर्शन में महत्व-पूर्ण भूमिका निभाता है। जीवित व्यष्टि शरीर के अन्तर्गत विकसित नाड़ियाँ उसके विकास–क्रम में सर्वाधिक सवेदनशील तथा श्रेष्ठतम पदार्थ है। उच्च से उच्चस्तर के जीवित प्राणियों में वे अधिकाधिक विभिन्नतायुक्त और अधिकाधिक संयोजित होती है। प्रौढ़ मानव-शरीर में स्नायु-मण्डल सर्वाधिक क्लिष्ट, व्यवस्थित, सवेदनशील तथा सक्रिय होता है। नाड़ियाँ असंख्य बताई जाती हैं, वे समस्त शरीर में व्याप्त होती है, परस्पर सम्बन्धित होती है तथा सब मिलकर एक व्यवस्था का निर्माण करती है।

नाड़ियाँ प्रमुख साधन है, जिनके द्वारा मनस् के सक्रिय निर्देशन प्रत्येक शरीरांग तक पहुंचते हैं, शरीरांगों पर पड़े हुये प्रभाव मनस् तक पहुंचते हैं, मनस् और शरीर विभिन्न शरीरांगों पर पड़े विभिन्न प्रभावों पर प्रतिक्रिया करते हैं

और इस प्रकार यह मानसिक-शारीरिक व्यापार चलता रहता है। विभिन्न नाड़ियां शरीर के विभिन्न भागों से सीधे जुड़ी हुई हैं, वे केश तथा नखो तक से सम्बन्ध स्थापित किये रहती है। विभिन्न प्रकार की नाड़ियाँ विभिन्न प्रकार के कार्य करती है। कुछ नाड़ियां केन्द्र पर सन्देश पहुंचाने वाली होती है और कुछ बाहर की ओर ले जाने वाली होती हैं। कुछ विशेषतया सवेदन, प्रत्यक्षानुभव और ज्ञान की क्रिया में योग देती है, कुछ विशेषतया वासनाओं, सवेगों और उत्तेजनाओं के क्षेत्र में काम करती हैं, कुछ विशेषतया गतियों, चेष्टाओं और क्रियाओं में योगदान करती हैं, कुछ श्वास-प्रक्रिया, कुछ पाचन-प्रक्रिया, कुछ रक्ति-विभाजन इत्यादि का काम करती हैं। किन्तु उन सबका एक ही केन्द्र, एक ही स्रोत, एक ही उद्देश्य होता है। वे सभी मानसिक-भौतिक शरीर की एकता और व्यवस्था स्थिर रखने तथा उसके वातावरणों का ब्रह्माण्ड-व्यवस्था से उचित समायोजन स्थापित करने में अपनी-अपनी भूमिका निभाती है। नाड़ियां मनस् और भौतिक शरीर के मध्य कड़ी का काम करती है।

योगी गुरु, यह जानते हुये कि नाड़ियां असख्य हैं, एक शरीर में कम से कम ७२ हजार नाड़ियां बताते हैं। वे इस पर भी बल देते हैं कि उन सब नाड़ियों का समान स्रोत 'मूल-कंद' है। नाभि और जननेन्द्रिय के मध्य नाड़ी सस्थान के अन्तर्गत कही पर शरीर का सबसे मार्मिक अग यह 'मूल कन्द' स्थित माना जाता है। इस मुख्य केन्द्र से समस्त नाड़ियां विकसित होती है और शरीर के समस्त भागों मे, समस्त दिशाओं में ऊपर, नीचे, पार्श्व, सामने तथा इधर-उधर प्रसरित हो जाती है। मस्तिष्क व रीढ स्नायुमण्डल में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। मस्तिष्क, जिसे 'सहस्रार चक्र' कहा जाता है, प्रमुख कारण है, जिससे तर्क, नैतिक चेतना व तत्वज्ञानालोकित मनस् प्रकट होते है और समस्त शरीर पर अपना प्रभाव डालते हैं। यह स्नायु-मण्डल का श्रेष्ठतम भाग है। शरीर के मध्य में खड़ी रीढ़ सम्पूर्ण शरीर का सन्तुलन बनाये रखती है। अन्य नाड़ियां रीढ से जुड़ी है। रीढ़ को प्रायः 'ब्रह्मदण्ड' या 'मेरुदण्ड' कहा जाता है।

मूलकन्द से प्रकट होनेवाले नाड़ियों के इस अद्भुत जाल में से ७२ नाडियाँ योगियों द्वारा प्रमुख व महत्वपूर्ण मानी गई है। पुनः इन ७२ मे से १० नाड़ियाँ विशेष रूप से महत्वपूर्ण मानी गई हैं, क्योकि वे शरीर की दस इन्द्रियों से सम्बन्धित हैं, जिनके द्वारा व्यष्टि-शरीर बाह्य जगत् से परस्पर क्रिया करता है। वे अन्य नाड़ियों पर भी पर्याप्त प्रभाव डालती है। गोरखनाथ ने अपने महान् ग्रन्थ 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' में उनके ये विशिष्ट नाम बतलाये है:—सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला, सरस्वती, पूषा, अलवुषा, गान्धारी, हस्तजिह्वका, कुहु और शंखिनी।

पुनः यौगिक दृष्टिकोण से इनमें सुषुम्ना सर्वाधिक महत्वपूर्ण नाड़ी है। इसे प्रायः ब्रह्मनाड़ी कहा जाता है। मूलकंद से उत्पन्न होकर सुषुम्ना मूलाधार से आगे बढ़ती है और ब्रह्मदण्ड में से यात्रा करती हुई सहस्रार में स्थित 'ब्रह्मरंध्र'

तक जाती है। हमारे आध्यात्मिक, नैतिक और बौद्धिक जीवन के विकास में सुषुम्ना केन्द्र नाड़ी के रूप में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अनुभव के उच्चतम स्तर पर चरम आदर्श की सिद्धि के हेतु हमारी प्राण व मानसिक शक्ति सुषुम्ना के मार्ग से ऊपर उठती है। यह वह श्रेष्ठ मार्ग है, जिससे होती हुई कुण्डलिनी शक्ति, जो प्राय. मूलाधार में सुषुप्ति की अवस्था में पड़ी रहती है, जागृत होकर सहस्रार, जिसे प्राय: शिव की राजधानी कहा जाता है, में शिव से सचेतनरूप में एकाकार होने के लिये आगे बढ़ती है। जब समस्त शक्ति सुषुम्ना में केन्द्रित कर दी जाती है और यह इसके मार्ग से सहस्रार के उच्चतम स्तर पर उठने लगती है, तब व्यष्टि चेतना शिव के पारमार्थिक स्वप्रकाश से आध्यात्मिक रूप में आलोकित हो जाती है। यहा इस विषय पर विस्तृत वर्णन की आवश्यकता नही। इतना ही कहना पर्याप्त है कि सुषुम्ना सम्पूर्ण स्नायुमण्डल मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण व सर्वप्रमुख नाड़ी है।

सुषुम्ना के पश्चात् महत्वपूर्ण नाड़िया है:—इड़ा और पिगला। वे भी उसी सामान्य केन्द्र से प्रारभ होकर सुषुम्ना के दोनो पार्श्वों में चलती हुई दोनो नासा पुटों से जुड़ी हुई बताई गई है। वे समस्त श्वासागो की सेविका मानी गई है। चूकि व्यष्टि जीवन के विकास, सयोजन और रक्षण मे श्वास-प्रक्रिया का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है और चूकि श्वास-प्रक्रिया के नियत्रण एव अनुशासन से अनेक प्रमुख अंगों पर ऐच्छिक नियंत्रण रखा जा सकता है और उनके क्रिया-कलापों को इच्छानुसार प्रेरित किया जा सकता है, अतएव यौगिक दृष्टिकोण से इड़ा और पिगला के महत्व के विषय में कुछ भी अतिशयोक्ति नही कहा जा सकता। योगी इडा को चन्द्र नाड़ी और पिंगला को सूर्य नाड़ी कहते है। पहली बाये नासापुट और दूसरी दाये से जुड़ी हुई है। उन्हें सुषुम्ना के दोनों ओर माना जाता है। उनकी धड़कनें प्राणवायु की गतियों से मौलिक रूप से परस्पर जुडी हुई है। हमारी प्राण-शक्ति सामान्यत: अस्थिर है और यह अथक रूप से इड़ा और पिगला के द्वारा प्रत्येक श्वास के साथ सर्वत्र रहती है और उनके द्वारा दूसरी नाड़ियों में पहुचकर विभिन्न अगों को शक्ति प्रदान करती है। हमारी प्राण-शक्ति अस्थिरता के साथ हमारी मानसिक शक्ति भी अथक रूप से गतिशील रहती है। वे अत्यधिक घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। योगी प्राणायाम के व्यवस्थित अभ्यास से अपनी प्राण व मानसिक शक्तियों को वश में करके उन्हे पूर्णतया चपलता व व्यग्रता से रहित कर सकता है। इस यौगिक अनुशासन में इड़ा और पिगला की गतियों तथा श्वास पर नियंत्रण बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इडा और पिंगला को सुषुम्ना में एकाकार कर समस्त शक्ति को सत्यानुभव के लिये केन्द्रित किया जा सकता है।

सरस्वती नाड़ी मुख, वागेन्द्रिय से सम्बन्धित है। इस प्रकार यह वाक् यंत्रों को शेष समस्त शरीर व मस्तिष्क से जोड़ कर उन्हें इच्छा, विचार और संवेदनाओं तथा संवेगों के प्रति भली प्रकार उत्तरदायी बना देती है। पूषा और

अलम्बुषा दो नाड़ियां दृगिन्द्रिय दृष्टि पटल व नेत्र गोलकों से जड़ी हुई मानी गई है। वे अन्य लघु नाड़ियों के सहयोग से दृक् संवेदनाओं को मनस् के मुख्य साधन मस्तिष्क तक ले जाती है। इसी प्रकार गान्धारी और हस्तिजिह्विका कर्णेन्द्रियों से जुडी हुई मानी जाती है और समस्त श्रवण सवेदनाये उनके द्वारा पहुंचाई जानी है। कुहु नाड़ी से जुडी हुई है। शंखिनी नाड़ी विशेषतया लिग से जुड़ी हुई मानी गई है।

योगी गुरु गोरखनाथ द्वारा ये दस मुख्य नाडियाँ बतलाई गई है, किन्तु जैसा कि देखा जा चुका है, उनके व उनके योगी सम्प्रदाय के अनुसार नाड़ियां असख्य है और वे समस्त शारीरिक व्यवस्था मे जाल की भांति बिछी हुई है। वे परस्पर जुडी हुई व सर्वदा प्रवाहित दशा में मानी गई है। वे शरीर के प्रत्येक अंग मे प्रत्येक दूसरे अंग तक शक्ति का वहन करती है और इस प्रकार सम्पूर्ण व्यवस्था को सगठित कर देती हैं। वे शक्ति के एक सामान्य केन्द्र से उत्पन्न होती है तथा विभिन्न भागों मे प्रवाहित होकर उन्हे जीवित व शक्तिशाली बनायें रखनी हैं तथा उन्हें केन्द्र से मिलाती है। यौगिक दृष्टिकोण से नाडी मण्डल और नाडी-चक्र के विषय में कुछ अन्य बातों पर अधिक विस्तार से इसी क्रम में विवेचन करना होगा।

यह अनेक प्रसगों में कहा जा चुका है कि एक योगी का दृष्टिकोण व्यावहारिक सर्वप्रथम है और सैद्धान्तिक बाद मे। व्यष्टि-शरीर-रचना का विश्लेषण भी मुख्यतया यौगिक अनुशासन के व्यावहारिक दृष्टिकोण से किया गया है। आधुनिक विज्ञानों द्वारा सामान्य रूप से स्वीकृत प्रयोगादिक विधियों द्वारा योगियों की शरीरांग सम्बन्धी खोजों पर प्रयोग करना नितान्त निरर्थक होगा। हमे किसी भी दशा में आधुनिक वैज्ञानिको की खोजों की तुलना तत्व ज्ञानालोकित योगी गुरुओं की खोजों से नहीं करनी चाहिये, क्योकि उनके दृष्टिकोणो, उपायों एव उद्देश्यों में मूलभूत अन्तर है। अस्तु, एक योगी का व्यावहारिक उद्देश्य अपने शरीर व मनस् का पूर्ण स्वामी बनना है और इसके लिये सम्पूर्ण शरीर को समुचित यौगिक अनुशासन से अपनी बुद्धि व इच्छा-शक्ति को नियत्रण में करना होता है। शरीर-रचना का विश्लेषण वह इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर करता है। इस विश्लेषण का महत्व तब अधिक स्पष्टतया समझ में आ जायेगा जब साधना के अन्तर्गत इसके प्रयोग का विस्तार से विवेचन किया जायेगा। स्वयं गोरखनाथ इन नाड़ियों के नाम व स्थान के विषय में अधिक गभीर न थे, यह बात उनके अन्य ग्रन्थों में इनके वर्णन से प्रकट है। 'विवेक मार्तण्ड' मे वे कहते है कि गांधारी बांयी आख से जुडी हुई है और हस्ती-जिह्वा दायीं आंख से, पुषा बाये कान और यशस्विनी दाये कान से, अलंबुषा मुख से, कुहु जननेन्द्रिय से और शखिनी गुदा से जुड़ी हुई है। यहा वे सरस्वती का उल्लेख नहीं करते, उसके स्थान पर यशस्विनी का उल्लेख करते हैं।

(७) वायु संस्थान

जीवित शरीर में नाड़ियों के महत्वपूर्ण कार्यों का सक्षिप्त वर्णन करने के पश्चात् गोरखनाथ शरीर में वायु के व्यापारों की विवेचना करते है। शरीर के समस्त आन्तरिक अंगों के संचालन व गति का नियामक तथा उसके समस्त भागों की समुचित कार्यविधि का संचालक वायुतत्व है। वायुतत्व बाह्य शारीरिक अगों को स्फूर्तिवान् रखने के लिये वातावरण से निरन्तर सामग्री ग्रहण करता रहता है। भोजन और जल को मिलाने में तथा शरीर के समस्त भागों में उनके समान वितरण में सहायता प्रदान करता है, रक्त-संचालन तथा विभिन्न अगों में स्राव की प्रक्रिया में सहायता प्रदान कर यह जोवित शरीर को जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति की समस्त दशाओं में बाहर और भीतर से सर्वदा सक्रिय रखता है। वायु समस्त नाडियों, चन्द्र, सूर्य और अग्नि आदि की उनके कार्यो में सहायता करती है, यह शरीर के समस्त भागों में उन्हें सक्रिय व स्फूर्तिवान् रखने के लिये विचरण करती रहती है। जीवित शरीर के सम्बन्ध में वायु को एक प्रमुख शक्ति माना गया है, इसीलिये इसे प्राण-शक्ति कहा जाता है।

समस्त शरीर में यद्यपि वायु या प्राण-शक्ति मूलतः एक है, तथापि यह जीवित शरीर के विभिन्न भागों में जो विभिन्न कार्य करती है, उसके तथा इसकी विभिन्न वृत्तियों के अनुसार इसके दस विभिन्न नाम दिये गये हैं। एक वायु दस वायुओं के रूप में कार्य करती है। उन्हें प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म कृकर (कृकल), देवदत्त और धनंजय कहा गया है। इनमे प्रथम पांच मुख्य मानी जाती हैं और पिछली पांच गौण। प्रथम प्राण-वायु का स्थान आदरपूर्ण है। इसका स्थान या केन्द्र हृदय माना जाता है। यह विशेषतया श्वास-प्रक्रिया से सम्बद्ध है और इस प्रकार इड़ा और पिंगला आदि मुख्य नाड़ियो से सम्बन्धित है। श्वास अन्दर व बाहर फेकने की प्रमुख क्रियाओं से सम्बन्धित समस्त अंगों को यह शक्तिशाली व सक्रिय बनाता है। यह बात प्रत्येक जीवित प्राणी को भली प्रकार विदित है कि शरीर-व्यवस्था के अन्तर्गत समस्त अंगों के सामान्य क्रिया-कलाप नियमित व बाधा रहित श्वास-प्रक्रिया पर निर्भर करते है। श्वास-प्रक्रिया के पूर्णतया रुक जाने का अर्थ है मृत्यु। अतः यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं कि श्वास ही जीवन है (निस्सन्देह, अपूर्ण प्रापचिक जीवन) श्वास-प्रक्रिया के सफल नियंत्रण से योगी सम्पूर्ण शरीर-व्यवस्था पर नियंत्रण पा लेते है। ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में विद्यमान अक्षुण्ण प्राण-शक्ति व व्यष्टि-शरीर में निहित प्राण-शक्ति के निरन्तर आदान-प्रदान का प्रमुख मार्ग श्वास-प्रक्रिया ही प्रतीत होती है।

दूसरी प्रमुख वायु का नाम अपान है। इसका स्थान या केन्द्र गुदा के निकट माना जाता है। यह प्रमुख शरीर से नीचे के समस्त भागों को शक्तिशाली व सक्रिय बनाती है। यह अगों से उत्पन्न या उनके इर्द-गिर्द एकत्रित समस्त प्रकार के मलों और अनावश्यक पदार्थों को दूर करने में सहायता प्रदान करती है। इसके

कार्य प्राण-वायु के कार्यों के पूरक तथा उनसे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। प्राण निरन्तर शरीर मे स्वच्छ वायु का प्रवेश कराकर अंगों को स्फूर्तिशाली रखता व भोजन को पचाता है तथा उसे शरीर के जीवित अगों में परिवर्तित कर देता है और अपान निरन्तर उपयोग में लाई हुई प्राण-वायु तथा पाचन-प्रक्रिया के अन्तर्गत अवशिष्ट पदार्थो को शरीर से बाहर निकालने मे सहायता प्रदान करता है। प्राण और अपान—चन्द्र, सूर्य और अग्नि तथा चन्द्रनाड़ी (इड़ा) और सूर्यनाड़ी (पिंगला) के सहयोग मे शारीरिक व्यवस्था के आश्चर्यजनक संगठन में योगी-सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से, अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस प्रसंग में हम गीता मे भगवानकृष्ण के इन सुन्दर शब्दों को स्मरण कर सकते हैं:—

'अह वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥' (१५/१४)

"मैं ही सब प्राणियों के शरीर मे स्थित वैश्वानर अग्नि रूप होकर तथा प्राण और अपान से युक्त होकर चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ।' इन दिव्य शव्दो का गूढार्थ यह है कि अन्न-पाचन की सर्वाधिक सामान्य शारीरिक क्रिया भी सच्चे अर्थो में, स्वय ईश्वर द्वारा ही की जाती है। अन्न और जल को एकरस बनाने की शक्ति, श्वास-प्रश्वास की शक्ति, शरीर से अवांछनीय पदार्थों के निष्कामन की शक्ति, स्वास्थ्यदायक अन्न को जीव कोषाणुओं मे परिवर्तित करने की शक्ति, ये समस्त शक्तियाँ वास्तव में दिव्यशक्ति की अभिव्यक्तियाँ है, शिव-शक्ति की आत्माभिव्यक्तियां है। सर्वाधिक क्लिष्ट शारीरिक व्यवस्था तथा इसमें व्यक्त विभिन्न प्रकार की शक्तियो के विषय में गोरखनाथ द्वारा प्रस्तुत समस्त विवेचनो का भी यही वास्तविक सार है।

'समान' वायु का स्थान व केन्द्र नाभि-क्षेत्र मे माना गया है और इसका प्रमुख कार्य जठराग्नि को जागृत कर पाचन-शक्ति को बढाना है। 'व्यान' वायु को शरीर के समस्त भागो में विचरण करनेवाली समस्त नाड़ियो और अंगों में नयी शक्ति का संचार करनेवाली तथा उनमें से प्रत्येक मे स्वास्थ्यदायक तत्वों का समान वितरण करनेवाली माना गया है। इस क्लिष्ट यत्र (शरीर) के विभिन्न भागों मे संतुलन स्थिर रखने में व्यान वायु का प्रमुख योगदान माना जाता है। 'उदान' वायु का स्थान कंठ क्षेत्र में माना गया है। भोजन व जल को सुविधा-पूर्वक कठ के नीचे उतारने तथा शरीर द्वारा त्याज्य वस्तु को उगलने में यह सहायता देती है। वागिन्द्रिय की सहज गतियों में भी यह सहायता देती है।

अन्य पांच वायुओं में 'नाग' को समस्त शरीर में व्याप्त और शरीर को बलशाली एवं स्वस्थ बनाने तथा इसकी हलचलों को संतुलित रखने में सहायक माना गया है। 'कूर्म' वायु को विभिन्न अवसरों पर शरीर या इसके विशेष अंगों में के अनैच्छिक कम्पनादि का प्रमुख कारण माना गया है तथा पलकों के सहज रूप से खुलने व बन्द होने और नेत्र गोलकों की गतियों का भी मुख्य कारण इसे ही

माना जाता है । इस प्रकार आकस्मिक परिस्थितियों मे शरीर के कोमल अगो के सहज समायोजन मे यह सहायता प्रदान करती है । कृकल (या कृकर) दो उद्देश्यों को पूरा करनेवाला कहा गया है । यह उदर में से अपाच्य गैसों को कठ व मुख से बाहर फेकता है और इस प्रकार शरीर की सामान्य दशा को बनाये रखने में सहायता प्रदान करता है । यह क्षुधा-वृद्धि भी करता है । 'देवदत्त' असाधारण अवस्थाओ में मुख व अन्य मार्गो के द्वारा व्यक्त कतिपय सहज संवेगाभिव्यंजनों के माध्यम से शरीर को अकस्मिक व असाधारण स्थितियो मे शाति प्रदान करता है । अन्त मे धनजय को सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त वायु माना गया है । शरीर की रक्षा व विकास के हेतु विभिन्न शक्तियों व विभिन्न अगो की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया व व्यापारो के सहयोगी के रूप मे शरीर के अन्दर एक क्रमिक नाद को उत्पन्न करती है । इस जीवित शरीर को निरन्तर युद्ध क्षेत्र कहना अतिशयोक्ति न होगा, क्योकि इसमें सृजन व विनाश तथा पुनः निर्माण की क्रियाये निरन्तर घटित होती रहती है और उसमें निरन्तर विस्फोट व आश्चर्यजनक एकीकरण होते रहते है । इस शरीर के अन्दर विभिन्न प्रकार के नाद, विभिन्न प्रकार की गन्धे, विभिन्न प्रकार के स्वाद, विभिन्न प्रकार के रंग, विभिन्न प्रकार की लहरे तथा आन्दोलन निरन्तर उठते रहते है । किन्तु समस्त क्रिया-कलाप इतने अद्भुत ढंग से नियोजित है कि एक संयोजित व्यवस्थित शरीर उत्पन्न हो जाता है ।

योगी गुरु गोरखनाथ ने प्रत्येक जीवित प्राणी की स्वाभाविक श्वास-प्रक्रिया की अत्यन्त प्रेरणादायक एव शिक्षाप्रद आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है । यह सामान्यतया सर्वविदित है कि प्रत्येक श्वास के तीन तत्व होते है, यथा—पूरक, रेचक और कुभक । सामान्य श्वास-प्रक्रिया में व्यावहारिक रूप से कुभक अदृश्य रहता है, तथापि पूरक (श्वास अन्दर लेना) और रेचक (श्वास बाहर फेकना) के मध्य कुभक (श्वास रोकना) की क्षणिक स्थिति होती है । अपने प्रयास व इच्छा-शक्ति के प्रयोग से हम कुभक की अवधि को बढ़ा सकते है और पूरक व रेचक की अवधि भी अधिक कर सकते है । स्वस्थ मानव-जीवन की सामान्य गति में प्रत्येक श्वास-प्रक्रिया (तीनों तत्वों से युक्त) चार सेकेण्डों में पूरी हो जाती है । इसके अनुसार हम रात और दिन मे २१६०० बार पूरक और रेचक श्वास लेते है । यह गणना समस्त अवस्थाओं में निरन्तर ठीक नहीं भी हो सकती है, क्योकि विभिन्न परिस्थितियों के कारण सामान्य श्वास-निश्वास में व्यवधान पड़ सकता है । कुछ विशेष परिस्थितियों में हमारी श्वास-प्रक्रिया तीव्र हो सकती है और अन्य में मन्द । शरीर की रुणावस्था में श्वास-प्रक्रिया विभिन्न प्रकार से प्रभावित हो सकती है । जागृत व सुषुप्ति की अवस्था में शारीरिक परिश्रम और विश्राम करते समय, मानसिक उत्तेजना के अवसरों पर और शांति व स्थिरता के समय श्वास-प्रक्रिया समान गति और वेग से नहीं चलती । तथापि, यह माना गया है कि सामान्यतया २४ घंटों में हम २१६०० बार श्वास लेते हैं ।

अस्तु, गोरखनाथ हमें बतलाते है कि प्रत्येक रेचक श्वास में वायु 'ह' की

ध्वनि के साथ बाहर जाती है और प्रत्येक पूरक श्वास के साथ वायु 'स' की ध्वनि के साथ अन्दर आती है। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक प्राणी, और विशेषतया प्रत्येक मनुष्य—स्वभावत: व अचेतन रूप में "हंस." मंत्र का जाप रात और दिन, सोते-जागते सर्वदा करता रहता है। यह एक दिव्य विधान है। गोरखनाथ इस विधान के गहन आध्यात्मिक महत्व के विषय में हमे अवगत कराते है। 'ह' ध्वनि का तात्पर्य है—'हं'—अर्थात् मै या जीव, और 'स:' ध्वनि का तात्पर्य है 'वह' या विश्वात्मा—ब्रह्म, परमात्मा, शिव। इस प्रकार प्रत्येक रेचक श्वास के साथ जीव स्वय को शारारिक सीमाओ से मुक्त कर लेता है और ब्रह्माण्ड मे प्रवेश कर विश्वात्मा (शिव) से एकाकार हो जाता है, तथा प्रत्येक पूरक श्वास में 'वह' विश्वात्मा 'शिव'—जीव के शरीर में प्रवेश कर स्वय को 'अहम्' या जीवात्मा के रूप मे प्रकट करता है। जब प्रत्येक श्वास मे 'पूरक' से पूर्व 'रेचक' आता है, तब मंत्र बनता है—'हंस:' और यदि इसके विपरीत 'रेचक' के पूर्व 'पूरक' को माना जाय, तो मंत्र बनता है—'सोऽहं'। दोनों का अर्थ एक ही है—जीव का शिव से तादात्म्य।

गोरखनाथ कहते है :

'हंकारेण बहिर्याति स.कारेरण विशेत पुनः
'हसः' 'सोहम्' इमं मंत्र जीवो जपति सर्वदा ॥'

प्रत्येक जीव 'ह' ध्वनि के साथ बाहर जाता है और पुन: 'स.' ध्वनि के साथ अन्दर प्रवेश करता है, और इस प्रकार प्रत्येक जीव निरन्तर इम मत्र का जप करता रहता है. हस: सोऽहं। इसे 'अजपा गायत्री' कहते है और यह गायत्री मंत्र का सर्वश्रेष्ठ रूप माना जाता है। किसी को इस मत्र का जिह्वा या प्रयास से जप करना नहीं पड़ता। गायत्री का अर्थ है एक पवित्र गीत जिसके गाने से व्यक्ति समस्त बन्धनो से मुक्त हो जाता है। चरम आध्यात्मिक सत्य से गर्भित यह महा-मंत्र प्रत्येक जीव द्वारा अद्भुत दैवी विधान के अन्तर्गत निरन्तर रात और दिन बिना किसी प्रयास के प्रत्येक श्वास मे जपा जा रहा है। जीव और परमात्मा (शिव) का तादात्म्य अनुभव करने तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिये साधक को केवल अपने स्वाभाविक श्वास के आन्तरिक अर्थ पर गहन ध्यान केन्द्रित करना होता है।

योगी गुरु स्पष्ट शब्दो मे घोषित करते है :

षट शतानि दिवा-रात्रौ सहस्राण्येक विशतिः
एतत् सख्यान्वित मत्रं जीवो जपति सर्वदा।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।
अस्याः सकल्पमात्रेण नरः पापैर्विमुच्यते ॥

(विवेक मार्तण्ड)

जीव रात और दिन मे इस मन्त्र (जीव और शिव के तादात्म्य को प्रकट करनेवाले) का २१६०० बार जप करता है। यह अजपा गायत्री उन योगियों को मोक्ष देनेवाली है जो इस स्वाभाविक जप पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। इस अजपा गायत्री पर मात्र ध्यान केन्द्रित करने से ही मनुष्य समस्त प्रकार के पापों से मुक्त हो जाता है।

वे इस अजपा गायत्री की महिमा के गीत विभिन्न प्रकार से गाते है तथा समस्त आध्यात्म जिज्ञासुओं को आत्मज्ञान हेतु इस स्वाभाविक उपाय से सर्वाधिक लाभ उठाने का निर्देश देते हैं। वह कहते हैं—

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राण धारिणी
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥

इस स्वाभाविक 'गायत्री मंत्र' की उत्पत्ति कुण्डलिनी शक्ति से होती है। और यह मंत्र प्राण-व्यवस्था को स्थिर रखनेवाला है। इसका ज्ञान प्राण-विद्या कहलाता है और यह महाविद्या है। जो इस 'अजपा गायत्री' के ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वही सच्चे अर्थो में योग का ज्ञाता है। इसके समान ज्ञान, इसके समान जप, इसके समान विद्या न कभी थी और न कभी होगी।

हमारी स्वाभाविक श्वास प्रक्रिया की यह एक भव्य धारणा है। उच्चतम तत्वज्ञान इससे सम्बन्धित है। गोरखनाथ की योग-साधना-पद्धति के अन्तर्गत इस धारणा को उत्पन्न करना और प्रत्येक श्वास में जीव तथा शिव के मौलिक तादात्म्य को सर्वदा स्मरण रखना एक नितान्त आवश्यक बात है। इसे 'अजपा योग' कहा जाता है।

इस प्रसंग में एक अन्य यौगिक धारणा का भी उल्लेख कर सकते है। जब शरीर और मन शांत व स्थिर होते है, जब किसी भी नाड़ी या अग में अव्यवस्था या असन्तुलन नही होता है, तब श्वास स्वत. ही अत्यन्त शांत, मन्थर, सौम्य और लययुक्त—लगभग ध्वनिरहित हो जाता है। तब यह 'हं' और 'स:' ध्वनियों को उत्पन्न करता प्रतीत नही होता है। 'हंसः' अथवा 'सोऽह' मन्त्र एक निरन्तर, निस्तरंग व एकरस स्वर—'ओ३म्' जिसे प्रभाव' कहा जाता है, ध्वनि में विलीन हो जाते हैं। 'ओ३म्' ध्वनि 'अहम्' और 'सं.' जीव और शिव के पूर्ण एकत्व का प्रतीक है। कुभक में इस अनादि 'ओ३म्' के अतिरिक्त और कोई ध्वनि नही होती। 'ओ३म' ब्रह्म या शिव, मामरहित परमात्मा का शाश्वत पवित्र नाम माना गया है।

पातंजलि अपने योग सूत्र मे कहते है 'तस्य वाचक प्रणव:'—प्रणव अर्थात् 'ओ३म्' ईश्वर का नाम है। श्रीकृष्ण गीता में 'ओ३म्' को 'एकाक्षर ब्रह्म' कहते हैं। माण्डूक्योपनिषद के अनुसार 'ओ३म्' सम्पूर्ण अस्तित्व भूत, वर्तमान और भविष्य का प्रतीक है, यह काल से ऊपर व परे है, 'ओ३म्' ब्रह्म है, विश्वात्मा व परमात्मा है। समस्त प्रामाणिक श्रुतियाँ 'ओ३म्' को ब्रह्म बताती हैं।

गोरखनाथ और सिद्ध योगी-सम्प्रदाय इस 'प्रणव' को अनाहत नाद(शाश्वत

ध्वनि) कहते हैं, जो ध्वनि के रूप में परमात्मा की मौलिक आत्माभिव्यक्ति है। यह प्रणव 'ओ३म्' महाकाश में व्याप्त और पंच भौतिक ब्रह्माण्ड में समाया हुआ है। समस्त विशिष्ट ध्वनियां इस 'ओ३म्' से विकसित हुई हैं और अन्त में पुनः इसी में विलीन हो जाती है। यह समस्त वेदों और वेदान्त का सार है, जो केवल विभिन्न शब्दों व धारणाओं के रूप में इसकी विभिन्न व्याख्यायें प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक जीव के हृदय में स्वाभाविक रूप से यह 'ओ३म्' यह अनाहत नाद, यह शब्द ब्रह्म, यह परमात्मा का अनन्त शाश्वत सूक्ष्म ध्वनि शरीर चमकता रहता है। अजपा गायत्री हंस: सोऽहं' के अन्तर में यह महामंत्र 'ओ३म्' निहित है। भौतिक, मानसिक और जैविक शक्ति की पूर्णतया शान्त स्थिर व एकाग्रस्थिति में. जब श्वास और निश्वास में पूर्ण सन्तुलन होता है, जब आवेग रहित हृदय में 'प्राण' और 'अपान' मिले रहते हैं, जब चन्द्रनाड़ी और सूर्यनाड़ी (इड़ा और पिंगला) ब्रह्मनाड़ी (सुषम्ना) से चरम मिलनावस्था में होती है, तब प्रत्येक व्यक्ति इस प्रणव, इस अनाहतनाद, इस शब्द शरीरी ब्रह्म को अपने भीतर सुन सकता है और अपने अस्तित्व के सार-रूप में इसका साक्षात्कार कर सकता है। महायोगी इस प्रकार बताते हैं कि कैसे चरम सत्ता और हमारे जीवन का चरमादर्श हमारी शरीर-रचना में प्रत्येक क्षण अपने को प्रस्तुत करते हैं और वे सहज ही हमारी पहुंच के भीतर है। हम केवल ध्यान की एकाग्रता द्वारा उसे अपने भीतर अनुभव कर सकते हैं।

अध्याय-१४

यौगिक दृष्टि से पिण्ड-विचार

ब्रह्माण्ड-शरीर और शिव-शक्ति (सक्रिय परमात्मा) की प्रापचिक आत्माभिव्यक्तियों के रूप मे व्यष्टि शरीरों की रचना का सामान्य विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् महायोगी गोरखनाथ सत्यान्वेषियों को, सिद्ध योगियों के तत्वज्ञानालोकित अनुभव के आधार पर, इस शरीर-प्रणाली के आन्तरिक स्वरूप पर अपेक्षाकृत अधिक गभीर दृष्टि से विचार करने की शिक्षा देते है। इसे 'पिण्ड-विचार' कहते हैं। यहाँ वे योग-मार्ग के जिज्ञासुओं या योग-मार्ग में दीक्षित लोगो के लिये एक सिद्धान्त प्रस्तुत करते है, जो गूढ है और जिसे दर्शन या शरीर विज्ञान या मनोविज्ञान के एक साधारण बुद्धिवादी छात्र के लिये समझना कठिन है। यह सिद्धान्त साधारण निरीक्षण या प्रयोग के स्थान पर योगिक अन्तर्दर्शन और ध्यान पर आधारित है। किन्तु इस विशाल देश की सामान्य संस्कृति पर योगी-सम्प्रदाय का आध्यात्मिक प्रभाव इतना व्यापक और गहन था कि इनमें से गुप्त या रहस्यमय विचार भारतवर्ष के समस्त भागों के सामान्य धार्मिक व्यक्तियों को भी भली प्रकार विदित थे।

गोरखनाथ कहते है कि इस पवित्र शरीर, जो शिव-शक्ति की एक आश्चर्यजनक आत्माभिव्यक्त है, के अतिरिक्त स्वरूप का सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिये इन धारणाओं की जानकारी व इन पर गहन विचार परमावश्यक हैं। वे कहते हैं—

नव चक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यम् व्योमपंचकम्।
सम्यगेतत् न जानाति य योगी नाम-धारकः॥

(सि० सि० प० ११।३१)

यदि योगी नौ चक्र सोलह आधार (कला), तीन लक्ष्य और पाँच व्योमों से पूर्णतया परिचित नही है तो वह नाममात्र का योगी है।

(अ) नव-चक्र

योगियों द्वारा केन्द्रीय सुषुम्ना नाड़ी, जिसे ब्रह्म-मार्ग कहा गया है, मे नौ-चक्रों को विभिन्न विश्राम-स्थलों के रूप में माना गया है। वस्तुत: वे गूढ़ अनुभव के विभिन्न स्तर हैं, जिनमें यात्रा करता हुआ योगिक आत्मानुशासन के मार्ग पर चलनेवाला आत्म-ज्ञान का एक सच्चा जिज्ञासु अपनी व्यवस्थित साधना व प्रयास से आध्यात्मिक अनुभव के उच्चतम स्तर पर पहुँचता है और जहाँ स्वयं के शिव-शक्ति से पूर्ण एकत्व का आनन्दोपभोग करता है।

जैसा कि स्नायु-मण्डल का विवेचन करते हुये कहा जा चुका है, सुषुम्ना नाड़ी सबसे सूक्ष्म, प्रखर व संवेदनशील होती है, जो रीढ़ संस्थान से यात्रा करती हुई मूलाधार को सहस्रार से जोड़ती है। यद्यपि यह शरीर के अन्तर्गत विकसित होती है और भौतिक व्यष्टि शरीर का एक अंग है, तथापि इसे निम्नतर और उच्चतम स्तरो के मध्य जैविक और मानसिक शक्ति के निरन्तर प्रवाह का सबसे उपयुक्त मार्ग माना जाता है। यह शाश्वत प्रभावमयी धारा (सामान्य जीवन में ऊपर और नीचे दोनों दिशा मे बहने वाली) के समान प्रतीत होती है, जो शक्ति को ऊपर-नीचे ले जाती है। स्थूल दृष्टिकोण से देखने पर यह नाड़ी लगभग सीधी प्रतीत होती है और धारा सहज व शान्त प्रतीत होती है, किन्तु गहन दृष्टि से देखने पर यह पता चलता है कि इस धारा मे कुछ विभाग व मोड़ है और कई केन्द्रो पर 'चक्र' है। व्यक्ति के आन्तरिक जीवन मे शक्ति-प्रवाह की दिशा और तीव्रता पर ये चक्र पर्याप्त प्रभाव डालते है। कभी-कभी वे व्यक्तियों की मानसिक प्रवृत्तियों और जैविक योग्यताओं मे क्रान्ति उत्पन्न कर देते है।

वे आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग मे कभी बाधक और कभी साधक रूप बन जाते हैं। आध्यात्म-जिज्ञासुओ को उनसे तथा उनके विशिष्ट लक्षणो से परिचित होना पडता है, जिससे वे उनकी बाधाओं को पार कर सके और आध्यात्मिक शक्ति व तत्वज्ञान के उच्चतर स्तरो तक पहुँचने में उनसे सर्वाधिक लाभ उठा सके। ये चक्र आध्यात्मिक अनुभव के विशिष्ट स्तरो का भी प्रतिनिधित्व करते है। जब व्यक्ति की मानसिक और जैविक शक्ति निम्न-चक्र के क्षेत्र में विचरण करती है, तब वह वस्तुओं को निम्न दृष्टि से भौतिक या ऐन्द्रिक दृष्टिकोण अथवा अपनी वासना या कामना के दृष्टिकोण से देखता है। जैसे ही उसकी शक्ति उच्चातिउच्च चक्रों के क्षेत्रों की ओर अग्रसर होती है, उसका दृष्टिकोण अधिकाधिक शुद्ध और आलोकित होता जाता है, उसके स्वार्थ अधिकाधिक आध्यात्मिक होने जाते हैं और वह जगत् तथा स्वय के दिव्य और आध्यात्मिक स्वरूप का महत्व अधिकाधिक गहराई से समझने लगता है। योगियों के अनुसार, आध्यात्मिक प्रगति, निम्न चक्रो का भेदन करते हुये, शिव-शक्ति के पारमार्थिक स्वरूप से एकाकार होने के हेतु उच्चतम चक्र तक पहुँचने मे निहित है। जब चक्रों का भेदन कर लिया जाता है तब सुषुम्ना धारा सीधी हो जाती है और योगी सरलतापूर्वक साधारण व्यावहारिक चेतना के स्तर से 'समाधि स्तर', पूर्ण आध्यात्मिक तत्वज्ञान एवं समस्त बन्धनों और सीमाओं से मोक्ष के स्तर तक उठ सकता है।

परमात्मा की आत्माभिव्यक्ति होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति में आध्यात्मिक अभीप्सा निहित है और विभिन्न सीमित पार्थिव अनुभव स्तरों में चरम आनन्दमय परमात्मा से एकत्व के पारमार्थिक अनुभव स्तर पर पहुँचना ही उसके जीवन का प्रयोजन होता है। इस चरम अनुभव की उपलब्धि और वैयक्तिकता व इसकी सीमाओं से मुक्ति ही व्यष्टि सत्ता की पूर्णता है। यह चरम आदर्श समस्त व्यक्तियों की आन्तरिक प्रवृति में निहित है और उनके विकास की अत्यधिक

जटिल गतियों का अदृश्य रूप से निर्णायक है। मनुष्येतर प्राणियों के जीवन में यद्यपि यह आध्यात्मिक अभीप्सा उपस्थित रहती है, किन्तु स्पष्ट व्यावहारिक चेतना के स्तर पर यह कभी प्रकट नही होती। उनका (पशु-पक्षियो आदि का) मानसिक-भौतिक शरीर वस्तुत: इस अभीप्सा को अनुभव करने योग्य ही नही है, किन्तु उनके भी स्वभाव का विकास आन्तरिक रूप से इस अभीप्सा द्वारा निर्धारित होता है और वे अज्ञात रूप से इससे प्रेरित रहते है।

मानव-जीवन भी विकास के कई स्तरों से होता हुआ आगे बढता है, मानव का मानसिक-भौतिक शरीर भी क्रमिक प्रक्रिया द्वारा विकसित होता है। विकास के निम्न .स्तरों में इसे अन्तर्निहित आध्यात्मिक अभीप्सा का कोई वास्तविक भाव नही होता है। भौतिक, जैविक और मानसिक विकास के उच्च स्तरो पर पहुँचे हुये मनुष्य मे भी—जब उसकी नैतिक और आध्यात्मिक चेतना पर्याप्त विकसित व अलौकिक होती है, अपने आन्तरिक स्वरूप में निहित इस आध्यात्मिक अभीप्सा का कोई स्पष्ट व प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता है। साधारण अवस्था मे यह आध्यात्मिक अभीप्सा सतसग करनेवाले मनुष्य की व्यावहारिक चेतना में प्रकट हो जाती है। इस जागृति के पूर्व आध्यात्मिक अभीप्सा सुप्तावस्था में रहकर व्यावहारिक चेतना-स्तर के नेपथ्य से अपना प्रभाव डालती रहती है। जब यह जागृति आती है, तब व्यक्ति सचेतन रूप से अनुभव करता है कि वह मूलत: एक आध्यात्मिक प्राणी है और उसके जीवन की पूर्णता चरम आध्यात्मिक आदर्श की सिद्धि में निहित है। तब वह स्वेच्छा से सचेतन रूप से और सोत्साह अपनी समस्त मानसिक व जैविक शक्ति को जीव और परमात्मा शिव के तादात्म्य और साथ ही इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में प्रकट शिव और महाशक्ति के शाश्वत संयोग की आनन्दमयी अनुभूति की प्राप्ति की ओर परिचालित कर देता है। व्यष्टि मानस में सक्रिय आध्यात्मिक चेतना की इस जागृति को गोरखनाथ और योगी-सम्प्रदाय मानव में गुप्त प्रतीत होनेवाली दिव्य शक्ति का जागरण, कुण्डलिनी शक्ति का जागरण या बोधन कहते है। अनन्त सामर्थ्य से युक्त यह दिव्य शक्ति प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान मानी गई है, किन्तु यह सुप्त अथवा निन्द्रित दशा में कुण्डलबद्धसर्प की भाति, शारीरिक, जैविक और मानसिक शक्ति के मूल केन्द्र या निम्नतम भाग से लिपटी हुई रहती है। माता के गर्भ 'बिन्दु' रूपी सर्वाधिक सूक्ष्म और लघु शरीर में भी यह शक्ति अन्तर्निहित रहती है तथा समस्त शक्तियाँ इस प्रमुख शक्ति से विकसित होती हैं। समस्त योग्यताय, समस्त अंग-प्रत्यंग, मनस और बुद्धि आदि सब इसी शक्ति से विकसित व अभिव्यक्त होते हैं। यह मूलत: 'चिन्मय शक्ति' शुद्ध चेतना अथवा इस शक्ति की आत्मा के रूप में होने के कारण 'शिव' ही है, किन्तु यह स्वयं को सचेतन शक्ति के रूप में पूर्ववर्णित जागरण से पहले प्रकट नहीं करती।

इस सुप्त दिव्य शक्ति की कल्पना एक निद्रित सर्प के रूप में की गयी है, जो एक शिवलिंग को तीन घेरों में लपेटे हुये है और जिसने मानसिक जैविक

शक्ति के निम्नतम केन्द्र मे इसका प्रगाढालिगन कर रखा है। कुछ ग्रन्थों मे आठ घेरों-कुण्डलों का विवरण प्राप्त होता है। यह दिव्य शक्ति जब व्यक्ति मे जागृत हो जाती है, तब उसकी आध्यात्मिक अभीप्सा तीव्र हो जाती है, उसकी मानसिक व जविक शक्ति सरलता से तथा सहज ही केन्द्रीय सुषुम्ना नाड़ी में केन्द्रित हो जाती है तथा वह इस अध्यात्म-मार्ग पर आगे बढने का गभीर प्रयास प्रारभ कर देना है। मूल वासनाये तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ, जो सामान्य जीवन में बाह्योन्मुख तथा अधोगामिनी होती है, वे आध्यात्मिक अभीप्सा व अनुशासित इच्छा-शक्ति के वश में सुगमता से आ जाती है और इस कारण निश्चयात्मिका शक्ति अत्यधिक विकसित हो जाती है, आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग की आन्तरिक व बाह्य बाधायें सरलता से जीत ली जाती है और सुषुम्ना मार्ग से मानसिक जैविक शक्ति सतत व तीव्र गति से चरम आदर्श की ओर उठने लगती है। इसे प्राय· जागृत कुण्डलिनी शक्ति की आध्यात्मिक अनुभव के उच्चतम क्षेत्र, सहस्रार चक्र में अपने शाश्वत प्रिय शिव से सर्वाधिक आनन्दमय आलिगन हेतु, पावन यात्रा कहा गया है। सुषुम्ना मार्ग से मानसिक जैविक शक्ति के इस क्रमिक आरोह पथ में योगियों को विशेष स्तरों व विशेष केन्द्रों पर कई सूक्ष्म चक्र प्राप्त होते हैं, जहां उन्हें विशिष्ट योग-सिद्धियो के हेतु विशेष प्रकार की साधना व ध्यान करना पड़ता है तथा उच्चतम पारमार्थिक-आध्यात्मिक अनुभव के स्तर तक पहुँचने के लिये उन्हें (चक्रों को) वेधना पड़ता है।

योगी गुरु गोरखनाथ (सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में) ऐसे नौ चक्रों का उल्लेख करते है। तंत्र-शास्त्रों व योग-शास्त्रो मे चक्रों की संख्या के बारे में कोई हठधर्मी भी नही है। प्राय. चक्र छः तथा कभी-कभी सात अथवा आठ या नौ गिनाये गये है। सभवत. इसका आशय यह है कि निश्चित संख्या को अनावश्यक महत्व नही प्रदान करना चाहिये। कभी-कभी योगियों के अनुभव ऐसे सूक्ष्म विषयों में भिन्न भी हो सकते है। अपने शिष्यों को उपदेश देते हुये तथा उनके ध्यान-धारणा के उपायो का पथ-प्रदर्शन करते समय योगी गुरुओं को प्रायः स्वेच्छा से कुछ सोपानों को त्यागकर अन्य पर बल देते हुये पाया गया है। तथापि, प्राचीन योग-साहित्य में प्रायः नौ चक्रों का उल्लेख किया गया है। कहा गया है : नवचक्र वपुः (शरीर नौ चक्रों से युक्त है)। गोरखनाथ भी कहते हैं . 'पिण्डे नव चक्राणि' (शरीर मे नौ चक्र हैं)।

'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' के अनुसार प्रथम चक्र 'ब्रह्मचक्र' है, जो मूलाधार में है। मूलाधार की परिभाषा इस प्रकार की गई है--'बिन्दुरूप कुण्डलिनी शक्तेः प्रथमाविर्भाव स्थान मूलाधारः'। बिन्दु के रूप मे कुण्डलिनी शक्ति की प्रथम आत्माभिव्यक्ति का स्थान मूलाधार है। बिन्दु रूप इस कुण्डलिनी शक्ति को व्यष्टि शरीर का भौतिक एव नैमित्तिक कारण कहा जा सकता है। जब शरीर अपने विभिन्न अंगों एव जटिल रचना-तंत्र के सहित निर्मित हो जाता है, तब शक्ति समस्त मानसिक-जैविक बल के स्रोत के रूप में प्रकट हो जाती है तथा

लिग क्षेत्र और गुदा क्षेत्र के मध्य भाग में, शरीर के एक सक्रिय केन्द्र मे अपना मूल स्थान रखती है। यह रीढ संस्थान एव सुषुम्ना नाड़ी के निम्नतम मोड़ का स्थान है। इसके समीप ही 'मूल कण्ठ' स्थित है, जहाँ से समस्त नाड़ियाँ समस्त दिशाओं में प्रसारित होती है। यह मानसिक जैविक बल का मूल स्थान है, जहाँ से जीवित शरीर उत्पन्न होता है तथा जिसके सहारे यह स्थित रहता है। इसी कारण इसे मूलाधार कहा गया है। यहा कुण्डलिनीश-क्ति आध्यात्मिक रूप से सुप्तावस्था मे पड़ी रहती है और यहां से सर्वप्रथम वह जागृत होकर मन: प्राण-शक्ति को सुषुम्ना मार्ग (ब्रह्म मार्ग) की ओर अग्रसर करती है। इस मूलाधार में योगी प्रथम चक्र को जानता है, जिसे गोरखनाथ ब्रह्म-चक्र (आधारेब्रह्म चक्रम्) कहते है।

गोरखनाथ इस ब्रह्मचक्र को सूच्याकार बतलाते है, जिसका अग्रभाग अधोमुख है तथा जो मध्य भाग में बिन्दु को तीन कुण्डलों में लपेटे हुये है। यह स्मरण रखना चाहिये कि बिन्दु तथा चक्र को चर्मचक्षुओं से नहीं देखा जा सकता, शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक यंत्र की सहायता से भी नही। यह केवल योगदृष्टि से ही संभव है। स्थूल ऐन्द्रिक-भौतिक सत्ता की दृष्टि से यह एक जटिल केन्द्र प्रतीत होगा और उसका वर्णन आलंकारिक प्रतीत होगा, किन्तु योगी अपनी अन्तर्दृष्टि से इसे वास्तव मे देख लेता है। सूच्याकार और कुण्डली रूप मे यह चक्र बिन्दु की एक प्रापंचिक अभिव्यक्ति है। प्रापंचिक सत्ता के तीन पक्ष जो बिन्दु में एकान्वित रहते है, त्रिकोण को तीन भुजाओं के रूप में व्यक्त हो जाते है। इन तीन पक्षों को सामान्य रूप से 'विषयो', 'विषय' तथा 'सम्बन्ध' कह सकते है। विकासमान व परिवर्तनशील प्रापंचिक सत्ताओं की यह त्रिकोणात्मकता विभिन्न रूप धारण कर लेती है, यथा—ज्ञाता, ज्ञय और ज्ञान, कर्ता, कार्य और कर्म, भोक्ता, भोग्य और भोग, आदि-आदि। समस्त विकास इसी त्रिकोणात्मक रूप में घटित होते है तथा समस्त प्रापंचिक सत्ताओं का स्वरूप सापेक्षिक व त्रिकोणा-त्मक, होता है। जिसे एक कोण कहा गया है, वह एक धुरीवाले अनेक त्रिकोणों का पिण्ड है।

मूलाधार में ब्रह्म-चक्र की सूच्याकृति ऐसी मानी गई है कि यह मानसिक भौतिक शरीर में समस्त त्रिकोणात्मक विकासों का सक्रिय स्रोत प्रतीत होता है। इसके तीन कुण्डल (कोइल्स) हैं क्योंकि शक्ति, जिसकी यह एक अभिव्यक्ति है, त्रिगुणमयी अर्थात् सत्व, रजस् और तमस् से युक्त है। किन्तु यह शक्ति अपने मूल स्वरूप में शिव से अभिन्न होने के कारण तीनों गुणों से परे भी उठ जाती है। अतएव इसके कुण्डलों (कोइलस) को प्राय: साढ़े तीन कहा जाता है, आधा इसके पारमार्थिक पक्ष की ओर संकेत करता है। कभी-कभी इसे आठ कुण्डलो से युक्त वर्णित किया गया है, जो संभवत: प्रकृति के अष्ट (यहां संगठित) विकासो यथा पंच महाभूत तथा मनस, बुद्धि और अहंकार की ओर सकेत करते हैं। जव आध्यात्मिक जागृति हो जाती है, यह दिव्य शक्ति इस चक्र में 'पावकाकार' अथवा

'विद्युतविलासवपु' रूप मे चमकती है। इसे कामेश्वर शिव व कामेश्वरी शक्ति के मिलन का स्थान भी कहा गया है। इसलिये इसे 'कामरूप-पीठ' भी कहा गया है। जब साधक की मनो-प्राणमय-शक्ति इस चक्र में केन्द्रित हो जाती है और वह शिव-शक्ति के इस रूप का ध्यान करता है, तो उसकी समस्त मनोकामनाये पूर्ण हो जाती है। अतः उच्च आध्यात्मिक स्तरो पर उठने के उद्देश्य से योगी को इस स्तर पर बहुत सावधान होने की आवश्यकता होती है, जिससे कोई सासारिक इच्छा उसके मन मे प्रकट होकर उसकी उन्नति में बाधक न बन जाये।

इस चक्र मे स्थित शक्ति का स्वरूप निम्न श्लोक मे बड़े सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया :—

विद्युत विलास वपुषः श्रियम् आवहन्तीं,
यान्तीं स्ववासभवनात् शिवराजधानीं।
सौषुम्न-मार्गे कमलानि विषयन्तीं,
देवीं भजेद हृदि परामृत सिक्त गात्राम्॥

योगी को अपने हृदय में स्वप्रकाशमयी देवी (जागृत कुण्डलिनी शक्ति) की उपासना करनी चाहिये, जिसका सम्पूर्ण शरीर आध्यात्मिक अमृत से सिक्त है, सतत चमकती हुई विद्युत की सी जिसकी उज्ज्वल कान्ति है, जो स्वगृह (मूलाधार) से अपने शाश्वत प्रियतम, शिव की राजधानी (सहस्रार) की ओर आनन्दमय यात्रा पर है तथा जो सुषुम्ना मार्ग से अपनी आध्यात्मिक यात्रा करते हुये इस पथ के विभिन्न केन्द्रों में कमलदलों को ऊर्ध्वमुख खिलाती जाती है। (साधारण साँसारिक जीवन मे विभिन्न चक्रों मे कमलो को नीचे की ओर खिलता वर्णित किया गया है, अध्यात्म-जागृति के जीवन मे ये कमल ऊपर की ओर खिलते हैं।)

उच्च से उच्चतर स्तरों पर अधिकाधिक आध्यात्मिक ज्ञानालोकन के जिज्ञासु को दिव्य शक्ति के प्रति गहन भक्ति-भावना विकसित कर सांसारिक बल, समृद्धि और सुखों के समस्त प्रलोभनों को जीतने के लिये अपेक्षित कृपा हेतु उसकी प्रार्थना करनी चाहिये, क्योकि ये प्रलोभन योगमार्ग में आध्यात्मिक उन्नति के प्रारंभिक स्तरो पर बहुत बाधा डालते है। शक्ति ही समस्त प्रलोभन देती है, योगी के मन मे उठनेवाली समस्त इच्छाओं को भी शक्ति ही पूरा करती है और पुनः यह शक्ति ही उसे समस्त प्रलोभनों तथा इच्छाओं से मुक्ति दिलाती है। यदि उसमें तीव्र आध्यात्मिक अभीप्सा है तथा उसके मन में विनम्र भक्ति-भावना विद्यमान है, यदि वह साधना के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाली (व कभी-कभी इच्छा न होने पर भी प्राप्त होनेवाली) शक्तियों व समृद्धियों से प्रलुब्ध हो जाता है, तो उसकी उच्च आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग अवरुद्ध होना बहुत सभव है और वर्तमान स्थान से पतन भी संभव है तथा उसे दयालु गुरु की सहायता

व पथ प्रदर्शन बचा सकते है और वह पुन त्याग-भावना तथा तीव्र अभीप्सा से सत्य-प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

इस प्रकार मूलाधार चक्र वह आरम्भ स्थल है, जहा से कुण्डलिनी की सहस्रार यात्रा आरंभ होती है और इसी प्रकार सुषुम्ना मार्ग से होनेवाली योगी की एकाग्र मानसिक जैविक शक्ति की सहस्रार यात्रा का भी यह आरम्भ स्थल है।

गोरखनाथ द्वारा उल्लिखित दूसरा चक्र स्वधिष्ठान चक्र कहलाता है। यह सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर लिंगमूल मे स्थित है। इस चक्र के अन्दर, जैसा कि योगी अपनी योग दृष्टि से देखते है, एक बहुत ही श्रेष्ठ तथा आभामय रक्त वर्ण शिव-लिग पश्चिमाभिमुख रूप मे स्थित है। कुण्डलिनी शक्ति अपनी ऊर्ध्वगति मे मूलाधार चक्र को बेधकर स्वाधिष्ठान चक्र की ओर बढ़ती है और अपने प्रियतम शिव के इस विशिष्ट रूप का आलिगन करती है। शिव शक्ति के मिलन का यह विशिष्ट रूप इतना सुन्दर एव आकर्षक है कि ब्रह्माण्ड के समस्त प्रापचिक अस्तित्वों के लिये यह आकर्षण केन्द्र है। एक योगी जो ध्यान धारणा के अभ्यास में निपुण है, जिसने समस्त सांसारिक इच्छाओ को त्याग दिया है और समस्त सांसारिक प्रलोभनों पर विजय पा ली है और इस प्रकार मूलाधार चक्र की बाधा को पार कर लिया है, वह अपनी मानसिक-जैविक शक्तियों को इस स्वाधिष्ठान चक्र के स्तर तक उन्नत कर लेता है। जब उसकी शक्ति शिव-शक्ति के इस मोहक सम्मिलन पर लुब्ध और एकाग्र हो जाती है, तो वह अत्यन्त आकर्षक व्यक्तित्ववान बन जाता है और समस्त जगत् उसकी ओर आकर्षित प्रतीत होने लगता है (जगदाकर्षण भवति)।

यद्यपि उसे सांसारिक लोगों से मान-सम्मान या प्रेम की प्राप्ति के प्रति कोई रुचि नही होती, तथापि योग-सिद्धियों का सौन्दर्य और आकर्षण तथा उसके माध्यम से और उसकी प्रस्फुटित दिव्य शक्ति स्वभावत: उन्हें उसकी ओर आकर्षित कर लेती है। उच्च आध्यात्मिक प्रगति मे यह भी एक बहुत बड़ी बाधा है। इसके अतिरिक्त उसके व्यक्तित्व के असाधारण आकर्पण के साथ ही साथ उसके सौन्दर्यात्मक एवं कलात्मक विचार तथा सृजनात्मक योग्यताये भी अद्भुत व असाधारण रूप से विकसित हो जाती है। योगी को इन सिद्धियो से ही सन्तुष्ट नही हो जाना चाहिये। उसे आध्यात्मिक अनुभव के उच्चतर स्तरों पर उठने का प्रयास करना चाहिये। इस उद्देश्य से उसे निज-शक्ति-सयुक्त शिव के प्रति गहन भक्ति भावना रखनी चाहिये तथा शिव शक्ति से प्रार्थना करनी चाहिये कि वे उसकी चेतना के समक्ष अपने पवित्र मिलन के उच्च से उच्चतर रूपों का उद्घाटन कर। अपनी सिद्धियों से उसे गर्व अथवा अनावश्यक प्रसन्नता नही होनी चाहिये। उसे उन्हें शिव शक्ति के कृपामय आत्मोद्घाटन के रूप में स्वीकार करना चाहिये, किन्तु उनसे मदोन्मत्त नहीं हो जाना चाहिये। उसे सच्ची निष्ठा से

उच्च स्तरो के अनुभवो की खोज करनी चाहिये। इस प्रकार उसे स्वाधिष्ठान चक्र के प्रलोभनों को पार करना चाहिये।

तीसरे चक्र को गोरखनाथ नाभि चक्र कहते है, क्योंकि यह सुषुम्ना नाडी के अन्तर्गत एक केन्द्र, नाभि-क्षेत्र में स्थित अनुभव किया जाता है। इसे प्राय. मणिपुर चक्र कहते है। एक निष्ठावान एव भक्त योगी की एकाग्र एव ऊर्ध्व-गामिनी मानसिक-जैविक शक्ति मूलाधार चक्र और स्वधिष्ठान चक्र को पार कर मणिपूर चक्र पर पहुँचती है, जो विभिन्न प्रकार की चमत्कारपूर्ण योग-सिद्धियो का एक शक्तिशाली केन्द्र है। इस चक्र के पाँच वृत्त सर्पवत कुण्डलाकार रूप प्रतीत होते है। इस चक्र में कुण्डलिनी शक्ति स्वय को कोटि-कोटि बाल-सूर्यो के प्रकाश से सम्पन्न रूप में प्रकट करता है और शिव के मिलन का विशिष्ट आनन्द भोगता है। मूलाधार और स्वाधिष्ठान की अपेक्षा शिव शक्ति मिलन का यह एक उच्च स्तर है।

एक स्तर के आध्यात्मिक आनन्द की मात्रा व उसके स्वरूप को दूसरे स्तर के आनन्द से भेद साधारण सांसारिक व्यक्ति की कितनी ही तीव्र कल्पना व बुद्धि के लिये अज्ञेय है। जिन योगियो को ये उच्चस्तरीय अनुभव प्राप्त हो जाते हैं, वे भी साधारण व्यक्तियों को भाषा या अन्य माध्यमों से इन्हें समझाने मे असमर्थ रहते हैं। तथापि, बहुत योगी गुरु अलकार, उपमा व अनुप्रास इत्यादि की सहायता से सच्चे सत्यान्वेषियो के हितार्थ अपने आन्तरिक अनुभवों के विषय में अस्पष्ट या अपूर्ण विचार प्रकट करने का प्रयास करते हैं, जो इनके पथ-प्रदर्शन में इन वर्णनों से प्रेरणा पाकर योगानुशासन का अभ्यास कर ऐसे ही अनुभवों को प्राप्त कर कृतार्थ हो सकते है।

मणिपुर चक्र में प्रकट कुण्डलिनी शक्ति को गोरखनाथ मध्यमा शक्ति भी कहते है, जिसका आशय है कि शिव-शक्ति के मूल स्वरूप की आत्माभिव्यक्ति की यह एक मध्यवर्ती अवस्था है। किन्तु इस मध्य स्तर पर भी कुण्डलिनी शक्ति उस भक्त योगी को सर्व सिद्धिवान् बना देती है, जिसकी मान-सिक-जैविक शक्ति इस स्तर पर कुण्डलिनी शक्ति पर केन्द्रित होती है। एक योगी को परकाय प्रवेश, भौतिक पदार्थ रूपान्तर, अन्तर्धान होना, वायु-विचरण इत्यादि अप्राकृतिक कृत्य करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है। किन्तु इन चमत्कारी सिद्धियों की प्राप्ति योग का आदर्श नहीं है। ये तो राह के लुभावने दृश्य हैं, लक्ष्य कही दूर है। योगी को इस स्तर को पार कर उच्च स्तरो पर उठना चाहिये। इन शक्तियो व सिद्धियों की प्रमत्तता उच्च आध्यात्मिक ज्ञान के मार्ग में सबसे अधिक भटकाने वाली व पतनकारी है।

चौथा चक्र हृदय चक्र या अनाहत चक्र कहा जाता है। अन्य चक्रों की भांति यह भी सुषुम्ना नाडी में मेरु-दण्ड या रीढ संस्थान के अन्तर्गत स्थित है और इसका अनुभव हृदय-क्षेत्र के समीप किया जाता है। गोरखनाथ कहते हैं कि इस

चक्र मे अष्ट दल कमल अधोमुख रूप में प्रकट है। इस ज्योतिपूर्ण कमल के मध्य मे शक्ति स्वय को असाधारण रूप से भव्य, सुन्दर व स्थिर (ज्योति-रूप) लिंगाकार प्रकाश के रूप मे प्रकट करती है। शिवरूपा व शिवालिंगन के आनन्द में मग्न कुण्डलिनी शक्ति के इस रूप को हस कला कहा जाता है। इस हंस कला को श्री शक्ति भी कहा गया है। जब एक योगी अपनी शुद्ध मानसिक—जैविक शक्ति को इस चक्र में केन्द्रित करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, तब वह अपनी समस्त इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है। इन्द्रिय-विजेता, अहंकार-रहित, अपनी सिद्धियों के प्रलोभनों से मुक्त वह योगी शान्त व स्थिर स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

इस चक्र मे विशुद्ध ज्योति-रूप पर गहन ध्यान धरने पर योगी न केवल शिव-शक्ति के एकत्व का अनुभव करता हैं, किन्तु स्वयं का शिव-शक्ति से तादात्म्य भी अनुभव करने लगता है। इस स्तर पर शक्ति योगी की व्यष्टिगत प्रापंचिक चेतना के समक्ष अपनी वह कला प्रकट करती है, जिससे वह (अह) सः (शिव) से स्वय को अभिन्न अनुभव करने लगता है। इस चक्र से योगी की सच्ची आध्यात्मिक उन्नति होने लगती है व उसे ज्ञान प्राप्त होने लगता है, किन्तु तत्वज्ञान के अभी और भी उच्च स्तर है, जिन्हें योगी को गहन विचार व ध्यान से प्राप्त करना होता है।

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि समाधि अवस्था चेतना के प्रत्येक स्तर पर, विशेषतया सिद्ध योगियों द्वारा वर्णित प्रत्येक चक्र पर प्राप्त की जा सकती है, किन्तु विभिन्न स्तरों व विभिन्न चक्रों में समाधि के परिणाम समान नही होते हैं। बाह्य रूप मे चेतना की समाधि-अवस्था प्रत्येक स्तर पर समान दिखाई दे सकती है, किन्तु उनमें प्राप्त अनुभव प्रत्येक स्तर के स्वरूप व मन द्वारा लक्षित आदर्श पर निर्भर करते है। प्रत्येक स्तर व प्रत्येक वस्तु पर ध्यान धरने से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त नही हो जाता। मानसिक-जैविक शक्ति को विशुद्ध तथा निर्विकार करके उसे आध्यात्मिक अनुभव के उच्चतम स्तरों पर उठाना होता है। पूर्ण व चरम ज्ञान उच्चतम स्तर पर उच्चतम चक्र में ही प्राप्त होता है।

पांचवें चक्र को कठ चक्र कहा जाता है। इसे विशुद्ध चक्र भी कहते है। यह सुषुम्ना नाड़ी में कण्ठ क्षेत्र में स्थित है। इसका रग सुन्दर स्वर्ण की भांति है। यहाँ सुषुम्ना नाड़ी स्पष्ट, भव्य और सुन्दर रूप में चमकती है। इसके वामपार्श्व मे चन्द्र नाड़ी (इड़ा) होती है और दक्षिण पार्श्व में सूर्य नाड़ी (पिगला)। इस चक्र में इस रूप में प्रकट सुषुम्ना को कुण्डलिनी शक्ति की अनाहत कला माना गया है, जो यहां शिव के प्रगाढ़लिगन का आनन्द भोगती है। योगी की मानसिक-जैविक शक्ति हृदय चक्र से होती हुई पूर्ण शुद्ध व केन्द्रित होकर इस चक्र की ओर उठती है और शिव-शक्ति मिलन का गहनतम आनन्द भोगने के हेतु स्वय को इस अनाहत कला से एकाकार कर लेती है। योगी को इस स्तर पर, गोरखनाथ के शब्दों में अनाहत सिद्धि प्राप्त हो जाती है। तब वह जगत् की समस्त शक्तियों के परे उठ जाता है। संसार को कोई भी शक्ति उसे अपने वश में नहीं कर सकती।

अनाहत सिद्धि का अर्थ यह भी हो सकता है कि वह सर्वव्यापक अनाहत नाद, जो शिव-शक्ति का नाद-रूप या ध्वनि रूप (ओ३म्) है, का पूर्ण अनुभव प्राप्त कर लेता है। इस स्तर पर योगी नादों के नानात्व को पार कर शाश्वत अजरूप प्रवाही ओंकार के माधुर्य का रसपान करता हुआ, इस नाद व शिव-शक्ति के तादात्म्य का अनुभव कर लेता है।

छठे चक्र को गोरखनाथ तालु मूल में स्थित तालु चक्र कहते है। इस चक्र मे सहस्त्रार से सतत अमृतधारा प्रवाहित होती रहती है। योगी अपनी मानसिक-जैविक शक्ति को इस चक्र में समुचित प्रणाली से एकाग्र कर इस अमृत का पान कर क्षुधा पिपासा से मुक्त होकर भौतिक अमृतत्व प्राप्त कर लेता है, किन्तु गोरखनाथ सच्चे आध्यात्म जिज्ञासु को आदेश देते है कि उसे इस चक्र मे शून्य पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये, जिससे वह चित्तलय की स्थिति को प्राप्त कर सके। पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति व पारमार्थिक चेतना स्तर पर उठने के लिये चित्तलय अत्यधिक महत्वपूर्ण सोपान है। गोरखनाथ कहते है कि तालु मूल में एक घटिका लिग है, जिसके मूल मे एक अतिलघु छिद्र है, एक पूर्ण रिक्त स्थान, जिसे 'शंखिनी विवर' तथा 'दशम द्वार' कहा जाता है। इस रिक्त स्थान पर ध्यान केन्द्रित कर शून्य पर धारणा धरनी चाहिये। इस समाधि के फलस्वरूप चित्त विलीन हो जाता है। सांसारिक अनुभवकर्ता नव द्वारों से भिन्न यह दशम द्वार आध्यात्मिक सत्य व आनन्द की प्राप्ति के लिये होता है तथा इसमें व्यावहारिक चेतना को समाप्त हो जाना चाहिये, जिससे पारमार्थिक ज्योति से पूर्णतया आलोकित हुआ जा सके।

सातवा चक्र दोनों नेत्रों की भृकुटियो के मध्य स्थित है तथा जिसे गोरखनाथ भ्रू चक्र कहते है। यहां सुषुम्ना अंगुष्ठ मात्र दीप शिखाकार हो जाती है। इसे ज्ञान नेत्र कहा जाता है। यह वह आन्तरिक ज्योति है, जो उस योगी की चेतना को ज्ञानालोकित कर देती है, जिसका सम्पूर्ण ध्यान इसपर केन्द्रित होता है। गहन एकाग्रता से योगी ज्योति से एकाकार हो जाता है। जब वह इस स्तर से अनुभव के सामान्य स्तर पर प्रत्यावर्तन करता है, तब वह समस्त सांसारिक पदार्थों व घटनाओं को एक आलोकित दृष्टिकोण से देखने लगता है। इसके अतिरिक्त गोरखनाथ कहते है, वह वाक-सिद्धि प्राप्त कर लेता है। जो कुछ वह बोलता है, वह सत्य हो जाता है। उसका सम्पूर्ण अस्तित्व सत्य की अभिव्यक्ति करता है और वह सहज गति से सत्यभाषण किया करता है।

आठवे चक्र को गोरखनाथ निर्वाण चक्र कहते हैं और यह सहस्रार के एक भाग में, ब्रह्म रन्ध्र में स्थित है। व्यष्टि चेतना द्वारा अनन्त शाश्वत ब्रह्म की सिद्धि का यह श्रेष्ठतम केन्द्र है। व्यष्टि-चेतना इस स्तर पर पारमार्थिक सच्चिदानन्द मे विलीन हो जाती है। यहां कुण्डलिनी शक्ति पूर्णतया परमात्मा शिव से तादात्म्य प्राप्त किये हुये रहती है। इस स्तर पर प्रकाश और अन्धकार, गति व विराम, ससीम, व्यावहारिक और पारमार्थिक का भेद पूर्णतः लुप्त हो जाता है। योगी प्रायः इसे काव्यमय नाम 'जालन्धर-पीठ' प्रदान करते हैं, क्योंकि प्रापंचिक ब्रह्माण्ड-

व्यवस्था के भव्य जाल के चरम नियन्ता (जालन्धर) परमात्मा, जिससे यह ब्रह्माण्ड जाल उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा यह धारण किया हुआ और शासित व व्यवस्थित है, जिसकी यह लीला है तथा जो इन सबका अन्तर्यामी प्रकाशक है, की आत्माभिव्यक्ति का यह स्थान है। व्यक्ति तब तक जालबद्ध रहता है, जबतक वह स्वय व जगत् में जालन्धर (परम जाल नियन्ता) को पहचान नही लेता है। जब वह जालन्धर से पूर्ण तादात्म्य अनुभव करने लगता है, तब समस्त दु:खों व बन्धनो से मुक्त होकर इसी ससार मे पूर्ण स्वच्छन्दता का आनन्द अनुभव करने लगता है, वह मोक्ष या निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

निर्वाण चक्र के ऊपर ब्रह्म रन्ध्र जो मोक्ष प्राप्त का स्थान है, मे गोरखनाथ नवें चक्र की स्थिति बताते है और इमे वे आकाश चक्र की सज्ञा प्रदान करते हैं। यह अन्तिम चक्र सहस्रार के सुमेरु पर स्थित है। इसे सोलह दलों से युक्त एक श्रेष्ठ स्वप्रकाशमय कमल के रूप में वर्णित किया गया है, जिसका मुख ऊपर की ओर है। इस कमल के केन्द्र में त्रिकूटाकार सत्-चित्-आनन्दमयी महाशक्ति, परमात्मा शिव से पूर्ण मिलित रूप, अपनी उच्चतम व सर्वाधिक गौरवशाली आत्माभिव्यक्ति व आत्मानुभव प्रकट करती है। इस अनुभव केन्द्र को आगे पूर्ण-गिरि पीठ (कैलास अर्थात् चरम अनुभव के स्थान का उच्चतम पर्वत) कहा गया है। यहां प्रापचिक चेतना पूर्णतया रूपान्तरित होकर स्वयं को सर्व-समाहारी, सर्वसमायोजक, सर्वातिक्रामक चरम चेतना के रूप मे अनुभव करने लगती है। मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी शक्ति की अपने सर्वाधिक प्रियतम व स्वामी शिव से आनन्दमय पुनर्मिलन की पवित्र यात्रा यहां पहुँच कर अपना ध्येय पा लेती है।

अपनी विश्वाभिमुख यात्रा में शक्ति ने मानो स्वय को शिव से पृथक् कर लिया था; प्रापंचिक अस्तित्व, चेतना व भाग के निम्न से निम्नतर स्तरों की ओर आते हुये अपनी ब्रह्माण्ड यात्रा के क्रम में अपने ऊपर आवारण पर आवरण डालकर अपनी सत्-चित् आनन्दमयी स्वरूप प्रकृति को छिपा लिया था और बाह्याभिमुख तथा अधोमुख होकर अपने स्वामी व आत्मा को अपनी विभिन्नना-पूर्ण, नित्य परिवर्तनशील विश्वात्मक आत्माभिव्यक्तियों मे केवल प्रतिबिम्बित देखती हुई प्रतीत होती थी। यद्यपि वह शिव से सम्पर्क स्थापित किये रहती है, किन्तु शिव के प्रत्यक्ष आध्यात्मिक मिलन का अभाव उसके हृदय को सर्वदा तड़-पाता रहता है। वह शिव, अपने वास्तविक स्वरूप से बिछुड़कर बहुत दूर भौतिक स्तर पर चली गई प्रतीत होती है। अपनी प्रापंचिक आत्माभिव्यक्ति के क्रम में उसने मानव देह को अपने प्रियतम स्वामी शिव से पुनर्मिलन की प्रत्यावर्तन यात्रा के सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप में निर्मित किया है। प्रत्यावर्तन की यह यात्रा तब पूर्ण हो जाती है, जब शक्ति मानव-देह में आकाश चक्र नक पहुच जाती है और वह पुन: शिव से तादात्म्य प्राप्त कर लेती है। योगी आत्म-पूर्णता प्राप्त कर लेना है, जब वह स्वयं को इस स्तर की चेतना, अस्तित्व व आनन्द पर स्थित कर लेता

हैं। यह 'परा-सम्वित' का स्तर है। गोरखनाथ इसे परम शून्य भी कहते है, क्योकि इस अनुभव मे समस्त वस्तुये व व्यक्तित्व लुप्त हो जाते है तथा केवल एक अभेद शाश्वत अनन्त अपरिवर्तनीय चरम अनुभव शेष रहता है। शून्य का अर्थ अस्तित्व का अभाव नही वरन् ज्ञाता-ज्ञेय काल-दिक्-रहित-पूर्ण निरपेक्ष अस्तित्व या सत् है।×

१—नव चक्रो का उपर्युक्त वर्णन अन्य विषयो की भांति मुख्यतया 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' पर आधारित है। 'गोरक्ष शतक' मे जो योगीराज गोरखनाथ का एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, छः चक्र बताये गये हैं। वे कहते हैं :

षट्चक्र षो शाधार त्रिलक्ष्यं व्योम पंचक।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धन्ति योगिनः॥ (गो० स० १३)

छः चक्रों, सोलह आधारों, तीन लक्ष्यों को जो अपने शरीर के अन्तर्गत नहीं जानते, वे योगी कैसे सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं।

वे आगे कहते है—

एकस्तम्भ नव द्वारं गृहं पचाधि देवतं।
स्वदेह ये न जानन्ति कथ सिद्धन्ति योगिनः॥

(गो० श० १४)

एक स्तम्भ, नव द्वार, पाच देवताओं से अधिकृत गृह के रूप में जो योगी अपने शरीर को नही जानते, वे पूर्णत्व कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?

चतुर्दलं स्यादाधारः स्वाधिष्ठान च शतदलं
नाभौ दशदलं पद्म सूर्य सख्यदलं हृदि॥
कंठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा
सहस्रदलमाख्यात ब्रह्मरन्ध्रे महा पथे॥ (गो० श० १५-१६)

प्रथम चक्र का नाम मूलाधार है जिसके पद्म मे चार दल हैं, दूसरा स्वाधिष्ठान पद्म है, जिसके छः दल हैं, तीसरा नाभिमूल में है, जिसके दश दल हैं, चौथा हृदय स्थित द्वादश दल युक्त है पाचवां कठ स्थित षोडश दलयुक्त है और छठा भ्रूद्वय के मध्य स्थित दो दल वाला है। इन छः चक्रों के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र परम पथ सहस्रदल कमल से युक्त है।

यहां तथा अन्य समस्त प्रामाणिक ग्रन्थों मे षट्चक्रो का अर्थ है सहस्रार के अतिरिक्त सुषुम्ना के छः चक्र। इन छः चक्रों को भेद कर सातवे व उच्चतम चक्र सहस्रार मे मानसिक जविक शक्ति को गहन रूप से एकाग्र कर चरम आदर्श की सिद्धि करनी चाहिये। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में गोरखनाथ सहस्रार मे दो चक्रों—'निर्वाण चक्र व आकाश चक्र' तथा एक अन्य तालुचक्र का उल्लेख कर चक्रों की संख्या नौ कर देते है। इसके आगे 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में वे चक्रों के कमल दलों की निश्चित संख्या नही बतलाते हैं—हृदय चक्र व आकाश चक्र के अतिरिक्त,

पहले मे वह नीचे की ओर झुके हुये अष्टदल तथा दूसरे में ऊर्ध्वमुख सोलह कमल-दल बतलाते है। गोरक्ष शतक में वे हृदय चक्र में द्वादश दल बताते है तथा आकाश चक्र के विषय मे कुछ उल्लेख नही करते।

'गोरक्ष शतक' तथा बहुत से अन्य ग्रन्थों में गोरखनाथ प्रत्येक सत्यान्वेषी को आदेश देते है कि उसे अपने शरीर को एक गृह के रूप में देखना चाहिये, जिसमें शिव जीव के रूप में निवास करते है। यह गृह एक स्तम्भ 'सुषुम्ना' पर खड़ा हुआ है, जिसकी छत सहस्रार है। नव द्वार, दो नेत्र, दो कान, दो नासिका छिद्र, एक मुख, लिग व गुदा हैं, जिनके द्वारा बाह्य जगत् से सम्पर्क स्थापित किया जाता है। दशम द्वार तालु चक्र में बताया गया है, जो आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर खुलता है। पांच शासन करनेवाले देवता है—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर तथा सदाशिव, जो शिव-शक्ति की विशिष्ट आत्माभिव्यक्तियां है तथा जिनका कार्य इस ब्रह्माण्ड के विभिन्न स्तरो तथा व्यष्टि शरीरों पर शासन करना है। योगी को इन विराट् दिव्यमूर्तियों को अपने शरीर के अन्दर अपने सच्चे आत्मा शिव की गौरवपूर्ण अभिव्यक्तियों के रूप में देखना होता है।

(ब) सोलह आधार

नव चक्रों के विषय में समझाने के पश्चात् गोरखनाथ सोलह आधारो की स्थितियों के विषय में सकेत देते हैं तथा साथ ही यह बतलाते हैं कि योगाभ्यास में उनका कैसे उपयोग किया जाना चाहिये। आधार का शाब्दिक अर्थ है 'धारण करनेवाला'। संभवतः आधारों की गणना के द्वारा गोरखनाथ जैविक व मानसिक कार्यों के मुख्य स्थानों के विषय में संकेत करते है, जिन्हें स्वेच्छा से वश में कर योगानुशासन के उचित उपायों से पार कर जाना चाहिये।

प्रथम आधार, जिसका वह उल्लेख करते हैं, 'पादांगुष्ठाधार' प्रत्येक पद के अंगूठे में जैविक कार्य का केन्द्र है। गोरखनाथ योग-जिज्ञासुओं को पादांगुष्ठ के अग्रभाग पर तेजोमय वृत्त के रूप में इस आधार की कल्पना कर अपनी दृष्टि इस पर स्थिर करने का आदेश देते हैं। इस अभ्यास से नेत्र व ध्यान की एकाग्रता बढ़ती है। यह विश्वास किया जाता है कि पैर के अंगूठे के तन्तुओं और नेत्र-स्नायुओं में एक महत्वपूर्ण सम्बन्ध है।

दूसरा 'मूलाधार' माना गया है। यह कुण्डलिनी शक्ति व प्रारभिक आधार व सुषुम्ना नाड़ी का उद्गम स्थल है। इस स्थान पर सर्वप्रथम मानसिक-जैविक शक्ति को एकाग्र कर सुषुम्ना मार्ग से ऊपर की ओर चढ़ाना होता है। योगाभ्यास करनेवाले को गोरखनाथ आदेश देते हैं कि उसे अपने बाये पैर के टखने मे मूलाधार सूत्र को कसकर दबाकर सीधे तने हुये रूप में आसन लगाना चाहिये, जिससे शक्ति अधोगामी न हो जाये। इस प्रक्रिया से, गोरखनाथ कहते हैं, वहा अग्नि-दीपन हो जाता है, जो शक्ति को अध्यात्म पथ पर ऊर्ध्वगामी बना देता है।

तीसरा गुदा स्थान में 'गुदाधार' कहा जाता है। इस द्वार द्वारा अपान

वायु शरीर के मल व व्यर्थ सामग्री को उदर से निष्कासित करती है। योगी को भली प्रकार अपान क्रियाओं के सचालन हेतु इस गुदा आधार के विकास-संकोचन का अभ्यास करना चाहिये। इससे अपान का प्राण से सयोग हो जायेगा जिसकी योगाभ्यास मे अत्यन्त आवश्यकता होती है। यह उदर के समस्त रोगों को दूर करने में पर्याप्त सहायता प्रदान करता है, जो सफल योगाभ्यास मे अनेक बाधाये उत्पन्न करते है।

चौथा 'मेढ्राधार' लिंग की जड़ में स्थित माना गया है। निस्सन्देह जैविक कार्यों का यह एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। कामोत्तेजना के समय व संभोग के समय भौतिक शरीर का सर्वाधिक मूल्यवान तत्व बिन्दु या वीर्य इसी मार्ग द्वारा निष्क्रमित होता है। यह प्राण शक्ति युक्त होने के कारण प्राण-बल व पौरुष का स्रोत है। मानसिक शक्तियों का विकास भी पर्याप्त सीमा तक शरीर में बिन्दु धारण करने पर निर्भर करता है। बिना बिन्दु धारण या रक्षण के कोई भी शरीर योगाभ्यास में सफलता प्राप्त नही कर सकता। किसी भी प्रकार की कामुक वासना व कामोत्तेजना इसे शरीर से खण्डित कर लिंग द्वारा बाहर फेंक देती है। वीर्य या बिन्दु को धारण करना जीवन तथा इसे नष्ट करना मृत्यु कहा गया है। अतः न केवल योगी ही वरन् शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास के इच्छुक, नैतिक व आध्यात्मिक अभीप्साओं वाले प्रत्येक श्रेष्ठ पुरुष को विन्दु या वीर्य के धारण व रक्षण को सर्वाधिक महत्व देना चाहिये।

यह पहले ही देखा जा चुका है कि मेढ्राधार को प्रायः स्वाधिष्ठान कहा जाता है। इसका अर्थ है कि यह स्व (आत्मा) के निवास करने का स्थान है। स्व का तात्पर्य यहां प्राण से है। यहा प्राण-शक्ति सचित रहती है और यदि इसको सुरक्षित नहीं रखा गया तो इसी मार्ग द्वारा नष्ट भी हो जाती है। प्राण-शक्ति प्रमुखतया विन्दु या वीर्य मे निहित रहती हैं, जिसे रेतस् कहा जाता है तथा मेढ्राधार में इसको नष्ट होने से बचाने का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये। प्रत्येक आध्यात्म-जिज्ञासु का यह उत्तरदायित्व है कि न केवल उसे काम वासना-तृप्ति से वचना चाहिये वरन् लिंग व इससे जुड़ी हुई नाडियों पर भी पूर्ण कठोर नियंत्रण रखना चाहिये। लिंग को वश में करने तथा नाड़ियों की उत्तेजना पर नियंत्रण रखने के उद्देश्य से, गोरखनाथ साधकों को लिंग-सकोचन की कला का निर्देश करते है, जो एक प्रकार की प्रभावशाली योग-मुद्रा है। इस मुद्रा के सफल अभ्यास से विन्दु या वीर्य की अधोगति या बाह्य गति रुक जाती है और यह ऊर्ध्वरेता हो जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा वीर्य हरण हो जाता है और वीर्य-स्तम्भन सिद्ध हो जाता है। शनैः शनैः प्राण-शक्ति ब्रह्म-ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि और रुद्र-ग्रन्थि को पार कर ऊपर की ओर उठकर सम्पूर्ण शरीर को सौन्दर्य, बल व तेज प्रदान करती है। योगी सुषुम्ना के उच्चतम भाग में तथा सहस्रार के नीचे कहीं पर 'भ्रमर-गुहा' की उपस्थिति बतलाते है। गोरखनाथ कहते है कि सफलता से ऊपर की ओर प्रेषित वीर्य इस गुहा मे प्रवेश कर, सम्पूर्ण शरीर में पूर्णरूपेण

समाकर उसे अजेय बना देता है। भ्रमरगुहा वास्तविक वीर्य-स्थान मानी गई है। यहां से च्युत होकर यह नीचे मेढ्र में एकत्रित हो जाता है। इस पदच्युति को रोकना चाहिये।

गोरखनाथ द्वारा उल्लिखित पाँचवाँ आधार 'उड्डयान' है और यह लिंग-मूल तथा नाभि-मूल के मध्य स्थित है। गोरखनाथ कहते है कि उचित साधना द्वारा इस आधार पर नियंत्रण किया जा सकता है। इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह होता है कि योगी अपनी अंतड़ियों व मूत्रेन्द्रिय पर नियंत्रण कर सकता है तथा इनके कष्टों का उपचार भी कर सकता है। शरीर शुद्धि में इस पर नियत्रण अत्यधिक सहायता प्रदान करता है। प्राण-शक्ति को इन उच्चस्तरों पर उठाने में भी यह अति सहायक सिद्ध होता है।

छठाँ 'नाभ्याधार' कहलाता है। यह नाभि-मूल में स्थित है। जैसा कि पहले देखा जा चुका है यह नाभि-चक्र या मणिपुर-चक्र का स्थान है। जैविक कार्यों का यह एक अत्यन्त प्रमुख केन्द्र माना जाता है। आधार में सूक्ष्मनाद की अभिव्यक्ति को गोरखनाथ विशेष रूप में वर्णित करते हैं। योगी नाद को चरम रूप में ब्रह्म से तदाकार बतलाते है, जिसकी यह गौरवपूर्ण आत्माभिव्यक्ति है।

जैसा कि 'योग-शिक्षा-उपनिषद्' कहता है :—

अक्षरं परमो नादः शब्द ब्रह्मेति कथ्यते।

अपने चरम सार रूप में नाद, अक्षर या ब्रह्म—अपरिवर्तनीय पारमार्थिक परम चैतन्य हैं। इसे शब्द-ब्रह्म कहा जाता है। यह मूलाधार में अत्यन्त सूक्ष्म नाद-रूप में व्यक्त होता है, किन्तु वहां यह शक्ति से अभिन्न होता है। तत्पश्चात् यह विन्दु या बीज से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, जो नाम, रूप व ध्वनि तथा मानसिक-भौतिक शरीर का भेदरहित सार है। 'योग-शिक्षा-उपनिषद्' कहता है—

मूलाधारगता शक्ति. स्वाधारा विन्दुरूपिणी।
तस्यां उत्पद्यते नाद. सूक्ष्मबीजा दिवांकुरः॥

मूलाधार में नाद-शक्ति से तदाकार रहता है, स्वाधिष्ठान में यह विन्दु या वीज से तद्रूप होता है और मणिपुर या नाभि-आधार में यह प्रथम सूक्ष्म क्रमिक नाद के रूप में प्रकट होता है, जो योगी को योग-दृष्टि द्वारा दिखाई दे सकता है। यह प्रणव, ओम् की सतत्, ,मधुर और एक रस ध्वनि कहलाता है। अनाहत अथवा हृदय-आधार में यह नाद पूर्णत. स्पष्ट हो जाता है। किन्तु अभी तक एकरस व अखण्ड रहता है। तत्पश्चात् वाक् इन्द्रिय द्वारा नाद असंख्य ध्वनियों में विभाजित हो जाता है। यहां गोरखनाथ योगाभ्यासी को ध्वनियों की विभिन्नताओं से अपना ध्यान हटाकर नाभि-आधार में शुद्ध नाद पर केन्द्रित करने का

आदेश देते हैं। नवाभ्यासी द्वारा एकाग्रता का यह अभ्यास कान बन्द करके ओ३म् के दीर्घकालीन उच्चारण द्वारा किया जा सकता है। सतत् अभ्यास के फलस्वरूप मनस नाद में विलीन हो जाता है। (इसे नाद लय कहा जाता है।) इस प्रकार यह महत्वपूर्ण-जैविक केन्द्र नियन्त्रित कर आध्यात्मिक बनाया जा सकता है।

सातवाँ 'हृदय-आधार है। जैविक कार्यो का यह भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण केन्द्र है। यह अनाहत चक्र का स्थान है, जहा 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' के अनुसार, अष्टदल कमल तथा सामान्य दृष्टिकोण के अनुसार, द्वादश दल कमल है। यह प्राण और अपान के मिलन का केन्द्र है। यदि समस्त उत्पन्न ध्वनियों से ध्यान हटाकर इस पर केन्द्रित किया जाय तो यहा यह अनाहत नाद बहुत स्पष्ट सुनाई दे सकता है। योगाभ्यास करने वालों को गोरखनाथ आदेश देते हैं कि कुम्भक द्वारा इस केन्द्र में प्राण-केन्द्रीकरण का अभ्यास करना चाहिये, जिसके फलस्वरूप कमल दल ऊपर की ओर खुल जायेगे। इसका अर्थ है मानसिक-जैविक बल तब नीचे की ओर या सांसारिकता में व्यय न होकर उच्चस्तरों पर आत्मपूर्णता के आध्यात्मिक मार्ग की ओर सहज अग्रसर होता है। तत्पश्चात् योगी तत्व-ज्ञानालोकित आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्राप्त कर लेता है।

आठवाँ चक्र 'कठाधार' कहा जाता है। उसमें विशुद्ध चक्र निहित रहता है तथा सामान्य दृष्टिकोंण से यह एक ज्योतिपूर्ण षोडशदल कमल है। यहां गोरखनाथ योगाभ्यासी को जालन्धर बन्ध के अभ्यास का आदेश देते हैं। जालन्धर-बन्ध के अनुशासित अभ्यास द्वारा एक योगी इडा और पिगला में प्राण वायु के संचालन पर नियंत्रण कर सकता है तथा मानसिक-जैविक बल को सुषुम्ना मार्ग द्वारा ऊपर की ओर बढा सकता है।

प्रसगवश यहा यह जान लेना चाहिये कि प्रत्येक योग-प्रक्रिया, जिसका उल्लेख मात्र 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' में गोरखनाथ विभिन्न आधारो के सम्बध में करते है शरीर-व्यवस्था का गहनतम ज्ञान प्रदान करने व इस शरीर को योगी के ऐच्छिक नियंत्रण में लाने के लिये बहुत महत्व की है। इन योग-प्रक्रियाओं तथा अन्य उपायों का गोरखनाथ व अन्य गुरुओं ने अन्य पुस्तकों मे विशद् विवरण प्रस्तुत किया है। किन्तु अन्यत्र उन्होने इस बात पर बल दिया है कि बिना योगीगुरु के पथ-प्रदर्शन के योग मार्ग मे प्रवेश करना प्राय: असुरक्षित है। गोरखनाथ ने यहा बध की अनेक प्रक्रियाये, यथा—मूलबध, उड्डयान बंध तथा जालन्धर बंध और उनके परिणामों का सरलतम रूप में वर्णन किया है। किन्तु मानसिक-भौतिक शरीर पर नियत्रण करने तथा आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने में उनका गम्भीर प्रभाव होता है। यहां उनके विवेचन का अवसर नही है, क्योंकि यहां हम मुख्यतया आधारों की गणना से तात्पर्य रखते है। गोरखनाथ ने सामान्य रूप से मुद्रा बध और ध्यान के कुछ रूपों का, शरीर के अन्दर नाड़ियों, चक्रों और आधारों की गणना करते समय उल्लेख किया है, क्योंकि इन

प्रक्रियाओं से ही एक सत्यान्वेशी उनके वास्तविक स्वरूप को समझकर शरीर में उनकी उपस्थिति के विषय में पूर्णतया आश्वस्त हो सकता है। इनका सही ज्ञान इनपर स्वामित्व प्रदान करने मे सहायक सिद्ध होता है।

नवाँ 'घण्टिका आधार' कहा जाता है ,जो जिव्हा के मूल में स्थित है। इसके अन्दर एक सूक्ष्म मार्ग है, जिसके द्वारा सहस्रार मे चंद्र-मण्डल से अमृतकला मन्थरगति से प्रवाहित होती है। साधारणतया यह दृष्टिगत नही होती है तथा इड़ा-पिगला के मार्गो द्वारा निम्न क्षेत्रों में उतर कर व्यर्थ नष्ट हो जाती है। गोरखनाथ साधक को जिह्वाग्र को अन्दर मोड़कर इस स्रोत के सस्पर्श में रखने का आदेश देते है, जिससे घण्टिका आधार से अमृत नीचे गिरकर व्यर्थ न चला जाय। यह प्रक्रिया योगी को अमृत का सर्वाधिक आनन्दमय रसास्वादन करने योग्य बनाती है जो उसके अनेक शारीरिक रोगो को दूर कर उसे आध्यात्मिक आनन्दानुभूति योग्य बना देती है। यह प्रदर्शित कर देती है कि आनन्द का सच्चा स्रोत उच्च स्तरों में है न कि निम्न स्तरों में—उच्च आध्यात्मिक जीवन निम्न-स्तरीय ऐन्द्रिक जोवन से श्रेष्टतर है।

दसवां 'तालु आधार' कहा जाता है, जो जिह्वा के और भी अधिक गहरे क्षेत्र में है। यह आन्तरिक रूप से आज्ञा-चक्र व सहस्रार से जुड़ा हुआ है। यहां योगी को खेचरी मुद्रा, जो समाधि दशा की प्राप्ति में अत्यन्त सहायक होती है, (यद्यपि इस समाधि का तात्पर्य आध्यात्मिक अनुभव की चरम अवस्था से नहीं है) प्रक्रिया सरल दिखाई देती है, यद्यपि व्यावहारिक रूप में यह इतनी सुगम नही है। जिह्वा को विधिपूर्वक कोमल बनाकर, बाहर खीचकर लम्बा करना होता है, तत्पश्चात् इसे सावधानी से अन्दर धकेलना होता है। तदुपरान्त जिह्वाग्र को जिह्वा के कोमल मूल के अन्दर लघु छिद्र में डालकर धीरे से अन्ततम छिद्र में प्रवेश कराना होता है। यदि यह अभ्यास सफलता से किया जाय तो योगी समस्त चचलता, बाह्यगति व बाह्य चेतना से रहित होकर काष्ठ के समान हो जाता है। इसे प्राय: जड़ समाधि कहा जाता है। तथापि, उसकी आन्तरिक चेतना प्रसन्नता व अमृतपान से मुग्ध रहती है। समस्त योग-शास्त्रों में इस खेचरी मुद्रा के चमत्कारपूर्ण व गम्भीर प्रभावों का प्रमाण प्रस्तुत किया गया है। तालु-आधार को तालु-चक्र, दशम् द्वार, शंखिनीविवर तथा अमृतधारा प्रवाह का केन्द्र भी कहा गया है, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं।

ग्यारहवां 'जिह्वाधार' कहलाता है, जो जिह्वा मूल में है। साधक को जिह्वाग्र को इस मूल पर केन्द्रित करने को कहा जाता है। यदि यह अभ्यास विधिपूर्वक किया जाय, तो अनेक रोगों से मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

बारहवां 'भ्रू-मध्याधार' कहलाता है, जो दोनों भृकुटियों के मिलन स्थान पर है। यहां साधक का अपनी दृष्टि एकटक स्थिर करके शुभ्र, स्वच्छ, शीतल व

शान्त चन्द्र मण्डल की किरणो पर ध्यान धरना चाहिये। इस अभ्यास द्वारा उसका सम्पूर्ण शरीर शान्त, स्थिर व सौम्य बन जाता है। यह प्रक्रिया ध्यान स्थिर करने तथा मन व शरीर की समस्त प्रकार की उत्तेजनाओ को शान्त करने में अत्यन्त सहायक है। यहा एक असाधारण रूप से कान्तिमय व शान्त ज्योति का अनुभव किया जाता है, जो चेतना को आलोकित कर देती है। यह भ्रू-चक्र या आज्ञा-चक्र का आधार है।

तेरहवां 'नासाधार' कहा जाता है, जो नासिका मे होता है। नासिका जैविक कार्यो का एक महत्वपूर्ण केन्द्र है। साधक को नासिका के अग्रभाग पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करने की सम्मति दी जाती है। और इस एक केन्द्र पर अपना ध्यान एकाग्र करने को कहा जाता है। यदि यह अभ्यास कुछ समय तक निरन्तर किया जाये, तो मनस् व्यग्रतारहित होकर गहन समाधि के योग्य हो जाता है।

चौदहवां 'कपाटाधार' कहा जाता है, जो नासामूल में है। इस स्थान पर भी साधक को दृष्टि व ध्यान केन्द्रित करने का निर्देश दिया गया है। गोरखनाथ कहते हैं कि दृष्टि व ध्यान एकाग्र करने की इस विधि का छः माह तक अनुशासित अभ्यास एक दिव्य, सौम्य ज्योतिपुंज के दर्शन करा देता है, जो सम्पूर्ण मानसिक वातावरण को आलोकित कर देता है। स्पष्ट ही यह केन्द्र आज्ञा-चक्र या भ्रू-चक्र के अत्यन्त समीप है।

पन्द्रहवा 'ललाटाधार' कहलाता है, जो ललाट के मध्य स्थित है। साधक को इस आधार पर अपना ध्यान केन्द्रित कर वहा चमकते हुये स्वतः प्रकाशित ज्योति-पुज पर गहन समाधि लगानी होती है। ज्योति ध्यान का यह अभ्यास साधक की जैविक और मानसिक शक्ति में असीम वृद्धि कर उसके शरीर को तेजस्वी बना देता है।

सोलहवां अन्तिम व चरम आधार 'ब्रह्म रन्ध्र है, जो आकाश-चक्र का आधार है। यहा पूर्ण आध्यात्मिक आत्म-तृप्ति का अनुभव प्राप्त होता है। गोरखनाथ सुझाव देते है कि योगी को उच्च से उच्चतर स्तर की समाधि के अभ्यास से अपनी शुद्ध और श्रेष्ठ मानसिक-जैविक-शक्तियो को बाह्य रन्ध्र में, आकाश-चक्र के इस उच्चतम स्तर पर उठाना चाहिये तथा श्री गुरु के कमल चरणों का ध्यान कर उनका दर्शन करना चाहिये। श्री गुरु से उनका स्पष्ट तात्पर्य उस पवित्र आध्यात्मिक व्यक्तित्व से है, जिसमे योगी ने शिव और शक्ति के दिव्य मिलन के दर्शन प्राप्त कर लिये है, जो कठिन आध्यात्म मार्ग में उसकी प्रेरणा-शक्ति व बुद्धिमत्ता के स्रोत रहे हैं। एक सच्चे जिज्ञासु शिष्य की दृष्टि मे श्री गुरु शिव-शक्ति रूप ही हैं, तथा श्री गुरु का ध्यान करने का अर्थ होता है मानसिक-जैविक शक्ति की, परमात्मा और उनकी अनन्त शक्ति के सर्वाधिक सगुण रूप पर पूर्णतया एकाग्रता। इस ध्यान की गहराई उच्चतम आध्यात्मिक समाधि में परिणत होकर सम्पूर्ण व्यक्तित्व को आलोकित कर देती है, जिसमें

योगी स्वयं व समस्त ब्रह्माण्ड को गुरु व शिष्य-शक्ति से तद्‌रूप देखने लगता है। वह अनन्त, शाश्वत, भेदरहित, अपरिवर्तनीय, पूर्णरूपेण आध्यात्मिक व आलोकित आकाश की भांति पूर्णशान्त व स्थिर हो जाता है। यह देखा गया है कि गोरखनाथ इस आकाश-चक्र को पूर्ण गिरी-पीठ (सर्वाधिक पूर्ण आध्यात्मिक अनुभव का क्षेत्र) कहकर योगी को परम शून्य अर्थात् निरपेक्ष, भेद-रहित, अपरिवर्तनीय और एक--साधक, शिव और शक्ति के एकत्व में तल्लीन रहने का आदेश देते है।

(स) तीन लक्ष्य

लक्ष्य से स्पष्टतया गोरखनाथ का तात्पर्य उन विषयों से है, जिनपर मानसिक-जैविक शक्ति को उच्चतम आध्यात्मिक स्तर पर उठाने एवं परम सत्ता के सार्वत्रिक व्यष्टि-शरीर तथा ब्रह्माण्ड दोनों मे दर्शन करने के हेतु अस्थायी रूप से ध्यान केन्द्रित किया जाता है। लक्ष्य का शाब्दिक अर्थ होता है—वह जिस पर विशेष ध्यान धरना चाहिये। गोरखनाथ द्वारा वर्णित लक्ष्यो का व्यष्टि-शरीर के आन्तरिक या बाह्य अगो अथवा किसी इन्द्रिय के क्रिया-कलापों व मानसिक-भौतिक-शरीर के केन्द्रों के ज्ञान की दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं है, किन्तु यौगिक अनुशासन की दृष्टि से उनका व्यावहारिक मूल्य है।

यद्यपि गोरखनाथ 'त्रिलक्ष्य' या 'लक्ष्यजय' का उल्लेख करते है, तथापि ध्यान केन्द्रित करने के केवल तीन विशिष्ट पदार्थो का ही उल्लेख नही करते है। वे तीन प्रकार के लक्ष्यों—कुछ शरीर के अन्दर व कुछ शरीर के बाहर तथा कुछ शरीर से असम्बन्धित का उल्लेख करते हैं। समाधि या धारणा के चुने हुये पदार्थों की स्थिति के अनुसार लक्ष्यों को अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य तथा मध्य-लक्ष्य के रूप मे वर्गीकृत किया गया है।

(१) अन्तर्लक्ष्य

गोरखनाथ आन्तरिक पदार्थों पर ध्यान-धारणा की प्रक्रियाओ के बारे में निर्देश देते हैं। सुषुम्ना में कुण्डलिनी शक्ति पर ध्यान केन्द्रित करने को वह प्रमुख महत्व प्रदान करते हैं। सुषुम्ना, जैसाकि पूर्व वर्णित किया जा चुका है, सबसे सूक्ष्म व श्रेष्ठ नाड़ी हैं, जो मूलकण्ठ में मूलाधार (नाड़ियों के स्रोत) से होती हुई ब्रह्म-रन्ध्र में सहस्रार, कैलाश तक पहुंचती है और यह कुण्डलिनी की ऊपर की ओर आध्यात्मिक यात्रा (सहस्रार में अपने प्रियतम शिव से मिलन हेतु) का राज-मार्ग है। योगी को अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति से अन्य समस्त वस्तुओं से ध्यान हटाकर, सुषुम्ना-मार्ग से उठती हुई महा-शक्ति कुण्डलिनी के स्व-प्रकाशमय व सर्व-आलोकमय आध्यात्मिक शरीर पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये। यह महा-शक्ति कुण्डलिनी स्वयं को महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महा सरस्वती तथा अन्य दिव्य रूपों में, योगी के समक्ष, उसके गहनतम ध्यान-धारणा-समाधि-काल में, प्रकट कर विभिन्न प्रकार के आध्यात्मिक व सांसारिक वरदान प्रदान

करती है, जब तक वह सहस्रार अर्थात् पूर्ण समाधि और पूर्ण आलोक की स्थिति, जिसमें योगी शिव-शक्ति के मिलनानन्द में अपनी व्यष्टि-चेतना खो देता है, में शिव से पूर्णरूपेण तद्‌रूप नही हो जाती। शक्ति के शिव के पास प्रत्यावर्तन करने का तात्पर्य है जीव का परमात्मा को पुनः प्राप्त करना। गोरखनाथ कहते है कि शक्ति पर इस प्रकार ध्यान धरने पर वह योगी के लिये सर्व-सिद्धि-दा हो जाती है। शिव-शक्ति न केवल व्यष्टि-जीवन व मनस्, वरन् भौतिक शरीर के भी सच्चे सार हैं। जड़ शरीर भी परमात्मा की लीला का उसी प्रकार आत्मोद्‌घाटन है, जिस प्रकार जीवन व मनस् और वस्तुतः इसका (जड़ शरीर) कोई भिन्न अनात्म अस्तित्व नहीं है। शरीर तभी तक अनात्म सत्ता दिखाई देता है, जब तक मनस् इसके कालदिकाश्रित स्वरूप पर ही केन्द्रित रहता है। जब मनस् आन्तरिक आत्मा पर केन्द्रित हो जाता है, तब न केवल मन ही, वरन् शरीर भी इसके आध्यात्मिक स्वरूप के प्रकट हो जाने पर आध्यात्मिक हो जाता है।

गोरखनाथ अध्यात्म-जिज्ञासु को शरीर के गहन आध्यात्मिक अगों पर ध्यान केन्द्रित करने के अभ्यासार्थ मस्तक के अन्दर अन्य कई केन्द्र बतलाते हैं। योग्य गुरु के निर्देशन में शिष्य अपनी रुचि से एव योग्यतानुसार उनमें से किसी एक को चुनकर उस पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकता है। गोरखनाथ 'गोल्लाट-मण्डप' केन्द्र का उल्लेख करते है। यह सहस्रार में ललाट के ठीक ऊपर है। इसके अन्दर एक ज्योतिपुज प्रज्वलित है। समुचित रूप से आसनस्थ योगी को समस्त विचारों व इच्छाओं से रहित मन से वहां प्रकाश की उपस्थिति की कल्पना कर उस पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये। उसे अपना समस्त वातावरण व अपने शरीर को भी विस्मृत करके अपना सम्पूर्ण ध्यान इसपर केन्द्रित करना चाहिये। स्व-प्रकाशमय आत्मा की अभिव्यक्ति का सबसे महत्वपूर्ण प्रतीक प्रकाश है। सतत अभ्यास के फलस्वरूप उसकी चेतना दिव्य प्रकाश से आलोकित हो जायगी। इस पवित्र प्रकाश पर दीर्घकाल तक ध्यान एकाग्र करने का अभ्यास योगी के समस्त व्यक्तित्व को आध्यात्मिक बनाने में अत्यधिक सहायता प्रदान करता है।

दूसरे, गोरखनाथ भ्रमर-गुहा का उल्लेख करते हैं, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह स्नायु-दण्ड या रीढ़-संस्थान के ऊपर तथा सहस्रार के पृष्ठ भाग में है। योगी इसे वीर्य-स्थान मानते हैं और ऐसे प्रभावशाली उपाय करते हैं कि वीर्य इस केन्द्र से खण्डित होकर नीचे नाडियों में उत्तेजना उत्पन्न न कर दे और जननेन्द्रिय की ओर न बह जाय। वे खण्डित वीर्य के पुनर्स्थापन के लिये भी समुचित उपाय करते है, जिससे इसमें निहित शक्ति सम्पूर्ण शरीर का कल्याण कर आध्यात्मिक शक्ति के रूप में पुनः परिवर्तित हो जाय। इस उद्देश्य से निस्सन्देह मन व शरीर को समस्त ऐन्द्रिक उत्तेजनाओं व वासनाओं से मुक्त रखने का विशेष ध्यान रखना चाहिये। योगियों के अनुसार काम-क्षुधा को वश में कर वीर्य धारण रखना आध्यात्म मार्ग में प्रगति व शरीर तथा मनस् के

ग्राध्यात्मीकरण के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। इसी कारण गोरखनाथ भ्रमर-गुहा पर ध्यान एकाग्र करने के ग्रभ्यास को विशेष महत्व देते है। इस केन्द्र में जीवन या प्राण-शक्ति को ग्रारक्त भ्रमराकार कल्पित कर उसपर ध्यान एकाग्र करना चाहिये। इस प्राण-शक्ति को शिव-शक्ति का प्रतिनिधि मानना चाहिये। इस प्रकार की समाधि के शान्त, दिव्य, पवित्र ग्रानन्द के समक्ष समस्त ऐन्द्रिक भोग व सुख विनाशकारी, क्षणिक तथा निस्सार प्रतीत होंगे। इस प्रकार मन समस्त प्रकार के ऐन्द्रिक भोगों की मर्त्सना करेगा ग्रौर सम्पूर्ण शक्ति ग्रन्तर मे ग्राध्यात्मिक ग्रानन्द की ग्रनुभूति के लिये ग्रर्पित हो जायेगी। इस ग्रभ्यास में कुशल योगी के लिये बिन्दु-स्तम्भन व ब्रह्मचर्य लगभग स्वाभाविक ही हो जाते हैं। पूर्ण बिन्दु-स्तम्भन व ब्रह्मचर्य के पालन से योगी ग्रमृतत्व को प्राप्त कर शिव-शक्ति से तादात्म्य का ग्रनुभव कर लेता है। शक्ति (वीर्य) का नाश क्षणिक सुख प्रदान करता है, जब कि शक्ति (वीर्य) का संचय स्थायी सुख व बल प्रदान करता है।

तीसरे, गोरखनाथ योगी को मस्तक के ग्रन्दर एक विशेष नाद, जिसे वे धुम-धुम्कार नाद कहते है, पर ध्यान एकाग्र करने का निर्देश देते हैं। इस ग्रान्तरिक ध्वनि को सुनने के ग्रभ्यास के प्रथम चरण मे वे योगी को ग्रपने दोनों हाथों की तर्जनी ग्रंगुलियों से कानों को कसकर बन्द करने का ग्रादेश देते है, जिससे कोई बाह्य ध्वनि उसका ध्यान न बंटा ले। तब वह ग्रपने मस्तक के किसी केन्द्र में एक क्रमिक धुम्-धुम् ध्वनि सुनने लगेगा। उसे ग्रपना ध्यान इस ग्रान्तरिक ध्वनि पर स्थिर कर इसमें तल्लीन हो जाना चाहिये। यह ध्वनि शनैः शनैः ग्रो३म् की स्थिर ध्वनि-नाद का रूप धारण कर लेगा। तब उसका मन दिव्य ग्रानन्द से भर जायगा ग्रौर वह विभिन्न प्रकार की बाह्य ध्वनियों को सुनना पसन्द नहीं करेगा। जब एकाग्रता यथेष्ट गहन हो जायेगी, तब नाद में परमात्मा के दर्शन हो जायेगे। यह पहले ही कहा जा चुका है कि नाद शिव-शक्ति की शुद्ध ध्वनि-रूपा ग्रात्माभिव्यक्ति है।

चौथे, गोरखनाथ योगी को नेत्रों के ग्रान्तरिक केन्द्र में नील-ज्योति पर ध्यान एकाग्र करने की सम्मति देते हैं। इस ज्योति पर गहन एकाग्रता चेतना के ग्राध्यात्मिक ग्रालोकन व उसके व्यक्तित्व के ग्राध्यात्मीकरण की ग्रोर ले जायेगी।

(२) बहिर्लक्ष्य

तत्पश्चात् गोरखनाथ ध्यान एकाग्र करने के कई बाह्य पदार्थों या लक्ष्यों का उल्लेख करते है। एक साधक ग्रपने नेत्रों के समक्ष नासाग्र से दो ग्रंगुल की दूरी पर एक तीव्र लाल प्रकाश की कल्पना कर उस पर ध्यान स्थिर कर सकता है। ग्रथवा वह नासिका से दस ग्रंगुल की दूरी पर जल की एक श्वेत चादर की कल्पना कर उस पर ध्यान केन्द्रित कर सकता है ग्रथवा वह नासिका से बारह ग्रंगुल दूर पीत धातु की कल्पना करके उस पर ध्यान केन्द्रित कर सकता है ग्रथवा

वह स्थिर दृष्टि से नील व शान्त आकाश के किसी भी भाग की ओर देख सकता है और इस शुद्ध आकाश मात्र के ध्यान में मग्न हो सकता है अथवा ऊपर की ओर निहारते हुये वह स्वयं व आकाश के बीच किसी मध्य स्थान पर ध्यान केन्द्रित कर वहां ज्योतिमयी किरणों का पुञ्ज देख सकता है अथवा जहां भी उनकी दृष्टि पड़े व चाहे जो पदार्थ, लघु हो या विशाल, निर्जीव हो या सजीव, स्थिर हो या गतिमान, योगी समस्त विचारों से अपने मन को हटाकर वहां शून्य या आकाश को देख सकता है। इस प्रकार खुले नेत्रों से भी वह अपने मनस् को बाह्य जगत् की समस्त विभिन्नताओं से मुक्त कर अपनी एकाग्र शक्ति से अपने नेत्रों के समक्ष केवल भेदरहित आकाश देख सकता है। इसी प्रकार खुले कानों के होते हुये भी वह अपना ध्यान समस्त विशिष्ट ध्वनियों से हटाकर एक भेद-रहित नाद—इन कोलाहलपूर्ण संसार में—सुन सकता है। वह अपनी दृष्टि को दूर तक फैलाकर स्वर्णिम ज्योति के विशाल क्षेत्र को देख सकता है। इस प्रकार बहिर्लक्ष्य के ऐसे कई विचार व प्रत्यक्षदर्शन की एकाग्रता की विभिन्न प्रक्रियाये हैं। सूर्य, चद्र, कोई विशेष तारा या ग्रह, कोई जलता दीपक या प्रज्ज्व-लित अग्नि, कोई दिव्य प्रतिमा या पूजनीय व्यक्तियों का पवित्र चित्र, ऐसी कोई भी वस्तु ध्यान एकाग्र करने के हेतु चुनी जा सकती है। किसी विशेष बाह्य पदार्थ पर अपना ध्यान एकाग्र करते समय योगी को उस रूप में परमात्मा अर्थात् शिव-शक्ति की अभिव्यक्ति देखने का प्रयास करना चाहिये। अन्तिम लक्ष्य समस्त रूपों में परमात्मा का दर्शन करना होना चाहिये।

(३) मध्यम-लक्ष्य

मध्यम लक्ष्य से गोरखनाथ का स्पष्ट तात्पर्य विशेष ध्यान के किसी पदार्थ से है, जिसे न तो शरीर के अन्दर कल्पित किया जाता है और न बाहर और न जिस पर मन को, बिना किसी स्थान पर, उसकी स्थिति का सकेत पाये (स्थानवर्जितम्) केन्द्रित करना होता है। एक विशेष पदार्थ का विचार मन में निर्मित कर सम्पूर्ण ध्यान इस पर केन्द्रित करना होता है। पदार्थ का चुनाव पूर्णतया साधक पर निर्भर करता है। उसे यथेष्ट पदार्थ का चुनाव कर लेना चाहिये, जो उसकी रुचि व प्रवृत्ति के अनुकूल हो। उद्देश्य ध्यान एकाग्र करना होना चाहिये, जिससे वह शनैः शनैः अपने ध्यान पर पूर्ण अधिकार पा सके एवं उन समस्त बाह्य व आन्तरिक शक्तियों पर विजय पा सके, जो उसकी इच्छा के विरुद्ध उसका ध्यान बटाती है तथा उसके मन को चचल, असन्तुलित व अशान्त कर देती है।

ध्यान एकाग्र करने का पदार्थ वास्तविक या काल्पनिक, भौतिक या आदर्शात्मक, अति लघु या अति विशाल, प्रखर तेजस्वी या सुखद व शीतल, किसी भी वर्ण या आकार व आकृति का अथवा आकृतिरहित हो सकता है। गोरखनाथ कहते हैं कि वह लक्ष्य श्वेत या रक्त या काले रग का, अग्नि की लपट, तीव्र प्रकाश, विद्युत की चमक, चन्द्र-किरण के रूपवाला अथवा साधक की रुचि के

अनुरूप किसी भी रूप का हो सकता है। अतः मध्यम लक्ष्य भी विभिन्न रूपों का हो सकता है। मूलभूत बात यह है, कि जो भी पदार्थ चुना जाये, मन को अभ्यास-काल में इस पर पूर्णतया एकाग्र होना चाहिये। साधक को अपने शरीर, वातावरण, अपने अहं को भूलकर, अन्य समस्त विचारों, इच्छाओं, वासनाओं, सवेगों व स्मृतियों को दबाकर, अपने शरीर को एक निश्चित आसन में स्थिर रखकर, समस्त इन्द्रियों को पूर्ण शान्त रखकर, मन को केवल एक वस्तु या विचार से सर्वदा व्यस्त रखना होता है। अपनी दृढ़ इच्छा शक्ति द्वारा उसे अपने अन्दर व बाहर के समस्त पदार्थों के विषय में भूलकर मन को केवल एक पदार्थ (यथार्थ या काल्पनिक) के ध्यान मे लीन रखना चाहिये, जिसे वह अपनी एकाग्रता की शक्ति के विकास के लिये चुने। जब इन उपायो द्वारा उसकी एकाग्रता-शक्ति पर्याप्त विकसित हो जाती है, वह सरलता से अपने एकाग्र मन को आध्यात्मिक अनुभव के उच्च से उच्च स्तर पर उठाकर शिव-शक्ति के मिलन की आत्माभिव्यक्तियों के उच्चतर स्तरो का आनन्द भोग सकता है। एकाग्रता के अभ्यास के काल में योगी की मानसिक व जैविक शक्तियाँ बहुत सीमा तक विभिन्न दिशाओं में विकसित होकर दैवी या अप्राकृतिक प्रतीत होने लगती है। किन्तु योगी को उनसे मदान्ध नही होना चाहिये अन्यथा प्रगति रुक जायेगी। यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि मन जितना अधिक एकाग्र होगा उतना ही अधिक वह शुद्ध एवं शक्तिशाली बन जायेगा। किन्तु योगी को अपने आदर्श को कभी नहीं भूलना चाहिये कि उसे अपने अन्तर्गत एवं ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के अन्तर्गत सभी स्तरों की प्रापचिक सत्ताओं में शिव-शक्ति के आनन्दमय मिलन का साक्षात्कार एव आनन्दानुभव करना है।

(द) पाँच व्योम

गोरखनाथ और योगी सम्प्रदाय के अनुसार, मन को व्योम या आकाश या शून्य पर एकाग्र करना व्यावहारिक व्यष्टि-चेतना की शुद्धि का एक बहुत ही प्रभावशाली उपाय है तथा इसके द्वारा यह अस्थिरता, अशान्ति व दिक्काल की सीमाओं से मुक्त हो जाती है। यह मनस् को आध्यात्मिक अनुभव के उच्चतर स्तरों पर उठने योग्य बनाती है, जिससे वह दिव्य ज्योति के दर्शन कर शिव-शक्ति से तादात्म्य का अनुभव कर सके। व्योम या आकाश वास्तव में सर्व-व्यापक, समस्त भौतिक अस्तित्वों की विभिन्नताओं में निहित, समस्त ध्वनियों, वर्णों, दृश्यों, स्वादों, गन्धों व ऐन्द्रिक अनुभवों तथा कल्पना के अन्य समस्त पदार्थों का आधार है। समस्त विभिन्नताओं, नामरूपात्मक विशेषताओं, विशिष्ट लक्षणों व सीमाओं से हटाकर, सर्व व्यापी, सर्वान्तर्यामी, असीम, अभिन्न आकाश पर ध्यान केन्द्रित करना होता है। यह आधारो का आधार है। व्यष्टि-चेतना जो ऐसे आकाश पर पूर्णरूपेण केन्द्रित होती है, स्वयं व्योम सदृश सर्वव्यापक बन जाती है।

यद्यपि व्योम मूलत. एक है, तथापि घ्यान व समाधि की सुविधा की दृष्टि से इसे पांच विभिन्नि प्रकार से, पांच नाग दिये गये है—ग्राकाश, पराकाश, महाकाश, तत्वाकाश ग्रौर सूर्याकाश इन्हे ग्रत्यन्त निर्मल, निराकार, ग्रान्तरिक व बाह्य जगत् का सयोजक माना गया है। पराकाश ग्रत्यन्त ग्रधकारमय ग्रन्तर्बाह्य लोको मे व्याप्त समस्त विभिन्नताग्रों को लुप्त करने वाला माना गया है। महाकाश ग्रसीम पदार्थ रहित, ग्राग्नेय प्रलयकाश की भांति माना गया है। सूर्याकाश को ग्रसीम सर्वसमायोजक—कोटि सूर्यो के प्रकाश के समान चमकता हुग्रा माना गया है। तत्वाकाश, जिसे चिदाकाश ग्रथवा तत्वाकाश के रूप में जाना जाता है, ग्रपरिवर्तनीय, भेदरहित स्व-प्रकाशमय ग्रात्मा या साक्षी चैतन्य माना गया है। इस समाधि में साधक साध्य से ग्रभिन्न हो जाता है, वह स्वयं यह ग्राकाश बन जाता है। प्रत्येक एकाग्रता की चरम स्थिति समाधि है, जिसमें व्यष्टि-चेतना साध्य से पूर्णरूपेण एकरस हो जाती है। किन्तु प्रत्येक समाधि ग्राध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कराती। प्रत्येक समाधि में व्यष्टि-चेतना को पूर्ण ग्राध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति नही होती है। समाधि का फल बहुत सीमा तक लक्ष्य पर निर्भर करता है। जब व्यावहारिक चेतना परम चेतना मे 'समाधि' प्राप्त कर लेती है, तब ही पूर्ण ग्राध्यात्मिक ज्ञान व चरम ग्रानन्द की प्राप्ति होती है। समाधि के ग्रन्य समस्त प्रकार मनस् को इसी लक्ष्य को पाने योग्य बनाने के लिये निर्देशित किये जाते है। यदि समाधि में कोई उपाधि रह जाती है, तो व्यष्टि-चेतना निर्विकल्प समाधि प्राप्त नही कर सकती।

●

अध्याय-१५

पिण्ड में (व्यष्टि-शरीर में) ब्रह्माण्ड

पूर्व विवेचनों से यह विदित हो चुका है कि योगी-गुरु गोरखनाथ योगानुशासन के पथ पर सम्पूर्ण सफलता तथा समस्त बन्धनों, दुखों व सीमाओं से पूर्ण मुक्ति एवं ब्रह्माण्ड-व्यवस्था तथा व्यष्टि-शरीर पर शासन करने वाली समस्त प्रापंचिक शक्तियों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने के लिये चक्रों, आधारों, लक्ष्यों, व्योम या आकाश तथा नाड़ियों व वायुओं के गहन ज्ञान को अनिवार्य बतलाते हैं। वे योग-मार्ग के सत्यान्वेषियों को इन्हें अपने शरीरों के अन्दर खोजने तथा उनपर ध्यान केन्द्रित करने एवं उनसे सम्बन्धित विशेष साधना व अनुशासन का अभ्यास—उनमें से प्रत्येक को शिव-शक्ति की आत्माभिव्यक्ति के रूप में पहचानने के लक्ष्य हेतु—करने का आदेश देते हैं। किन्तु उनके आदेश के ढंग से यह नितान्त स्पष्ट है कि इनको वे मानव के भौतिक शरीर के मात्र भौतिक या जैविक अंगों के रूप में नहीं मानते। न ही उनके लिये वे वैज्ञानिक प्रमाणों पर आधारित मात्र शारीरिक धारणायें हैं। यहां उनका शरीर-विज्ञान से कोई सम्बन्ध नही, उनका सम्बन्ध तो योग-विज्ञान व दर्शन से है। व्यष्टि-शरीर को वे मात्र भौतिक शरोर न मानकर (जैसा कि शारीरिक विज्ञान प्रायः मानते है) भौतिक रूप में प्रकट एवं आध्यात्मिक इकाई मानते हैं, जो अपनी भौतिक सीमाओं से मुक्त होने की सामर्थ्य रखती है।

इस भौतिक शरीर में जीवन, मनम् व बुद्धि के प्रकट होने का कोई तार्किक उत्तर इन भौतिक विज्ञानों के पास नही मिल सकता और न ही वे जीवन, मनस् तथा बुद्धि का जड़ शरीर से सम्बन्ध व इनका इस भौतिक शरीर पर प्रभाव नियोजन आदि की कोई उचित व्याख्या प्रस्तुत कर सकते हैं। पुद्गल को जीवन व मनस् से भिन्न तथा स्वतंत्र सत्ता मानकर, ये प्राकृतिक व शारीरिक विज्ञान अपनी ही धारणा के कारण पुद्गल से जीवन, मनस्, बुद्धि, नैतिक, सौन्दर्यात्मक व आध्यात्मिक चेतना आदि की उत्पत्ति अथवा विकास या आविर्भाव का कोई तार्किक आधार खोज निकालने में असमर्थ रहते है। ऐन्द्रिय निरीक्षण द्वारा प्रदत्त नाना प्रकार की सामग्री के आधार पर ये विज्ञान इस ब्रह्माण्ड-व्याख्या के विकास व बुद्धि के इतिहास को खोजने का प्रयास करते है और वे इस जगत् में जीवित प्राणियों की उत्पत्ति के पूर्व निर्जीव शरीरहीन पुद्गल को पाते हैं तथा क्रमिक विकास-प्रक्रिया में मनस् व बुद्धि को बहुत बाद में प्रकट हुआ बतलाते हैं। अतः वे यह अनुमान लगाने लगते हैं कि पुद्गल मूल तत्व है तथा जीवन

मनस् आदि पुद्गल से उत्पन्न हुये है। चूंकि लोक-प्रक्रिया में जीवन, मनस् आदि से पहले पुद्गल प्रकट होता है, अतः उनका तर्क है कि इन सबका एकमात्र कारण पुद्गल ही होना चाहिये। किन्तु वे इसकी व्याख्या करने मे असफल रहते हैं कि किस प्रकार ये उच्चस्तरीय सत्ताये निर्जीव जड़ पुद्गल से उत्पन्न हो सकती है, जबकि पुद्गल के अन्तर में कोई सक्रिय सजीव चेतन सिद्धान्त निहित न हो, जो स्वयं को शनैः शनैः पुद्गल का रूपान्तर कर प्रकट करता है और अपने को उच्चस्तरीय सत्ताओं के रूप में अनुभव करता है।

तत्वज्ञानालोकित योगियो के मतानुसार कोई विशुद्ध या साधारण पुद्गल (जैसा वैज्ञानिक मानते है) ब्रह्माण्ड में कही भी नही है। आकाश भी, जो पुद्गल का चरम रूप है तथा जो शुद्ध, शून्य या अनन्त अवकाश प्रतीत होता है, शिव-शक्ति से विकसित हुआ है और शिव-शक्ति के एक साकार रूप की भांति स्थित है। शिव-शक्ति के आकाश की आत्मा होने के कारण, आकाश पूर्णतया निर्जीव या जड़ पुद्गल न होकर एक सक्रिय सृजनात्मक प्रेरणा एव अनन्त सभावनाओ से युक्त है। इसीलिये आकाश से वायु विकसित होती है, जो स्वय भी शिव-शक्ति के अन्तर्यामी होने के कारण साकाश के ही समान शिव-शक्ति को अनेकानेक अन्तर आत्माभिव्यक्तियों की सृजनात्मक योग्यता खरती है और इस प्रकार नये-नये तत्वों का विकास होता रहता है। प्रत्येक भौतिक तत्व, जैसा कि वैज्ञानिक जानते है, पंच महाभूतो के पंजीकरण की एक विशिष्ट उत्पत्ति व शिव-शक्ति की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति होती है। यद्यपि इन भौतिक तत्वों अथवा उनके संयोजित रूपों में जीवन या मनस् आदि की कोई अभिव्यक्ति नही होती, तथापि समस्त जीवन व मनस् आदि की स्रोत शिव-शक्ति प्रत्येक तत्व में आत्मा के रूप में उपस्थित रहती है और प्रत्येक को आनन्तर विकास की सृजनात्मक अभीप्सा से प्रेरित करती है।

समस्त भौतिक वस्तुओं की समस्त कार्यकारणात्मक क्रियाये और विकास की समस्त प्रक्रियाये व ब्रह्माण्ड मे वस्तुओ के नवीनतम स्तरों का प्रकट होना— ये समस्त एक शाश्वत, अनन्त परब्रह्म, जो मूलतः दिक्काल से परे और अपनी शक्ति की दिक्कालान्तर्गत आत्माभिव्यक्तियों की अन्तरात्मा है, की असीम आध्यात्मिक शक्ति को आत्म-विभाजन तथा प्रापंचिक आत्माभिव्यक्तियों की स्वच्छन्द सृजनेच्छा या इच्छा से शासित होते है। पुद्गल में शक्ति-संयुक्त शिव की उपस्थित के कारण ही कालदिकाश्रित सांसारिक विकास-प्रक्रिया में जीवन पुद्गल से प्रकट होता व पुद्गल को अपना शरीर बनाता प्रतीत होता है। इसी कारण व्यावहारिक चेतना से युक्त मनस्, जो मात्र सजीव पुद्गल की अपेक्षा शिव-शक्ति की प्रापंचिक आत्माभिव्यवित के उच्चतर स्तर का प्रतिनिधित्व करता है, जीवित शरीरों में जीवन से विकसित होता पाया जाता है। इसी प्रकार तथा शिव-शक्ति की इसी आन्तर्निहित उपस्थिति के कारण मनस्, बुद्धि को प्रकट करता है व बुद्धि नैतिक व सौन्दर्यात्मक चेतना को उत्पन्न करती है।

कालदिकाश्रित विकास-प्रक्रिया तब अपनी चरमावस्था में पहुँच जाती है जब व्यष्टि मनों व शरीरों में आध्यात्मिक चेतना जागृत होकर शिव-शक्ति की पारमार्थिक स्वय प्रकाशमयता से आलोकित हो जाती है। शिव-शक्ति की ब्रह्माण्ड व पिण्ड से प्रापचिक आत्माभिव्यक्ति की प्रक्रिया, व्यक्तियों में आनन्दमय आध्यात्मिक चेतना व अस्तित्व के समस्त स्तरो की आध्यात्मिकता व एकता के प्रकट होने पर पूर्ण हो जाती है और इसकी सिद्धि तत्वज्ञानालोकित योगियों के जीवन में होती है।

इसी प्रकार एक सिद्ध योगी के तत्वज्ञानालोकित आध्यात्मिक अनुभव के समस्त सजीव व निर्जीव, चेतन व अचेतन, तार्किक व अतार्किक रूप में मौलिक तथा अभेद्य अन्तर नही है। वे शिव-शक्ति की प्रापंचिक आत्माभिव्यक्तियों के केवल विभिन्नस्तर है। अस्तित्व के विभिन्न स्तर एक ही परमात्मा के प्रापंचिक रूपाकारों के केवल विभिन्न प्रकार हैं। एक ही परमात्मा अपनी असीम आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा इन समस्त विभिन्नताओं के रूप में प्रकट होकर उनके माध्यम से क्रीड़ा करता है। वह सर्वात्मा, सर्वसंचालक, सर्वज्ञ, सर्वभोक्ता तथा सर्वोपरि है। परमात्मा और उसके विभिन्न रूप मूलतः अभिन्न है। शरीर आत्मा से भिन्न नही है। उसके समस्त रूपाकार उसकी प्रापंचिक आत्माभिव्यक्तियाँ हैं। वह इन प्रापंचिक शरीरों के स्वामी व आत्मा के रूप मे पारमार्थिक है। समस्त प्रकार के रूपाकार जिनमें वह स्वय को प्रकट कर ब्रह्माण्ड जीता करता है, गुण व शक्ति में सीमित तथा काल-दिकाश्रित होते है, जब कि, वह उनकी आत्मा, समस्त सीमाओं, सापेक्षताओं, रूपान्तरों व परिवर्तनों से परे है। तत्वज्ञानालोकित योगी, अपनी आलोकित आध्यात्मिक चेतना में, समस्त अस्तित्वों के समस्त स्तरों के अन्तर्गत, नाना रूपों में एक ही आत्मा, नाना प्रपचों में प्रकट एक ही पारमार्थिक सत्ता, दिक्कालवद्ध नाना प्रपंचाभासों में दिक्कालोपरि एक ही परमात्मा का अनुभव करता है। उसके लिये काल और दिक् की सत्ता परमात्मा की प्रापंचिक आत्माभिव्यक्तियों के सम्बन्ध तक ही सीमित है। परमात्मा स्वयं दिक्काल रहित है। वह काल में कालातीत का, दिक् मे दिशातीत का, समस्त परिवर्तनों में अपरिवर्तनीय का, समस्त ससीमों में असीम का दर्शन करता है।

इस प्रकार एक योगी के लिये इस ऐन्द्रिक जगत में प्राण का विकास, निर्जीव प्रतीत होने वाले पुद्गल से, मनस् के विकास से, उच्चतर अस्तित्व-स्तरों का निष्क्रमण निम्न प्रतीत होनेवाले अस्तित्व स्तरों से होना, कोई चमत्कार या अगम्य दृश्य नहीं है। जो हमारे अतीन्द्रिय व अतिमानसिक अनुभव-स्तर में अपना चरम स्वरूप प्रकट करता है, वही प्रापचिक अस्तित्वों के समस्त स्तरों में अन्तर्यामी आत्मा के रूप में निहित रहकर उन्हें उच्चतर स्तरों पर उठाकर स्वयं को उनसे अधिकाधिक व्यक्त करता रहता हैं। आत्म-चेतन स्वय-प्रकाशित आत्मा, अपनी स्वयं सक्रिय शक्ति-सहित, प्रापंचिक रूप में पुद्गल से अधिक प्राण मे,

वनस्पति से अधिक पशु-मन मे, इनसे अधिक मानव मन व बुद्धि में, इनसे भ अधिक मानव की नैतिक, सौन्दर्यात्मक व धार्मिक चेतना में व्यक्त होता है। इस प्रापचिक ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे वह स्तर अपेक्षाकृत उच्चतर समझा जाता है, जिसमें आत्मा का तात्विक रूप तुलनात्मक रूप से अधिक प्रकट रहता है। आज के युग में जिसे विकास कहा जाता है, वह परमात्मा की प्रापचिक आत्माभिव्यक्तियों मे उसको (जो समस्त अस्तित्व स्तरों मे निहित है) अधिकाधिक अनावृत करने की अभीप्सा है। किन्तु आत्मावरण और आत्मोद्घाटन दोनों ही ब्रह्माण्ड-लीला में समान रूप से महत्वपूर्ण है।

योगानुशासन के मार्ग के सत्यान्वेषी का लक्ष्य स्वाभाविक (अथवा दैवी) विकास-प्रक्रिया मे विकसित कर्म, इच्छा व विचार के सापेक्ष्य तथा सीमित स्वातन्त्र्य को समुचित प्रणाली व कुशलता से अनुशासित करना है, जिससे परमात्मा (शक्ति-संयुक्त) की प्रापचिक आत्माभिव्यक्तियो के प्रत्येक स्तर के आवरण को दूर कर, प्रापचिक अस्तित्वों के समस्त स्तरों भौतिक, जैविक, मानसिक, बौद्धिक आदि में शिव-शक्ति की आनन्दमय क्रीड़ा का साक्षात् अनुभव किया जा सके। ये आवरण किसी वाह्य शक्ति द्वारा परमात्मा पर आरोपित नही किये गये है। ये रूप जो परमात्मा के मूल स्वरूप को आवृत कर लेते हैं, किसी प्रकृति अथवा माया (परमात्मा से अनिवर्चनीय रूप में सम्बन्धित) जैसे विदेशी तत्व द्वारा निर्मित नहीं है। न ही उन्हें केवल सीमित मानव मनस् के समक्ष प्रकट होने का भ्रामक अस्तित्व मान सकते है, क्योंकि वे स्वयं उनकी रचनाये है और इसलिये उन्हें पहले रहना चाहिये। आत्मन् ही एकमात्र चरम सत्ता है, अतएव प्रापंचिक अस्तित्वों के समस्त स्तरों में प्रकट होने वाले परमात्मा के समस्त रूप, समस्त प्रकार के आवरण, जिनमें वह स्वय को इस ब्रह्माण्ड-प्रक्रिया में छिपाये रहता है—अनिवार्यत: उसी की मुक्त आत्माभिव्यक्तियाँ होने है और इस प्रकार वे मूलत आध्यात्मिक है। अत: तत्वज्ञानालोकित व्यक्ति के लिये पुद्गल, जीवन, मनस् इत्यादि—प्रापचिक सत्ताओ के समस्त स्तर—मूलत: आध्यात्मिक सत्ताये हैं। शरीर भी आत्मा से कम आध्यात्मिक नही है। योगी का लक्ष्य एक आत्मा को समस्त प्रकार के शरीरो मे देखना व समस्त प्रापचिक सत्ताओं के मौलिक आध्यात्मिक स्वरूप को पहचानना है। इसे पिण्डों प्रापचिक सत्ताओं तथा ब्रह्माण्ड-व्यवस्था का सच्चा ज्ञान माना जाता है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से सांसारिक विकास की श्रेष्ठतम उपज —वाह्य व आन्तरिक इन्द्रियों तथा मानसिक व बौद्धिक योग्यताओं के उचित विकास से युक्त सजीव मानव शरीर मे—योगी सर्वप्रथम परमात्मा को (निज शक्ति-सयुक्त) खोजने का प्रयास करता है। वह नैतिक व आध्यात्मिक अनुशासन के मार्ग का विधिपूर्वक अनुसरण कर अपनी व्यावहारिक चेतना को तत्वज्ञानालोकित कर अपने सम्पूर्ण शरीर में शिव-शक्ति का अनुभव करने का प्रयास करता है। वह अपने मानसिक-भौतिक शरीर को एक आध्यात्मिक शरीर के रूप में अनुभव

करना चाहता है। वह अपने भौतिक, जैविक, मानसिक अगों के विभिन्न क्रिया-कलापों को अनुभव के विभिन्न स्तरों में शिव-शक्ति के आत्मविलास व आत्मोद्घाटन के विशिष्ट रूपों में देखना चाहता है। भौतिक, शारीरिक व मानसिक धारणाये शनैः शनैः उसकी चेतना में आध्यात्मिक धारणाओ मे परिणत हो जाती हैं, शरीर के विभिन्न केन्द्र आध्यात्मिक आनन्द व अनुभव के विभिन्न सक्रिय केन्द्रों के रूप में प्रकट हो जाते है। विभिन्न केन्द्रो में विशिष्ट प्रकार की समाधियो के द्वारा वह अपने शरीर व मन में सामान्यतः सुप्त व गुप्त चमत्कारी शक्तियों व विभूतियों की जानकारी प्राप्त करता है। ये शक्तियाँ विशिष्ट जैविक व मानसिक केन्द्रों के आध्यात्मिक उद्घाटन के परिणामस्वरूप उसमें विकसित हो जाती है। शरीर का आध्यात्मिक स्वरूप प्रकट हो जाता है।

इसी प्रकार एक योगी गुरु अपने शिष्यों को शरीर-रचना व प्रमुख शारीरिक केन्द्रों के विषय में उपदेश देते हुये, आध्यात्मिक दृष्टिकोण से उनके महत्व के प्रति उनका ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करता है और यह बताने का विशेष ध्यान रखता है कि किस प्रकार उनके अनुशासन, नियंत्रण व उनके आध्यात्मिक अंगों पर ध्यान एकाग्र करने से महानतम आध्यात्मिक लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। शिष्यों को शरीर के अन्दर चक्रों, आधारों, नाड़ियों, स्नायुओं आदि के स्वरूप का व्यावहारिक परिचय प्राप्त करने का आदेश दिया जाता है। योग-ग्रन्थों में शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक दृष्टिकोणों से उनका वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अधिक बल उन उपायों व साधनों पर दिया गया है, जिनसे इन्हें निज-इच्छा-वश उच्च मानसिक शक्तियों के विकास, असाधारण ज्ञान-प्राप्ति, आध्यात्मिक चेतना व आनन्द के उच्चतर स्तरों पर उठकर अधिकाधिक तत्व-ज्ञानालोकित आध्यात्मिक अनुभवों की प्राप्ति का कुशल साधन बनाया जा सके।

ठीक जैसे कुशल वैज्ञानिक बाह्य जगत के सामान्यतः अदृश्य, भौतिक, रासायनिक, वैद्युत, जैविक व अन्य दृश्यों को समझने के लिये विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म यंत्रों का आविष्कार करते तथा भौतिक शरीरों, पेड़-पौधों, पशु-शरीरों, मानव-शरीरों आदि के ढांचे व संरचना के गम्भीर अध्ययन के लिये विभिन्न प्रकार की प्रयोगात्मक प्रणालियां अपनाते है, उसी प्रकार विभिन्न युगों के कुशल योगी अपने शरीरों के अन्तर्गत विभिन्न तत्वों के सूक्ष्म संचालन का गहन परिचय प्राप्त करने व उन्हें वश में करने के लिये विभिन्न आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध, भेद, नेति, धोति आदि प्रक्रियाओं तथा प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के विभिन्न प्रकारों का अविष्कार करते रहे हैं। शरीर के आन्तरिक ढाँचे व इसके विभिन्न अंगों में निहित केन्द्रों के महत्व व सम्बन्ध का तथा आध्यात्मिक आदर्श व आध्यात्मिक शक्ति का जो ज्ञान योग की इन प्रक्रियाओं के गहन अभ्यास से प्राप्त होता है, वह किसी अन्य वैज्ञानिक प्रक्रिया से प्राप्त होना असम्भव है। योग-विज्ञान विशिष्ट निरीक्षण व प्रयोग पर आधारित एक विशिष्ट विज्ञान है।

यह साधक को जीवित मानव-शरीर के अन्तरतम रहस्यो में प्रवेश करने तथा शरीर के सम्पूर्ण अगो पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त करने योग्य बना देता है। यह इस शरीर के अगों की ऐसी योग्यताओ का प्रदर्शन करता है, जिन्हे साधारणतया दिव्य या अपाकृत माना जाता है। यह पुद्गल और आत्मा मौलिक भेद के विषय मे बद्धमूल धारणा को नष्ट कर यह दर्शाता है कि किस प्रकार आत्मा भौतिक बन जाती है व पुद्गल आध्यात्मिक हो जाता है। यह मनुष्य को ससीम शरीर मे असीम के दर्शन करने योग्य बना देता है।

जैसे-जैसे योग-विज्ञानी उच्चातिउच्च आधारों व चक्रो की ओर अपनी मानसिक-जैविक शक्ति को व्यवस्थित रूप से उठाता है तथा वहां प्रकट उच्चतर आध्यात्मिक सत्यों पर अपनी चेतना को एकाग्र करता है, वैसे-वैसे व्यष्टि-शरीर उसको शुद्ध चेतना के समक्ष काल-दिकादिक सीमाओं के दोषों व स्थूलता के भौतिक स्तर से ऊपर उठता हुआ तथा अधिकाधिक तेजस्वी रूप में आन्तरिक आध्यात्मिक स्वरूप को प्रकट करता हुआ प्रतीत होता है। ठीक जैसे आधुनिक भौतिक विज्ञान ने अणु का विखण्डन कर उसे शक्ति का एक रूप सिद्ध कर दिया है, उसी प्रकार यह प्राचीन योग-विज्ञान अध्यात्म जिज्ञासु को अपने शरीर को अभौतिक बनाने तथा उसे अनन्त शक्तियों व आध्यात्मिक सिद्धियों के संस्थान—एक आध्यात्मिक शरीर में रूपान्तरित करने योग्य बना देता है।

काल-दिकाश्रित हमारे सामान्य अनुभव में—अंगों व अशों में एक ही पूर्ण के विभिन्न खण्डों में, सूक्ष्म सीमित व्यष्टि-शरीर और असीम विशाल ब्रह्माण्ड में तथा असख्य व्यष्टि-शरीरों मे—भेद बिल्कुल स्वाभाविक व अपरिहार्य हैं। पुद्गल-जीवन, मनस् तथा आत्मा मे भेद भी अलंघनीय प्रतीत होते है। ऐन्द्रिक अनुभव व इन्द्रिय प्रभावित विचार में हम इन भेदों को कभी पार नही कर सकते, किन्तु जैसे हमारे अनुभव व विचार उच्चतर स्तरो पर पहुँचते है, ये भेद शनैः शनैः अपना महत्व खो देते है तथा उनकी मौलिक एकता अधिकाधिक स्पष्ट, आवरणहीन होती जाती है। जब व्यावहारिक चेतना यथेष्ट शुद्ध व आलोकित हो जाती है, तब पूर्ण का प्रत्येक अश में अनुभव किया जाता है, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-व्यवस्था प्रत्येक व्यष्टि-पिण्ड में अनुभव की जाती है तथा समस्त व्यष्टि-शरीरों की मौलिक एकता स्पष्टतया प्रकट हो जाती है।

यह अनुभव शरीर मन, इन्द्रियों व बुद्धि के व्यवस्थित योगानुशासन तथा परमात्मा (शक्ति-सयुक्त), जो स्वय को जगत् व व्यावहारिक अस्तित्वों के समस्त रूपों में व्यक्त करता है, पर ध्यान को गहन रूप से एकाग्र करने पर प्राप्त किया जाता है। पुद्गल, जीवन, मनस् व आत्मा में भेद भी परमात्मा की व्यावहारिक आत्माभिव्यक्तियों के केवल बाह्य रूपों के ही भेद प्रतीत होते है। परमात्मा की एकता प्रापंचिक, अस्थायी, सापेक्ष, बाधित व व्युत्पन्न अस्तित्वों के विभिन्न रूपों में समायी रहती है। एक सब मे लक्षित होने लगता है। योगी को अपनी तत्वज्ञानालोकित आध्यात्मिक चेतना मे समस्त प्रकार की सीमाओं में तथा उनके

माध्यम से अनन्त, शाश्वत सत्ता का साक्षात् अनुभव प्राप्त होता है। उसकी दृष्टि वस्तुओं के धरातल का ही स्पर्श करके नहीं लौट जाती, जैसा कि समस्त सामान्य अनुभवों (वैज्ञानिक निरीक्षण व परीक्षणों) मे भी होता है, वरन् समस्त वस्तुओं की आत्मा में प्रवेश करती है। बाह्य धरातलों के भेद, सत्ता की एकता में उनकी दृष्टि के लिये बाधक नही होते।

गोरखनाथ कहते है :—

पिण्ड मध्ये चराचरं यो जानाति स योगी पिण्ड सम्वितिर्भवति।

जो योगी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-व्यवस्था को व्यष्टि-शरीर के अन्तर्गत अनुभव करता है, वह शरीर का सच्चा ज्ञाता है। इस प्रकार व्यष्टि-शरीर का पूर्ण एवं चरम ज्ञान कालदिकादिक सीमाओं से ऊपर उठकर इसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से तदाकार करने में निहित है। इस व्यष्टि-शरीर का सम्पूर्ण सत्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रकट है तथा मानव शरीर का वास्तविक गौरव शिव के इस अनन्त-विभिन्नतायुक्त व्यवस्थित ब्रह्माण्ड-शरीर की उपस्थिति अपने में देखने में निहित है। इस सीमित व परिवर्तनशील शरीर में, व्यावहारिक रूप से अनन्त शाश्वत ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के दर्शन किये जा सकते हैं, पिण्ड में ब्रह्माण्ड के दर्शन किये जा सकते हैं। जब योग दृष्टि प्राप्त हो जाती है, व्यक्ति स्वय को विराट् पुरुष या विश्वरूप अनुभव करने लगता है और समस्त लोकों तथा प्रापंचिक सत्ताओं के समस्त स्तरों को अपनी सार्वभौम चेतना से आलोकित पाता है। जिस प्रकार व्यक्ति अनुभव के निम्न स्तरों पर अपने मानसिक-भौतिक शरीर के समस्त आन्तरिक व बाह्य दृश्यों को निज आत्मा की वैविध्यपूर्ण अभिव्यक्तियों के रूप में अनुभव करता है, उसी प्रकार योगी अनुभव के उच्चतर आध्यात्मिक स्तरों पर समस्त ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के समस्त दृश्यो का अनुभव निज ब्रह्माण्डात्मा की विविधात्मक अभिव्यक्तियों के रूप में करता है। व्यष्टि-शरीर का ब्रह्माण्ड से पूर्ण समायोजन ही नही होता, वरन् एक दूसरे की पूर्ण आध्यात्मिक एकता स्थापित हो जाती है। जैसा कि योगीश्वर श्रीकृष्ण गीता में घोषणा करते हैं :—

'आत्मानं सर्वभूतेषु सर्वभूतानि चात्मनि

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः।'

एक व्यक्ति जिसे सच्चा योगानुभव प्राप्त हो चुका है, वह स्वयं को सब भूतों में व समस्त भूतों को स्वयं में देखता है और इस प्रकार सर्वत्र विभिन्नताओं में समदर्शी हो जाता है।

शिव-संहिता में, जो योग का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है, योगेश्वर शिव माता पार्वती के समक्ष व्यष्टि-शरीर के ब्रह्माण्ड-स्वरूप के विषय में भव्य वर्णन प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि तत्व ज्ञानालोकित योगी समस्त लोकों, समस्त सूर्यों तारागण, ग्रहों व नक्षत्रों, समस्त देवों, असुरों, राक्षसों, समस्त ऋषियों, मुनियों,

सिद्धों तथा गन्धर्वो, समस्त मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों व जलचर-थलचर आदि, जो कुछ विराट् पुरुष के ब्रह्माण्ड-शरीर में विद्यमान होता है, अपने शरीर के अन्तर्गत अनुभव कर सकता है।

पिण्ड सम्वित्ति का विवेचन करते हुये 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' समस्त ब्रह्माण्ड की पिण्ड में उपस्थिति का व्यापक रूप मे वर्णन प्रस्तुत करती है। कूर्म जो शिव-शक्ति की आत्माभिव्यक्ति का एक विशिष्ट रूप है तथा ब्रह्माण्ड-शरीर के नीचे उसे सहारा दिये हुये है, तत्वज्ञानालोकित योगी द्वारा अपने पैर के नीचे तथा अपने शरीर को सहारा देता हुआ देखा जाता है। नीचे के सात लोक—पाताल, तलातल, महातल, रसातल, सुतल, वितल और अतल—शरीर के पैर के अगूठे से जंघा तक के निम्नवर्ती भागों को निर्मित करने वाले देखे जाते हैं। रुद्र को सप्त-पातालों का अधिष्ठाता व शासक कहा गया है। वह शिव-शक्ति की विशिष्ट आत्माभिव्यक्ति है। उसे कालाग्निरुद्र भी कहा जाता है। यह रुद्र व्यष्टि-शरीर में क्रोध के रूप में निवास करता है।

त्रिलोक—भूः, भुवः, स्व—क्रमशः गुह्यस्थान, लिंगस्थान और नाभिस्थान में स्थित है। इन्द्र, शिव-शक्ति की एक अन्य गौरवपूर्ण आत्माभिव्यक्ति को इन लोगों का शासक माना जाता है और उसे व्यष्टि शरीर तथा इन्द्रियों का भी स्वामी माना गया है।

इसी प्रकार चार उच्च लोक—महः, जनः, तपः, सत्य—व्यष्टि शरीर में सुषुम्ना के उच्चतर क्षेत्रों में स्थित माने गये हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति समाधि के उच्चतर स्तरों पर उठकर शरीर के अन्तरतम तत्व मे अधिकाधिक गहराई से प्रवेश करता जाता है, वह इन उच्च लोकों (सूक्ष्मातिसूक्ष्म जगतों) को अपने अन्दर अनुभव करता जाता है। ब्रह्मा तथा अन्य महान् गौरवपूर्ण देवता, जो सब शिव-शक्ति की पूजनीय आत्माभिव्यक्तियाँ है तथा जो इन लोकों पर शासन करते है भी इस शरीर के शासक व निवासियों के रूप मे देखे जाते हैं।

इसके अतिरिक्त गोरखनाथ ने विष्णुलोक, रुद्रलोक, ईश्वरलोक, नीलकण्ठ-लोक, शिवलोक, भैरवलोक, अनादिलोक, कुललोक, अकुललोक, परब्रह्मलोक, परापरलोक व शक्तिलोक, जो अपने नाम के अनुरूप देवताओ से युक्त हैं, का वर्णन किया है। ये समस्त लोक परमात्मा के ब्रह्माण्ड-शरीर के अन्तर्गत व्याव-हारिक अस्तित्वों के विभिन्न स्तरों के रूप में माने गये है। ये उच्चलोक सामान्य तथा असामान्य इन्द्रियानुभवों के क्षेत्रों के ऊपर है तथा उनमे से कुछ तो हमारी साधारण मानसिक व बौद्धिक धारणाओं के क्षेत्र के भी ऊपर है। किन्तु जब वैयक्तिक व्यावहारिक चेतना तत्वज्ञानालोकित हो जाती है तथा योग्य गुरुओ के उपदेशों के अनुरूप समुचित ध्यान-धारणा-समाधि के द्वारा योगानुभव प्राप्ति की योग्यता उचित विकसित हो जाती है, चेतना आन्तरिक रूप से उन

स्तरों पर उठ सकती है तथा शरीर के अन्तर्गत उन स्तरों के सत्यो का स्पष्ट अनुभव प्राप्त हो जाता है।

तत्वज्ञानालोकित योगी इन देवताओं का ब्रह्माण्ड-शरीर की आत्मा, शिव की आत्माभिव्यक्तियो के रूप में विशिष्ट आध्यात्मिक लक्षणोवाले तथा इन लोकों के स्वामी व अन्तर्यामी के रूप मे दर्शन करते है। शिव स्वय को अपने ब्रह्माण्ड-शरीर के इन विभिन्न लोको की विभिन्न दिव्य विभूतियों के रूप में प्रकट कर विलास करते है। एक स्तर पर वे (शिव) पूर्ण शान्त व स्थिर, हर्ष-शोक-रहित, निर्विकार प्रतीत होते है, तो दूसरे लोक मे वे आन्दोलनमयी क्रियाओं की लहरों से घिरे हुये सदा सक्रिय प्रतीत होते हैं, अन्य लोक में वे कठोर न्यायकर्ता प्रतीत होते है, अन्य सदा प्रसन्न देव अपनी प्रसन्नता की किरणों को चारों दिशाओ में बिखेरते प्रतीत होते है, एक स्तर पर वे शुद्ध निराकार ब्रह्म तो दूसरे स्तर पर सर्व-मंगल-गुण-राशि व्यक्तित्व प्रतीत होते है, एक स्तर पर वे केवल शून्य प्रतीत हो सकते है, तो दूसरे पर पूर्ण आदि। समाधि एव योगी के विभिन्न योगानुभव के स्तरों पर वे स्वय को नितान्त भिन्न-भिन्न रूपो में प्रकट करते है तथा तत्वज्ञानालोकित योगी उनकी समस्त गौरवमय आत्माभिव्यक्तियों को प्रापचिक रूप से सत् स्वीकार कर अपनी धारणा-समाधि में इन समस्त रूपो में उनके (शिव के) दर्शन का आनन्द भोगता है। वस्तुत: योगी इन समस्त लोकों और देवताओं को अपने अन्दर अनुभव करता है। वह अपनी साधारण चेतना की काल-दिकाश्रित सीमाओं से परे उठकर विस्मयकारी विभिन्नताओं से युक्त इस ब्रह्माण्ड को अपने शरीर में देखता व इसका आनन्द भोगता है। गोरखनाथ आगे प्रत्येक व्यक्ति की सर्व-व्यापकता के अपने अनुभव की विषद व्याख्या प्रस्तुत करते हैं कि अन्तिम स्तर पर व्यक्ति और ब्रह्माण्ड में कोई मौलिक भेद नही है। एक तत्वज्ञानालोकित योगी समस्त जातियों, कुलों, वर्गो के स्त्री, पुरुष, बालकों को अपने अन्दर अनुभव करता है अथवा स्वयं को विभिन्न अभिव्यक्तियों के रूप में देखता है। इसीलिये वह घृणा और भय, स्पर्धा व ईर्ष्या, स्वार्थ व कपट, जातिवाद, साम्प्रदायिकता व अन्य सीमाओं से पूर्णतया मुक्त है। अपने व्यावहारिक आचरण में वह सबसे प्रेम व दया करने वाला बन जाता है। वह सप्तद्वीपों, सप्तसमुद्रों, नवखण्डो, आठ महान् पर्वतों, नौ विशाल नदियों तथा उनकी समस्त शाखाओं आदि को अपने शरीर के अन्दर अनुभव करता है। इसी प्रकार सत्ताईस नक्षत्र, बारह ऋषि, नव ग्रह, पंद्रह तिथियाँ, तैंतीस करोड़ देवता, समस्त दानव, यक्ष, पिशाच, भूत और प्रेत, समस्त गन्धर्व, किन्नर किंपुरुष और अप्सराओं—इन सभी को तत्वज्ञानालोकित योगी अपने अन्दर अनुभव करता है। समस्त पेड़, पौधे, वनस्पति आदि भी वह अपने में ही पाता है। स्वर्ग व नरक, बन्धन व मोक्ष—इन सबको भी वह अपने अनुभव की अवस्थाओं के रूप में पाता है।

'एवं सर्वदेशेषु विश्वरूप. परमेश्वरः,
परमात्मा अखण्डस्वभावेन घटे-घटे चित्तस्वरूपी तिष्ठति।'

परमात्मा का यह विश्वरूप योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने भक्त अर्जुन को दिव्य चक्षु देकर अपने शरीर मे दिखलाया था। महायोगी गोरखनाथ कहते हैं कि यह विश्वरूप प्रत्येक व्यष्टि-शरीर (घटे-घटे) मे वस्तुतः विद्यमान रहता है तथा एक पूर्णतया तत्वज्ञानालोकित योगी इसका दर्शन न केवल दिव्यपुरुष श्रीकृष्ण के शरीर में ही कर सकता है, वरन् अपने शरीर तथा दूसरे व्यक्ति के शरीर में भी कर सकता है। परमात्मा द्वारा व्याप्त ब्रह्माण्ड-शरीर प्रत्येक व्यष्टि रूप में अभिव्यक्त है और पूर्ण तथा असख्य अंशो मे भेद अनावश्यक है। जब तक व्यष्टि-चेतना भौतिक-ऐन्द्रिक अनुभव स्तरों पर विचरण करती हैं तथा इनके द्वारा निर्मित आवरणो को दूर नही कर सकती, ये भेद प्रमुख प्रतीत होते हैं, पूर्ण अंशों की ओट में वह विशिष्ट वास्तविक विशेषो मेंअन्तर्निहित एक सामान्य सिद्धान्त के रूप मे वह छिपा रहता हैं। आध्यात्मिक दृष्टि के समक्ष पूर्ण प्रत्येक अंश में स्पष्ट दिखाई देता है, असीम प्रत्येक ससीम में अभिव्यक्त प्रतीत होता है।

●

अध्याय १६

जीवात्मा का स्वरूप

अब तक के विवेचन से यह ज्ञात हो चुका है कि महायोगी गोरखनाथ तथा सिद्ध-सम्प्रदाय के अन्य सिद्ध या तत्वज्ञानालोकित सन्तों के आध्यात्मिक दर्शन तथा दार्शनिक विचार के अनुसार वह अद्वैत पारमार्थिक ब्रह्म शिव है, जो स्वयं से तद्रूप व इच्छामात्र-धर्मा अपनी असीम आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा शाश्वत रूप से स्वयं को अनन्त विभिन्नताओं तथा व्यवस्था से युक्त ब्रह्माण्ड शरीर के रूप में प्रकट कर, इसका एकमात्र अधिष्ठाता और अन्तर्यामी बनकर विलास का रसास्वादन करता है। यह भी देखा जा चुका है कि वही परमात्मा, उसी असीम निजा शक्ति द्वारा, अपने ब्रह्माण्ड-शरीर के अन्तर्गत असख्य लोकों तथा उनके शासक देवताओं के रूप मे भी प्रकट होता है। यह वही शिव है, जो इन समस्त रूपों में विश्वात्मा व ब्रह्माण्ड-शरीरों के आध्यात्मिक अधिष्ठाताओं के रूप में भूमिकायें निभाता है। तीसरे यह भी ज्ञात हो चुका है कि वही परमात्मा अपनी उसी निजा-शक्ति से स्वयं को विभिन्न सीमित व परिवर्तनशील, सरल व क्लिष्ट स्तरों तथा व्यष्टि-शरीरों के रूप में प्रकट करता है तथा उनमें जीवात्माओं के रूप में निवास कर, उन्हें प्रदत्त विभिन्न भूमिकाये निभाता है।

इस प्रकार, तत्वज्ञानालोकित महायोगियों की दृष्टि में इस काल-दिकाश्रित ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में अथवा इसके परे जो कुछ है अथवा जिसका होना सभव है, वह सब कुछ 'शिव-शक्ति' की एक आत्माभिव्यक्ति है और होनी ही चाहिये। महायोगी आत्मा और पुद्गल में कोई मूलभूत अन्तर ही नहीं मानते। पुद्गल या शरीर भी परमात्मा की आत्माभिव्यक्ति का वैसा ही एक रूप है, जैसा कि आत्मा या जीव। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, जो कुछ भी इसमे है या हो सकता है, उसके सहित अपने मूल में आध्यात्मिक है; अपनी तत्वज्ञानालोकित चेतना मे महायोगी इसका वस्तुत: अनुभव करता है। महायोगियों के तत्वाज्ञानालोकित अनुभव के दृष्टिकोण से यह शिव स्वयं है, जो प्रत्येक व्यष्टि-शरीर में, आत्मा के रूप मे निवास करता है। समस्त मानसिक-भौतिक शरीर उनकी (शिव की) विशिष्ट शारीरिक आत्माभिव्यक्तियाँ हैं, और वे प्रत्येक की भिन्न विशेषताओ के साथ एक जीवात्मा की भूमिका निभाते है। वास्तव मे समस्त जीवों का आत्मा शिव हैं।

यद्यपि जीव व शरीर दोनों ही पारमार्थिक परमात्मा की प्रापंचिक आत्माभिव्यक्तियां हैं तथा इस प्रकार एक दूसरे से अभिन्न हैं, तथापि व्यावहारिक

दृष्टिकोंण से दोनो शरीरो मे पर्याप्त अन्तर है। स्पष्टतया जीवन परमात्मा की एक आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है, जब कि शरीर भौतिक अभिव्यक्ति है। शरीर एक सीमित क्लिष्ट भौतिक इकाई प्रतीत होती है, जो दिक् में स्थान घेरती तथा काल मे विभिन्न परिवर्तनो के मध्य आगे बढती है। जीवात्मा काल-दिक् के गुणों से रहित एक सरल, स्वयं प्रकाश्य आध्यात्मिक इकाई प्रतीत होती है। जीवात्मा, यद्यपि व्यष्टि-शरीर से घनिष्ट रूप मे सम्बन्धित होता है, तथापि यह शरीर के किसी विशिष्ट भाग मे निवास नही करता, वरन् इसकी उपस्थिति शरीर के प्रत्येक भाग में अनुभव की जा सकती है; यह सम्पूर्ण शरीर से व शरीर के प्रत्येक भाग से सम्बन्धित है, शरीर चाहे जिस परिवर्तन के बीच से चले इस पर कोई प्रभाव नही पड़ता है। स्वय-प्रकाश्य आत्मा की यह एकरूपता तथा विशिष्टता ही विभिन्न परिवर्तनों, रूपान्तरों, सघटनों व विघटनों में से होकर विकसित होने वाले सगठित शरीर को सापेक्षिक एकता, निरन्तरता व एकरूपता प्रदान करती है। बीज रूप से लेकर आश्चर्यजनक क्लिष्ट शरीर की रचना तक, यही जीवात्मा इस शरीर पर शासन करता है तथा इसे व्यक्तित्व प्रदान करता है।

जीवात्मा शरीर का स्वामी है, वह शरीर के समस्त अंगों के सम्पूर्ण संचालनों का शक्ति-केन्द्र है तथा वे सब इसकी सेवा में तत्पर रहते है। शरीर के समस्त क्रिया-कलाप आन्तरिक रूप से उसके अधिकाधिक आत्म-दर्शन की ओर प्रेरित होते रहते हैं, जो शरीर का आध्यात्मिक स्वामी है। आत्मा के अधिकाधिक आत्मदर्शन से उसमे किसी काल-दिकाश्रित परिवर्तन या रूपान्तर का अभिप्राय नही है, इसका अभिप्राय केवल इतना है कि आत्मा अपने मौलिक आध्यात्मिक स्वरूप पर विभिन्न प्रकार के आवरणो से तथा शरीर व इसके वातावरण के व्यवहार सम्पर्क से, इसकी दिव्यता पर आरोपित सीमाओ व दशाओ से शनैः शनैः मुक्त होती जाती है। आत्मा का कोई आकार या विशिष्ट स्थान नही है, अतः योगी यह विवेचन करना निरर्थक समझते है कि आत्मा क्या 'अणु-परिमाण', 'अगुष्ठपरिमाण', 'मध्यम परिमाण' या 'विभु-परिमाण' है। मूलतः आकाररहित, स्वरूप रहित व घनत्वरहित होने के कारण, आत्मा की समाधि व ध्यान, धारणा के अभ्यास अथवा सांसारिक व्यवहार के उद्देश्य से, किसी भी उपर्युक्त उपाय से देखा या माना जा सकता है।

आत्मा स्थूल भौतिक शरीर से केवल पृथक् ही नही, बल्कि प्राण, मनस्, अहंकार और बुद्धि से भी पृथक् या भिन्न है। वे सब प्रापचिक ब्रह्माण्ड में इसकी आत्माभिव्यक्ति तथा आत्म-दर्शन के कारण, उपाधियाँ एव साधन है। आत्मा उनका केन्द्र, आधार, स्वामी, उन्हें एक सूत्र में बाधनेवाला तथा उनके कार्यो को संयोजित करने वाला है। आत्मा का शुद्ध आध्यात्मिक रूप (प्रापंचिक अभिव्यक्ति में व्यक्तित्वधारी प्रतीत होनेवाला होने पर भी) उन सब से परे तथा सब में निहित व सब से सम्बन्धित भी है। प्राण, मनस्, अहंकार और बुद्धि के समस्त

दृश्य या क्रिया-कलाप आत्मा के लिये घटित होते है और आत्मा उनका निद्रा-रहित द्रष्टा, साक्षी, प्रकाशक और नियन्ता है ।

यह स्मरण रखना चाहिये कि प्राण, मनस्, अहकार और बुद्धि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-व्यवस्था, शिव-शक्ति के प्रापचिक ब्रह्माण्ड-शरीर में अपना अस्तित्व रखते व कार्य करते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्राण, मनस् अहकार तथा बुद्धि से व्याप्त है और तत्वज्ञानालोकित दार्शनिक व योगी ब्रह्माण्ड मे सर्वत्र उनकी अभिव्यक्ति पाते हैं। ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में वे परमात्मा शिव, विश्वात्मा की विराट् प्रापचिक आत्माभिव्यक्तियों से सम्बन्धित तथा उनके कारण है। जीवात्माओ के सम्बन्ध में उनके विशिष्ट कार्य है—प्रत्येक जीवात्मा की आत्माभिव्यक्ति व आत्म-दर्शन के साधन या कारण बनना। यद्यपि वे सब शिवशक्ति की प्रापंचिक आत्माभिव्यक्तियाँ हैं और इस प्रकार मूलत: आध्यात्मिक है, तथापि वे जीवात्मा के सेवक और उससे अधिकृत हैं, जिसमें शुद्ध आत्मा का स्वरूप ठोस रूप में या पूर्णत: स्थिर रहता है (यद्यपि यह विभिन्न उपाधियों से ग्रस्त होता है) तथा जिसमें परमात्मा, शिव के पूर्ण निर्बन्ध स्वय प्रकाश आनन्दमय स्वरूप के दर्शन और आनन्द उपभोग की सहज योग्यता या संभावना उपस्थित रहती है।

इस प्रकार जीवात्मा प्रापंचिक सीमित स्वरूप वाला होते हुये भी एक विशिष्ट स्थान ग्रहण करता है तथा न केवल भौतिक शरीर बल्कि प्राण, मनस्, अहंकार और बुद्धि, जिनका इस जगत्-व्यवस्था में तुलनात्मक (अपना-अपना) महत्व है, से भी मूलत: श्रेष्ठ तथा उनका स्वामी है। इसके अतिरिक्त, आत्मा को नैतिक, सौन्दर्यात्मक तथा आध्यात्मिक चेतना से भी पृथक् करना होगा, यद्यपि उनमें व उनके द्वारा आत्मा अपने को सर्वाधिक गौरवमय प्रापचिक आत्माभिव्यक्तियों के रूप प्रकट करता है। वे भी चाहे कितने ही शुद्ध, उच्च व ज्ञानालोकित ही क्यों न हों, प्रापंचिक चेतनाओं के ही रूप हैं और इस प्रकार आत्मा के स्थान है। आध्यात्मिक चेतना की पूर्ण ज्ञानालोकित अवस्था में आत्मा, परमात्मा शिव से स्वयं का पूर्ण आनन्दमय तादात्म्य अनुभव करती है।

यद्यपि आत्मा भौतिक शरीर, प्राण, मनस्, बुद्धि तथा व्यावहारिक चेतना के समस्त रूपों से मूलत: भिन्न है, तथापि यह साधारणतया स्वय को उनसे तद्रूप कर उनकी परिवर्तनशील विशेषताओं और लक्षणों तथा अवस्थाओ को स्वयं पर आरोपित कर लेती है। वस्तुत: यह समस्त प्रकार की भौतिक, जैविक, मानसिक और बौद्धिक सीमाओं, उत्पत्ति और विनाश, विकास और ह्रास, क्षुधा और पिपासा, आवश्यकताओं और दु:खों, रोगों और दुर्बलताओं, संवेगों और लक्षणों, इच्छाओं, भावों, मोहों, घृणाओं, गुण-अवगुणों, महत्वकांक्षाओं और निराशाओं, त्रुटियों और विभ्रमों, चिन्ताओं और उलझनों इत्यादि से मूलत: मुक्त है। वे समस्त व्यष्टि शरीरों, प्राणों, मनों और बुद्धियों में उनसे सम्बन्धित जीवात्माओं की स्वय-प्रकाशता से प्रकट होते व अनुभव किये जाते हैं, किन्तु आत्मायें वास्तव में उनसे प्रभावित नहीं होतीं, उनका मूल स्वरूप किसी भी तरह उनसे

दूषित नहीं होता। शिव-शक्ति के इस प्रापंचिक ब्रह्माण्ड-विलास में साधारणतया वे जीवात्माओं के लक्षण बतलाये जाते है, अतएव उन्हें उनसे प्रभावित माना जाता है। अनेक मतों के दार्शनिक साधारणतया इसे अविद्या कहते है।

योगी-सम्प्रदाय के अनुसार अविद्या को एक ऐसी रहस्यमय शक्ति, परमात्मा से पृथक् तथा अनिवर्चनीय रूप से उसके पारमार्थिक स्वरूप को आवृत करने वाली नही मानना चाहिये, जो अनेकानेक प्रतीयमान शरीरो मे अनेकानेक प्रतीयमान जीवात्माओं प्राणो, मनों, बुद्धियों को एक मिथ्या जगत में प्रतीयमान अस्तित्वों व अनुभवों के स्तरो के रूप में प्रकट कर परमात्मा का मिथ्या रूप प्रस्तुत करती है। इस प्रकार यह मत अद्वैत वेदान्तियों के अनिवर्चनीय अविद्या या मायावाद को प्रापंचिक ब्रह्माण्ड-व्यवस्था और इसके अन्तर्गत जीवात्माओं के स्वरूप की व्याख्या करने के हेतु स्वीकार नही करता। न यह अविद्या के बारे मे बौद्धमत की व्यवस्था ही स्वीकार करता है, जिसके अनुसार सामान्य मानवीय अनुभव के संसार-चक्र का मूल कारण अविद्या है। यह व्याख्या बाह्य जगत् एवं स्थायी जीवात्माओं को मिथ्या बताती है तथा इस व्यावहारिक जगत् के आधार-स्वरूप परमात्मा का निषेध कर देती है। कुछ बौद्ध मतों द्वारा अविद्या को जो ब्रह्माण्ड विषयक महत्व प्रदान किया गया है, वह इस सर्व-विनाशक सिद्धान्त मे परिणत होता है कि यह गौरवपूर्ण, संयोजित, आश्चर्यजनक नियमों, श्रेष्ठ व्यवस्थाओं तथा अनुशासनों से पूर्ण जगत्-व्यवस्था एक नित्य परिवर्तनशील मिथ्या प्रतीति है, जिसका कोई वास्तविक स्थायी कारण, आधार या सत्ता नही है। सिद्ध-योगी-सम्प्रदाय के लिये यह दृष्टिकोण अमान्य है। अविद्या विषयक सांख्यदर्शन का मत है कि यह दो स्वतंत्र तत्वों. पुरुष व प्रकृति अथवा शुद्ध चेतन व अचेतन के बीच अविवेक का अवर्णनीय कारण है, जो सतोषप्रद नही है। तथापि यह (सिद्ध-योगी-सप्रदाय) शिव-शक्ति की इस प्रापंचिक विराट् आत्माभिव्यक्ति तथा व्यष्टिगत आत्माभिव्यक्ति मे अविद्या को एक यथार्थ दृश्य के रूप में स्वीकार कर लेता है।

सिद्ध-योगी के दृष्टिकोण में अविद्या विद्या की ही भाति शिव या ब्रह्म की अभिन्न स्वतत्र इच्छा-शक्ति की प्रापचिक आत्माभिव्यक्ति का एक आवश्यक आनन्दमय दृश्य है। जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है, चरम सत्ता यद्यपि स्वयं पारमार्थिक, दिक्कालादि से परे मूलतः सच्चिदानन्द-स्वरूप है तथापि वह स्वयं में स्वतत्र निजी इच्छा-शक्ति से युक्त है, जो असख्य स्तरों के प्रापचिक अस्तित्वों, प्रापचिक चेतनाओ और काल, दिक्, कारणत्व तथा सापेक्षिकता की सीमाओ व दशाओं मे बद्ध असंख्य प्रापंचिक सुख-दुखों के स्तरों मे आत्माभिव्यक्त होती है। योगी-सम्प्रदाय के दृष्टिकोण में चरम सत्, चरम चित्, चरम आनन्द की धारणा अपने आप इस स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति को प्रकट करती है। निरपेक्ष चरम और पारमार्थिक का तात्पर्य सापेक्ष और व्यावहारिक का निषेध या विरोध नहीं होता। वरन् दूसरी ओर इसका तात्पर्य है—समस्त सापेक्षिक और प्रापंचिक

सत्ताओं का स्वय में सामरस्य एव अभिन्नत्व। इसका अर्थ है ब्रह्म की स्वय को अपने अन्तर्गत नाना सापेक्षिक व प्रापचिक सत्ताओं, अनुभवस्तरो में व्यक्त कर, उनके अन्तर्यामी व शासक के रूप में विलास करने को तथा अन्त में पुन: उन सब को अपने पारमार्थिक अद्वैत रूप मे विलीन कर डालने की पूर्ण स्वतन्त्रता।

स्वय को प्रापचिक स्तरों पर प्रकट करने की इस स्वतन्त्रता व शक्ति तथा प्रापंचिक और पारमार्थिक अस्तित्व तथा अनुभव स्तरों को एकीकृत व सम्बन्धित करने की इस स्वतन्त्रता व शक्ति के बिना ब्रह्म वास्तव मे पारमार्थिक नही हो सकता। वह अनन्त जो सान्तों या सीमितों को निष्कासित कर देता है, यथार्थ रूप में वास्तविक अनन्त नही हो सकता। वह शाश्वत जो समस्त अस्थायी वस्तुओं को निष्कासित करता हो अथवा जो केवल आदि-अन्त-रहित ही हो, तात्विक दृष्टि से वास्तविक शाश्वत नहीं है। सच्चे अनन्त व शाश्वत को काल-दिक् से परे होते हुये भी समस्त काल-दिकाश्रित प्रापचिक सत्ताओं के रूप में प्रकट होने तथा उनका अन्तर्यामी होने की योग्यता रखनी चाहिये। इस प्रकार चरम सत्ता या परमात्मा की सच्ची व समुचित धारणा यह होनी चाहिये कि वे पारमार्थिक व प्रापंचिक दोनों हैं, शाश्वत रूप में काल-दिक्-सापेक्षिकता के परे है तथा शाश्वत रूप से स्वयं को सीमित, प्रापंचिक आत्माभिव्यक्तियों के अनन्त स्तरों में अभिव्यक्त कर विलास करते है।

अस्तु, अद्वैत पारमार्थिक तथा सक्रिय परमात्मा की नाना आकारों में आत्माभिव्यक्ति व विलास इसके पारमार्थिक अद्वैत स्वय-प्रकाश स्वरूप के आपेक्षिक प्रकाश तथा आपेक्षिक आवरण की ओर संकेत करता है: बिना स्वय-निर्मित आपेक्षिक आवरण के परमात्मा की कोई प्रापचिक आत्माभिव्यक्ति तथा आत्म-विभाजन संभव ही नहीं है। केवल आत्म-आवरण के विभिन्न स्तरों के द्वारा ही आत्म-उद्घाटन, आत्म-दर्शन, आत्मानुभव तथा आत्म-विश्वास के विभिन्न रूप हो सकते है। परमात्मा के स्वरूप मे निहित स्वतंत्र शक्ति को, जो परमात्मा को अनन्त विभिन्नतायुक्त रूपों में उसकी प्रापचिक आत्माभिव्यक्ति व आत्म-विलास के लिये प्रकट करती है, प्रकाश व आवरण-शक्ति—दोनों ही मानना होगा। इसे आत्मा के प्रसार व सकोच या संहार की शक्ति भी मानना होगा।

इस प्रकार शिव की स्वतंत्र निजा शक्ति के दो शाश्वत रूप उसकी प्रापंचिक अभिव्यक्नि में प्रतीत होते है और उन्हें विद्या तथा अविद्या कह सकते है। इस प्रापचिक ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में परमात्मा के पारमार्थिक आनन्दमय स्वरूप को प्रकट करने वाली शक्ति विद्या कहलाती है तथा परमात्मा का प्रापंचिक विभिन्नताओ के आवरण से विक्षेप करने वाली शक्ति अविद्या मानी जाती है। चरमसत्ता, परमात्मा के स्वरूप में निहित अभिन्न शक्ति के विद्या और अविद्या दोनों यथार्थ अंग है। उनमें किसी एक की भी अनुपस्थिति से परमात्मा की प्रापंचिक आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मानुभव एवं परमात्मा द्वारा अपने

पारमार्थिक स्वरूप मे निहित अनन्त सौन्दर्य, शुभता, महिमा तथा महानता का अनुभव व भोग सभव न होते।

इसी प्रकार शिव की स्वतन्त्रा निजा शक्ति के, उसकी प्रापंचिक अभिव्यक्ति के अन्तर्गत वाह्यरूप से दो पक्ष होते है, जिन्हे गोरखनाथ तथा योगी सम्प्रदाय प्रकाश और विमर्श नाम प्रदान करते है। विमर्श शब्द का सामान्य अर्थ मत्रणा या गहन विचार लिया जाता है। ऐसा लगता है मानो परमात्मा अपनी शाश्वत तथा पूर्ण प्रकृति में निहित अनन्त सामग्रियो पर विचार कर रहे है। वह उन्हे निज चेतना के समय वस्तु रूप प्रदान कर रहे है। उन्हे अपने विषय में गहन विचारपूर्वक आत्मान्वेषण की प्रक्रिया मे लवलीन कहा जा सकता है। उनके स्वरूप का यह व्यावहारिक पक्ष है। उनके स्वरूप के पारमार्थिक पक्ष मे वह पूर्णतया एक है, उनके चरम सत् और चित् मे कोई भेद नही, उनके स्वभाव में कोई द्वैत और सापेक्षिकता नही, यहा यह चरम अनुभव की अवस्था मे है, जिसमें स्व-निर्मित ज्ञात-ज्ञेय का कोई भेद नही है। इस अनुभव स्तर पर चरम सत्ता या परमात्मा को आत्म-चेतन भी नही कहा जा सकता, क्योंकि आत्म-चेतना का जो अर्थ हम समझते है, उसमें ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध होता ही है : पूर्ण प्रकाश में चेतना की ऐसी कोई आपेक्षिकता नही हो सकती और इस प्रकार व्यावहारिक रूप में ऐसी कोई आत्म-चेतनता नहीं है।

परमात्मा की शक्ति का 'विमर्श-पक्ष' उसे व्यावहारिक स्तर पर आत्म-चेतन बना देता है। इसलिये विमर्श-शक्ति को उसकी (शिव) आत्म-चेतनता या आत्मोद्घाटन की शक्ति माना गया है : इस शक्ति के द्वारा परमात्मा अद्वैत पारमार्थिकपूर्ण या निरपेक्ष चैतन्य के स्तर से नीचे उतरकर स्वय को व्यावहारिक रूप में ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत में विभाजित कर लेता है, जिससे आत्म-चेतनता को वस्तुगतरूप से देख सके। परमात्मा की यह वस्तुगत आत्म-चेतना है, जो विभिन्न स्तरों के भोक्ता व भोग्य पदार्थो के रूप में उसकी प्रापचिक सृष्टि प्रतीत होती है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड काल, दिक्, कारणत्व और सापेक्षिकता का जगत्, सीमित परिवर्तनशील अस्तित्वों का जगत्, हर्ष और विषाद, प्रेम और घृणा सफलता और असफलता, मित्रता और शत्रुता आदि का जगत्—परमात्मा का स्वय को वस्तुगत रूप से देखने के अतिरिक्त अन्य कुछ नही। उनका वस्तुगत आत्म-विमर्श काल-दिकाश्रित व्यवस्था के अन्तर्गत व्यावहारिक सत्ताओं के विभिन्न स्तरों की उत्पत्ति, स्थिति और लय है। उनकी विमर्श-शक्ति इस प्रकार उनकी आत्मविभाजन की शक्ति प्रतीत होती है तथा इसी कारण इसे उनकी (शिव) माया-शक्ति कहा जाता है।

'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' के चौथे अध्याय में परमात्मा शिव की प्रकाश-शक्ति और विमर्श-शक्ति के स्वरूप का विवेचन करने के बाद, महायोगी गोरखनाथ प्रश्न में कहते है :—

'किमुक्तं भवति परापरविमर्सरूपिणी
सम्वित् नानाशक्तिरूपेण निखिलपिण्डाधरत्वेन् वर्तते ।'

अब तक यह कहा जा चुका है कि एक स्वयं-प्रकाश संवित् स्वयं को परविमर्श-शक्ति और अपर-विमर्श-शक्ति के रूप में प्रकट करती है तथा स्वयं को व्यावहारिक जगत् में विभिन्न स्तरो व विभिन्न व्यावहारिक शक्तियो के रूप में व्यक्त करती है और उन सबके तथा जगत् में असंख्य पिण्डो (व्यष्टि-शरीरों) के आधार रूप में स्थित रहती है।

यह देखा जा चुका है कि प्रापचिक आत्माभिव्यक्ति में गोरखनाथ ने विभिन्न स्तर के पिण्डों के विकास-पर-पिण्ड से व्यष्टि-पिण्डो तक का उल्लेख किया है। उन्होने यह दिखला दिया है कि इन समस्त पिण्डो के असख्य रूपो में, परमात्मा शिव एकमात्र आधार, प्रकाशक, भोक्ता, शासक और आत्म-दर्शक हैं। अपनी विमर्श-शक्ति के द्वारा अपने पारमार्थिक सच्चिदानन्द स्वरूप से इन समस्त पिण्डों के अनन्त रूपो को व्यक्त करते है तथा अपनी प्रकाश-शक्ति से वे उन सबमें उनके प्रकाशक आत्माओं के रूप में निवास कर स्वय की अभिव्यक्तियों की विभिन्न परिस्थितियों, सीमाओं तथा सत-चित-आनन्द के विभिन्न स्तरों में विभिन्नताओं का आनन्द भोगते हैं। शिव जितने पर पिण्ड, अनादि-पिण्ड, महा-साकारपिण्ड की आत्मा है, उतने ही देवताओ, मनुष्यों, पशु-पक्षियो तथा कीटाणुओं के शरीरों तथा बाह्य रूप से अनात्म व निर्जीव प्रतीत होने वाले भौतिक शरीरों के भी आत्मा है। प्रत्येक प्रापंचिक सत्ता मे शिव आत्मा-रूप में निवास करते है। उनकी आत्माभिव्यक्ति व आत्मानन्द के इस ब्रह्माण्ड मे, उनकी प्रकाश-शक्ति और विमर्श-शक्ति बाह्य रूप से एक-दूसरे से सीमित हुई प्रतीत होती है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यष्टि-शरीर में व्यक्त आत्मा उस शरीर के स्वभाव तथा सीमाओं से वाधित प्रतीत होता है। प्रत्येक प्रकार की सीमाये व अपूर्णतायें, जो वस्तुत: जीवात्मा में पायी जाती है, वे शरीर के कारण होती है, जिसके द्वारा वह स्वयं को व्यक्त कर आत्म-दर्शन करता है। आन्तरिक रूप मे प्रत्येक आत्मा शरीर-व्यवस्था के समस्त कर्म, ज्ञान व अनुभव के अवयवो के परे उठ जाता है और इस रूप में यह मूलत: प्रकाश रूप है।

'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' के तीसरे अध्याय के अन्त मे, प्रत्येक व्यष्टि-शरीर की विराट् शरीर से मौलिक एकता का प्रतिपादन करने के पश्चात्, गोरखनाथ कहते हैं :—

'एवं सर्व देहेषु विश्वरूप: परमात्मा अखण्ड स्वभावेन
घटे घटे चित् स्वरूपी तिष्टति।'

इस प्रकार परमात्मा जो परमेश्वर है तथा स्वयं को समस्त व्यष्टि-शरीरों में

विश्वरूप से प्रकट करते है, प्रत्येक सीमित व्यष्टि शरीर मे या घट-घट में चित् स्वरूप से विराजते है ।

अतएव तत्वज्ञानालोकित योगियों के मत मे परमात्मा स्वय व्यष्टि-शरीरो मे जीवात्माओ के रूप में अपने शुभ चैतन्य स्वभाव में विराजते है । अत: अपने मूल स्वरूप मे कोई भी जीवात्मा वन्धन, दु.ख, इच्छा, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि के कष्ट नही वहन करता । प्रत्येक जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप मे परमात्मा के पूर्ण सच्चिदानन्द का सच्चा भागीदार होता है ।

किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से जीवात्माये अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनवेश आदि के वशीभूत रहती है । वे कर्म-बन्धन-ग्रस्त भी रहती है । यह मान्यता है कि उन्हे विभिन्न प्रकार के कर्मो के फल भोगने के लिये नाना जन्म-मृत्यु-चक्र में विचरण करना होता है । उन्हे अपने चरित्र को शुद्ध वनाने तथा वैयक्तिक कठिनाइयों, परिस्थितियो से परे उठकर आध्यात्मिक जीवन के योग्य बनने के लिये कठिन सघर्ष करना होता है । संसार के नाना प्रकार के दु.खो से मुक्ति पाने के लिये उन्हे नाना प्रकार के प्रयत्न व संघर्ष करने होते है । ये सब बातें इस दृष्टिकोण से कैसे मेल खाती है कि परमात्मा अपने अखण्ड स्वरूप मे जीवात्मा के रूप मे व्यष्टि शरीरो में विराजता है ? कैसे परमात्मा स्वय को इन समस्त बन्धनों, सघर्षो, सीमाओ व क्लेशों मे डालकर इन समस्त अवांछनीय परिस्थितियों से मुक्ति पाने के लिये सघर्ष की आवश्यकता अनुभव कर सकता है ?

तत्वज्ञानालोकित महायोगियों के दृष्टिकोण से इन प्रश्नों के उत्तर की ओर सकेत पहले ही किया जा चुका है । परमात्मा शिव, अपनी शाश्वत-स्वतंत्र इच्छा-शक्ति के विमर्श अग मे स्वय पर विचार करते है तथा अपनी पूर्णता तथा समस्त प्रकार की सीमाओ, अस्तित्व व चेतना की सीमाओ, ज्ञान व बल की सीमाओ, काल व दिक् की सीमाओं, गुण और सम्बन्धों की सीमाओ आदि में स्वय का आनन्दोपभोग करते है व स्वय को महानतम् से महान् व सूक्ष्मतम से सूक्ष्म तथा इनके अन्तर्गत समस्त सभव रूपो मे अनुभव कर आनन्द भोगते है । वे स्वय को परमात्मा, विश्वात्मा, लोकात्मा, जीवात्मा तथा समस्त अस्तित्व स्तरों मे समस्त स्तरों के पिण्डो के रूप मे अनुभव करते है । वह एक निरपेक्ष परमात्मा है जो उन सबका सच्चा आत्मा है, जो उन सब में अखण्ड स्वरूप से स्थित है, तथा स्वय को नाना प्रकार की सीमाओ तथा अवस्थाओ में अनुभव करने का आनन्द भोगता है । जैसा गोरखनाथ कहते है :—

'अलुप्त-शक्तिमान् नित्यं सर्वाकारतया स्फुरत्

पुनः स्वेनेवरूपेण एक एवावशिष्यते ।'

शाश्वत-असीम-शक्ति-संयुक्त परमात्मा स्वय को समस्त प्रकार के रूपो में अनुभव करते हुये स्वय मे केवल अद्वैत रूप से स्थित रहता है ।

अविद्या अथवा परमात्मा के शाश्वत, असीम, मौलिक, स्वयं प्रकाश-स्वरूप

के विषय में व्यावहारिक अज्ञान एक स्वआरोपित सीमा, जो उसकी निजा विमर्श-शक्ति नाना जीवात्माओं के रूप में उसके आत्मानुभव व आत्मानन्द के लिये उत्पन्न करती है. के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। इस अविद्या के परिणामस्वरूप विशिष्ट एव वांछित अहकार व्यक्त होता है, जिससे एक जीवात्मा स्वय को दूसरे से भिन्न या पृथक् कर एक वैयक्तिक मानसिक-भौतिक शरीर के सहयोग में विशिष्ट आचरण कर सके। यह एक पूर्ण निरपेक्ष ब्रह्म है, जो नितान्त स्वतत्र-ताओं से निजा विमर्श-शक्ति द्वारा सापेक्षित अज्ञान व अहकार को स्वय की व्यावहारिक आत्मानुभूति तथा सीमित व्यष्टि-शरीरों में विभिन्न परिस्थितियों व सीमाओं में बद्ध नाना जीवात्माओं की अनेकता का आत्मानन्द भोगने के लिये अपने में प्रकट करता है। राग, द्वेष, अभिन्नवेश इत्यादि कर्म और उनके फल, जन्म और मृत्यु, सुख और दु ख, ये सब सीमित व्यक्तित्व के साथ लगे हुये है। ये समस्त व्यावहारिक चेतनाओं पर लगे रहते है। वैयक्तिक व्यावहारिक चेतनाओं के पीछे वही परमात्मा है, जो उन सबका अन्तिम आनन्द-भोगता व अनुभवकर्ता है।

ससार के एक श्रेष्ठ बुद्धिमान् और सुखी मनुष्य का उदाहरण ले लीजिये, जो किसी महान् आदर्श से प्रेरित होकर, स्वेच्छा व स्वतन्त्रता से कठोर तपस्याये करता हुआ, समस्त पारिवारिक व सामाजिक सुखो का त्याग कर, अनेकानेक कष्ट व दु.ख झेलते हुये मृत्यु तक का आलिंगन कर लेता है; बाह्य रूप से उसके कष्ट कितने ही भयानक प्रतीत क्यों न हों, वह अन्तर मे उनका आनन्द भोगता है, क्योंकि उसने स्वेच्छा व प्रसन्नता से उन्हे अपने आदर्श-प्राप्ति के मार्ग मे स्वीकार कर लिया है और उसका सम्पूर्ण हृदय और मस्तिष्क अपने आदर्श पर केन्द्रित हो जाता है। ऐसे स्वेच्छया भोगे कष्टों मे अपार आनन्द तथा सच्चा गौरव निहित रहता है। मानव-इतिहास में जिन्होंने महान् विचारों व आदर्शो के लिये सबसे अधिक कष्ट झेले उन्हें सर्वत्र पूजा गया है। इस बात को मानने का कोई ऐसा तर्कयुक्त आधार नही है कि जीवात्मा जिन प्रतीत होने वाले बन्धनों, अपूर्णताओं तथा कष्टों को इस प्रापंचिक जगत् में झेलते हैं, वे उनकी आत्मा की मौलिक दिव्यता से मेल नहीं खाते। सब की दिव्यात्मा ने स्वेच्छा से स्वय को समस्त संभव वैयक्तिक, सीमित व अपूर्ण शरीरों के बन्धनों में डाल दिया है तथा उनके द्वारा अपने आंशिक अनुभवों का आनन्द भोगता है। स्वय को अस्तित्व के समस्त स्तरों में अनुभव करने के लिये विभिन्न प्रकार के बन्धनों व दुःखों को वह स्वतंत्रता से उत्पन्न करता है तथा समस्त सीमित दशाये उसे आनंद प्रदान करती हैं और इसी प्रकार वह जीवात्माओं के मोक्ष-प्राप्ति के समस्त प्रकारों के आत्मानुशासन व संघर्षो का भी आनन्द भोगता हैं।

अथवा एक धनी प्रतिभाशाली व्यक्ति के उदाहरण पर विचार कीजिये, जो नाटक रचता तथा नाटकीय आयोजनों का प्रबन्ध करता है। उन नाटकों के

समस्त पात्र व घटनायें उसके मनस् की उपज है। वह विभिन्न अभिनेताओं को विभिन्न भूमिकायें प्रदान करता तथा उन सब पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। वह अपनी इच्छा से कोई भी भूमिका निभाने लगता है। दास की भूमिका हो अथवा राजा की, सन्त की हो अथवा पापी की, शोषक की हो अथवा शोषित की विपुल धन-सम्पत्ति के स्वामी की हो अथवा भूख प्यास से पीड़ित व्यक्ति की, सभी की भूमिका निभाने में उसे समान आह्लाद प्राप्त होता है। वह सर्वाधिक भयानक तथा सर्वाधिक आनन्ददायक घटनाओं को भोगता है। वह समस्त प्रकार के रसों की उत्पत्ति मे आनन्द लेता है। वह स्वयं को स्वतन्त्रता से व प्रसन्नता से इन समस्त रूपो मे प्रदर्शित करता है। वे सब अपनी आत्माभिव्यक्ति व आत्मानन्द की सामग्रियाँ है, जो दूसरो को भी प्रसन्नता प्रदान करती है। एक महान् कलाकार की इन वैविध्यपूर्ण आत्माभिव्यक्तियो व आत्मसुखदायी रूपों की उपमा से हम पूर्णतया स्वतत्र शिव की सीमित व दु:खी जीवों के विभिन्न स्तरों मे आनन्दमय व्यावहारिक आत्माभिव्यक्तियो के विषय में कुछ धारणा बना सकते है।

इस दृष्टिकोण से योगी दार्शनिकों ने सरलता से बुराई की समस्या का समाधान प्रस्तुत कर दिया है, जो समस्त दार्शनिक मतों के समक्ष एक क्लिष्ट समस्या है तथा ईश्वरवादी मतों को यह सर्वाधिक कठिन समस्या प्रतीत होती है। हमारे सामान्य अनुभव के जगत् में प्राकृतिक और नैतिक बुराइयो की प्रत्यक्ष उपस्थिति का हम निषेध नही कर सकते। बाह्य जगत् में प्राकृतिक दुर्घटनाये होती है, जो समस्त जीवित प्राणियों के कष्टो का स्रोत होती है। मानव-जाति के मूल मे विभिन्न प्रकार के पाप पाये जाते है। दार्शनिक किंकर्तव्यविमूढ हैं—परमात्मा के अनन्त बल, शुभत्व व बुद्धि के साथ इन बुराइयो की युक्तियुक्त व्याख्या कैसे करे? दिव्य सृष्टि में ऐसी बुराइयों की उपस्थिति की व्याख्या हेतु महान् दार्शनिको ने विभिन्न सुझाव प्रस्तुत किये है तथा प्रत्येक व्याख्या आलोचकों को अनुपयुक्त या अपूर्ण लगी है। कुछ विचारक ऐसी बुराइयों की उपस्थिति की व्याख्या के लिये एक दूसरी शक्ति—यथा शैतान या अहिमन की सत्ता को समस्त बुराइयो के स्रोत के रूप मे मानते है, जिससे ईश्वर बुराई की उपस्थिति या उत्पत्ति के उत्तरदायित्व से मुक्त हो सके। स्पष्टतया यह धारणा ईश्वर की निरपेक्ष व पूर्ण सृजनता के अनुकूल नही बैठती। यदि ईश्वर या परमात्मा की चरम सत्ता केवल अद्वैत सत्ता मानी जाती है तो उसे इस व्यावहारिक जगत् के प्रत्येक अनुभव विषय का एक मात्र अन्तिम कारण मानना ही होगा तथा इस ब्रह्माण्ड के किसी भी दृश्य के लिये कोई दूसरा स्वतन्त्र स्रोत तर्क से माना नहीं जा सकता। न ही ईश्वर को किसी अन्य कारण—चाहे भौतिक अथवा निमित्त या अन्तिम या आकारगत के प्रभाव में आने वाला माना जा सकता है, जो उसकी प्रापचिक आत्माभिव्यक्ति में बुराइयो के लिये स्थान रखने या उन्हें उत्पन्न करने के लिये विवश कर सके।

योगी दार्शनिक परमात्मा को न केवल अद्वितीय चरम सत्ता या ब्रह्म ही स्वीकार करते है, वरन वे समस्त स्तरीय प्रापंचिक सत्ताओं के प्रकट व लोप होने वाले इस प्रपंच को भी ब्रह्म की विमर्श-शक्ति का मुक्त-विलास मानते है। जिन्हें हम अपने सामान्य जीवन में प्राकृतिक और नैतिक बुराइयां मानते व अनुभव करते हैं, वे भी उसकी मुक्त आत्माभिव्यक्तियां ही है तथा इस प्रकार उसके व्यावहारिक आनन्द की वस्तुयें है। प्राकृतिक बुराइया यथा दुःख और कष्ट केवल जीवित व्यष्टि-शरीरों की व्यावहारिक चेतना के समक्ष उपस्थित होते है तथा नैतिक बुराइयाँ केवल मनुष्यों की नैतिक चेतनाओं के समक्ष उपस्थित होते हैं। सुख और दुःख, हर्ष और शोक परस्पर सापेक्ष्य है। व्यष्टि-शरीरो के प्राण-मय व मानसिक स्तरों पर वे अनुभव के विभिन्न प्रकार है। कष्टो व दु.खों से मुक्ति पाना तथा सुख व प्रसन्नता प्राप्त करने की इच्छाये उनमे साथ-साथ सलग्न रहती है और उनको उच्च स्तरो पर उठाने में योगदान करती है, विराट् योजना में वे महत्वपूर्ण भूमिकाये निभाती है और परमात्मा जीवात्माओ के रूप में उनका साक्षी रहता है, उनका नियत्रण, सयोजन व एकीकरण करता है। दु.ख और कष्ट उतनी ही महत्वपूर्ण भूमिकाये निभाते है, जितनी कि सुख व आनन्द। स्वय-प्रकाश-आत्मा के लिये स्व-आरोपित सीमाओ के अन्तर्गत मुक्त आत्मभिव्यक्तिया होने के कारण वे दोनो ही समान आनन्ददायक है।

प्रकृति मे वास्तव में ऐसे सकट व विपत्तियां नही होती हैं। भौतिक जगत् में केवल विभिन्न प्रकार के व्यावहारिक परिवर्तन, रूपान्तर व संशोधन होते है, विभिन्न प्रकार की भौतिक, रासायनिक व विद्युत तथा अन्य शक्तियो की अभिव्यक्तियां होती है, जो ब्रह्माण्ड के भौतिक तत्वो का सघटन, विघटन और पुनर्गठन आदि करती हैं। परमात्मा की विमर्श-शक्ति इन सबमें भव्य रूप में व्यक्त रहती है। परमात्मा, यद्यपि उन सब में सर्वान्तर्यामी आत्मा के रूप में निहित रहता है, उन दृश्यों की ओट में अपने मौलिक आध्यात्मिक स्वरूप को पूर्णतया छिपाये प्रतीत होता है, तथापि उसे सब मे आनन्द भोगते हुये मानना होगा, क्योकि वे उसकी ही मुक्त आत्माभिव्यक्तियाँ है। जड़ प्रतीत होने वाली प्रकृति मे ये परिवर्तन जीवन, मनस् तथा परमात्मा की दिव्य शक्ति की प्रापंचिक आत्माभिव्यक्तियों के अन्य उच्च स्तरो के विकास का आधार निर्मित करने में सहायक सिद्ध होते है। जीवित विचारवान् व्यक्तियों की विशेष रुचियो, अरुचियो तथा मूल्य-माप-दण्डों के अनुरूप इनमे से कुछ एक परिवर्तनों को विनाशकारी, घोर व आपत्तिजनक माना जाता है।

जीवित और चेतन अस्तित्वों के स्तरों पर परमात्मा के आत्म-आवरण व आत्मोद्घाटन के विभिन्न स्तर हैं और इस प्रकार जीवन व चेतना की सीमा व विकास के विभिन्न चरण है। विभिन्न प्रकार के दु.ख और कष्ट, आवश्यकताये एवं वेदनायें, रोग और मृत्यु, चिन्तायें व उलझनें, निराशाये व पाश्चात्ताप

आदि व्यष्टि-शरीरो मे जीवन और चेतना की सीमाओ तथा अपूर्णताओं के सूचक मात्र हैं। परमात्मा, जिसमें जीवन व चेतना शाश्वत पूर्णता को प्राप्त है और जिसका मौलिक स्वरूप आनन्द है, अपनी स्वतन्त्र विमर्श-शक्ति के प्रयोग द्वारा स्वयं को समस्त संभव सीमाओ और अपूर्णताओं में बद्ध करने का आनन्द भोगता है और इस प्रकार अपने विराट् शरीर के अन्तर्गत अपनी वैयक्तिक आत्माभिव्यक्तियों में सब प्रकार के दु.खों व अयोग्यताओ को स्वेच्छा से स्वीकार करता हुआ प्रतीत होता है। समस्त दु.खों और कष्टो के समस्त अनुभवों का अनिवार्य तात्पर्य यह है कि उनसे परे उठना है, कि जीवन और चेतना को इन सीमाओं और अपूर्णता से मुक्ति पाकर इन दु:खों से मुक्त होकर विकास व पूर्णता के उच्च स्तरों की ओर उठना है। इस प्रकार तब तक वे दु.ख और व्यष्टि-शरीरों में व्यावहारिक अनुभव के उच्चतर स्तरों पर आत्मोत्थान के लिये प्रयत्नों को प्रेरित करते हैं, जब तक वे आनन्द-स्तर पर नहीं पहुंचाते। इस दृष्टिकोण से दु:ख या खेद दिव्य शक्ति द्वारा निर्मित सीमाओं से आवृत आनन्द की क्रमिक व्यावहारिक अनुभूति के साधन हैं। परमात्मा व्यष्टि-शरीरों मे जीवात्माओं के रूप में इन समस्त दु:खों तथा उनसे मुक्ति पाने की प्रक्रियाओ व प्रयत्नों का साक्षी रहता है।

पुनः पाप और पुण्य, शुद्ध और त्रुटिपूर्ण, अच्छे और बुरे, न्याय और अन्याय, दया और क्रूरता, पक्षपात व निष्पक्षता, कर्तव्य और अपराध, धर्म और अधर्म इत्यादि में भेद व्यावहारिक चेतना के नैतिक स्तर पर पाये जाते है। यदि व्यष्टि शरीरों में नैतिक चेतना का विकास न होता तो ये धारणायें भी न बनतीं, न ही कार्यों में ऐसे कोई भेद किये जाते और दार्शनिक विचारको के समक्ष नैतिकता व बुराई की कोई समस्या ही न होती। ये पाप और पुण्य इत्यादि व्यावहारिक अनुभव के वास्तविक तथ्यरूप नही हैं, वरन् तथ्यों पर किसी मूल्य मापदण्ड या आदर्श की ओर सकेत करके दिये गये निर्णय रूप हैं। व्यावहारिक चेतना के नैतिक स्तर पर ये निर्णय उत्पन्न होते है और विशिष्ट प्रकार के दृश्यों को किन्ही विशिष्ट आदर्शों के दृष्टिकोण से आंका जाता है। परमात्मा की प्रापचिक आत्मा-भिव्यक्ति के स्वाभाविक रूप मे जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के भौतिक दृश्य अभिव्यक्त होते है, उसी प्रकार विभिन्न प्रकार के जैविक व मानसिक दृश्य भी विकसित होते है।

परमात्मा की विमर्श-शक्ति अपनी असीम स्वतन्त्रता और अनन्त सभावनाओं से स्वय को विभिन्न प्रकार की जैविक प्रवृत्तियों, मानसिक दृष्टिकोणों, बौद्धिक शक्तियों आदि तथा ज्ञान व विवेक, इच्छाओं और कर्मो, भावों और सयोगो आदि के विभिन्न रूपों में व्यक्त करती है। वही दिव्य-शक्ति स्वयं को व्यष्टि-शरीरों में नैतिक, सौन्दर्यात्मिक एवं आध्यात्मिक चेतनाओं के विकास में व्यक्त करती है। धर्म के आदर्श से प्रेरित नैतिक चेतना समस्त दृश्यों पर उस आदर्श के दृष्टिकोण से विचार कर उन पर नैतिक निर्णय दिया करती है।

इस प्रकार पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ आदि मे भेद उत्पन्न होते हैं। कुछ प्रकार के विचार, भाव, प्रवृत्तिया, इच्छाये, कर्म और आचरण इत्यादि शुभ तथा पुण्य माने जाते है और जिनका विकास व उत्थान करना चाहिये तथा अन्य अशुभ व पाप माने जाते है, जिन्हे त्याग कर कुचल देना चाहिये।

किन्तु जिन्हे अशुभ या पाप-कृत्य मानकर त्यागने या कुचलने को कहा जाता है, वे जीवन, मनस् और बुद्धि को उच्चतर तथा अधिक तत्वज्ञानालोकित स्तरों पर उठाने की योजना में अपना महत्व रखते है। वे भी स्वआरोपित व्यावहारिक दशाओं और सीमाओं के अन्तर्गत परमात्मा के आत्मानन्द और आत्मानुभव के विभिन्न प्रकार हैं। वह इन दशाओ और सीमाओ को स्वतंत्रता से रचने तथा शनैः शनैः उनसे परे उठकर उन्हे नष्ट करने व व्यावहारिक आत्मानुभव एव आनन्द के लिये वैयक्तिक व्यावहारिक चेतना के अधिकाधिक आलोकित स्तरों तथा अन्त में पारमार्थिक स्तर पर उठने में आनन्द अनुभव करता है। ठीक जिस प्रकार दुःख उसके असीम आनन्द पर स्वआरोपित आवरण व सीमाये है, उसी प्रकार पाप भी उसकी असीम अच्छाई और पवित्रता पर स्वआरोपित आवरण व सीमाये है। अपनी व्यावहारिक विराट्-सृष्टि में वह स्वय की पारमार्थिक शुभ व आनन्दमय प्रकृति पर आवरण, विक्षेपक सीमायें मुक्त रूप से आरोपित कर तथा स्वतंत्रता से इन छायाओ और सीमाओं को स्तर-क्रम से दूर कर इन समस्त प्रक्रियाओ के सर्व-ज्ञाता साक्षी के रूप मे आह्लाद का अनुभव करता है।

ठीक जिस प्रकार व्यष्टि-शरीरो में सवेदनशीलता का विकास विभिन्न प्रकार व मात्रा के सुख-दुःखो के अनुभवों के साथ-साथ होता है तथा उनमें चेतना का विकास शुभ-अशुभ, धर्माधर्म के विभिन्न रूपों के अनुभवो से सयुक्त रहता है, उसी प्रकार सौन्दर्यात्मक चेतना के विकास के साथ-साथ विभिन्न प्रकार की सौन्दर्यानुभूतियां मधुर रस से वीभत्स तक—सयुक्त रहती है। ये सौन्दर्यानुभूतियां भी तथ्यों पर किसी आदर्श सौन्दर्य की धारणा के मापदण्ड से निर्णयात्मक होती है। जो सापेक्षिक रूप से कुरूप या वीभत्स प्रतीत होता है, वह तत्वज्ञानालोकित योगियों की दृष्टि मे विभिन्न विक्षेपों एवं आवरणो में छिपे हुये सौदर्य के अनुभव के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। कोई भी वस्तु जो एक प्रकार की दशाओं अथवा एक प्रकार की मानसिक प्रवृत्तियो के कारण कुरूप प्रतीत हो सकती है, वही भिन्न दशाओं व दूसरे प्रकार की मानसिक स्थिति में सुन्दर प्रतीत होकर आनन्द प्रदान कर सकती है। ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में कुछ भी पूर्णरूपेण अशुभ या खेदकारी नही है। सम्पूर्ण व्यावहारिक अनुभव सापेक्षिक है और शुभ-अशुभ, सौन्दर्य कुरूपता आदि के हमारे समस्त निर्णय भी सापेक्षिक है। एक ऐसा दृष्टि-कोण हो सकता है, जिससे देखने पर समस्त व्यावहारिक सत्तायें शुभ व सुन्दर प्रतीत हो सकती है। उनमे से प्रत्येक ब्रह्माण्ड व व्यष्टि-शरीरों में अपना उचित स्थान व कार्य लिये हुये है। वे सब उस एक की, जो अनन्त सत्य-शिव-सौन्दर्य का

भण्डार है, विभिन्न प्रकार की सीमाओं और बाधाओं के अन्तर्गत अनन्त मुक्त आत्माभिव्यक्तियाँ हैं। परमात्मा की विमर्श-शक्ति के मुक्त लीला-क्षेत्र में समस्त व्यावहारिक-सापेक्षिक अस्तित्वों व अनुभवों के समस्त संभव रूप, सर्वाधिक स्थायी से सर्वाधिक अस्थायी तक प्रतीत होने वाले, सर्वाधिक सुन्दर से सर्वाधिक कुरूप तक, सर्वाधिक स्थूल से सर्वाधिक सूक्ष्म तक, सर्वाधिक श्रेष्ठ व गौरवपूर्ण से सर्वाधिक निकृष्ट व गौरवहीन तक और सर्वाधिक आनन्ददायक से सर्वाधिक दुःखदायी प्रतीत होने वाले तक बहुत ही कुशलता से प्रस्तुत किये गये हैं। सच्चे अर्थों में हम ऐसे किसी अस्तित्व या अनुभव की कल्पना नहीं कर सकते जो परमात्मा की अनन्त शक्ति की इस काल-दिगाश्रित प्रापंचिक आत्माभिव्यक्ति में विकसित नहीं हुआ है। शिव की महाशक्ति की यह अद्भुत व विस्मयकारी महिमा है।

अज्ञान के स्तर पर रहने, विचरण करने व विचार करने वाले तथा अहंकार, इच्छाओं, दुखों, घृणाओं और भयों से पीड़ित व्यक्ति प्रायः यह कहा करते हैं कि जो ईश्वर के लिये खेल है, वह जीवों के लिये मृत्यु रूप है। वे प्रायः उस पर क्रूरता, पक्षपात व अन्याय का आरोप लगाते हैं। उनके विचार से कर्म-सिद्धान्त प्राणियों के भाग्य वैषम्य की कोई सन्तोषप्रद अन्तिम व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता, जबकि समस्त प्राणियों के समस्त जन्मों में उनकी इच्छाओं, प्रवृत्तियों और कर्मों के तात्कालिक व दूरस्थ फल दिव्य शक्ति द्वारा नियंत्रित होते हैं। अपने समस्त प्राणियों के समस्त जन्मों के समस्त प्रकार के कर्मों के लिये ईश्वर उतना उत्तरदायी है, जितना कि उन कर्मों के सुखदायी व दुःखदायी फलों के लिये। परमात्मा की असीम शुभता, बुद्धिमत्ता और शक्ति की धारणा के साथ जगत् के सीमित व जीवित प्राणियों की विभिन्न विडम्बनाओं की कोई सन्तोषप्रद व्याख्या न पाकर ऐसे अनेक लोग ईश्वर तथा जगत् की दिव्य व्यवस्था में विश्वास खो बैठते हैं और जगत्-व्यवस्था को किसी उद्देश्यहीन, बुद्धिहीन, व्यवस्थाहीन, अन्य शक्ति की आकस्मिक उत्पत्ति मानने लगते हैं।

महायोगियों के तत्वज्ञानालोकित दृष्टिकोण में क्रूरता, पक्षपात, अन्याय आदि लुप्त हो जाते हैं, क्योंकि ईश्वर के जीव स्वयं ईश्वर से भिन्न या पृथक् नहीं हैं। परमात्मा या ईश्वर स्रष्टा व सृष्टि दोनों ही है। वह स्वयं को विभिन्न स्तरों के जीवों के रूप में प्रापंचिक जगत् में प्रकट कर सुख-दुःखादि का अनुभव करता है। निस्सन्देह उसकी अनन्त अनेकरूपात्मक आत्माभिव्यक्तियों में क्रूरता, अन्याय, शोषण आदि के उदाहरण मिलते हैं किन्तु जब वह स्वयं प्रत्येक व्यष्टि-शरीर में आत्मा रूप में विराजमान है, तो क्रूरता व अन्याय करने वाला व भोगने वाला दोनों वही है। प्रत्येक युद्ध में विजेता व विजित दोनों वही है वही स्वामी और सेवक, माता-पिता व सन्तान, शिक्षक व शिक्षार्थी बुद्धिमान् व मूर्ख दोनों हैं, बलवान और निर्बल, भाग्यशाली व भाग्यहीन इत्यादि सब कुछ वही तो है। अपनी अनन्त विमर्श-शक्ति के द्वारा वह स्वयं को अनन्त प्रकार की परिस्थ-

तियो मे, अनन्त प्रकार के व्यष्टि-शरीरो व जीवात्माओं के रूप में अभिव्यक्त कर सब का आनन्द भोगता है।

सिद्ध योगियों के मतानुसार समस्त भेद प्रापंचिक रूप में वास्तविक है, किन्तु वे परमात्मा की शारीरिक अभिव्यक्तियों में रहते हैं, उसकी आत्मा में नही। समस्त भौतिक और जैविक भेद, समस्त संवेदनात्मक और मानसिक भेद, समस्त बौद्धिक और नैतिक भेद, समस्त सौन्दर्यात्मक और तथाकथित आध्यात्मिक भेद, शरीरों से सम्बद्ध व संलग्न हैं और आत्मा समस्त दशाओं में उनसे मूलतः निर्लिप्त रहता है। आत्मा उनका भोक्ता, प्रकाशक और अनुभवकर्ता होते हुये भी वस्तुतः उनसे प्रभावित, शासित या बाधित नही होता है। लघुता और महानता, खेद और प्रसन्नता, अज्ञान और ज्ञान, पाप और पुण्य तथा बन्धन और मोक्ष भी शरीरों मे ही अनुभव किये जाते है, आत्मा में नही जो कि उनका प्रकाश है। समस्त आध्यात्मिक सघर्ष और प्रगति भी मूलतः शरीरों के उत्थान, परिष्करण व शुद्धिकरण मे निहित रहती है, जिससे उन्हें उच्चतर स्तरों पर उठाकर अधिकाधिक आलोकमय व आध्यात्मिक बनाया जा सके। यह स्मरण रखना चाहिये कि शरीर-शब्द केवल भौतिक पिण्डों का वाचक नहीं है, वरन् समस्त जैविक, मानसिक और बौद्धिक रूप तथा आत्मा के समस्त प्रापंचिक आकार इसके अन्तर्गत आते हैं। आत्मा सदा शुद्ध आनन्दमय चेतना के रूप में उनके भेदों, सीमाओं और परिवर्तनों का अनुभवकर्ता व प्रकाशक होते हुये भी उनसे अप्रभावित तथा निर्लिप्त रहता है। सीमित और परिवर्तनशील शरीरों पर प्रापंचिक रूप से प्रतिबिम्बित आत्मा अनेक व विभिन्न शरीरों में अनेक व भिन्न प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः समस्त शरीरों में यह एक और समरूप है। व्यष्टि शरीरो के परिवर्तनों और सीमाओं तथा विभिन्न अवस्थाओं के अनुभव करते समय आत्मा प्रापंचिक रूप से निस्सन्देह इन शरीरों से तद्रूप हो जाता है और इस प्रकार वैयक्तिक, बाधित व सीमित प्रतीत होने लगता है, किन्तु वास्तविक रूप में यह अपने मौलिक पारमार्थिक स्वरूप को कभी नही खोता है। प्रापचिक स्तर पर सीमित शरीरों और व्यावहारिक चेतनाओं से सम्बन्धित व उनमें निहित होने पर भी आत्मा उन सबसे परे है। इस प्रकार प्रापंचिक रूप से सीमित व्यक्तित्व की भूमिका निभाते हुये भी आत्मा अपने मूल स्वरूप में सबका निष्पक्ष साक्षी है। जिसे मोक्ष कहा जाता है, वह मूलतः आत्मा का बन्धन व दुःख से छुटकारा पाना नही, वरन् व्यावहारिक व्यष्टि-चेतना की अज्ञान, अशुद्धता, सीमाओं, बन्धनों तथा दुःखों से निवृत्ति तथा आत्मा के आनन्दमय स्वरूप की अनन्त शुद्धता और पवित्रता तथा सुगमता का अनुभव है; जीवात्मा और परमात्मा के मौलिक तादात्म्य की अनुभूति है।

कभी-कभी यह समझा जाता है कि ब्रह्म अपनी अनन्त महाशक्ति द्वारा स्वयं अनन्त विभिन्नताओं से युक्त ब्रह्माण्ड-शरीर में प्रमुखतया तीन रूपों—परमात्मा, आत्मा और जीवात्मा के रूप में भाग लेता है और इसका आनन्द भोगता है।

उसे अनन्त-मुक्त-स्वतंत्र महाशक्ति के प्रकाशक, शाश्वत एकमात्र स्वामी, आत्मा व अनुभवकर्ता के रूप मे परमात्मा माना गया है। ब्रह्माण्ड-शरीर तथा समस्त अस्तित्व-स्तरो के अन्तर्यामी के रूप में उसे आत्मा माना गया है। व्यष्टि-पिण्डों मे वैयक्तिक आत्माओ के रूप में उसे जीवात्मा माना गया है। परमात्मा, आत्मा और जीवात्मा के ये भेद केवल उपाधिगत है—प्रथमतः उसकी प्रकाश-विमर्शात्मिका शक्ति से, जो समस्त प्रापचिक अस्तित्वों व चेतनाओ का स्रोत व कारण है, उसके प्रापचिक सम्बन्ध के सन्दर्भ में, दूसरे समस्त प्रापंचिक आत्माभिव्यक्तियों के समस्त स्तरो मे उसकी अन्तर्व्याप्ति के सन्दर्भ में तथा तीसरे व्यष्टि-शरीर मे जीवात्मा के रूप मे उसकी लीला के सन्दर्भ में ये धारणात्मक भेद ब्रह्म के मूल स्वरूप मे कोई भिन्नता या अन्तर प्रकट नहीं करते हैं। वह सर्वदा अपने लीला-रूपों के परे रहता है, जिन परिस्थतियों को वह उत्पन्न करता है उनसे सर्वदा परे रहता है, वह समस्त सापेक्षिक सम्बन्धों के परे होता है। सर्वभोक्ता, सर्व प्रकाशक होते हुये भी उसका पारमार्थिक स्वयं-प्रकाश-स्वरूप अप्रभावित रहता है। व्यावहारिक चेतना की आध्यात्मिक प्रबुद्धता जीवात्मा, आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता के साक्षात्कार मे निहित है।

गोरखनाथ कहते है—

'आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे।

त्रयाणामैक्यसम्भूतिरादेश इति कीर्तितः॥'

अपने प्रापंचिक विचार में हम आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा मे भेद करते हैं। तीनों का एकत्व ही सत्य है और इस सत्य का अनुभव या दर्शन ही आदेश कहलाता है। इसे ध्यान में रखते हुये ही जब कभी योगी एक दूसरे का अभिवादन करते है, तो वे आदेश २ का उच्चारण करते हैं। इस अभिवादन से योगी निरन्तर एक दूसरे को जीवात्मा, विश्वात्मा और परमात्मा के तादात्म्य का स्मरण कराते रहते है।

अध्याय-१७

जीवन का परमादर्श

आध्यात्मिक हिन्दू-संस्कृति के प्राचीनतम युग से मोक्ष या मुक्ति को सामान्यत: मानव-जीवन का चरम लक्ष्य माना जाता रहा है। मोक्ष या मुक्ति का शाब्दिक अर्थ है स्वच्छन्दता, छुटकारा या उद्धार। सामान्य रूप से यह एक निषेधात्मक शब्द है; सर्वविध अपूर्णता से मोचन। इसके शाब्दिक अर्थ में यही विदित होता है कि मुक्तिलाभ के पहले ऐसी कोई अवस्था विद्यमान है, जिससे मानवात्मा मुक्ति या छुटकारा या उद्धार चाहता है। परन्तु इस अपूर्ण तथा अनीप्सिता अवस्था से मुक्तिलाभ के बाद मानवात्मा की कैसी स्थिति होती है, इसका कोई परिचय इस शब्द से नही मिलता है। प्राय. धर्म और दर्शन के सभी मत प्रकट तथा इसी निषेधात्मक अर्थ मे ही मुक्ति को मानव-जीवन का चरम लक्ष्य बतलाते है।

वह कौन सी अनुभूयमान अवस्था है, जिससे समस्त मनुष्यो, समस्त संवेदनशील जीवों—को तुरन्त छुटकारा पाना है? सभवत: यह सर्वविदित है कि 'दु:ख' न केवल मानवमात्र वरन् समस्त सवेदनाशील जीवो के लिये एक सर्वव्यापक अनुभूति है तथा ये सब स्वभावत: अस्तित्व की इस दु ख-मय स्थित से छुटकारा पाना चाहते हैं। दु.खो के आन्तरिक व बाह्य विभिन्न कारण होते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक सदा दु:खो के कारण विद्यमान रहते है। जीवन दुखों व उनके कारणों से निरन्तर सघर्ष मे रत प्रतीत होता है। पशु-जीवन के समस्त स्तरों में दु.खों के कारणों की उपस्थिति के अतिरिक्त, मानव जीवन मे मानसिक, बौद्धिक तथा नैतिक अपूर्णताय दु खो के अतिरिक्त स्रोत की तरह है। दु:ख-निवारण की स्वाभाविक प्रेरणा से प्रेरित होकर मनुष्य को आजीवन दु:खों के इन समस्त कारणों से सघर्ष करना पड़ता है। इन सघर्षो मे अस्थायी सफलतायें, दु:खों का अस्थायी निवारण कर अस्थायी सुख व छुटकारा प्रदान करती है। किन्तु दु:खों के कारण कभी भी समूल नष्ट नही होते है और इस प्रकार इस जीवन मे स्थायो सुख अप्राप्य लक्षित होता है। भौतिक मृत्यु भी, जो स्वय भी दु.खमिश्रित होती है, दु:ख से स्थायी छुटकारा नहीं दिला सकती, क्योंकि ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में व्याप्त कर्म का नियम अथवा नैतिक न्याय का नियम, शुभाशुभ कर्मों के फल भोगने के लिये अन्य लोको व अन्य जन्मों को धारण करने के लिये, जीवन का सूक्ष्म शरीरी अस्तित्व मानता है और इस प्रकार नवीन शरीरों मे दु:खों और संघर्षो की सत्ता बनी रहती है।

सत्य तो यह है कि मानव की समस्त सस्कृति और सभ्यता का आधार दु:ख है। मानव-जगत् मे समस्त प्रगति और विकास तथा समस्त सृजनात्मक व

विनाशात्मक क्रियाओं के पीछे प्रेरक शक्ति यह दुःख ही है। दुःखों से इच्छायें जन्मती हैं तथा उसके छुटकारा पाने के लिये कार्यों को प्रेरणा देती है। इच्छा और कार्य, यद्यपि विशिष्ट दुःखों से अस्थायी मुक्ति प्रदान कर सकते है, पर उन्हे नष्ट नहीं कर सकते। इसके विपरीत नये दुःखो के स्रोत बन जाते हैं, जो पुनः नवीन इच्छाओं और नवीन कार्यों की उत्पत्ति करते है और इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है मानव-मन कभी दुःखमुक्त नहीं होता कभी आवश्यकता, असन्तोष और निराशा अपूर्णता और सीमा तथा बन्धन से मुक्त नहीं होता और इस प्रकार कभी इच्छाओं और संघर्षो से मुक्त नहीं हो सकता। दुःख जो निरन्तर नये-नये रूपों में प्रकट होकर नयी-नयी इच्छाओं को जन्म देता है, से मुक्ति पाने के संघर्ष में मानव-स्वभाव में सुप्त शक्तियाँ और गुण जागृत एवं सक्रिय हो जाते हैं, मन हृदय और बुद्धि अधिकाधिक विकसित, शुद्ध एवं ज्ञानालोकित हो जाती है, ज्ञान और क्रिया के क्षेत्र शनैः शनैः विस्तृत हो जाते है, मानव बाह्य प्रकृति की शक्तियों तथा अन्य प्राणियो पर अधिकाधिक नियंत्रण पाने लगता है, विज्ञान, कला तथा तकनीकी विद्याओं की प्रगति होने लगती है, सामाजिक, राजनैतिक, सैनिक और धार्मिक संस्थाओं का विकास होता है और वह अधिकाधिक शक्तियाँ व प्रभाव प्राप्त कर लेता है, मानव-जीवन अधिकाधिक जटिल बन जाता है।

इस प्रकार जीवित प्राणियों और विशेषतया मानवीय जगत्-व्यवस्था में दुःख एक बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आदि से अन्त तक मानव इतिहास दुःख के विरुद्ध एक सतत संघर्ष है। यह संघर्ष ही है जिसने मानव को समस्त गौरव प्रदान किये है किन्तु दुःख ने कभी पराजय स्वीकार नहीं की है। मानव-अस्तित्व की अधिकतम सभ्य स्थिति मे भी दुःख उतने ही बलशाली होते हैं जितने किसी अल्प सभ्य समाज में। जैसे-जैसे सुख और आनन्द के स्रोतों में वृद्धि होती जाती है जैसे-जैसे सुख व आनन्द के अधिकाधिक श्रेष्ठ व सूक्ष्म साधनो की खोज होती जाती है वैसे ही वैसे दुःखो के स्रोतो मे भी उनके अनुरूप वृद्धि होती जाती है। भौतिक अस्तित्व की बाह्य दशाओं मे सुधार कर दुःख पर विजय पाने के समस्त मानव प्रयास नितान्त असफल रहे हैं। तब क्या हमें यह मानकर संतोष कर लेना चाहिये कि मानव दुःख भोगने व दुःखों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिये ही जन्मा है तथा वह कभी भी उन पर विजय या उनसे छुटकारा नहीं पा सकता? किन्तु मानव-जीवन का यह निराशात्मक दृष्टिकोण होगा। यह निराशावाद स्वयं दुःख का एक अन्य स्रोत होगा। उच्चतम तथा सर्वाधिक तत्त्वज्ञानालोकित मानव मस्तिष्को ने इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया है।

भारत के समस्त महान् सन्तो तथा समस्त प्रमुख दार्शनिक मतो की यह सर्वमान्य घोषणा है कि दुःख पर पूर्ण विजय प्राप्त की जा सकती है तथा दुःख का पूर्ण निवारण ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य या आदर्श है। वे यह भी कहते है कि दुःख पर पूर्ण विजय भौतिक दशाओं में किसी भी प्रकार के बाह्य सुधारों द्वारा अथवा व्यावहारिक ज्ञान व सांसारिक बलों के विकासों द्वारा अथवा

पार्थिक सुख-भोगों के विभिन्न साधनों व सामग्रियों तथा अधिकाधिक संचय द्वारा या विभिन्न प्रकार के संगठनों और वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। समस्त यथार्थ व संभव दुःखों से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने के लिये, समस्त दुःखों के मूल का नाश कर देने के लिये, मानव को अपनी समस्त शक्ति व विवेक को अन्तरात्मा की ओर ले जाकर, उसे अपने अस्तित्व के मौलिक सार तत्व पर अपना समस्त ध्यान एकाग्र करना होता है, जो 'योग' कहलाता है और धर्म का यही सार है। इस धार्मिक आत्मोनुशासन में पूर्ण सफलता प्राप्त करने पर ही मानव समस्त दुःखों की सम्भावनाओं का आमूल नाश कर सकता है। वैयक्तिक अथवा सामूहिक किसी भी प्रकार, बाह्य प्रयासों द्वारा नही, वरन् शक्ति के अतिरिक्त एकत्रीकरण के द्वारा ही मानव दुःख की परिधि से ऊपर उठ सकता है।

सर्वाधिक तत्वज्ञानालोकित सन्तों और दार्शनिकों की यह सर्वसम्मत घोषणा है कि व्यक्त और ब्रह्माण्ड का मूलतत्व या चरम सत्ता दुःख से अस्पृष्ट दुःखों, इच्छाओं तथा संघर्षों के क्षेत्र से परे पूर्ण रूपेण शान्त, स्थिर और आनन्दमय है। जिन जीवनो और मनों से चरम सत्ता छिपी रहती है, उन्ही पर दुःख का साम्राज्य छाया रहता है। स्वयं का व जगत् के चरम सार-तत्व का जब मन को सच्चा ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब इसके समक्ष कोई दुःख सीमा व बन्धन का कोई भाव, कोई इच्छा अथवा सघर्ष नही रहता है। दु.ख पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करने के लिये व्यावहारिक मनस् का यह तत्वज्ञान, जीवन व जगत् के चरम सत्य का यह अनुभव, आवश्यक माना गया है। भारत के अधिकतम धार्मिक दार्शनिक मेतों के अनुसार मानव-जीवन का चरम लक्ष्य, जिसे निषेधात्मक रूप से मुक्ति या समस्त यथार्थ व सम्भव दुःखों से पूर्ण छुटकारा कहा गया है, वास्तव में तत्व-साक्षात्कार में निहित है।

'तत्व-साक्षात्कार' से जीव और जगत् के चरम सार का ज्ञान हो जाता है, किन्तु इसे व्यावहारिक प्रज्ञा के प्रारूपों में वर्णित नही किया जा सकता, क्योंकि यह व्यावहारिक विचार और वाणी के ऊपर की वस्तु है। व्यावहारिक मनस् की सापेक्षिक व औपाधिक वस्तुओं की ही परिभाषा सभव है। चरम सत्ता व चरम अनुभव अनिर्वचनीय हैं। चरम सत्ता या परब्रह्म, जीव और जगत् का अन्तिम सार, ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध से परे है और इस प्रकार व्यावहारिक मनस् के क्षेत्र के बाहर है, अतएव चरम सत्यानुभूति में ज्ञाता-ज्ञेय-भेद पूर्णरूपेण एक चरम अनुभव में विलीन हो जाता है, व्यावहारिक मनस् से या तो परे चला जाया करता है या वह आत्मा के एकत्व में समा जाता है तथा यह (चरम सत्यानुभूति) व्यावहारिक प्रज्ञा के ज्ञेय पदार्थ की भांति हमारे समक्ष नहीं प्रस्तुत होती है। इस प्रकार हमारी व्यावहारिक प्रज्ञा चरम सत्ता या चरम सत्यानुभव की न तो बौद्धिक धारणा बना सकती है और न ही उसकी शाब्दिक परिभाषा प्रस्तुत कर सकती है।

किन्तु तत्वज्ञानालोकित गुरुजनों ने परम अनुभव-स्तर से व्यावहारिक चेतना के सामान्य स्तर पर उतर कर, अनिवर्चनीय चरम एकत्व के स्तर से सापेक्षिकता व अनिश्चितता के सामान्य स्तर पर उतर कर, सत्यान्वेषियों तथा अध्यात्म-जिज्ञासुओं को मानव-जीवन के चरम लक्ष्य तथा परम सत्य का कुछ यथार्थ भाव, कितना ही अस्पष्ट क्यों न हो, देना आवश्यक समझा। जब तक वे अपने परमार्थिक अनुभव को निषेधात्मक शब्दो मे वर्णित करते है, तब तक उनके उपदेशों से कोई प्रशसनीय भेद प्राप्त नही होता। किन्तु जब वे अपने शिष्यों को चरम आदर्श और चरम सत्य के यथार्थ विचार सापेक्षिक व्यावहारिक प्रज्ञा की छन्दावली मे प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं, तब उनकी भाषा सापेक्षिकता और अनिश्चितता तथा व्यावहारिकता, चेतना के क्षेत्र में स्वभावतः रहने, विचरण करने व विचार करने वाले सत्यान्वेशियों को नितान्त भिन्न अर्थ प्रदान करती पाई जाती है। साधारण सत्यान्वेषियों के मनों पर यह प्रभाव पड़ा हुआ है कि महान सन्त और ऋषि, उल्लेखनीय गुरु—जिन्हें प्राय: चरम सत्य व मानव-जीवन के परम आदर्श का प्राप्तिकर्ता माना जाता है—चरम सत्य और आदर्श की धारणा या ज्ञान में एक-दूसरे से भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। विभिन्न गुरुओं के शिष्य भिन्न-भिन्न दार्शनिक व धार्मिक सप्रदायों में विभक्त हैं, और प्रायः अपने गुरुओं के उपदेशो के मण्डन तथा दूसरो के खण्डन में तर्क-युद्ध करते रहते है। ये झगड़े कभी तय नहीं होते और वे बौद्धिक- स्तर, व्यावहारिक प्रज्ञा के स्तर पर तय हो भी नहीं सकते।

मानव-जीवन के चरम-आदर्श को प्रकट करने वाला सबसे सरल शब्द मोक्ष या मुक्ति है, जिसे भारत के प्राय: सभी वर्गों के धार्मिक और दार्शनिक विचारकों ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है इस शब्द का प्रारम्भिक अर्थ निषेधात्मक है, किन्तु साथ ही मानव-बुद्धि के समक्ष हमारे सामान्य अनुभव के वास्तविक तथ्यो मे चरम आदर्श का उच्चतम गौरव-मण्डित आदर्श प्रस्तुत करता है। जब इस शब्द के महत्व पर गंभीरता-पूर्वक विचार कर इसकी व्यापकता को जान लिया जाता है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि यह निषेधात्मक तो प्रतीत होता है, किन्तु यह आदर्श समस्त मगलमयी विभूतियों का भण्डार है, जिसकी प्राप्ति आत्म-चेतन मानव-जीवन की सम्पूर्ण मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर देती है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि मोक्ष का तात्पर्य प्राय. सभी आचार्यो या गुरुओं ने समस्त सभव दु:खों से पूर्ण स्वतत्रता या उनका निवारण बताया है। गहन विचार करने पर यह स्वमेव एक चरम वास्तविक आदर्श के रूप मे प्रकट हो जाता है, जब यह प्राप्त हो जाता है तब वह पूर्ण दु.खमय स्थिति, आत्मचेतन मनस् का पूर्ण आनन्द, पूर्ण आत्म-विलास, अस्तित्व की पूर्णता प्रतीत होती है। कोई भी आत्म-चेतन व्यक्ति अपनी सामान्य स्थिति में, समस्त सभव व यथार्थ दु:खों से छुटकारा पाने के लिये स्वयं को सज्ञा-शून्य निर्जीव पुद्गल मे अथवा

स्वय को समूल मिटा देना नही चाहता । यह सब मानते है कि जीवन और मनस् निर्जीव और मनरहित पुद्गल से श्रेष्ठ है, कि जीवन मृत्यु से श्रेष्ठतर है, यद्यपि सम्पूर्ण सामान्य अस्तित्व-स्तरो पर जीवन और मनस् दु.खों से परिपूर्ण हो सकते है । पूर्ण दु:खरहितता जीवन और मनस् के आदर्श के रूप में जीवन और मनस् की पूर्ण तृप्ति की ओर सकेत करती है, न कि जीवन और मनस् के आमूल विनाश की ओर । जीवित और सचेतन प्राणी को जीवन और मनस् को शुद्ध कर 'पूर्ण दु:ख-निवृत्ति' की स्थिति पर उठाना चाहिये, न कि जड़ पाषाणों की स्थिति पर गिर कर, दु.ख निवारणार्थ आत्महत्या कर लेनी चाहिये । ऐसा करना घोर पतन का प्रतीक होगा । जीवन और मनस् की पूर्णता की स्थिति वर्तमान सामान्य अपूर्ण व्यावहारिक स्तर से नितान्त भिन्न हो सकती, है जिसके विषय में इस स्तर से कोई अनुमान भी नही लगाया जा सकता । उस परम अवस्था मे जीवन और मनस् अपनी सामान्य व्यावहारिक दशाओं को पार कर सकते है, किन्तु सामान्य व्यावहारिक अवस्थाओं मे उनकी सभावनाओ का पूरा-पूरा ज्ञान उस दु:खरहित चरम अवस्था मे प्राप्त होता है। वह आनन्दावस्था है, जिसके लिये प्रत्येक प्राणी का हृदय व्याकुल है और जिसकी अभीप्सा सर्वदा व्यावहारिक चेतना के धरातल पर प्रकट नही भी हो सकती है । निश्चित रूप से यह एक निषेधात्मक आदर्श न होकर, जीवन का सर्वाधिक प्रेरणादायक वास्तविक आदर्श है ।

अस्तु, क्या कारण है कि अपने जागरूक जीवन के सामान्य स्तर पर हम उस अखण्ड आनन्द या सम्पूर्णानन्द को पाने में असफल रहते है ? इस प्रश्न का सामान्य उत्तर है, जैसा कि भगवान् बुद्ध ने कहा, कि यह इसलिये होता है कि हम इच्छाये रखते है और ये इच्छाये कभी सन्तुष्ट नही होतीं । समस्त दु:खों का स्रोत इच्छाओं को बताया गया है, जो हमारे वास्तविक जीवन में कभी भी सतुष्ट होती प्रतीत नही होती । किन्तु जब हम दु.खों और इच्छाओं के स्वरूप पर गंभीरता पूर्वक विचार करते है, यह निश्चित रूप से निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन किसके कारण है । सचेतन जीवन में इच्छाये दु:खों की आवश्यक संगिनि पाई जाती है । जब दु.खों का अनुभव होता है, दु.खों को दूर करने की इच्छा उत्पन्न होती है । इस प्रकार हमारे व्यावहारिक जीवन मे इच्छायें प्राय: दु:खों से उत्पन्न होती अनुभव की जाती है । अपने सामान्य अनुभव के आधार पर हम यह दृढतापूर्वक कैसे कह सकते है कि दु खों का वास्तविक कारण इच्छाये होती है ? क्या हमारी इच्छाये क्षुधा और पिपासा रोगों और शारीरिक कष्टों, हमारी वृद्धावस्था और दुर्बलताओं, हमारी प्रतिकूल जलवायु-दशाओ, प्रकृति की क्रूरताओं, हिंसक पशुओं, हमारी विपत्तियों तथा मृत्यु-वेदनाओं इत्यादि को उत्पन्न करती हैं ? हमारी – भोजन और जल, स्वास्थ्य और विश्राम, वस्त्र और आरक्षण, धन और सुरक्षा इत्यादि की इच्छाये उन कारणों से स्वाभाविक रूप से उत्पन्न दु.खों का अनुसरण करती है । उन कारणों के विरुद्ध संघर्षो के लिये किये गये कार्यों का इच्छाये अनुसरण करती हैं । किस प्रकार दु:खों के उन कारणों

को इच्छाओं का परिणाम माना जा सकता है ? निस्सन्देह अनेक कृत्रिम इच्छायें या महत्वाकांक्षायें हो सकती हैं और उनकी अतृप्तियाँ भी, जो कि अग्रिम दुःखों का कारण हो सकती है, प्रायः सचेतन मनों मे उनकी अधिक विकसित अवस्थाओं या स्तरों में विकसित हो सकती है। अपने सामान्य अनुभव के आधार पर हम किस प्रकार निष्कर्ष निकाल सकते है कि समस्त दुःखों का मूल इच्छा है ? दुःखों के विरुद्ध संघर्षों में इच्छा प्रथम चरण हो सकती है, किन्तु वह इनकी आवश्यक पूर्वापेक्षा या कारण नही हो सकती।

यह तर्क दिया जा सकता है कि यदि हम अपने सामान्य चेतन जीवन में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाले इन दुःखो को बिना किसी आपत्ति के स्वीकार करले, यदि हम उनसे छुटकारा पाने का संघर्ष न करें, अर्थात् इन दुःखों के प्रति हम अपनी आखे बन्द कर ले, तो उनकी चुभन मिट जायेगी और हमारी चेतना उनसे पीड़ित नही होगी; यदि यह भी सभव हो जाये तो इससे यह सिद्ध नहीं होगा कि दुःख का कारण इच्छा है। वरन् इसका अर्थ तो होगा दुःख के प्रति पतित आत्म-समर्पण तथा दुःख के क्रूर शासन में विवशतापूर्ण सन्तुष्टि। दुःख के साम्राज्य में दुःख के प्रति पूर्णतया उदासीन बन एक इच्छारहित निष्क्रिय जीवन व्यतीत करना निश्चित रूप से आनन्द या पूर्ण आत्म-तुष्टि का जीवन नहीं होगा। यह तो जीवन को निर्जीव में परिणत कर देने, चेतना को अचेतन स्तर पर उतार देने के तुल्य होगा। बिना एक पूर्णरूपेण वांछनीय तथा चेतना की आनन्दमय स्थिति के अनुभव के वांछनीय तथा अवांछनीय के भेद मात्र से मुक्ति मानव-जीवन का कोई प्रेरणास्पद आदर्श नहीं हो सकती।

अपने व्यावहारिक जीवन मे विभिन्न प्रकार के दुःखो से पीड़ित व जन-साधारण को महायोगी बुद्ध ने उपदेश दिया कि 'सर्व दुःखम्' तथा समस्त दुःखों व समस्त दुःखों की समस्त भावनाओ से छुटकारा पाने के लिये, अस्तित्व (जीवन) तथा भावी अस्तित्वों की समस्त सभावनाओ से छुटकारा पाना अनिवार्य है। जीवन (अस्तित्व) से उनका तात्पर्य व्यावहारिक या सांसारिक जीवन से, काल-दिकाश्रित ऐसे जीवन से है' जिसमे सर्व क्षणिक, अस्थायी, अरक्षित होता है। ऐसे ही अस्तित्वों से समस्त आत्म-चेतना मनों को उनके अनुभव जगत् के अन्दर बाहर की वस्तुओ से परिचय प्राप्त होता है। अतः उनकी शिक्षाये थी कि ऐसे अनिश्चित क्षणिक व अस्थायी जगत् के पदार्थों की इच्छायें तथा उनमे आसक्ति और जीवन व भोग पदार्थों के स्थायित्व की वासना रसना-जीवन को दुःखमय बना देती है। यदि संसार की समस्त बाह्य व आन्तरिक वस्तुओं के क्षणिकत्व, अस्थायित्व व नाशवान स्वरूप का बोध मन में गहराई से उतर जाता है तथा मन से समस्त इच्छाये तथा आसक्तिया दूर कर दी जाती हैं, तो दुःखानुभूति भी समाप्त हो जाती है, अथवा कम-से-कम मन भौतिक व शारीरिक दशाओं में किसी भी प्रकार के परिवर्तन से विचलित न होगा, क्योंकि परिवर्तन उनका स्वभाव है।

इच्छाओं और आसक्तियों के अभाव मे मन समस्त अस्तित्वों के क्षणिक स्वभाव के ज्ञान से आलोकित होकर वांछनीय तथा अवांछनीय, सुखद तथा दुःखद, शुभ तथा अशुभ, गुण और दोष, पुण्य और पाप आदि के भेदो को पार कर जायेगा और इस प्रकार समस्त दुःखों से परे उठ जायेगा। ऐसे तत्वज्ञानालोकित मन पर कर्म-नियम का कोई प्रभाव न पड़ेगा और इस प्रकार इसका कोई पुनर्जन्म न होगा। यह स्थायी अहंभाव से, व्यक्तित्व-भाव से मुक्त होगा; इस ज्ञानालोकित, पूर्णरूपेण दुःखरहित, शान्त और स्थिर मनःस्थित को बुद्ध 'निर्वाण' कहते हैं, जो मोक्ष या मुक्ति का पर्यायवाची है।

किन्तु तब इस अहंकाररहित या व्यक्तित्वरहित तत्वज्ञानालोकित मनस् का क्या होगा? इसका अस्तित्व रहेगा या न रहेगा? जब तक शारीरिक जीवन रहता है तब तक निस्सन्देह इसका (मनस्) व्यावहारिक अस्तित्व रहता है। लेकिन उसके अनन्तर क्या होता है? भगवान् बुद्ध की भाषा में अस्तित्व का अर्थ अस्थायी, सदा-परिवर्तनशील या क्षणिक, दुखःपूर्ण व्यावहारिक अस्तित्व से है, अतएव शाब्दिक रूप मे कहने के लिये तत्व-ज्ञानालोकित मन को 'अन-अस्तित्व' की अवस्था में पहुँच जाना चाहिये। किन्तु बुद्ध के उपदेशो से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'महा-परि-निर्वाण' से उनका तात्पर्य अस्तित्व के पूर्ण निषेध से नही है, किन्तु वह अनिवर्चनीय पारमार्थिक अस्तित्व की ओर सकेत करता है, जो पूर्णरूपेण शान्त व स्थिर, काल-दिकादि की सीमाओं के परे, पूर्णतया शान्त और आनन्दमय है। व्यावहारिक अस्तित्व से मुक्ति और पारमार्थिक अस्तित्व की प्राप्ति को भगवान बुद्ध ने मानव-जीवन का परम आदर्श बतलाया है।

किन्तु वह क्या है जो इस अनन्त शाश्वत शान्तिपूर्ण स्थिति तथा स्थिर पारमार्थिक अस्तित्व की अवस्था को प्राप्त करता है? क्या तर्क से व्यावहारिक मनस् को व्यावहारिक स्तर से उठकर पारमार्थिक स्तर पर पहुँचने वाला माना जा सकता है? बौद्ध दर्शन के अनुसार व्यावहारिक मनस् स्थायी एकरूप सत्ता नहीं है, वरन् क्षणिक इकाइयों की अस्थायी क्रमता है। यह काल (समय) का अतिक्रमण कर सकता है? अपनी मौलिक परिवर्तनशील प्रकृति से मुक्त होकर इसका अस्तित्व कैसे संभव है? यदि, जो उसकी क्रमता को धारण रखता है, वह नष्ट हो जाता है, तो निस्संदेह उसका अस्तित्व भी समाप्त हो जाना चाहिये तथा फिर निर्वाण प्राप्त करके उसकी स्थिरता व शान्ति का आनन्द भोगने को कोई वस्तु (इकाई) न रहेगी। भगवान् बुद्ध प्रायः इस समस्या पर मौन रहे, क्योंकि वह दर्शन-शास्त्र या तत्वविद्या के उलझन में डालने वाले प्रश्नों से दूर ही रहकर निर्वाण-जिज्ञासुओं को शारीरिक और मानसिक आत्मानुशासन तथा लोक-करुणा या सहानुभूति के साथ-साथ निस्वार्थता, मोहरहितता और इच्छा-रहितता के अभ्यास के व्यावहारिक पथ का प्रदर्शन करना चाहते थे। सत्यान्वेषियों को वे निर्वाण या मोक्ष का कोई स्पष्ट यथार्थ विचार न दे सके, क्योंकि, ऐसा लगता है, व्यावहारिक मनस् की पृष्ठभूमि में स्थित आत्मा के विषय में

उन्होंने पूर्ण मौन धारण करने का दृढ़ निश्चय कर रखा था। उन्होंने प्रायः आत्मा शब्द का प्रयोग व्यावहारिक मनस् या अहंकार या व्यावहारिक आत्म-चेतना के लिये किया और इस प्रकार इसके स्वरूप को परिवर्तनशील, दुःखग्रस्त व नाशवान् बतलाया।

समस्त महान् हिन्दू संत और दार्शनिक व्यावहारिक मनस् (अर्थात् मन, बुद्धि और अहंकार) की पृष्ठभूमि में स्थायी रूप से स्थित अपरिवर्तनीय, अविनाशी, स्वयं-प्रकाश, सर्वसत्ताकेन्द्र के रूप में आत्मा के विचार को अधिकतम महत्व प्रदान करते हैं। उन सबके मतानुसार आत्मा अपने मूल रूप में समस्त दुखों से निर्लिप्त, वैयक्तिक मनस्, बुद्धि, अहंकार, प्राण और शरीरों को प्रभावित करने वाले समस्त प्रकार के परिवर्तनों से अप्रभावित रहता है। शुद्ध चेतना इसका मूल स्वरूप है। यद्यपि यह विशिष्ट मानसिक भौतिक शरीरों से सम्बन्धित है, तथापि इसका मूल स्वरूप इन शरीरों की व्यावहारिक दशाओं, सीमाओं और बन्धनों से मुक्त है। शरीर का यह स्वयं-प्रकाश केन्द्र है। समस्त भौतिक, जैविक और मानसिक इन्द्रियाँ इसके चारों ओर अपने कार्य-कलापों को पूरा करती तथा विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों में से होती हुई चलती हैं। यह उन सबके परिवर्तनों व विभिन्नताओं का साक्षी व सर्व-संगठनकर्ता है, यह उन सबके कार्यों और परिवर्तनों को प्रकाशित करता है, किन्तु अपने मूल स्वरूप में यह उन सबसे परे है।

यह आत्मा मनुष्य का सच्चा सार है। उसकी व्यावहारिक अहंता के पीछे यह स्वयं-प्रकाश अपरिवर्तनीय आत्मा है। यह आत्म-चेतन है, जबकि व्यावहारिक अहं की चेतना इससे उत्पन्न होती है। व्यावहारिक अहं स्वयं-प्रकाश आत्मा से प्रकाशित होता है, यह अन्तर्निहित आत्मा की चेतना से सचेतन होकर पदार्थ व स्वयं का ज्ञान प्राप्त करता है, इस प्रकार आत्मा अहंकार, मन तथा व्यावहारिक अनुभव या ज्ञान के समस्त पदार्थों का सच्चा द्रष्टा या ज्ञाता या भोक्ता है, तथापि वह स्वयं इस दृष्टत्व या ज्ञातृत्व या भोक्तृत्व में अपरिवर्तित रहता है। समस्त दृश्य, समस्त परिवर्तनों और रूपान्तरों का यह शुद्ध साक्षी है। व्यावहारिक मन या अहं के ज्ञान-अज्ञान का यह साक्षी है। यह ज्ञान, कर्म, इच्छा, अनुभूति, पीड़ा आदि समस्त मानसिक प्रक्रियाओं का साक्षी है, यह उन सबको व्यावहारिक चेतना के समक्ष प्रकट करता है, किन्तु स्वयं किसी भी प्रकार से इन प्रक्रियाओं से विचलित या उद्वेलित या प्रभावित नहीं होता है।

समस्त व्यावहारिक परिस्थितियों में आत्मा अपनी मौलिक पूर्णता से युक्त, शान्त और स्थिर, पूर्णतया आत्म-संतुष्ट और आत्म-चेतन, पूर्णतया पारमार्थिक, काल-दिक् से परे, चरम अवस्था में स्थित रहता है। यद्यपि व्यक्तिगत मानसिक भौतिक शरीर में यह व्यक्तिगत प्रतीत होता है, तथापि आत्मा अपने आप में निराकार है, व्यक्तित्व के समस्त भाव से मुक्त है, क्योंकि यह शरीर की सीमाओं, दशाओं, सुखों, दुःखों, अपूर्णताओं, अभिलाषाओं तथा प्राप्तियों व

असफलताओं आदि में भाग नहीं लेता है। यद्यपि यह व्यक्तिगत प्रतीत होता है, तथापि प्रत्येक आत्मा वास्तव मे सर्वव्यापक और असीम है। यद्यपि यह स्वय को एक विशिष्ट व्यावहारिक क्लिष्ट शरीर मे व्यक्त करता है, फिर भी मूल स्वरूप में यह पारमार्थिक है। समस्त दु.ख और अपूर्णताये, बन्धन, अभिलाषाये तथा मुक्ति की अभीप्साये व्यावहारिक अहं तक निहित रहती हैं, जब कि 'आत्मा' अहं के अस्तित्व व चेतना का आधार व पृष्ठभूमि है, अतएव मूलतः यह उन सबसे निर्लिप्त रहता है। भारत के महान् दार्शनिकों व धर्माचार्यों के अनुसार आत्मा की यही धारणा है। इसके अनुसार उनका मत है कि पूर्णतया दु खरहित अस्तित्व की स्थिति की प्राप्ति का वास्तविक अर्थ व्यावहारिक अहं द्वारा अपने पारमार्थिक आधार आत्मा के मूल स्वरूप को जान लेना है, जिसकी यह एक व्यावहारिक आत्माभिव्यक्ति है। इस प्रकार आत्म-दर्शन को मानव-जीवन का चरम आदर्श माना गया है, आत्मा का स्पष्ट तात्पर्य सच्चे पारमार्थिक आत्मा से है। आत्मा व्यावहारिक अहं का पारमार्थिक आधार और सक्रिय केन्द्र तथा अन्तिम या चरम लक्ष्य है।

समस्त प्रमुख हिन्दू धार्मिक-दार्शनिक मत आत्मा या प्रत्येक जीवित प्राणी के सारतत्व की इस गौरवमय और प्रेरणापूर्ण धारणा पर आधारित है। प्रत्येक स्त्री, पुरुष, बालक को वे बतलाते हैं—तुम जन्म, बुद्धि और रोग-ग्रस्त मृत्यु व वृद्धावस्था से पीड़ित यह भौतिक शरीर नहीं हो, तुम कालान्तर में विघटित और क्षीण हो जाने वाली प्राण-शरीर-व्यवस्था नही हो, तुम विभिन्न प्रकार की इच्छाओं, संवेगों, कल्पनाओं, स्वप्नों, विभ्रमों, विचारों और चिन्ताओं से ग्रस्त, सुख-दुःख भोगने वाले मनस् नही हो, तुम सन्देहों. त्रुटियों और अपूर्णताओ से ग्रस्त बुद्धि नही हो, और न ही तुम उन सबकी समष्टि हो, तुम अपने मूल स्वरूप में उन सबके परे हो, यद्यपि तुम बाह्य रूप से उन सबसे सम्बन्धित प्रतीत होते हो और उन सबके सक्रिय या शक्ति-केन्द्र के रूप में उनकी व्यावहारिक गतिविधियो, संघर्षों, वेदनाओं और प्रसन्नताओं में भाग लेते हो, तथापि तुम अपने मौलिक रूप में उन सबके परे हो तथा उनकी सीमाओं, परिवर्तनों, विकारों और ह्रासो, प्रसन्नताओं व दु.खों से असम्पृक्त रहते हो।

वे साहस और विश्वास से कहते हैं कि जीव की वास्तविक आत्मा मे न कोई अपूर्णता, न सीमा और न जन्म या जरा या मृत्यु ही है। और न ही वह उन्नति, अवनति, इच्छा या अभिलाषा या सघर्ष या दुःख से पीड़ित है। शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, उनकी अपूर्णताये एव सुख-दुःख आदि आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञान न होने से आत्मा के गुण बतलाये जाते है। जब व्यक्ति इस अविद्या से छुटकारा पाकर आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो वह समस्त दुखों तथा दुःखों की सम्भावनाओं से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाता है। वास्तव में यह ज्ञान व्यावहारिक ज्ञानेन्द्रिय को आलोकित व सूक्ष्म करने पर, गहन ध्यान धारणा से मनस् और बुद्धि को शुद्ध कर आत्मा के पारमार्थिक

स्वरूप पर ध्यान एकाग्र करने पर व अह् को पूर्णरूपेण आत्मा के विचार में लीन कर देने पर ही प्राप्त होता है। जब इस प्रकार व्यावहारिक अह् पूर्णरूपेण पारमार्थिक आत्मा से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, जब अहं पारमार्थिक आत्मा के ज्ञान से पूर्णतया आलोकित हो जाता है, तब पूर्ण आत्म-ज्ञान या आत्म-दर्शन होता है तथा समस्त दु:खो, बन्धनों और अपूर्णताओं से मुक्ति प्राप्त हो जाती है, व्यावहारिक अह्, पूर्णरूपेण शुद्ध होकर पारमार्थिक आत्मा से तादात्म्य प्राप्त करके यह देखता है कि वह मूलत और शाश्वत रूप से दु:ख से अप्रभावित है।

अपने को पहचानो, आत्म-स्वरूप मे स्थित हो, दु:खरहित मूलत पारमार्थिक आत्मा को अपने व्यावहारिक अह् या चेतना मे पहचान कर समस्त प्रकार की अपूर्णताओ, दुर्बलताओं, आवश्यकताओ और अशुद्धताओं से मुक्त हो जाओ—वेदों के समय से आज तक समस्त हिन्दू धर्म के दार्शनिक मतों ने यह आदर्श मनुष्य के समक्ष रखा है। जब तक आत्मा व्यावहारिक, मानसिक एव भौतिक शरीर में निवास करता है, तुम्हें निस्सन्देह शरीर और मन से सक्रिय रहना चाहिये, परन्तु तुम्हें अपने सच्चे आत्मा के असीम और शाश्वत पारमार्थिक स्वरूप की तत्वज्ञानालोकित चेतना के साथ आचरण करना चाहिये और इस प्रकार बिना किसी प्रकार की इच्छा, आसक्ति, चिन्ता और व्यग्रता, मोह या घृणा तथा प्राणिमात्र में भेद-भाव को त्याग कर आचरण करना चाहिये। इसे जीवन-मुक्ति की अवस्था कहा गया है।

ऐसा तत्वज्ञानालोकित मुक्त पुरुष यद्यपि बाह्य रूप से मानसिक-भौतिक दशाओं और सीमाओं के अन्तर्गत व्यावहारिक जगत् में रहता, विचरण करता और कार्य करता है, तथापि वह अन्तर मे समस्त बन्धनों और सीमाओं, समस्त आवश्यकताओं और दु:खो, समस्त शुभाशुभ, समस्त पुण्य-पापों से मुक्त रहता है। यद्यपि वह संसार में रहता है, फिर भी अपनी आन्तरिक चेतना में वह सर्वदा ससार के ऊपर रहता है। यद्यपि वह प्रत्यक्ष रूप में सीमित और परिवर्तनशील जीवन व्यतीत करता है, तथापि वह अन्तर मे जानता है कि उसकी आत्मा समस्त सीमाओं एवं परिवर्तनों के परे है और वह मूलतः सबसे एक रूप है। पार्थिव प्रतीत होने वाले समस्त परिवर्तनों मे वह आन्तरिक रूप से सर्वदा पूर्णता एवं आनन्द का उपयोग करता रहता है। उसके कार्य सर्वदा स्वाभाविक रूप से विश्व-प्रेम व दया से प्रेरित होते है और वे संसार के पीड़ित व्यक्तियों के नैतिक तथा आध्यात्मिककल्याणमें अपना योगदान करते हैं, किन्तु अन्तर में वह जानता है कि न वह कर्म करता है और न उस पर कार्य किया जाता है, कि न वह शुभ कर्म करता है और न अशुभ, कि न वह मानवों के दु:खों को दूर करता है और न उन्हे दु:ख देता है। उसमें कोई अहंभाव और मेरे पन का भाव नही है। इसके अतिरिक्त बाह्य रूप से कार्य करते हुये भी वह वही दु:खरहित मुक्त पारमार्थिक आत्मा को सर्वत्र देखता तथा स्वयं की आत्मा व सर्व-आत्मा में मौलिक एकत्व अनुभव करता है। एक जीवनमुक्त का जीवन कर्म में अकर्म, सीमित और परिवर्तनशील

वातावरणो मे अपरिवर्तनशील और असीम के आनन्द का जीवन है, ससार के दु:खों व चिन्ताओं मे अखण्ड स्थिरता व आनन्दमयता का जीवन है, अस्तित्व और सुख के लिये संघर्षरत पारस्परिक द्वेष-घृणा के इस ससार में उसका जीवन विश्व-प्रेम, करुणा और बन्धुत्व का जीवन है। यह जीवन का एक महान् आदर्श है।

किन्तु आत्मा का क्या होता है, जब यह व्यावहारिक मानसिक-भौतिक शरीर के दृश्यमान सम्बन्ध से पूर्णतया मुक्त हो जाता है? भौतिक मृत्यु मे साधारणतया स्थूल देह का नाश होता है, किन्तु आत्मा सूक्ष्म शरीर से सम्बन्धित रहता है, अर्थात् व्यष्टिगत चेतना, वासना या तृष्णा और समस्त पूर्व सस्कारों के पूर्व पाप-पुण्यों सहित आत्मा से संलग्न रहती है और नवीन भौतिक शरीर व जन्म धारण कर भौतिक जगत् में दु:खों, सघर्षों और सुख-भोगों के नवीन मार्ग का यह कारण बन जाता है। किन्तु जब गहनतम समाधि में असीम और शाश्वत पारमार्थिक आत्मा का पूर्ण अनुभव व व्यावहारिक अह का पूर्ण आत्मतत्वज्ञाना-लोकन हो जाता है, तब वैयक्तिक अहं-चेतना अपने समस्त विकारों सहित समाप्त हो जाती है और आत्मा पूर्णरूपेण अपनी प्रतीत होने वाली व्यावहारिक शरीर-गत सीमाओं से मुक्त हो जाता है और इस प्रकार समस्त दु:खों व उनकी संभा-वनाओं से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। तब पुन: इस ससार या किसी अन्य लोक में जन्म धारण कर नये परिवर्तनशील और क्षणिक सुख-दु:खों को भोगने का कोई कारण शेष नहीं रहता।

यहाँ तक भारत के महान् धार्मिक गुरुओं और दार्शनिकों में कोई विशेष मतभेद नहीं है। किन्तु अपनी समस्त व्यावहारिक उपाधियों से पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद करने के पश्चात् आत्मा का अस्तित्व कैसा होता है? स्पष्टतया यह विषय प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभव का इतना नहीं, जितना दार्शनिक कल्पना का। इस प्रश्न पर महान्तम आचार्यों के मत, उनके दार्शनिक दृष्टिकोणों के अनुरूप, भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि आत्मा को प्राय: हमारे समस्त व्यावहारिक-वैयक्तिक अनुभवों और चेतनाओं का आधार और स्वयं-प्रकाश केन्द्र माना जाता है, व्यावहारिक मानसिक शरीर से पृथक् व सम्बन्धरहित आत्मा की कोई चेतना या अनुभव होना, उस अर्थ में सम्भव नहीं, जिसे हम समझ सके। जब आत्मा पूर्णरूपेण व्यावहारिक चेतना से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, तो स्पष्टतया व्याव-हारिक चेतना का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। पारमार्थिक आत्मा के बिना भी यदि व्यावहारिक चेतना का अस्तित्व संभव हो सकता, तब भी पृथक् आत्मा को, यह अनुभव या ज्ञान का पदार्थ नहीं बना सकती। इस प्रकार पूर्ण शरीर-विच्छेद के पश्चात् आत्मा के स्वरूप की समस्या का कोई समाधान प्रतीत नहीं होता है। यह देखा जा चुका है कि भगवान् बुद्ध ने संभवत: अपने सार्व-देशिक, नैतिक और धार्मिक उपदेशों को समस्त दार्शनिक जटिलताओं से मुक्त रखने के दृष्टिकोण से पूर्णरूपेण तत्वज्ञानालोकित आत्मा के विषय में कोई

निश्चित सिद्धान्त प्रस्तुत करने या स्वीकार करने का निषेध कर दिया था। उन्होंने इसे सत् या असत्, चेतन या अचेतन आदि कहकर निषेध कर दिया, क्योंकि ये समस्त शब्द व्यावहारिक तात्पर्य रखते है तथा इनका प्रयोग हमारे व्यावहारिक अनुभव-क्षेत्र मे किया जाता है। तत्वज्ञानालोकित जैन सन्तो का उपदेश है कि शरीर-रहित अवस्था मे आत्मा, शरीर बन्धन से मुक्त, कर्म और वासना से परे, पारमार्थिक आध्यात्मिक अस्तित्व के उच्चतर स्तरो पर उठती हुई चरम कैवल्य अन्तिम स्तर पर प्राप्त कर लेती है। अध्यात्म-जिज्ञासुओं के समक्ष उन्होने आध्यात्मिक आनन्द व ज्ञान के आन्तरिक मार्ग की ओर एक अनन्त उन्नति या प्रगति का आदर्श प्रस्तुत किया है।

सांख्य-मत के प्रवर्तक महासिद्ध कपिल की घोषणा है कि पुरुष जब प्रकृति-जनित मानसिक-भौतिक शरीर से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाता है और इस प्रकार जब इसका प्रकृति से अनादि सम्बन्ध टूट जाता है, तब यह स्पष्टतः अपने शाश्वत मूल स्वरूप को पा लेता है। अर्थात स्पष्टत· यह अपनी पारमार्थिक मौलिक अवस्था मे शुद्ध अपरिवर्तनीय असीम स्वयं-प्रकाश पारमार्थिक मौलिक अवस्था में चेतना को प्राप्त कर, समस्त दु ख-सुखो तथा समस्त भाव, ज्ञान, इच्छा और प्रयास आदि से मुक्त हो जाता है। उनके तत्वशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार पुरुष अपने मूलस्वरुप मे भी अनन्त और असख्य है, यद्यपि काल और दिक् से परे होने पर पारमार्थिक रूप मे वे असीम और शाश्वत है। इस प्रकार पूर्णतया मुक्तावस्था व अशरीरी अवस्था मे भी पुरुष किसी व्यक्तित्व या सापेक्षिकता के भाव के बिना भी अनेक व पृथक रहते है। प्रत्येक पूर्ण कैवल्य अवस्था मे स्थित रहता है। कैवल्य प्राप्त पुरुषों के लिये, सम्पूर्ण जगत-व्यवस्था अस्तित्वहीन जैसी हो जाती है, यद्यपि यह समस्त बद्ध पुरुषो के लिये सत्य प्रतीत होती रहती है।

योगसूत्रों के रचयिता (किन्तु योगमत के जन्मदाता नही) योगाचार्य पतञ्जलि कपिल के तत्वशास्त्रीय दृष्टिकोण को स्वीकार करते है और इसके अनुसार शरीर रहित मुक्त आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप के विषय मे जो धारणा उन्होने प्रस्तुत की, वह कपिल की धारणा के अनुरूप ही है। शुद्ध, एकाग्र व्याहारिक चेतना के द्वारा आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त होने पर यह अपने मौलिक पारमार्थिक स्वरूप मे स्थित रहता है और जब यह व्यावहारिक-मानसिक-भौतिक शरीर तथा इसके स्रोत (प्रकृति) के सम्बन्ध से पूर्णतया मुक्त हो जाता है, तब यह असीम स्वय-प्रकाश पारमार्थिक अवस्था में स्थित रहता है। यह चरम आदर्श है, जिसकी सिद्धि के लिए योगाभ्यास द्वारा सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करना परमावश्यक है।

गौतम का न्याय-दर्शन व कणाद का वैशेषिक-दर्शन एक भिन्न तत्व-शास्त्रीय दृष्टिकोण का प्रतिपादन करता है। उनके अनुसार भौतिक जगत अनन्त, शाश्वत व चतुर्विध परमाणुओं से उत्पन्न होता है। आकाश, दिक् और काल भी शाश्वत् सत् इकाईयाँ है। असख्य अणु रूप मनस् भी है, असंख्य आत्माये भी हैं

तथा एक परमात्मा या उनका सर्वनियन्ता ईश्वर भी है। ईश्वर ने भौतिक पुद्गलों से स्वछंदता से बुद्धिपूर्वक व स्वेच्छा से काल-दिक् के अन्तर्गत समस्त प्रकार के व्यष्टि-शरीरो से युक्त इस ब्रह्माण-व्यवस्था को रच दिया है तथा अपनी योजना व व्यवस्था के अनुसार वैयक्तिक संगठित शरीरो के साथ मनसों व जीवात्माओं को जोड़ दिया है। इन दर्शनो के अनुसार यद्यपि चेतना, ज्ञान, इच्छा और प्रयास आत्माओं के गुण हैं। तथापि, मनस और इंद्रियों के संबन्ध के बिना उनकी कोई यथार्थ व्याहारिक चेतना ज्ञान, इच्छा और प्रयास नही हो सकते। जब यह व्याहारिक चेतना भक्ति और ध्यान-धारणा की समुचित प्रतिक्रियाओं द्वारा पूर्ण रूपेण शुद्ध व विकार-रहित होकर प्रभु-कृपा से आध्यात्मिक ज्ञान के स्तर पर उठ जाती है, जीवात्मा का मनस और इद्रियों से सम्बन्ध टूट जाता है और आत्मा मानसिक-भौतिक-शरीर के दु:खमय बन्धन से मुक्त हो जाती है। तब इसमें न कोई ज्ञान, न इच्छा, न प्रयास तथा न कोई चेतना ही होती है। यह इसका असीम और पारमार्थिक स्वरूप है। और यह शाश्वत रूप से समस्त दु:ख-सुखों व सीमाओं से पूर्णरूपेण मुक्त होकर उस पारमार्थिक काल-दिकातीत अचेतन स्थिति में रहती है। उपनिषद् और वेदान्त-दर्शन जीव व ब्रह्म के तादात्म्य की बड़ी ही प्रेरणास्पद घोषणा करते है। यह समझ लेना चाहिये कि उपनिषदो में जो ब्रह्म की धारणा प्रस्तुत की गई है, उसका जैन और बौद्ध धार्मिक-दार्शनिक मतों में कोई स्थान नही है और सॉख्य-मत में ब्रह्म पुरुषों की अनेकता के अतिरिक्त कुछ नहीं था, जो प्रकृति व इसके बन्धनों से पूर्णतया मुक्ति की अवस्था की ओर सकेत करता था, ईश्वर-जिस पर पातंजलि समाधि-जिज्ञासुओं को ध्यान एकाग्र करने का आदेश देते हैं, उपनिषदों व वेदान्त का ब्रह्म नही है, किन्तु एक पुरुष विशेष, शाश्वत, स्वयं-प्रकाश, समस्त प्रकार के बन्धनों से मुक्त:, समस्त योगियों का शाश्वत प्रेरक व चरम आर्दश है। गहन योगाभ्यास द्वारा जो जीवात्माये समाधि प्राप्त कर लेती हैं, उनका स्वरूप ईश्वर जैसा हो जाता है, किन्तु वे उससे तादात्म्य नहीं प्राप्त कर लेती।

नैयायिकों का ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है, किन्तु उपादान या भौतिक कारण नही, उसका आधार नहीं, वह व्याहारिक जगत का परमेश्वर है, किन्तु अन्तर्यामी नहीं, वह समस्त जीवात्माओं पर शाशन करता है, उनको न्यायदेता है,उन पर दया कर उन्हें आशीर्वाद देता है, अपने दयामय पूर्ण-आलोकित विवेक द्वारा उन्हें दु:ख और बन्धन से पूर्ण छुटकारा प्रदान करता है, किन्तु वह इन जीवों की आत्मा नही है, ये जीवात्माये उसकी आध्यात्मिक आत्माभि-व्यक्तियां नहीं हैं, ये जीवात्मायें पूर्ण मुक्ति की अवस्था में भी, ईश्वर में विलीन या तद्रूप नही हो जाती हैं। केवल एक अद्वैत, असीम, अनन्त, शाश्वत और पूर्ण सत्-चित्त-आनन्द कारणत्व व सापेक्षिकता से परे, पारमार्थिक, एकमात्र सत्ताके रूप में ब्रह्म की धारणा, अनन्त विचित्रताओं, जटिलताओं, परिवर्तनों, विरोधों और व्यवस्थाओं से युक्त इस व्यावहारिक जगत को ब्रह्म की, उसके पारमार्थिक स्वरूप में

बिना परिवर्तन के कालदिक के अन्तर्गत आत्माभिव्यक्ति मानने की धारणा, जीवों की ब्रह्म से मौलिक एकता या तादात्म्य की धारणा, उपनिषदों और वेदान्त द्वारा प्रचारित महान् और मनोहारी धारणाये है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जीवात्मा जब व्याहारिक मानसिक-भौतिक शरीर तथा व्याहारिक जगत् के मिथ्या बन्धन से मुक्त और तत्वज्ञानालोकित हो जाता है, तब वह ब्रह्म या परमात्मा से अपना एकत्व व तादात्म्य जानकर ब्रह्ममय हो जाता है।

इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक प्राणी की सच्ची आत्मा और विश्वात्मा एक ही ब्रह्म है। आत्मसाक्षात्कार अर्थात ईश्वर-साक्षात्कार या ब्रह्म-साक्षात्कार जीवन का चरम लक्ष्य है। जिस व्यक्ति को ब्रह्म-साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है, उसके लिये अनेकता मिथ्या है, समस्त भेद मिथ्या है, समस्त जन्म-मरण सुख-दुःख मिथ्या है तथा काल, दिक, कारणत्व एव सापेक्षिकता भी मिथ्या है. ये भ्रम या मिथ्या धारणाये वास्तविक सत्य पर अविद्या के आवरण से उत्पन्न होती हैं। समस्त ब्रह्माड ऐसे अगों से युक्त है, अतः इसे माया की उत्पत्ति माना गया है। आत्म-दर्शन, जो ब्रह्म-दर्शन ही है, चरम सत्ता या ब्रह्म इस मायिक जगत के आधार का प्रत्यक्ष साक्षात्कार है। ऐसे ब्रह्मज्ञानी के लिये मिथ्या जगत लुप्त हो जाता हैं, केवल आत्मा या ब्रह्म एकमात्र अद्वैत सत्ता के रूप मे स्थित रहता है। वेदान्त के दृष्टिकोण से मुक्ति या मोक्ष का यह यथार्थ स्वरूप है। यह स्पष्ट है कि इसे आत्मा की शरीरी अवस्था में योग और ज्ञान के द्वारा प्राप्त करना होगा, जब उस साक्षात्कार के अनन्तर मानसिक-भौतिक शरीर कालान्तर में नष्ट हो जाता हैं, तब जीव का व्यक्तित्व लुप्त होकर अद्वैत ब्रह्म अपने अनावृत रूप में आलोकित हो उठता है। आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर जीव का अपने शरीर की अन्तर्चेतना मे अद्वैत ब्रह्मानन्द का आत्मानुभव जीवन-मुक्ति कहलाता है, जिसमें तत्व-ज्ञानालोकित व्यक्ति अपने अन्दर स्वय व जगत का ब्रह्म से तादात्म्य या अद्वैत का दर्शन करता है, जब कि वह बाह्यरूप से व्यावहारिक जगत् में एक जीव की भाँति रहते हुए भी इच्छा, मोह, चंचलता, खेद, भय, घृणा या चिन्ता आदि से मुक्त रहता है। जब उसका भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है, उसका मानसिक शरीर भी उसके साथ नष्ट हो जाता है। उसका मिथ्या व्यावहारिक अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह ब्रह्म से तादात्म्य की स्थिति में रहता है। इसे "विदेहमुक्ति" कहा जाता है।

भारत में कई धार्मिक-दार्शनिक मत हैं, जो अंशतः द्वैतवादी हैं और अंशतः अद्वैतवादी। वे उपनिषदों, भगवद्गीता और ब्रह्म-सूत्रों की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं, जिन्हें 'प्रस्थनत्रय' कहा जाता है, किन्तु वे उन पर शका और उनके प्रसिद्ध मत की चरम अद्वैत-टीकायें स्वीकार नही करते हैं। वे मानते हैं कि ब्रह्म एकमात्र चरम सत्ता है, किन्तु वे केवल अनिर्वचनीय माया के इस मिथ्या प्रपञ्च के निर्गुण, अपरिवर्तनीय, भेदरहित आध्यात्मिक आधार के रूप में ब्रह्म के अस्तित्व को अस्वीकार करते है। उनकी मान्यता है कि व्यावहारिक जगत्-व्यवस्था

ब्रह्म की यथार्थ शक्ति की सच्ची अभिव्यक्ति है। जैसे कि शक्ति शक्तिमान् ब्रह्म से पृथक् या स्वतत्र नहीं रह सकती, वैसे ही शक्ति की यह काल-दिकाश्रित भव्य अभिव्यक्ति भी ब्रह्म से पृथक् या स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रख सकती। वह ब्रह्म कालदिक् से परे सर्वव्यापक, सर्वान्तियमी तथा प्रापंचिक जगत् की अपरिवर्तनीय आत्मा है।

तार्किक रूप से कुछ सम्प्रदाय शक्ति को ब्रह्म से भिन्न, यद्यपि ब्रह्म पर आश्रित मानते है, अन्य अनेक ब्रह्म से अभिन्न (क्योंकि इसका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है) मानते है तथा कतिपय अन्य भिन्न-अभिन्न दोनों मानते हैं। इसी के अनुसार ब्रह्माण्ड-व्यवस्था व ब्रह्म से उसके सम्बन्ध का वर्णन भिन्न-भिन्न मतों ने भिन्न-भिन्न तार्किक रूपों मे किया है। ब्रह्म को एकमात्र चरम आध्यात्मिक सत्ता तथा जगत् का आत्मा, स्वामी, आधार और एकमात्र कारण प्राय: सभी मतों ने स्वीकार किया है।

पुन: वे इसका खण्डन करते हैं कि जीवों का व्यक्तित्व-अनेकत्व मिथ्या है, किन्तु ब्रह्म से पूर्ण एकत्व व तादात्म्य रखते है। उनकी मान्यता है कि जीवात्माये केवल व्यावहारिक रूप में ही नही, किन्तु पारमार्थिक रूप में भी अनेक व व्यक्तिगत है कि वे अमारूप में ब्रह्म के शाश्वत अश व ज्योतिकण है कि वे यद्यपि पृथक् अस्तित्व धारण किये हुए हैं, तथापि शाश्वत रूप से ब्रह्म में ब्रह्म के लिये स्थित रहते है। इस प्रकार जीवात्मा के आत्म-दर्शन या तत्व-दर्शन, जिसमें मुक्ति या मोक्ष निहित रहता है, का अर्थ ब्रह्म से पूर्ण तादात्म्य न होकर अपनी शुद्ध मौलिक पारमार्थिक आनन्दमय प्रकृति (समस्त सांसारिक बन्धन और दु:ख, इच्छाओं और आसक्तियों, सघर्षो और व्याकुलताओं से मुक्त) का ब्रह्म के अन्तर्गत ज्ञान प्राप्त करना है। मुक्ति में आत्मा अपने व्यक्तित्व व अपूर्णताओं से मुक्त होकर ब्रह्म के मधुर सामीप्य का आनन्द भोगती है।

उपरिवर्णित धार्मिक-दार्शनिक मत मुख्यतया भक्ति-मार्ग के प्रवर्तक है और वे ब्रह्म के सगुण रूप का प्रबल समर्थन करते हैं। वे उसे पुरुषोत्तम, समस्त मगल गुणों का भाण्डार मानते है। वह शाश्वत, पूर्ण ब्रह्म आत्म-विलास या लीला हेतु जगत् का सृजन करता है और स्वयं नाना प्रकार के रूप धारण कर आनन्द भोगता है। भक्त उसके अनेक पवित्र नाम रखकर उससे विविध प्रकार के प्रेममय सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वे गहन एकाग्रता से भगवान् से गभीर आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित कर उनके ध्यान में समाधि दशा प्राप्त कर लेते है। ब्रह्म अपनी असीम कृपा व प्रेम से सच्चे भक्त की चेतना में ज्ञानज्योति प्रकट कर उसकी आत्मा को मानसिक-भौतिक शरीर की सीमाओं और अपूर्णताओं के बन्धन से मुक्त कर देता है और इस प्रकार व्यावहारिक-सांसारिक जीवन के समस्त संभव दु:खों से मुक्ति प्रदान कर देता है।

इन संप्रदायों के तत्वज्ञानालोकित भक्तों का मत है कि स्थूल व्यावहारिक जगत् में शरीरी अवस्था से मुक्त होकर जीवात्मा ब्रह्म के आनन्दमय आध्यात्मिक

क्षेत्र में प्रवेश करती है और अपनी आलोकित चेतना मे ब्रह्म के शाश्वत आध्यात्मिक सम्बन्ध का उपभोग करती है । वे प्राय: अशरीरी अवस्था में जीवात्माओं की, उनकी साधना के अनुरूप, विभिन्न प्रकार की मुक्ति बतलाते है, यथा-साष्टि, सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य और एकत्व । कुछ प्रेमोन्मत्त भक्त प्रत्येक प्रकार की मुक्ति के विचारमात्र का तिरस्कार कर कामना करते है कि पारमार्थिक-आध्यात्मिक-आनन्दमय स्तर पर उनकी मुक्त आत्माये सर्वदा भगवान् की निस्वार्थ व प्रेममय सेवा करती रहें। यह भी विश्वास किया जाता है कि पारमार्थिक-आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रेमी मुक्त आत्माये ब्रह्म या भगवान् के प्रति उसी प्रकार भक्तिभावमयी रहती है, जिस प्रकार प्रेममयी पत्नी अपने पति के प्रति, प्रेममयी मां अपने बच्चे के प्रति, सखा अपने मित्र के प्रति, सेवक अपने स्वामी के प्रति इत्यादि। ठीक जैसे व्यावहारिक जगत् मे होता है, किन्तु ये सम्बन्ध व्यावहारिक जगत् की सीमाओं और अपूर्णताओ से मुक्त होते है ।

तथापि, मुक्ति के इन विभिन्न रूपों की धारणाये अद्वैत वेदान्त के मौलिक सिद्धान्तो के विरुद्ध नही हैं। न ही वेदान्त सगुण ब्रह्म की धारणा के विरुद्ध है । माया या शक्ति से युक्त ब्रह्म सगुण या ईश्वर है, किन्तु वह माया से बाधित नही है और इसीलिये उसे अपने चरम पारमार्थिक स्वरूप में निर्गुण मानना उचित व तर्कयुक्त प्रतीत होता है । जब यह ध्यान किया जाता है कि ब्रह्म से पृथक् या अतिरिक्त कुछ भी नही है, चाहे उस पर आश्रित हो या स्वतन्त्र, तब उसे केवल अद्वैत और निर्गुण माना जाता है, पुन: जब उसे असीम शक्ति या माया से युक्त परमात्मा माना जाता है, तब वह सगुण ब्रह्म या ईश्वर है ।

स्पष्टतया, वह शाश्वत रूप में दोनों ही है, क्योकि काल के अन्तर्गत शक्ति या माया इसे किसी न किसी रूप में प्रकट करती है । अद्वैत वेदान्त मौलिक अभेद के अंग पर विशेष बल देता है और सत्ता का प्रारूप केवल अभेद पारमार्थिक परमात्मा या निर्गुण ब्रह्म पर ही प्रयुक्त करता है तथा तार्किक रूप मे उसके सगुण रूप को उसके मौलिक पारमार्थिक रूप से भिन्न मानकर केवल व्यावहारिक या प्रतीतिमात्र मानता है । इसके विपरीत भक्ति-सम्प्रदाय इस सगुण रूप को परमात्मा का मौलिक रूप मानते हैं एव उसके निर्गुण रूप को वस्तुत: एक तार्किक भाव मात्र (**Logical Abstraction**) मानते हैं ।

व्यावहारिक धार्मिक आत्मानुशासन के हेतु परमात्मा के अनन्त गुणों से युक्त सगुण रूप को सबने स्वीकार किया है । सगुण ब्रह्म के सम्बन्ध में जीवात्माये उनकी आत्माभिव्यक्तियाँ या ज्योतिकण हैं और अपने यथार्थ आध्यात्मिक रूप मे ब्रह्म से तादात्म्य प्राप्त किये हुये मानी जाती हैं। जीवात्माये, स्थूल मानसिक-भौतिक शरीर से आत्मज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्त कर, उच्चतर आध्यात्मिक स्तरों पर विभिन्न प्रकार की मुक्ति का उपभोग कर सकती है, किन्तु वेदान्त के अनुसार, वे सब माया के क्षेत्र के अन्तर्गत ही हैं तथा इस प्रकार माया के जगत् से आत्यन्तिक मुक्ति उन्हें प्राप्त नही प्रतीत होगी । निस्सन्देह वे माया के

उच्च लोकों में उच्च जीवनों का उपभोग करती है। पूर्ण मुक्ति (आत्यन्तिक मुक्ति) ब्रह्म से पूर्ण तादात्म्य प्राप्त करने में निहित रहती है।

वेदान्त तथा बहुत से अन्य मत मुक्ति के दो प्रकार मानते हैं :—एक तात्कालिक मुक्ति या 'सद्योमुक्ति' अर्थात् भौतिक देह के नष्ट होते ही पूर्ण मुक्ति या ब्रह्म से अद्वैत प्राप्ति; और दूसरी 'क्रम-मुक्ति'–उच्चतर पारमार्थिक आध्यात्मिक स्तरों पर उठते हुये, अस्तित्व व अनुभव के उच्चतर लोको में परिष्कृत अति भौतिक स्वरूप धारण करते हुये, अन्त में ब्रह्म-तादात्म्य प्राप्त करना। सद्योमुक्ति उन जीवात्माओं को प्राप्त होती है, जिनकी व्यावहारिक चेतना वर्तमान भौतिक शरीर में अविद्या के आवरण से पूर्णतया मुक्त हो चुकी है, किन्तु अन्य जीवात्माये जिनकी चेतना अह, व्यक्तित्त्व व अविद्या के भावों से पूर्णरूपेण मुक्त नही हुई है, वे क्रमश. या शनैः शनैः उच्चतर आस्तित्व व अनुभव के आध्यात्मिक स्तरों पर उठते हुये, आध्यात्म-प्रगति के एक लम्बे मार्ग को पार कर अन्त में ब्रह्म से तादात्म्य प्राप्त करते हैं।

माया की रचना—यह ब्रह्माण्ड व्यवस्था प्रायः चौदह लोकों से युक्त मानी जाती है। सात मनुष्येतर है और वर्तमान प्रसग मे उनका वर्णन अनुपयुक्त होगा। एक हमारा लोक है, जिसे 'भूः', कहते हैं, जिसमें हम रहकर आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि विभिन्न प्रयास करते हैं। इस भूलोक के ऊपर अस्तित्व व अनुभव के छः लोक ये हैं:—भुवः, स्वः, मनः, जनः, तपः, सत्य (श्रेष्ठतर क्रम मे) भूः, भुवः और स्वः त्रिलोक परस्पर संबंधित माने जाते हैं। समस्त जीवात्मायें अपने सूक्ष्म शरीरों सहित भुवः लोक में प्रवेशकर अपने शुभाशुभ कर्मो के अनुसार सुख-दुःख पाती है। कर्म-भोग-काल के अनन्तर उनमे से अनेक भूः पर स्थूल भौतिक शरीर धारण कर जन्म लेती हैं। जिन्होंने अधिक पुण्य कर्म किये और उनके अनुसार अधिक सुख पाने के अधिकारी है, वे स्वः लोक पर चले जाते हैं। अपने पुण्य फलों का उपभोग करने के पश्चात् वे भी इस भू लोक पर उत्पन्न होते हैं। जो इस स्वः लोक को भी पार कर ऊपर उठ सकते है, वे मुक्ति के क्षेत्र में प्रवेश कर उच्चतर लोकों में अधिकाधिक आनन्द का तब तक उपभोग करते रहते हैं जब तक पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर लें। उन्हें पुनः जन्म धारण नहीं करना पड़ता।

महायोगी गोरखनाथ अन्य भारतीय धार्मिक-दार्शनिक मतों के अनुसार यह मानते हैं कि मानव-जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष या मुक्ति है और वह मुक्ति आत्मा के मौलिक पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेने में निहित है। जैसा कि पूर्व अध्यायों में देखा जा चुका है वे उपनिषदों और वेदान्त के इस मत को स्वीकार करते हैं कि शिव या ब्रह्म प्रत्येक व्यष्टि-शरीर में वास्तविक आत्मा हैं, किन्तु वे शिवत्व या जीवत्व को अनिवर्चनीय माया की उपज नही मानते हैं। उनका मत है कि परमात्मा, शिव या ब्रह्म या चाहें जो नाम दीजिये—अपनी निजा-शक्ति द्वारा स्वयं को वास्तव में व्यावहारिक ब्रह्माण्ड-व्यवस्था तथा इसके

अन्तर्गत असंख्य प्रकार व स्तर के व्यष्टि-शरीरों के रूप में अभिव्यक्त कर उनका स्वामी, अन्तर्यामी तथा असंख्य व्यष्टि-शरीरों में उतने ही जीवात्माओं के रूप में विराजमान हैं। उन्होंने अपनी आलोकित योग-दृष्टि से देखा कि शिव या ब्रह्म स्वयं को क्रीड़ा भाव से इस जटिल, अद्भुत् जगत् में असख्य जीवात्माओं के रूप में व्यक्त कर सदा परिवर्तनशील मानसिक-भौतिक शरीरो की सीमित व वाधित दशाओ को धारण कर विभिन्न प्रकार के सुख-दुःखों एवं बन्धनो को स्वीकार कर विलास कर रहे हैं। महायोगी गोरखनाथ ने समस्त लोकों के समस्त प्रकार के दृश्यों में शिव-भक्ति-विलास के दर्शन किये।

अस्तु, शिव-शक्ति की इस ब्रह्माण्ड-लीला मे, प्रत्येक जीवात्मा मूलतः आध्यात्मिक रूप में शिव की एक आत्माभिव्यक्ति होने के कारण अपने अन्दर शिव से तादात्म्य प्राप्त करने की एक सहज प्रवृत्ति रखती है और इस चरम लक्ष्य को ध्यान में रखकर व्यावहारिक शारीरिक अस्तित्व के समस्त वास्तविक बन्धनों, अपूर्णताओं व सीमाओं से छुटकारा पाना चाहती है। दुःख एक प्रेरक शक्ति के रूप मे महान् आध्यात्मिक मूल्य रखता है, यह समस्त प्रकार के बन्धनों और सीमाओं के विरुद्ध सघर्ष कर शिवत्व के चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर करने में सर्वाधिक प्रेरक तत्व होता है। प्रत्येक जीवात्मा को, विभिन्न शरीरों में विभिन्न दुःखमिश्रित अनुभवों में से होते हुये, अन्त में पूर्ण आनन्दमय शिव-चेतना या शिव से तादात्म्य प्राप्त करना है। इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के हृदय में यह एक आश्चर्य-जनक योजना है। शिव आँखमिचौनी का खेल खेलते लक्षित होते हैं।

इस प्रकार जीवात्मा की योग-साधना द्वारा पूर्ण शिवत्व की प्राप्ति गोरख-नाथ और उनके संप्रदाय द्वारा मानव-जीवन का चरम लक्ष्य माना जाता है। सच्चे अर्थों में यह योग है। गोरखनाथ योग शब्द का साध्य और साधन दोनों अर्थों में प्रयोग करते हैं। वे योग की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—'संयोगोयोग इत्याहुः क्षेत्रज्ञ परमात्मनोः' अर्थात् योग शब्द से तत्वज्ञानालोकित योगी जीवात्मा और विश्वात्मा, जीव और शिव, अहं और ब्रह्म के मिलन का अर्थ लेते हैं। यह लक्ष्य या साध्य के रूप में योग है। भौतिक शरीर, इन्द्रियों, प्राण-शक्तियों, मानसिक क्रिया-कलापों, बौद्धिक निर्णयों इत्यादि का व्यावहारिक चेतना की शुद्धि और आलोकित के लिये व्यवस्थित अनुशासन और अन्त में इसे पारमार्थिक शिव-चेतना के स्तर पर उठाना, साधन के रूप में योग है।

गोरखनाथ द्वारा प्रतिपादित योगानुशासन मूलतः अन्य प्राचीन योगाचार्यों तथा पतंजलि के योग-सूत्रों में वर्णित अष्टाग-योग जैसा ही है, किन्तु उन्होंने और उनके संप्रदाय ने विभिन्न प्रकार के आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध, वेष, धारणा, ध्यान, अजपा, नादानुसन्धान, कुण्डलिनी-जागरण इत्यादि का विभिन्न रूपों मे विशद वर्णन प्रस्तुत कर योगमार्ग में अद्भुत योगदान किया। यम और नियम, समस्त मानवों (चाहे वे व्यवस्थित रूप से योगाभ्यासी हों या न हों) के पालन करने योग्य सर्वव्यापक नैतिक सिद्धान्तों का भी उन्होंने व्यापक वर्णन प्रस्तुत

किया। यह योग-साधना की प्रक्रियाओं की व्याख्या करने का स्थल नही है। वर्तमान प्रसग में महत्वपूर्ण बात यह है कि पातजलि व गोरखनाथ, दोनो के संप्रदायों के अनुसार समाधि योग की पूर्णता है तथा इसी कारण योग शब्द का समाधि के अर्थ में प्रायः प्रयोग किया जाता है, इसीलिये सब योग-मतों मे दु खों और बन्धनों से छुटकारा पाने तथा आत्म-पूर्णता के लिये समस्त मानव-प्रयासो का आदर्श समाधि मानी गई है। समाधि की टीका करते समय पतंजलि चित्तवृत्ति-निरोध पर अत्यधिक बल देते प्रतीत होते है, यद्यपि यह भी बताया गया है कि आंतमा का पारमार्थिक स्वरूप समाधि दशा मे निश्चित रूप से प्रकट होता है। गोरखनाथ विराट् शक्तियों और मानसिक शक्तियों पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त करने पर तथा समाधि दशा में व्यावहारिक चेतना के पूर्ण तत्वज्ञानालोकन पर अधिक बल देते प्रतीत होते है। तब व्यष्टि चेतना विश्व-चेतना बन जाती है, जीव-भाव शिव-भाव को प्राप्त कर लेता है और मनस् अपने से परे उठकर अति-मनस् को प्राप्त कर लेता है।

समस्त भारतीय धार्मिक-दार्शनिक मतों के तत्वज्ञानालोकित योगी-गुरुओं ने समाधि के विभिन्न स्तर व प्रकार बतलाये है। मनस के व्यपारों का पूर्ण अथवा आशिक निरोध, कम से कम वर्तमान के लिऐ समाधि के समस्त प्रकारों का समान तत्व है। किन्तु केवल चित्त-वृत्त-निरोध, पूर्ण होने पर भी, आवश्यक रूप से व्यहारिक चेतना के आध्यात्मिक आलोकन तथा आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप की सिद्धि नही कराता है। आध्यात्मिक ज्ञान व सत्य-दर्शन के उद्देश्य से, समाधि का अन्य सहायक योग-क्रियाओं के साथ किसी तत्वज्ञानालोकित योगी के कुशल निर्देशन में विधिपूर्वक अभ्यास करना चाहिये, जो साधक या शिष्य को संभव विपत्तियों, भ्रान्तियों तथा सफलताओं के त्रुटिपूर्ण मूल्याकनों से बचा सके। अध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति में पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिये, स्वय को योग्य गुरु को रखने के निर्देशन में रखने की आवश्यक्ता प्रत्येक मत के प्रत्येक धर्म गुरु ने बतलाई हैं। गोरखनाथ कहते हैं:—

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्व दर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां बिना ।।

समाधि, अस्थायी चित्त-निरोध के रूप मे, व्यहारिक चेतना के निम्न स्तरों पर भी प्राप्त की जा सकती है। किन्तु पूर्ण दिव्य-ज्योति इस चेतना को आलोकित कर समस्त सीमाओं, बन्धनों और दुखो से मुक्त कर आत्मा के सच्चे पारमार्थिक दिव्य स्वरूप का दर्शन तभी कराती है, जब वह चेतना पूर्ण शुद्ध विकार रहित होकर उच्चतम आधात्मिक स्तर पर समाधि दशा प्राप्त कर लेती है। उस स्तर पर भी समाधि के विभिन्न प्रकार या स्तर हो सकते हैं और इस प्रकार सत्य-दर्शन या आत्म-दर्शन के भी विभिन्न रूप या प्रकार हो सकते है।

'यत समत्वं द्ववयोस्त्र जीवात्म-परमात्नोः ।
समस्त नष्ट संकल्पः समाधि. सो भिधीयते ।।
अम्बु सेन्धवयोखय यथाभवति योगतः ।
तथात्मामनसौख्य समाधिरमिधीयते ।।
यदा संलीयते जीवो मानसं च क्लीयतं ।
तदा समरसत्वं हि समाधिरमिधीयते ।।'

प्रथम श्लोक में वे कहते हैं—समाधि व्यावहारिक चेतना की उस स्थिति का नाम है, जिसमें जीव और परमात्मा के पूर्ण एकत्व का पूर्ण दर्शन प्राप्त होता है और जिसमें सम्पूर्ण मानसिक प्रक्रियाओं का लोप हो जाता है।

दूसरे श्लोक में वे कहते है—ठीक जिस प्रकार योग-प्रक्रिया द्वारा लवण जल का पूर्ण ऐक्य प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार जब मन या व्यावहारिक चेतना योगाभ्यास से आत्म-चेतना से पूर्ण तादात्म्य प्राप्त कर लेती है, तब वह अवस्था समाधि कहलाती है।

तीसरे श्लोक में वे कहते है—जब जीव का व्यक्तित्व शिव या ब्रह्म की स्वयं-प्रकाश पारमार्थिक एकता मे पूर्णरूपेण विलीन हो जाता है और व्यावहारिक चेतना भी पूर्णरूपेण शाश्वत असीम पारमार्थिक चेतना में बिलीन हो जाती है, तब पूर्ण समरसत्व सिद्ध हो जाता है और यह दशा समाधि कहलाती है।

'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' में गोरखनाथ समाधि की परिभाषा इस प्रकार करते है—सर्वतत्वानां समावस्था निरुपमत्वं अनायास स्थितिमत्वं
इति समाधि लक्षणम्'।

अस्तित्वो के समस्त स्तरों की आध्यात्मिक एकता का दर्शन, चेतना की पूर्णरूपेण प्रयासरहित या सहज स्थिति और पूर्णता, स्थिरिता, शान्ति व धैर्य का जीवन व्यतीत करना—यह समाधि का लक्षण या स्वरूप है।

गोरखनाथ का 'समरसकरण' एक भव्य आदर्श है और इसे वे समाधि से भी श्रेष्ठ स्थान प्रदान करते प्रतीत होते है। निसन्देह सामरस्य की सिद्धि के पूर्व की दशा समाधि है। समरसकरण केवल सामान्य व्यावहारिक चेतना के समस्त प्रकार के भेदों से ऊपर उठकर समाधि दशा में पारमार्थिक चेतना से पूर्ण ऐक्य प्राप्त करने में ही निहित नही है। समरसकरण का तात्पर्य है—परमात्मा या शिव की व्यावहारिक आत्माभिव्यक्तियों के समस्तरूपों और समस्त स्तरों में तथा सामान्य जागृत व्यावहारिक चेतना स्तर पर आनन्दानुभूति, पूर्ण स्थिरता व शात गभीरता। इसका तात्पर्य है विशिष्टि व्यावहारिक चेतना की स्थायी तत्व-ज्ञानालोकित आध्यात्मिक स्थिति, जिसमें चेतना स्वयं को व्यावहारिक जगत् की विभिन्नताओ के अनुभव से दूर नही कर लेती (जैसा समाधि में होता है) और न ही यह कभी भूलती है कि ये समस्त विभिन्नतायें शिव या ब्रह्म की नानात्मक व्यावहारिक आत्माभिव्यक्तियां है और इस प्रकार मूलतः शिव से अभिन्न हैं और न ही

यह कभी जीवात्माओं और परमात्मा तथा समस्त विभिन्नताओं की मौलिक एकता की दृष्टि खोती है।

एक तत्वाज्ञानालोकित योगी, जो समरस-स्थिति को प्राप्त कर लेता है, वह विभिन्नताओं और उनमें निहित एकता को साथ-साथ देखता और भोगता है; वह जागृत रूप से सीमित भौतिक वस्तुओं की अनेकता के साथ व्यवहार करता है और साथ ही उनमें एक अनन्त शाश्वत आत्मा के दर्शन करता है; वह व्यावहारिक जगत् में विभिन्न प्रकार के विशिष्ट पदार्थों को देखता या अनुभव करता है और साथ ही वह उनमें शिव या ब्रह्म को अभिव्यक्त अनुभव करता है; वह बाह्य रूप से जीवों के दुःख-सुख में भाग लेता है और साथ ही इन समस्त क्षणिक विशिष्ट सुख-दुःखों के बीच आन्तरिक परमानन्द का अनुभव करता है। समस्त विभिन्नताओं और परिवर्तनों में रहते और विचरण करते हुये, वह अन्तर में सर्वदा आनन्दमय अपरिवर्तनीय आध्यात्मिक एकता के क्षेत्र में निवास करता है। वह सबमें स्वयं को तथा स्वयं को सबमे देखता है व आनन्द भोगता है। गोरखनाथ इसे सहज समाधि और जागृत समाधि भी कहते हैं। 'नाथ' या 'अवधूत' का यह वास्तविक चरित्र है। प्रत्येक योगी अपने शारीरिक जीवन में इस जागृत समाधि को प्राप्त करने की अभीप्सा रखता है।

'गोरख-सिद्धान्त-संग्रह' में मोक्ष या मुक्ति की परिभाषा इस प्रकार की गई है—'नाथस्वरूपेण अवस्थिति' अर्थात् नाथ-भाव की पूर्ण-सिद्धि, जिसका अन्तिम तात्पर्य शिवत्व की प्राप्त है। इसे अवधूत दशा की प्राप्ति भी कहा गया है।

नाथ के लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं :—

> 'निर्गुणं वामभागे च सव्यभागेद्भुता निजा।
> सव्यभागे स्वयं पूर्णस्तस्मै नाथाय ते नमः॥
> मुक्ताः स्तुवन्ति पादाब्जे नखाग्रे जीवजातयः।
> मुक्तामुक्तगतेर्मुक्तः सर्वत्र रमते स्थिरः॥
> बाम-भागे स्थितः शंभुः सव्ये विष्णु नथैव च।
> मध्ये नाथः परं ज्योतिः तद्ज्योर्मत् तमोहरम्॥

उसके वाम अंग में (अर्थात् पारमार्थिक चेतना में) निर्गुण रहता है और दक्षिण अंग में (अर्थात् शुद्ध तत्वज्ञानालोकित व्यावहारिक चेतना में) अद्भुत विशिष्ट निजा शक्ति रहती है। मध्य में स्वयं नाथ अपनी पूर्णता में आलोकित है। मैं इस नाथ के समक्ष मस्तक झुकाता हूँ (और स्वयं नाथ बनने की अभीप्सा रखता हूँ)।

समस्त स्तर के जीवित प्राणी नाथ के चरण-नखों पर अपने हृदयों की आराधना अर्पित कर रहे हैं (अर्थात् उनके लिये भी पूर्णतया मुक्त, तत्व ज्ञानालोकित, सर्वद्रष्टा, सर्वभोक्ता, पारमार्थिक चेतना परम वांछनीय वस्तु तथा

विकास का अन्तिम लक्ष्य है) । जिन्होंने स्वय को इस ऐन्द्रिक जगत् के दु खो व बन्धनों से मुक्त कर स्वच्छन्दता व सुख के उच्चतर लोकों तक उठा लिया है, वे भी नाथ के चरणों में भक्ति-भाव से निवास कर रहे हैं। नाथ जिस चेतना-स्तर पर निवास करते हैं, वह वद्ध और मुक्त दोनों की चेतनाओं के स्तर से ऊपर है। वह व्यावहारिक अनुभव के समस्त स्तरों व क्षेत्रों में तत्वज्ञानालोकित दृष्टिकोण व शान्त-गंभीर स्थिरता में स्वयं का आनन्द भोगता है।

तीसरे श्लोक में कहा गया है—उसके वामपार्श्व में शंभु है (परमात्मा अपने सर्व पारमार्थिक रूप में) और दक्षिण पार्श्व में विष्णु हैं (पमात्मा अपने सर्वव्यापक रूप में)। मध्य में नाथ पूर्ण दिव्य ज्योति के रूप में प्रकाशित हैं। वह दिव्य ज्योति मेरे अज्ञानान्धकार का नाश करे।

'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' में सिद्ध-योगी के निम्न लक्षण बतलाये गये है।

'प्रसारं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेद् सिद्धयोगिराट् ॥
विश्वातीतं यथा विश्वं एकमेव विराजते।
संयोगेन सदा यस्तु सिद्ध-योगी भवेद् तु सः ॥
परिपूर्ण प्रसन्नत्मा सर्वासर्वपदोदितः।
विशुद्धो निर्मरानन्दः स भवेद् सिद्धयोगिराट् ॥

प्रथम श्लोक का अर्थ है—शक्ति प्रापंचिक ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के प्रसार में अभिव्यक्त है और शिव इसके संकोचन में। जो शिव-शक्ति का तादात्म्य अपनी पूर्ण अलोकित चेतना में प्राप्त कर लेता है, वह सिद्धयोगी है। यहाँ शिव-शक्ति के एकत्व का साक्षात्कार जीवन का चरम लक्ष्य कहा गया है।

दूसरे श्लोक का अथ है—पारमार्थिक आत्मा और ब्रह्माण्ड-व्यवस्था-निर्विकल्प समाधि और सामान्य सापेक्षिक अनुभवों की परिवर्तनीय विभिन्नताओं की कालदिकाश्रित व्यवस्था मूलतः एकरूप है (वे परस्पर विरोधी नहीं) जो सम्यक् योग द्वारा पारमार्थिक सर्वव्यापक चेतना में इनकी एकता के दर्शन कर लेता है, वह सिद्धयोगी है। ऐसा सिद्ध योगी सर्वदा काल को कालातीत की छाती पर लेकर निरन्तर आगे बढ़ता हुआ, अनेकता को एकता के वक्षस्थल पर नृत्य करता हुआ, पुद्गल को आत्मा के हृदय पर क्रीड़ा करता हुआ देखता है। वह महाकाल शिव के शान्त, स्थिर, अविचल, शाश्वत, स्वयं-पूर्ण वक्ष पर महाकाली को सृजन, पालन और नाश के विभिन्न खेल खेलते हुये व विभिन्न रसों को प्रकट करते हुये देखता है। वह देखता है कि परमात्मा शाश्वत अविचल भी है और शाश्वत सक्रिय भी। शाश्वत पारमार्थिक भी है और असख्य प्रापंचिक आकार-प्रकारों में अभिव्यक्त भी।

तीसरे श्लोक का अर्थ है—जिसकी चेतना सर्वदा शांत व स्थिर अवस्था में

है, जिसने स्वयं को सब मे सब से परे देख लिया है, जो पूर्णरूपेण शुद्ध है तथा जो पूर्णानन्द व आत्मपूर्णत्व के क्षेत्र मे निवास करता है, वह सच्चा सिद्धयोगी है। वह सब मे स्वय को तथा सबको स्वयं मे देखता है। वह सबके सुख-दु:खों में भाग लेकर सबसे प्रेम, दया व सहानुभूति रखता है, किन्तु साथ ही सबसे परे रहता है। वह सर्वदा अन्तर मे पूर्ण, शान्त, स्थिर, पारमार्थिक एकत्व व अविचल आत्मानन्द की अवस्था में विराजता है। यद्यपि अपने शारीरिक जीवन मे वह एक ऐसे संसार मे निवास करता है, जिसे प्राय: दु.खमय और सघर्षमय कहा जाता है, तथापि अपनी पूर्ण शुद्ध, आलोकित चेतना के कारण वह समस्त प्रकार के दु खों, संघर्षों, वाधाओं से मुक्त, सर्वदा स्वच्छन्दता, पवित्रता व आत्मपूर्णता का अनुभव करता है।

इस प्रकार पूर्ण तत्वज्ञानालोकित सिद्ध योगी समस्त प्रकार की सांसारिक परिस्थितियों में रहते हुये भी, अविचल शिव-चेतना स्थिर रखता है और सघर्ष, वन्धन और दु:खों के इस संसार में बन्धनो, सघर्षो और दु:खों से पूर्ण मुक्ति का आनन्द अनुभव करता है। उसके लिये यह ससार, व्यावहारिक भाषा में, पूर्णरूपेण सुन्दर आध्यात्मिक आनन्द के ससार में परिवर्तित हो जाता है। यह जीवन-मुक्ति की अवस्था है। अशरीरी अवस्था में वह शिव से पूर्ण तद्रूपता प्राप्त कर लेता है, क्योंकि प्रत्येक जीवात्मा शिव की व्यष्टिगत आत्माभिव्यक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है।

गोरखनाथ और उनके सम्प्रदाय के अनुसार, योग का पूर्णरूपेण सफल अभ्यास कई गौरवमय सिद्धियाँ प्रदान करता है। सर्वप्रथम सिद्ध योगी या नाथ सामान्य अनुभव के जगत् की भौतिक शक्तियों व अपने भौतिक शरीर पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त कर लेता है। अपनी इच्छानुसार स्थूल भौतिक शरीर को परिवर्तित करने की शक्ति उसे प्राप्त हो जाती है—अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा आदि सिद्धियां उसकी दासी बन जाती है। वह हर सम्भव चमत्कार कर सकता है तथा मृत्यु को जीत लेता है।

गोरखनाथ और सिद्ध योगी सम्प्रदाय के मत मे पुद्गल और आत्मा मे भेद केवल सापेक्षिक व प्रतीति मात्र है, क्योकि पुद्गल आत्मा का आत्मवाह्यकरण, आत्मशरीरकरण व आत्माभिव्यक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। भौतिक शरीर, सूक्ष्म शरीर, जीवन, मनस्, बुद्धि, व्यावहारिक जगत् की शक्तियाँ—ये समस्त आत्मा की आनन्दमय अभिव्यक्तियां है। योगियों के अनुसार, मानव अपने अन्तर्गत न केवल उन सब में आत्मा के दर्शन करने की शक्ति रखता है, अपितु व्यावहारिक रूप से भौतिक शरीर को जैविक या मानसिक शरीर में परिवर्तित करने अथवा एक मानसिक शरीर से एक या अनेक भौतिक शरीर उत्पन्न करने अथवा भौतिक शरीर के आध्यात्मीकरण अथवा एक भौतिक वस्तु को अन्य भौतिक वस्तु मे रूपान्तरित करने तथा अन्य अनेक कार्य, जो साधारण व्यक्तियों

को चमत्कार लगेंगे, करने की भी शक्ति रखता है। यह सब मानव में निहित आध्यात्मिक शक्ति, जो साधारण जीवन में सुप्त या निष्क्रिय रहती है, के विकास या उद्घाटन से सम्भव है। यह शक्ति व्यवस्थित व समुचित योगाभ्यास से पर्याप्त विकसित की जा सकती है। मानव की आध्यात्मिक या तार्किक इच्छा इतनी बलशाली बनाई जा सकती है कि वह इस व्यावहारिक जगत् मे सर्वशक्तिशाली प्रतीत होने लगे। योग का लक्ष्य केवल व्यावहारिक चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष को ही पूर्णरूपेण आलोकित करना नही है, वरन् चेतना के भावात्मक व क्रियात्मक पक्षों की समस्त निहित योग्यताओं को पूर्णरूपेण सिद्ध कर लेना है; न केवल परमात्मा या शिव का पूर्ण या चरम अनुभव प्राप्त कर लेना है, वरन् परमात्मा की परम शक्ति में भी भाग लेना है।

अध्याय-१८

हिन्दू आध्यात्म-संस्कृति का विकास–[१]

(१) हिन्दुओं की आध्यात्मिक विचारधारा के आधार– वेद

सहस्रों वर्षो से सर्वसामान्य द्वारा वेदों को भारतवर्ष की आध्यात्मिक संस्कृति का उद्‌गम-स्थल व ठोस आधार स्वीकार किया गया है। उदात्त आध्यात्मिक विचारों से युक्त वैदिक मंत्रों का ज्ञान आर्य ऋषियों को सर्वप्रथम कब प्राप्त हुआ इसका सही-सही अनुमान लगाना भी संभव न हो सका है। तीन सहस्र वर्षों पूर्व भी देश के उच्चतम कोटि के प्रखर विद्वानों के मध्य यह एक विवादास्पद विषय रहा है। विभिन्न प्रकार की अध्ययन-सामग्री पर आधारित विभिन्न अनुमानों के निष्कर्ष-स्वरूप, पूर्व और पश्चिम के आधुनिक सत्यान्वेषियों की प्राकल्पनाये न केवल शताब्दियों का वरन् सहस्रों वर्षों का अन्तर प्रकट करती हैं। भारत के अनेक स्थानो पर तत्कालीन कतिपय पुरातत्व खोजों से अनेक विचारकों ने यह अनुमान लगाना प्रारंभ कर दिया है कि वे प्राचीन भारत में आर्यों से पूर्व की सभ्यता व संस्कृति के अस्तित्व की ओर संकेत करती हैं। किन्तु जिन प्रमाणों पर वे अपने इस सिद्धान्त को स्थापित करते हैं कि सिन्धु घाटी की सभ्यता वेदों से भी पूर्व की है, उन्हें अन्य उतने ही प्रसिद्ध विद्वान् नितान्त अपर्याप्त मानते हैं। तथापि यह एक सर्वस्वीकृत निष्कर्ष है कि वेद आर्य जाति व सम्पूर्ण मानव-जाति की आध्यात्मिक तथा बौद्धिक उपलब्धियों की प्राचीनतम साहित्यिक निधि हैं तथा भारतवाषियों की समस्त नैतिक और आध्यात्मिक विचार-धारायें व जीवन-दर्शन पिछले सहस्त्रों वर्षो से उनसे अजस्र रूप में प्रवाहित होकर, उनसे प्रेरित, अनुशासित एव नियंत्रित होते रहे हैं। अधिकतर हिन्दू वेदों को प्रापंचिक जगत् में अन्तर्निहित शाश्वत 'सत्यं' और 'ऋतम्' के स्वय-प्रकट वाग्रूप मानते हैं तथा मानव-जीवन की समस्त नैतिक और आध्यात्मिक समस्याओं और मानव-बुद्धि के समस्त चरम प्रश्नों व मानव-स्वभाव में निहित समस्त आदर्शों एवं समस्त मूलभूत पारमार्थिक रुचियों के 'परम प्रमाण' के रूप में उन पर श्रद्धा रखते है।

किसी भी निष्पक्ष विद्वान् को यह स्पष्ट विदित है कि पिछले तीन सहस्र वर्षों से भी पूर्व के सर्वाधिक प्रभावशाली सन्तों और दार्शनिकों जिनकी मधुर एवं पावन स्मृति आज तक भी सभी वर्गों के लोग धारण किये हुये हैं, ने वेदों को उन अतीन्द्रिय नैतिक आध्यात्मिक सत्यों के क्षेत्र में अकाट्य और वास्तविक पथ-प्रदर्शकों के रूप में स्वीकार किया है, जिन्हें सामान्य मानव-अनुभव व साधारण तार्किक बुद्धि की परिधि से परे माना जाता था, किन्तु उच्चतर व्यावहारिक,

भावात्मक और बौद्धिक जीवन के सम्यक् अनुशासन तथा आलोकन के लिये आवश्यक अनुभव किया जाता था। अपनी परम बिकसित बुद्धि द्वारा उन्होंने यह जान लिया कि श्रेष्ठतम उदात्त आदर्श व विचार, जो वैदिक मंत्रों में अभिव्यक्त हैं, महानतम प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों व कवियों की भी मात्र विचारणा, अनुमान या कल्पना की उपज नहीं हो सकते और वे वस्तुतः पवित्र हृदय व विशुद्ध मनस् वाले ऋषियों की गहनतम चेतना मे किसी अति-बौद्धिक निर्भ्रान्त आध्यात्मिक स्रोत द्वारा 'प्रकट' किये गये है।

वे प्राचीन विचारक मानव-समाज के समक्ष वैदिक सत्यों के उद्घाटन की भी कोई निश्चित तिथि निर्धारित नही कर सके। उन्होंने उन्हे गुरु-शिष्यों की लंबी परंपरा द्वारा प्राप्त किया। ऋषियों को, जिनके पवित्र नाम से विशिष्ट वैदिक मत्रों का सम्बद्ध और स्मरण किया जाता है, उनका रचयिता कभी नहीं माना गया था, वरन् उन्हें सर्वाधिक एकाग्र और आलोकित चेतना-स्तरों पर आत्मोद्घाटित शाश्वत सत्या के विशिष्ट अंगों के विशिष्ट 'ग्रहणकर्ता' के रूप में आदर दिया जाता। उन्हें माध्यम बनाकर प्रतिबौद्धिक आध्यात्मिक स्तर के सत्य मानवीय बुद्धि और भाव तथा शाब्दिक अभिव्यक्ति के स्तरों पर उतर आये। वे वाङ्मय रूप, जिनमें व अति बौद्धिक शाश्वत सत्य उन महान् पवित्र व्यक्तित्वों के मुखों से सहज प्रस्फुटित हुये, इतने मनोहर, इतने शक्तिशाली व इतने आकर्षक थे तथा सत्यान्वेषियों द्वारा इतने पवित्र और महान् माने गये थे कि उन्हें अत्यन्त सावधानी से स्मरण रखा गया और विशुद्ध उच्चारण, लय तथा सगीतमयता का ध्यान रखते हुये उन्हें प्रस्तुत किया गया। वे पीढ़ी दर पीढ़ी सहस्रों वर्षों से होते हुये हम तक आये हैं।

(२) कुछ मूलभूत वैदिक सत्य

वेदों द्वारा प्रकट तथा ऋषियों व तत्वज्ञानालोकित सन्तों द्वारा स्वीकृत व अनुमोदित कतिपय मूलभूत सत्यों का यहाँ सक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जाता है।

प्रथम वेद यह प्रकट करते हैं कि यह भव्य ब्रह्माण्ड-व्यवस्था, जिसके चरम आदि-अन्त की हम कोई तार्किक धारणा नही वना सकते, न केवल भौतिक या यांत्रिक व्यवस्था है, वरन् मूलतः एक आध्यात्मिक, नैतिक और सौन्दर्यात्मक व्यवस्था है। वे इस सत्य का अनावरण करते है कि हमारे सामान्य इन्द्रियगत अनुभव की यह भौतिक एवं नानात्मक दिखाई देनेवाली ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मूलतः एक स्व-सत्-स्वयं-प्रकाश एवं आत्म-प्रकट अनन्त शाश्वत् परमात्मा की कालदिकाश्रित प्रापंचिक आत्माभिव्यक्ति है। यह घोषण की गई है कि प्रापंचिक ब्रह्माण्ड-व्यवस्था की समस्त सीमित और परिवर्तनशील सत्ताओं के समस्त विभिन्न स्तर मूलतः परमात्मा से उत्पन्न हुये हैं तथा परमात्मा ही उनको धारणा करता, उनमें व्याप्त तथा उन पर शासन करता है, कि उनकी उत्पत्ति और नाश-विकास,

ग्रौर ह्रास, संगठन ग्रौर विघटन की प्रतिक्रियाये समस्त ग्राश्चर्यजनक रूप से परमात्मा की व्यावहारिक ग्रात्माभिव्यक्ति के चरम नियम से ग्रनुशासित है ग्रौर जो हमारे ऐन्द्रिय ज्ञान के समक्ष निर्जीव भौतिक पदार्थ प्रतीत होते हैं, वे भी परमात्मा के विशिष्ट प्रतिरूप हैं ग्रौर इस प्रकार ग्रान्तरिक जीवन ग्रौर प्रकाश से परिपूर्ण है।

मानव की व्यावहारिक चेतना सामान्यतया हमारी बाह्य इन्द्रियों को ग्रनुभूत होने वाली वस्तुगत सत्ताग्रों की बाह्य भौतिक विशेषताग्रों से भ्रमित रहती है। वैदिक मंत्र इस चेतना को उनमें ग्रात्मा की जाज्वल्यमान उपस्थिति का पाठ पढाते हैं। पृथ्वी, जल, ग्रग्नि, वायु ग्रौर ग्राकाश मे—सूर्य, चद्र, तारागण, ग्रहों, पर्वतों, समुद्रों, नदियो, बनों तथा समस्त भौतिक, मानसिक, जैविक, सामाजिक तथा राजनैतिक शक्तियों में वे परमात्मा के दर्शन योग्य मनुष्यों के दिव्य चक्षु खोल देते है। वे घोषणा करते है कि एक ग्रनन्त ग्रौर शाश्वत स्वयं-प्रकाश परमात्मा सर्वान्तिर्यामी है तथा विभिन्न प्रकार की व्यावहारिक सत्ताग्रों ग्रौर उनकी विभिन्न प्रकार की शक्तियों, क्रियाग्रो व ग्रभिव्यक्तियो से सबधित विभिन्न देवता वस्तुः उसी एक परब्रह्म के ग्रनेक नाम है। वही एक शाश्वत ग्रात्मा स्वयं को ग्रनेक जीवात्माग्रों ग्रौर भौतिक वस्तुग्रों के रूप मे प्रकट करता है। इस प्रकार वेद ब्रह्माण्ड की एक गरिमामय ग्राध्यात्मिक धारणा प्रस्तुत करते हैं, जो हिन्दू-संस्कृति की एक ग्राधारभूत धारणा है।

दूसरे वेदों से यह भी ज्ञात हुग्रा कि इस काल-दिकाश्रित ग्रसीम ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के समस्त ग्रद्‌भुत ग्रस्तित्व-स्तरों के सम्पूर्ण दृश्य सर्वव्यापक या सर्वगत ग्रनुल्लंघनीय नियमों से प्रशासित हैं ग्रौर ये नियम केवल ग्रप्राकृतिक ग्रथवा भौतिक या यांत्रिक व जैविक ही नहीं हैं, वरन् मानसिक, नैतिक, सौन्दर्यात्मक ग्रौर ग्राध्यात्मिक नियम है। यद्यपि यह ब्रह्माण्ड बाह्य रूप से हमारी सामान्य बुद्धि के समक्ष एक भीषण, ग्रान्दोलनमय, ग्रकल्पनीय, ग्रद्‌भुत, ग्राकस्मिक घटनाग्रों का दृश्य उपस्थित करता दिखाई देता है, घोर सघर्षो ग्रौर प्रतिस्पर्धाग्रों, ग्रसह्य सकटों, कष्टों व दुःखों का भण्डार प्रतीत होता है, तथापि, इन सबके पीछे इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में संयोजन, एकत्व, सहयोग, सेवा, त्याग, न्याय, दया, उदारता के शाश्वत सिद्धान्त हैं, व्यवस्था की ग्रव्यवस्था के ऊपर, पूण्य की पाप पर, शुभ की ग्रशुभ पर, प्रेम की घृणा पर, सौन्दर्य की कुरूपता पर, ग्रानन्द की क्षोभ पर विजय के सिद्धान्त हैं, तथा परम सत्य, परम शुभ, परम सौन्दर्य, सम्पूर्णानन्द व मानव-जीवन के चरम लक्ष्य की क्रमिक प्राप्ति व विकास के सिद्धान्त हैं।

पूण्य व शुभ जो इसकी प्राप्ति में योगदान देता है, इस ब्रह्माण्ड के नैतिक ग्रौर ग्राध्यात्मिक शासन में ग्रनिवार्यतः सुख व ग्रानन्द का प्रदाता है, जो जीवन को उच्चतरस्तरों पर उठाने की प्रेरणा प्रदान करता है। पाप या ग्रशुभ का फल दुःख या खेद होता है, जो निम्न स्तरों से ऊपर उठने के लिए संघर्ष को प्रेरित

करता है । ब्रह्माण्ड में जो अनैतिक, अनाध्यात्मिक व विकास-विरोधी तत्व दिखाई पड़ते हैं वे नैतिक, आध्यात्मिक और विकासात्मक शक्तियों के गौरव व महत्व को बढ़ाते ही है। वेद मानव के समक्ष ब्रह्माण्ड व्यवस्था का एक अत्यन्त गौरव-मय, मधुर एवं आकर्षक, भव्य और पूजनीय चित्र प्रस्तुत करते है। वे मानव-संसार, पशु-जगत् व प्रकृति के व्यापारों में दिखाई देने वाले भीषण और घृणित अंगों की भी अवहेलना नहीं करते किन्तु उनका कहना है कि इस महान् व्यवस्था के ये गौण व सहायक अंग है जो अनन्त और शाश्वत परब्रह्म की प्रापचिक आत्माभिव्यक्ति के रूप में इसके गौरव व महत्व को द्विगुणित कर देते हैं।

वेदों ने हिन्दुओं को इस ब्रह्माण्ड व्यवस्था के प्रति आधिभौतिक दृष्टिकोण के स्थान पर एक आधिदैविक व आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाने की शिक्षा दी क्योंकि इस जड़ प्रतीत होनेवाले जगत् के समस्त क्रिया-कलाप शाश्वत नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों के अनुसार नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियों से प्रशासित होते हैं, जो अन्तत: एक परब्रह्म से शासित है। मनुष्य एक भव्य नैतिक और आध्यात्मिक जगत् में जीवित रहता, विचरण करता और जन्म लेता है, तथा इस नैतिक आध्यात्मिक योजना में आत्मचेतन व आत्म-निर्णायक भागीदार के रूप में, मानव को स्वतंत्र व ऐच्छिक आत्मानुशासन तथा अपने वैदिक ज्ञान, नैतिक चरित्र व आत्मलोकन द्वारा इस महान् जगत् में स्वयं को समायोजित कर अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त करना होता है। मानवता के लिये वेदों का यह एक महान् सन्देश है और पिछले सहस्रों वर्षो से यह हिन्दुओं की जीवन-दृष्टि रही है।

तीसरे, वेद ब्रह्माण्ड में मानव की विशिष्ट महत्ता प्रदर्शित करते हैं क्योंकि उसे एक उच्चतम विकसित भौतिक शरीर प्राप्त है जिसमें आत्मा अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता व सुगमता से अपनी भूमिका निभा सकती है और व्यावहारिक चेतना बौद्धिक, नैतिक, सौन्दर्यात्मक और आध्यात्मिक रूपसे शुद्ध, परिमार्जित व पूर्ण होने योग्य होती है। उसकी बौद्धिक शक्तियां उसे परमात्मा की इस व्याव-हारिक आत्माभिव्यक्ति की बाह्य प्रतीतियों के आवरणों को हटाकर समस्त दृश्यों के चरम सत्य स्वयं परब्रह्म से सीधा सम्पर्क स्थापित करने योग्य बना देती है। वेद मानव-बुद्धि के समक्ष एक विराट् एवं महान् लक्ष्य प्रस्तुत करते है कि इसके ज्ञान की पूर्णता केवल जगत् को व्यवस्थित व सयोजित करनेवाली प्राकृतिक शक्तियों और नियमों की खोज में ही निहित नही है वरन् मुख्य रूप से नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियों और नियमों जो समस्त दृश्यों पर शासन कर जगत् को एक नैतिक, सौन्दर्यात्मक और आध्यात्मिक व्यवस्था के रूप में विकसित करते हैं, का अवलोकन कर उनके प्रति समादर भाव रखने और अनन्त, शाश्वत, पूर्ण, स्वयं-प्रकाश व आत्मरज-परब्रह्म, जो स्वय को इस ब्रह्माण्ड व्यवस्था के अस्तित्वों के विभिन्न रूपों में मुक्त रूप से अभिव्यक्त कर आनन्द विलास करता है, के तत्वज्ञानालोकित पारमार्थिक अनुभव को प्राप्त करने मे निहित है।

पुन: अपनी नैतिक चेतना के कारण मानव अपने अन्दर स्वतन्त्रता और

दायित्व, कर्तव्य और कृतज्ञता, धर्म और अधर्म का भाव विकसित करता तथा अपने से सम्बद्ध विषयों और अपने क्रियाकलापों के प्रति एक नैतिक दृष्टिकोण अपनाता है। मानव को यह नैतिक चेतना ही ब्रह्माण्ड व्यवस्था में उसकी मौलिक महत्ता को अत्यधिक बढ़ा देती है और संभवतः उसकी बौद्धिक चेतना से अधिक यही उसे अन्य प्राणियों से पृथक् करती है।

शुभ और अशुभ, सही और त्रुटिपूर्ण, धर्म और अधर्म, दया और अदया, सम्यक् विचार व कर्म के आन्तरिक मूल्य, धर्म का सहज महत्व व अधर्म की सहज अमांगलिकता, पुण्य का पारितोषिक व पाप का दण्ड इत्यादि, ये समस्त नैतिक प्रत्य, जिन्हें सार्वभौम रूप से मानव-स्वभाव की महिमायें माना गया है, उसकी अन्तर्निहित नैतिक चेतना से उत्पन्न होते है। ठीक जैसे उसकी बौद्धिक चेतना उसे अपने वास्तविक व सम्भव अनुभव के जगत् की वस्तुगत सत्ता के ज्ञान की बाह्य प्रमाणिकता तथा अपने विचार द्वारा प्राप्त नियमों व सिद्धान्तों की यथार्थता का विश्वास दिलाती है, उसी प्रकार उसकी नैतिक चेतना उसे विश्वास दिलाती है कि उसे इस जगत् में आत्म-विकास की वास्तविक स्वतंत्रता है, कि वह यहां मात्र प्राकृतिक परिस्थितियों का दास नहीं, अपने भाग्य का वास्तविक निर्माता है कि उसे यहां भौतिक शक्तियों, पदार्थों व वातावरणों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने का वास्तविक अधिकार है, जिनके मध्य वह रह सकता है और इसके द्वारा अपने आदर्शों को सिद्ध कर सकता है, जिसकी प्रेरणा उसे अपने अन्दर से प्राप्त होती है।

नैतिक चेतना, जो मानव-स्वभाव को इतना गौरवशाली बनाती तथा मानव को जगत् में विशिष्ट महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है, उसके जीवन व बुद्धि के समक्ष अनेक समस्यायें, पहेलियां व कठिनाइयां भी उपस्थित कर देती है। सर्वाधिक विकसित बुद्धि भी इस समस्या का तार्किक समाधान प्राप्त करने में असमर्थ रहती है। किसी सर्वशक्तिमान दिव्य शक्ति अथवा अनुल्लंघनीय व सार्वभौमिक प्राकृतिक नियमों से शासित इस जगत् में किस प्रकार मानव को अपने भाग्य निर्माण की वास्तविक स्वतंत्रता और दायित्व प्राप्त है। इसके अतिरिक्त नैतिक चेतना की आन्तरिक मांगों और अदेशों तथा मानसिक भौतिक शरीर की स्वाभाविक माँगो में लगातार संघर्ष व विरोध की स्थिति के साथ ही साथ 'काम' और 'अर्थ' की स्वाभाविक महत्वकांक्षाओं के संघर्षों से उत्पन्न कठिनाइयों समाधान व्यावहारिक जीवन में प्रायः अप्राप्य रहता है। पुनः वह क्या है, जिसे नैतिक चेतना अन्ततः मांगती है? नैतिक चेतना का चरम लक्ष्य क्या है। वह कौन सा आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिये वह मानव को अनुशासित जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देती है। चरम शुभ, चरम सत् चरम पूर्ण नैतिक श्रेष्ठता का मूल स्वरूप क्या है, धर्म का अन्तिम व चरम स्वरूप क्या है ? ऐसे सभी प्रश्न महान् प्रतिभा सम्पन्न बुद्धिमानों को चिन्तित करते रहते हैं।

(३) वेद ब्रह्माण्ड व्यवस्था के आन्तरिक रहस्यों का उद्घाटन करते हैं: —

युगों पूर्व वेदों ने ऋषियों और महायोगियों की आलोकित चेतना में इन समस्याओं के समाधान की कुञ्जी, ब्रह्माण्ड के आन्तरिक रहस्यों का उद्घाटन करके प्रदान की थी। उन्होने अपनी आन्तरिक दृष्टि से देखा कि यह काल-दिकाश्रित प्रापचिक जगत्-व्यवस्था विभिन्न स्तरों, सीमाओं, अस्त्विों के रूप में एक शाश्वत, अनन्त, आत्मस्थ, स्वयं-प्रकाश, पूर्ण, आध्यात्मिक दिव्य व्यक्तित्व की आत्माभिव्यक्ति है, जिसकी पारमार्थिक स्वरूप में चरम ज्ञान, चरम शुभ, चरम सौन्दर्य, चरम आनन्द, शाश्वत रूप से उपस्थित है और साथ ही साथ जिसे विभिन्न आत्माभिव्यक्तियों की पूर्ण स्वतन्त्रता व शक्ति प्राप्त है। वह न केवल समस्त अस्तित्व स्तरों का आधार है वरन् विकास और ह्रास, सृजन और नाश की समस्त प्रक्रियाओं में, अपनी आत्माभिव्यक्तियों की समस्त स्थितियों में अन्तर्निहित व प्रेरक चरम आदर्श भी है। चरम कारण परम शुभ और सौन्दर्य, ज्ञान और विद्या, सुख और समृद्धि, शक्ति और स्वतन्त्रता, शान्ति और स्थिरता का चरम आदर्श भी है, जिसे मानव की बौद्धिक, नैतिक, सौन्दर्यात्मक, ऐन्द्रिक और आध्यत्मिक चेतना ऐच्छिक प्रयत्नों द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करती रहती है।

समस्त अस्तित्व-स्तर परमात्मा से प्रकट हुये, परमात्मा में जीवित रहते और विचरण करते, स्वय में परमात्मा के दर्शन करने के आदर्श से प्रेरित रहते और क्रम से परमात्मा से पूर्ण मिलन के लिये विकास और ह्रास की प्रतिक्रियाओं से होते हुये अन्त में परमात्मा में विलीन हो जाते है। ब्रह्माण्ड व्यवस्था चरम नैतिक और आध्यात्मिक दिव्य-व्यक्तित्व की मुक्त आत्माभिव्यक्ति होने के कारण, अपने अन्तर्गत जीवों को मुक्त आत्माभिव्यक्ति और आत्म-विकास के पर्याप्त अवसर प्रदान करती है, जो उसी परमात्मा की सीमित आध्यात्मिक आत्माभिव्यक्तियाँ हैं। मानसिक, जैविक व भौतिक वस्तुओं व आकारों के विभिन्न स्तरों से बाधित प्रतीत होनेवाले तथा उन दशाओं और सीमाओं के अन्तर्गत इस जगत् में विभिन्न भूमिकायें निभाने वाले अनन्त जीव मूलतः परमात्मा के पारमार्थिक आध्यात्मिक स्वरूप में भाग लेते हैं और इस प्रकार आन्तरिक रूप से अपनी व्यावहारिक सीमाओं को पार कर लेते है और किसी रहस्यमय आन्तरिक प्रेरणा से इन समस्त बन्धनों से समुचित उपायों द्वारा छुटकारा पाकर अपने सच्चे स्वरूप या आत्मा को जान लेने की व्याकुलता अनुभव करते रहते हैं।

भौतिक जड़ शरीरों में व्यष्टिगत जीव या आत्मा पूर्णतया आच्छादित दृष्टिगत होती है, किन्तु वस्तुत. वह उनमें उपस्थित रहती है और जड़ शरीरों की आत्माओं में निहित यह आध्यात्मिक प्रेरणा है जो अदृश्य रूप से भौतिक प्रकृति के विकास की गति पर शासन करती है। यह जड़ शरीरों के अदृश्य

आत्माओं के आध्यात्मिक स्वरूप को उद्‌बुद्ध करने वाली शक्ति है जो जड़ शरीरों में जीवन के विकास को सम्भव कर देती है। पेड़-पौधों में आत्मायें मात्र चिन्हवत् अभिव्यक्त है। उनमें जैविक तत्व, जैविक शक्तियों के सयोजक कार्य, प्रभावशीलता एक विशाल शरीर के समस्त अंगों पर एक सामान्य केन्द्र से नियंत्रण तथा कोई सामान्य उद्देश्य इत्यादि—उनमें आत्माओं की अभिव्यक्तियां हैं जो सीमाओ से परे उठकर अपनी आन्तरिक आध्यात्मिक विशेषतओ के दर्शन करना चाहती हैं। जीवित शरीरों में आत्माओं की उपस्थिति तथा उच्च आध्यात्मिक विशिष्टताओं को उपलब्ध करने की प्रेरणा के कारण ही ब्रह्माण्ड व्यवस्था में उच्चतर स्तर के, विभिन्न प्रकार के मनस् और बुद्धि वाले व विभिन्न प्रकार के कर्म व गतियों तथा स्वतन्त्रताओं का उपभोग करने वाले जीवित प्राणी प्राप्त होते हैं।

परब्रह्म की इस आश्चर्यजनक विराट् आत्माभिव्यक्ति की अद्‌भुत नैतिक और आध्यात्मिक योजना के अन्तर्गत मानव-प्राणियों का विकास एक महत्वपूर्ण घटना है, क्योंकि मानव-जीवन में आत्मा सर्वाधिक उपयुक्त भौतिक, जैविक और मानसिक उपकरणों से युक्त होती है जिनके द्वारा उच्चतम आदर्शों की क्रमिक सिद्धि तथा परमात्मा से शाश्वत मिलन प्राप्त किया जा सकता है। जीवात्मा की मानवीय देह भी विकास के विभिन्न स्तरों से होते हुये आगे बढ़ती है और प्रत्येक उच्च स्तर पर भौतिक शरीर अपने मस्तिष्क, स्नायुमण्डल तथा अन्य उपकरणों के सहित अधिकतर कुशलता से संगठित और विशुद्ध होता जाता है, इसकी प्राण-शक्तियाँ अधिकतर कुशलता से बलशाली और व्यस्थित होती जाती हैं, इसकी मानसिक शक्तियाँ अधिक विकसित, व्यापक भुक्त और संयोजित होकर उच्चातिउच्च स्तरों की ओर शनैः शनैः बढ़ती जाती है, विचार, भाषण, गति और क्रियाशीलता भी विभिन्न प्रकार के भाव, संवेग आदि की अभिव्यक्तियों के सहित, मानव मस्तिष्क विकसित होता रहता है। विकास के प्रत्येक उच्चस्तर पर अहं अधिक आत्म-चेतन, अधिक आत्मप्रकटीकरणीय, अधिक आत्मनियन्त्रित, अधिक आत्मविश्वासी, अधिक आत्म-विकासशील होता जाता है और शरीरन्द्रियां मन तथा बुद्धि पर अधिक सचेतन अधिकारिणी व शासन कत्री बनकर उच्चतर स्तरों पर उठने तथा अपनी असीम मानसिक शक्तियों को सिद्ध करने की महत्वाकाँक्षाओं वाली बनती जाती है। बौद्धिक चेतना, नैतिक चेतना, सौन्दर्यात्मक चेतना, आध्यात्मिक चेतना, ये सब जीवात्मा के मानव-शरीर के उच्चतर विकास-स्तरों पर अधिकाधिक शक्तिशाली व प्रखर हो उठते है।

मानव के बौद्धिक, नैतिक, सौन्दर्यात्मक और आध्यात्मिक स्वरूप के उच्च विशुद्ध और तत्वज्ञानालोकित स्तरों पर आवश्यकता के नियम 'स्वतंत्रता के नियमों' से गौण प्रतीत होने लगते हैं, 'भौतिक प्रकृति के नियम' श्रेष्ठ नैतिक और आध्यात्मिक नियमों से गौण प्रतीत होते हैं, प्रकृति की समस्त विभिन्नतायें एक शाश्वत और अनन्त आत्मा की मुक्त क्रीड़ामयी आत्माभिव्यक्तियों की एक

सुसंगठित संयोजित उदात्त व्यवस्था के रूप में अनुभूत होने लगती है। परमात्मा की व्यावहारिक आत्माभिव्यक्तियों के निम्न स्तरों को सयोजित और व्यवस्थित करने वाले समस्त प्रकार के नियम, यद्यपि अपने स्तरों पर निष्ठुर प्रतीत होते हैं, तथापि वे जीवात्माओं को उनसे ऊपर उठकर आत्म-दर्शन व आत्माभिव्यक्ति के उच्च स्तरों पर पहुँचाने के मार्ग प्रशस्त करते है। व्यावहारिक जगत् अपने आपमें एक पूर्ण रूपेण रुद्ध या अप्रगतिशील व्यवस्था नही है, वरन् जीवात्माओं को ऊपर उठाकर परमात्मा से मिलाने के अनेक मार्ग प्रस्तुत करता है।

जीवात्मायें स्वयं परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं, जो स्वयं को नाना सीमित व परिवर्तनशील व्यावहारिक शरीरों में अनेकानेक जीवों के रूप में प्रकट कर खेल खेल में अपने पूर्णरूपेण आनन्दमय पारमर्थिक स्वरूप को उनमें तथा उनके द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करता है। ऐसा लगता है मानों परमात्मा ने स्वयं को स्वेच्छा से बलिदान कर दिया है अर्थात् अपनी पारमार्थिक एकता और पूर्णत्व को एक 'विराट् यज्ञ' में होम कर दिया है और स्वयं को असंख्य नाम रूपों मे उपभोग करने के लिये इस ब्रह्माण्ड व्यवस्था में अनेक अपूर्ण जीवों का रूप धारण कर लिया है। इन वैदिक रहस्योद्घाटनों में हमारी बौद्धिक, नैतिक और सौन्दर्यात्मक चेतना के सामान्य स्तरों की समस्त जटिल समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर दिया।

(४) वेदों द्वारा प्रस्तुत अनुशासन के प्रमुख प्रकार—

(अ) व्यावहारिक जीवन में यज्ञ-भावना को उत्पन्न करना।

मनुष्य और ब्रह्माण्ड की इस गौरवशाली धारणा के अनुरूप, वेदों ने मानव के समक्ष उसकी आत्मा की आन्तरिक मांग की चरम पूर्णता तथा उसकी स्वतत्रता के समुचित् विकास और अनुशासन हेतु कुछ विशिष्ट जीवन-मार्ग, दर्शन व सिद्धान्त प्रस्तुत किये है। उनमें से एक है प्रवृत्ति-मार्ग में यज्ञ भावना से प्रवेश कर शनैः शनैः आत्म-विकास व आत्मपूर्णता के आदर्श की प्राप्ति के लिये उच्चातिउच्च स्तरों पर उठाना। यज्ञ भावना का तात्पर्य है निम्न ऐन्द्रिक इच्छाओं व स्वार्थमयी आकांक्षाओं का उच्च पवित्र नैतिक व आध्यात्मिक अभीप्साओं की पूर्ति हेतु त्याग, भौतिक जीवन के क्षुद्र व परिवर्तनशील स्वार्थो का अधिक व्यापक व श्रेष्ठ आन्तरिक जीवन हेतु त्याग, वैयक्तिक सुखों व सग्रहों का सम्पूर्ण समाज के कल्याणार्थ त्याग और जीवन के भिन्न स्तरों के उपभोगों का आत्मा की आन्तरिक पूर्णता हेतु त्याग करना।

वेदों का निर्देश है कि जगत् की नैतिक योजना में 'यज्ञ' और त्याग' का सिद्धान्त ही जीवन के उच्चतम मूल्यों की प्राप्ति के योग्य बनाने वाला एकमात्र अचूक उपाय है। सर्व कल्याणार्थ निजाधिकृत वस्तुओं के त्याग के पश्चात् ही कोई अधिकाधिक उच्च उपयोग व अस्तित्व-स्तरों पर उठने का अधिकारी बनता है। उच्चतर दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुये उच्चतर स्तरों पर मुक्त एवं

स्वेच्छित आत्म-त्याग करना मानव-जीवन की श्रेष्ठ पद्धति है। हमारे पारिवारिक व सामाजिक जीवन के प्रति कर्तव्य सर्वदा जन-सामान्य-हितार्थ हमारे वैयक्तिक हितो का त्याग चाहते हैं, और हम व्यक्तियों के रूप में अपने नैतिक और आध्यात्मिक चरित्र के उत्थान व विकास मे इन त्यागों का फल पा लेते है। वेदों के अनुसार, समस्त साँसारिक वस्तुओं, जिन्हे हम रख सके, अपनी समस्त भौतिक और बौद्धिक योग्यताओं तथा सम्पूर्ण सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक शक्तियों एव अधिकारों को हमें 'यज्ञों' को पूरा करने के लिये ईश्वरप्रदत्त वस्तुये मानना चाहिये और विनम्रता से उसी यज्ञ-भावना से उनका उपयोग करना चाहिये और इस प्रकार शाश्वत आनन्द व आत्म-दर्शन पर दृष्टि रखकर अपने आन्तरिक विकास के साथ-साथ सामान्य हित मे योग-दान करना चाहिये। ब्रह्माण्ड व्यवस्था में मानव के विशिष्ट स्थान का सच्चा उद्देश्य उसके नि:स्वार्थ व त्यागमय कृत्यों से सर्वोत्तम रूप में पूरा किया जा सकता है अतएव मानव को अपना जीवन त्यागमय बनाना चाहिये। सक्रिय जीवन के सिद्धान्त के रूप में यज्ञ, वेदो का एक श्रेष्ठतम व्यावहारिक सन्देश है।

वेदों के यशस्वी टीकाकारों ने व्यक्तियों के वातावरणों, परिस्थितियों, राजनैतिक सामाजिक तथा पारिवारिक दशाओं तथा विभिन्न प्रकार की शारीरिक बौद्धिक और नैतिक योग्यताओं के अनुसार—उनके व्यावहारिक जीवन को उच्चतर स्तरों पर पहुँचाकर श्रेष्ठतम सुखों के उपभोग एव जीवन की अधिक सुखद व अनुकूल परिस्थितियों की प्राप्ति के लिये पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनतिक आदि विभिन्न प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है। वेदों ने कहा है कि सब मनुष्यों को इन समस्त प्रकार के यज्ञों व कर्तव्यो का, देवताओं के प्रति श्रद्धा, उपासना, विनम्रता व पवित्र हृदय के भाव से पालन करना चाहिये जिससे सम्पूर्ण व्यावहारिक जीवन श्रेष्ठ सुन्दर व आध्यात्मिक बनकर उच्चतर आध्यात्मिक स्तरों पर उठ सके। वेदों ने मनुष्यो के समक्ष यह प्रेरणास्पद आदर्श प्रस्तुत किया हैं कि जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पूर्ण मानव-जीवन को, इसकी समस्त विभिन्न प्रकार की मागों, स्वार्थो, कर्तव्यों व परिस्थितियों, जिनका इसे सामना करना पड़ सकता है, के सहित, एक धार्मिक जीवन की भाँति व्यतीत करना चाहिये तथा इसके सम्पूर्ण कार्य मुक्तभाव व स्वेच्छा नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुरूप होने चाहिये जिनसे यह ब्रह्माण्ड की नैतिक व आध्यात्मिक योजना से पूर्ण समायोजन स्थापित कर सके। यज्ञों द्वारा मानव-जीवन को सतत व मुक्त रूप से शाश्वत जीवन, शाश्वत सुख, शाश्वत शुभ और शाश्वत सौन्दर्य की ओर अग्रसर करते रहना चाहिये।

(ब) यज्ञ द्वारा उच्च लोकों को प्राप्त करने की अभीप्सा है।

वेदों ने मनुष्य के समक्ष भू: लोक के ऊपर और नीचे स्थित लोकों के समूह का वर्णन प्रस्तुत किया है। इस भू: लोक के ऊपर भुव:, स्व:, मन:, जन:, तप;

और सत्यलोक हैं तथा इसके नीचे सात पाताल स्तर बतलाये गये है। भू लोक के निवासी मानव यज्ञों द्वारा इस पृथ्वी पर अपनी नैतिक, बौद्धिक और भावात्मक जीवन की शुद्धि का उच्च लोकों पर उठने की योग्यता प्राप्त कर सकते है जो अधिकाधिक बन्धन, दुख व अपूर्णता से रहित आनन्द के स्तर है। कभी-कभी समस्त उच्च लोकों को सामान्य नाम से 'स्वर्ग' से विवक्षित किया जाता है। पृथ्वीपर शक्तियों व मानव-जीवन के अधिकारों, अवसरों के दुरुपयोग से जीवात्मा निम्न लोकों में प्रतीत हो जाती है।

वेद समस्त नैतिक और बौद्धिक रूप को जागृत मनुष्यों को समस्त सांसारिक सुख-ऐश्वर्य के बन्धनों से स्वयं को मुक्त कर यज्ञादिक पवित्र व निःस्वार्थ कर्मों द्वारा उच्चतर लोकों को प्राप्त करने का सन्देश देते हैं और इस प्रकार अधिकाधिक पूर्ण आनन्दमय, अमृतत्वपूर्ण जीवन की प्राप्ति के योग्य बनने की प्रेरणा देते है। वे उनकी आँखों के सामने निम्न लोकों या नरकों का भी भयानक दृश्य प्रस्तुत करते हैं, जहा मनुष्यों को जाना पड़ेगा यदि वे व्यावहारिक जीवन में नैतिक नियमों की अवहेलना कर अपने अवसरो और स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करते है और इस प्रकार अस्तित्व व अनुभव के निम्न स्तरों पर पतित होकर दण्ड के अधिकारी बनते हैं। ब्रह्माण्ड-व्यवस्था की यह नैतिक योजना है।

वेद आगे कहते हैं कि यदि मनुष्य का व्यावहारिक जीवन सांसारिक इच्छाओं और वासनाओं से शाशित है तो उसे इस मानव-संसार में जन्म-मरण के चक्र में अवश्य फंसना पड़ता है और इस प्रकार अपने पूर्व-जन्मों के शुभाशुभ कर्मो के अनुसार सुख-दुःख भी भोगने पड़ते है। ब्रह्माण्ड व्यवस्था का यह एक अनुल्लंघनीय नैतिक नियम है कि व्यक्ति जैसा बोता है, वैसा काटता है—कि वह अपने पिछले कर्मो के अनुसार उनका फल पाता है और साथ ही इस मानव-जीवन में उसे अपने भविष्य को शुभ कर्मो से बनाने या अशुभ कर्मों से बिगाड़ने की सापेक्ष स्वतन्त्रता भी उपलब्ध होती है।

भौतिक या शारीरिक मृत्यु होने पर भी यह अधिकारपूर्वक घोषित किया जाता रहा है, व्यक्तित्व के अस्तित्व का नाश नही है। स्थूल भौतिक शरीर विघटित हो जाता है, किन्तु न जीवात्मा और न ही सूक्ष्म 'कारण-शरीर' अपना व्यक्तित्व या अस्तित्व खोता है। जीवात्मा अपने मानसिक भौतिक कारण-शरीर तथा पूर्वजन्म के समस्त संस्कारों सहित नवीन भौतिक शरीर धारण कर अपने पाप-पुण्य का फल भोगता रहता हैं, अपनी इच्छाओं की पूर्ति तथा उच्च लोकों पर उठने के अवसरों को प्राप्त कर आत्म-पूर्णता से प्रयास करता रहता है। इस प्रकार एक जीवात्मा असंख्य भौतिक जन्मों और मृत्युओं में से यात्रा कर सकता है। यह चक्र तब तक चलता रहता है जब तक यह अन्तिम रूप कर्म-बन्धन से मुक्ति पाकर पूर्ण आनन्द लोक में एक पूर्ण नैतिक और आध्यात्मिक जीवन प्राप्त नही कर लेता।

(स) भक्ति व उपासना के भाव का संवर्धन।

पुन. वेद मानव के समक्ष अपनी आत्म-चेतन, भौतिक और आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता हेतु एक अन्य द्वार खोलते है। यह मार्ग है—देवताओं के प्रति भक्ति, श्रद्धा, आश्चर्य, प्रशंसा एव उपासना के भावो को उद्बुद्ध कर इस नानात्मक अद्भुत जगत् के इन अधिष्ठाताओं की सतत् प्रार्थना करना। अन्तिम रूप में इन सब धार्मिक भावों को, देवाधिदेव, महादेव, एक अनन्त शाश्वत निरपेक्ष परब्रह्म की ओर निर्देशित करना होता है, जो जगत् की समस्त शक्तियों, अस्तित्वों के समस्त स्तरों का अद्वितीय स्रोत है, जो अपनी रहस्यमयी शक्ति द्वारा स्वयं को इस प्रापंचिक ब्रह्माण्ड व्यवस्था में नाना नाम-रूपों मे प्रकट करता है। यह सब कुछ वही है। वैदिक मंत्र मनुष्य को परमात्मा के व्यावहारिक अस्तित्वों और चेतनाओं के अनन्त विभिन्न स्तरों पर नानात्मक आत्माभिव्यक्तियो के आन्तरिक महत्व, शौन्दय व उदात्तता के प्रति गहन प्रशंसा के भाव उद्बुद्ध कर उनके प्रति गहन विनम्रता, भक्ति, उपासना एव प्रेम निवेदित करने का पाठ पढ़ाते है। प्रकृति में दिव्य विलास के इन मुक्त व आल्हाद प्रदान करने वाले दृश्यों के प्रति इस हार्दिक प्रशसा के भाव विकास से मनुष्य शनैः शनैः जगत् के प्रति भौतिकवादी या इन्द्रियगत दृष्टिकोण से छुटकारा दिलाकर स्वयं को परमात्मा से एकाकार कर लेता है। ठीक वैसे व्यावहारिक जीवन में आत्म-त्याग, आध्यात्मिक, आत्म-साक्षात्कार का एक मार्ग है उसी प्रकार परमात्मा के प्रति प्रेम व श्रद्धा से आत्म-समर्पण, वेदों के अनुसार आध्यात्मिक आत्म-साक्षात्कार का दूसरा मार्ग है।

परमात्मा व ब्रह्माण्ड व्यवस्था में उसकी विभूतियों के प्रति भक्ति-भावना का विकास कर धार्मिक सवेगों को उद्बुद्ध करने के आदर्श ने पिछले सहस्रों वर्षों से भारतवर्ष के समस्त वर्गो के लोगो पर तथा भारत की नैतिक और आध्यात्मिक संस्कृति के विकास पर अत्यधिक प्रभाव डाला है। भारत के साहित्य और कला, काव्य और नाटक, महाकाव्य व गीत, संगीत व चित्रकला, स्थापत्य-कला व भवननिर्माण-कला आदि समस्त युगों में प्रमुखत: भक्ति-भावनाओ से प्रेरित हुये है। इस विशाल देश में सहस्रों मन्दिर तथा देवी-देवताओं की मूर्तियां भारतीयों की भक्ति भावना के स्पष्ट व गरिमामय प्रतीक हैं। ये समस्त वेदों के उपदेशों से विकसित हुये हैं।

भारत में साधारण पारिवारिक तथा सामाजिक कार्य भी अनुष्ठानादि के साथ सम्पन्न किये जाते हैं, देवी तथा अन्य देवताओं की विधिवत् उपासना कर पृथ्वी जोती जाती है, नवीन फसल भी इसी प्रकार की धार्मिक विधियों के पश्चात् गृह में लाई जाती है। नये गृह की नीव रखना, नये गृह में प्रथम बार प्रवेश करना बालक का प्रथम बार विद्यालय में प्रवेश करना, पुत्र या पुत्री का विवाह करना हो, परिवार के मृतक सदस्य का दाह-सस्कार करना हो, आदि

समस्त कर्म धार्मिक कृत्य माने जाते हैं तथा भक्तिपूर्वक देवी-देवताओं की समुचित पूजा के पश्चात् सम्पन्न किये जाते हैं जो सर्वदा त्याग व यज्ञ की भावना व कृत्यों से युक्त होती है। प्राचीनतमकाल से आजतक भारतीय संस्कृति कुछ इस प्रकार विकसित हुई है कि इस पुण्य-भूमि के सभी नर-नारी धर्म के साथ जन्म लेते है, धर्म में विकसित होते है, अपने सामान्य कर्तव्यों को धार्मिक उपासना की भाँति पूरा करते है, जीवन के सुख-दुःखों को धार्मिक दृष्टिकोणों से स्वीकार कर लेते हैं, और अपना अन्तिम श्वास परमेश्वर के नामोच्चारण तथा परमात्मा को अन्तिम आत्मसमर्पण के भक्ति-भाव-सहित त्याग देते हैं।

भारतीय संस्कृति के दृष्किोण से, सम्पूर्ण जीवन एक धार्मिक जीवन है, एक आध्यात्मिक जीवन है और जीवन के चरम लक्ष्य को ध्यान में रखकर स्वतन्त्रता से और सचेतनता तथा स्वेच्छा से उसके अनुरूप जीवन-यापन करना चाहिये। ऐसा धर्ममय जीवन अनिवार्यतः एक ओर मनस् को समस्त चंचलताओं, स्वार्थी सांसारिक इच्छाओं व वासनाओं पर सतत नियंत्रण रखने व दूसरी ओर जीवन क्षेत्र में निरन्तर यज्ञों को करने पर बल देता है। कर्म त्याग व मन भक्तिमय होना चाहिये। जीवन उस परमात्मा की भक्तिपूर्ण उपासना में लगाना चाहिये जिसकी अनेक विभूतियां, देवी, देवता व जीवात्माये हैं। ऐसे जीवन का आदर्श वेदों द्वारा मनुष्यों के व्यावहारिक आचरण के लिये प्रस्तुत किया गया था और इसने भारतीय संस्कृति को सदा प्रेरणा प्रदान की है। आध्यात्मिक आत्म-दर्शन के ये दो प्रकार के मार्ग सामान्यतः वेदों के कर्मकाण्ड (या यज्ञ काण्ड) तथा उपासना काण्ड (जिसे भक्ति काण्ड भी कहा जाता है) माने जाते है किन्तु वास्तविक धार्मिक जीवन में ये ही यज्ञ और उपासना सर्वदा साथ-साथ चलते हैं। ये एक दूसरे से सम्बन्धित नहीं है। भेद केवल बल देने में है। यज्ञ सही और शुभ कर्मो के करने, जीवन निम्न स्वार्थो का त्याग करने पर बल देता है, किन्तु यह इस पर भी बल देता है। कर्म परमात्मा, जो सर्व ज्ञानेश्वर है, के प्रति भक्ति-भावना से करने चाहिये। उपासना भक्ति-भावों के अगों पर, जो अन्तर में अध्यात्म-जिज्ञासुओं को परमात्मा से जोड़ते है, अधिक बल देती है।

(द) योग, ज्ञान और वैराग्य का मार्ग :

अन्त में, वेद मानव की आध्यात्मिक पूर्णता का एक तीसरा मार्ग भी बतलाते है, वह है त्याग, तप वैराग्य, गहन समाधि, सतत मनन तथा परमात्मा के ध्यान में पूर्णरूपेण तल्लीन हो जाना। जीवन-यापन की यह एक असाधारण पद्धति है, जो अन्तिम स्तर पर आध्यात्मिक आत्म-पूर्णता के प्रत्यक्ष उपाय के रूप में समस्त कौटुम्बिक तथा सामाजिक कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों, समस्त वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक समृद्धि व सुख का त्याग कर, सब ओर से संन्यास धारण कर शरीर, इन्द्रिय और मन पर पूर्ण नियन्त्रण कर जीवात्मा और परमात्मा के अद्वैत दर्शन हेतु अपनी सम्पूर्ण शक्ति को तत्पर करने का पाठ

पढ़ाता है। यह योग, ज्ञान, वराग्य और सन्यास का मार्ग है। यह मार्ग सीधा मोक्ष प्रदाता व आत्मा के पारमार्थिक आनन्दमय स्वरूप का ज्ञान प्रदान करने वाला है। यह मानव-जीवन का परम-पुरुषार्थ है और अपूर्व नैतिक तथा आध्यात्मिक गुणों वाले मनुष्य अपना सम्पूर्ण समय और शक्ति इस आदर्श की प्राप्ति में लगा देते हैं। इसके लिये वे काम, अर्थ तथा स्वर्ग सुख का भी त्याग कर देते हैं। वेदों ने मानव जीवन के समस्त पुरुषार्थों के सम्यक् मूल्यों का प्रतिपादन कर मनुष्यों को इन आदर्शों की प्राप्ति के लिये उचित कर्तव्यों का पालन करते हुये अपने अधिकारों सहित आगे बढ़ने को उपयुक्त मार्ग की ओर सकेत कर दिया और इस प्रकार उन्होने मानव-जीवन के प्रगतिशील पूर्णत्व का मार्ग दर्शा दिया है।

(इ) देव-वाणी।

इन सबके अतिरिक्त वेदों ने मानव-जाति को एक आदर्श भाषा प्रदान की जो अपने सौन्दर्य और उदात्तता मे अनुपम, जिसका शब्दकोष अक्षुण्ण जिसके वर्ण और मात्रा आदि पूर्ण वैज्ञानिक तथा जिसकी अभिव्यजना सर्वाधिक श्रेष्ठ व प्रभावोत्पादक है। स्वय इस भाषा ने भारतीयों को पिछले सहस्रों वर्षो से एकता के सूत्र मे बाँध रखा तथा देश के विभिन्न भागों में समस्त प्राकृत भाषाओं की जननी का स्थान ग्रहण किया है। इस भाषा को देव-भाषा कह कर आदर दिया जाता है तथा पौराणिक या लौकिक सस्कृत इसका परवर्ती रूप है। वैदिक ऋषियों ने लोगों को सतत प्रेरणा व पथ-प्रदर्शन प्राप्त करने के हेतु इस देव-वाणी को सीखने की सम्मति दी जिससे वे आध्यात्मिक आत्म-पूर्णता की ओर निश्चित व ठोस प्रगति कर सके।

(५) आर्यों के जीवन पर वेदों का प्रभाव

महान् भारतीय आर्य जाति जिन्हें असाधारण सत्यान्वेषी ऋषियों के माध्यम से वैदिक सत्य प्राप्त हुये, केवल एक युद्धजीवी या वीर जाति ही न थी, वरन् एक अत्यन्त बुद्धिमान्, कल्पनाशील, गहन नैतिक और धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत जाति थी। जबकि प्रभु-कृपा-पात्र कतिपय आत्म-ज्ञानी ऋषियों को वैदिक सत्य प्राप्त हुये, जो उनके द्वारा देव-वाणी मे प्रकट हुये थे, सर्व-साधारण निस्सदेह विचार, कल्पना और दर्शन के उसी स्तर पर न थे। वे अपनी शारीरिक, मानसिक और हार्दिक विशेषताओ के अनुरूप और उनके द्वारा सुख और समृद्धि की ओर व्यापक रूप से उन्मुख थे। सांसारिक ऐश्वर्य की उन्हें तीव्र अभिलाषा थी। इस जाति ने काव्य, राजनीति, युद्धकौशल तथा जीवन के प्रत्येक सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में गहन रुचि व सफलता प्राप्त की।

इस प्रकार, जब कि प्राचीन आर्यो की रुचि सर्वांगीण थी, उनके जीवन के उच्चतम व श्रेष्ठतम आदर्श वैदिक सत्योद्घाटनो से निर्धारित हुये थे। उनकी वैयक्तिक और सामाजिक व राजनैतिक रुचिया नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों,

जिन्हें उन्होंने वेदों से पाया था, से अनुशासित थे। सांसारिक सुखों व समृद्धि साम्राज्य आदि की उनकी अभीप्सायें उच्च नैतिक उत्थान तथा आध्यात्मिक पूर्णता से नियन्त्रित व मर्यादित थी। उन्होंने 'अर्थ' और 'काम' को सदा 'धर्म' और 'मोक्ष' के लिये त्यागा। उन्होंने सांसारिक सुखों से अधिक पारमार्थिक सुखों का ध्यान रक्खा। जन साधारण के व्यावहारिक जीवन पर यह वेदों का प्रभाव था।

(६) वेदों के वास्तविक तात्पर्य (टीका) पर विवाद

आर्य जाति के सगठन के उन प्राचीन कालों में भी मंत्रो के वास्तविक अर्थ के विषय मे प्रचण्ड विद्वानो में गभीर मतभेद थे। वैदिक मंत्रो का सही अर्थ लगाने, सही उच्चारण करने तथा सही उपयोग करने हेतु अनेक विज्ञान और कलाओं ने जन्म लिया। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष आदि इन्ही प्रयासो की उपज है तथा वेदों के यथार्थ अर्थ को समझने में उन्हें इतना अनिवार्य पाया गया कि उन्हें 'वेदांग' कहा जाने लगा। ब्राह्मणों और आरण्यकों ने विस्तार से वैदिक मत्रो का विवेचन प्रस्तुत किया और उन्हें सर्व साधारण के लिये अधिक सुगम बना दिया। उन्हे भी वैदिक साहित्य का अग माना जाता था। अन्त में उपनिषदों ने वेदो के आध्यात्मिक रहस्यों का गहन दार्शनिक व तार्किक अर्थ प्रस्तुत किया और उन्हे वेदान्त कहा जाने लगा।

जब कि वैदिक मत्रो को अपौरुषेय माना जाता था, उनके शब्दों व तात्पर्यो के विषयो में उस प्राचीन आर्य जाति के महानतम विचारकों में भी गहन मतभेद था। इसके फलस्वरूप वैदिक साहित्य शाखाओ उप-शाखाओ में बंट गया। तथापि, सामान्य विचारक व विद्वान् उन सबका आप्त ग्रन्थो के रूप में समान रूप से सम्मान करते थे। विभिन्न टीकाओ में समन्वय स्थापित करने के प्रयासो की भी कमी न थी। उनकी पवित्रता पर आक्षेप नही किया गया। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को, सामान्य रूप से, हिन्दू आर्य जाति की पारिवारिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक सौन्दर्यात्मक तथा दार्शनिक संस्कृति का आधार स्वीकार किया जाता था।

(अ) कर्मकाण्ड के दृष्टिकोण से टीका

वैदिक उपदेशों के प्रारभिक टीकाकारो में भी, हम स्थूल रूप में तीन विचारधाराये पाते है। एक मत वैदिक सत्यो के व्यावहारिक पक्ष व व्यावहारिक आचरण पर उनके प्रभाव पर बल देता था। इसके अनुसार प्रत्येक वैदिक निर्देश कुछ धार्मिक कृत्य करने, या अधार्मिक कृत्य न करने का आदेश देता है। इस मत के दृष्टिकोण से समस्त भक्तिभाव, समस्त दार्शनिक कथन, सम्पूर्ण घटनाओं और तथ्यों के वर्णन, जो वैदिक मत्रों में पाये जाते है तथा जिनका 'आदेश' या 'निर्देश' से कोई सीधा सम्बन्ध नही है, उन्हे भी किसी न किसी प्रकार कर्म-काण्ड से सम्बन्धित करना पड़ेगा। सत्यो के सम्बन्ध मे केवल दार्शनिक सतुष्टि

के लिये प्रस्तुत सैद्धान्तिक व यथार्थकथन, ऐन्द्रिक स्तर के अथवा अतीन्द्रिय स्तर के व्यावहारिक स्तर के या पारमार्थिक स्तर के, इस मत के अनुसार वैदिक मत्रो में कोई स्थान नही रखते।

मनुष्य मूलत: क्रियाशील प्राणी है और उसके स्वभाव की उच्चतम संभावनायें वेदों द्वारा आदिष्ट धार्मिक कृत्यों को सम्यक् पद्धति से सपादित करने पर ही सिद्ध की जा सकती है। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति व भक्ति-भावना का विकास मानव-जीवन की पूर्णता के लिये आवश्यक और अनिवार्य है किन्तु उनका महत्व मुख्यतः व्यावहारिक जीवन की क्रमिक प्रगति में निहित है जिससे वह वेदों द्वारा संकेतित उच्च लोकों (स्वर्गो) की प्राप्ति कर सके। मनुष्य का भाग्य उसके कर्मो से निर्धारित होता है, केवल सत्य के ज्ञान या देवताओं की भक्ति से नहीं।

यह मत योगियों, ज्ञानियों तथा औपनिषदिक ऋषयों के मोक्ष या कैवल्य या अमृतत्व या निर्वाण, जिसे वे मानव-जीवन का चरम लक्ष्य बतलाते थे और जो कर्म द्वारा अप्राप्य माना जाता था, में कोई विशेष रुचि नही रखता था। इस मत के अनुसार मोक्ष का अर्थ था उच्चतम स्वर्ग में जीवन की पूर्णता और यह इस लोक तथा परलोक के समस्त परिवर्तनशील तथा सीमित स्वार्थों व आदर्शों का त्याग कर श्रेष्ठतम धार्मिक कर्मों के करने पर ही प्राप्त हो सकता था। इस प्रकार इस मत ने वेदों के कर्मकाण्ड का प्रबल प्रचार किया और ज्ञान, योग तथा उपासना को कर्म से गौण माना।

(ब) ज्ञान, योग और भक्ति के दृष्टिकोण से टीका।

दूसरे मत ने वेदों में प्रकट दार्शनिक और पारमार्थिक सत्यों पर सर्वाधिक बल दिया और अन्य समस्त सिद्धान्तों व आदर्शो, आदेशों व निषेधों, नियमों और विधानों, देवी-देवताओं के गुणानुवाद तथा अन्य व्यावहारिक जीवन के मूल्यों को गौण तथा सहायक माना। वेदों के अनुसार—एक स्वयं-सत्, स्वयं-प्रकाश, अनन्त, शाश्वत सर्वपारमार्थिक परब्रह्म चरम सत्ता है, विभिन्नस्तरीय अस्तित्वों व अनुभवों से युक्त सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस एक परमात्मा की कालादि-काश्रित रूपों में आत्माभिव्यक्ति है, अनेकानेक देवता उसी एक परमात्मा की विभूतियां हैं, प्रत्येक जीवात्मा के व्यावहारिक जीवन की अन्तिम पूर्णता उस एक अद्वैत परब्रह्म से पूर्ण तादात्म्य प्राप्त करने में निहित है। वेदों द्वारा प्रकट इन सत्यों का पूर्ण ज्ञान, इस मत के अनुसार, आत्म-चेतन मानव-जीवन का स्वयमेव चरम लक्ष्य है। इसका मूल्य निरपेक्ष है और यह किसी प्रकार के स्वर्ग सुखों की प्राप्ति हेतु नहीं किया जाता।

मोक्ष (समस्त प्रकार के सभव दु.खों और बन्धनों से पूर्ण छुटकारा) जो मानव-जीवन का चरम आदर्श है, इस पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति में निहित है। जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न व उसी की अभिव्यक्ति है अतः इस एकत्व का

ज्ञान ही शाश्वत मोक्ष है। इस ज्ञान से अपने सच्चे स्वरूप का आनन्दमय अनुभव भी प्राप्त हो जाता है। इस ज्ञान की प्राप्ति किसी प्रकार के कर्म का फल नही है, चाहे वे कितने ही धार्मिक व पवित्र कर्म क्यों न हों, तथापि शरीर, मन, इन्द्रिय, अहं व बुद्धि को इस प्रकार व्यवस्थित ढंग से अनुशासित, शुद्ध व आलोकित करना होता है कि आत्मा का चरम पारमार्थिक स्वरूप स्थिर व शान्त चेतना में प्रकट हो जाये।

इस मत ने तपस्या को जीवन-दृष्टि का प्रबल समर्थन किया और वैदिक मन्त्रो के उपदेशों के महत्व की, उस दृष्किोण से, टीका की। इस मत के गुरुओं, की मान्यता थी कि समस्त सासारिक चिन्ताओं, समस्त कौटुम्बिक व सामाजिक कर्तव्यों का परित्याग, समस्त ऐन्द्रिक वासनाओं, मानसिक इच्छाओं व महत्वाकाक्षाओं पर पूर्ण नियत्रण तथा योग्य गुरुओं के निर्देशन में ध्यान, धारणा, समाधि का अभ्यास, आत्मा के चरम पारमार्थिक आध्यात्मिक स्वरूप के दर्शन के लिये तथा समस्त प्रकार के बन्धन और दु:ख से चरम निवृत्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिये, परमावश्यक है। उनके अनुसार वेदों का कर्मकाण्ड पूर्ण सन्यास की भूमिका है।

उनकी मान्यता थी कि कर्म के समस्त फल, इस लोक मे या परलोक में, काल में उत्पन्न होते है तथा उन्हे काल में ही समाप्त होना होता है और शाश्वत मोक्ष, जिसकी प्राप्ति के लिये हमारी गहनतम चेतना आतुर रहती है, और जिसके विषय में वेद बतलाते हैं, किसी भी प्रकार के कितने ही पवित्र व महान् कर्म की उपज नहीं हो सकती। शाश्वत मोक्ष व्यावहारिक रूप से प्राप्त किया जा सकता हैं क्योंकि यह आत्मा का मौलिक पारमार्थिक स्वरूप है और इस ज्ञान की प्राप्ति का अर्थ है चरम सत्य का घनिष्ठ ज्ञान व अनुभव। यह यथार्थ आत्मज्ञान किसी भी पवित्र कर्म का फल नही हो सकता, वरन् यह समस्त प्रकार के कर्मो से छुटकारा पाने पर ही आत्मा के शाश्वत् कर्मरहित, दु.खरहित परिवर्तन रहित, निरपेक्ष, आनन्दमय स्वरूप के अनुभव के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। इस आत्मज्ञान की प्राप्ति के योग्य बनने के लिये, सक्रिय पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन से संन्यास लेना, समस्त प्रकार के मोह, लोभ व इच्छाओं को दबाकर ध्यान व मनन का व्यवस्थित अभ्यास आदि परमावश्यक माने गये है।

यह विचारधारा पुन: दो भागों में विभाजित की गई थी। एक भाग तात्विक विचार व बौद्धिक अनुशासन पर अधिक बल देता और दूसरा परमात्मा के प्रति अधिकाधिक पावन प्रेममय श्रद्धा के भाव जागृत कर उसके तथा उसकी विभिन्न विभूतियों के प्रति आत्म-समर्पण करने पर अधिक बल देता था। इस मत के विचारक पारिवारिक व सामाजिक कृत्यों तथा यज्ञादि के अनुष्ठान को मानव-जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अनिवार्य नहीं मानते थे और न ही उनकी यह मान्यता थी कि चरम लक्ष्य केवल ध्यान धारणा, त्याग आदि से ही

प्राप्त किया जा सकता है। उनके अनुसार मोक्ष या तत्वज्ञान प्रभुकृपा की देन है और परमात्मा के प्रति सम्पूर्ण आत्मसमर्पण के भक्तिभाव का श्रेष्ठतम वरदान है। परमात्मा की ऐसी सम्पूर्ण निष्ठा से भक्ति मन, इन्द्रियों व शरीर की शुद्धि कर उन्हे उच्चतर स्तरों की ओर प्रेरित करते, नैतिक और सौन्दर्यात्मिक चेतना के जागृत करने व बुद्धि तथा आध्यात्मिक चेतना का अवलोकन करने के अनन्तर ही सभव है। वेदों द्वारा उपदिष्ट कर्मकाण्ड मानव हृदय में भक्तिभावना के विकास के लिये अत्यन्त उपयोगी है। किन्तु इस मत के अनुसार वैदिक मन्त्रों का केन्द्र है—भक्ति का उपदेश देना।

विचारधारा, नैतिक आध्यात्मिक अनुशासन तथा वैदिक मत्रों के अर्थान्वेषण के ये तीन मत बहुत प्रारम्भिक समय से ही आर्यो के समाज मे विकसित हुये थे। इन्होंने विभिन्न प्रकार के विवादों को जन्म दिया है। किन्तु प्रत्येक मत विकसित हुआ और समाज के जीवन व संस्कृति पर अपना प्रभाव डालता रहा। वर्तमान समय मे हिन्दू-धर्म के क्षेत्र मे, जिसे व्यापक रूप से भारत की नैतिक आध्यात्मिक सस्कृति कहते है, ये तीन प्रमुख विचारधाराये प्रचलित हैं।

(७) समाज में प्रचलित कर्म के दृष्टिकोण से टीका।

आर्य जाति के क्रमिक विकास व सगठन के काल में लोग सामान्यत: सन्यास या भक्ति के स्थान पर कर्म-दर्शन, भक्तिमार्ग या निवृत्तिमार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति-मार्ग में अधिक रुचि रखते थे। जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण उन्हे अधिक रुचिकर था। कर्मकाण्ड के महान् प्रवर्तको को वेदों का उच्च ज्ञाता माना जाने लगा तथा यज्ञ को वैयक्तिक व सामाजिक उन्नति तथा समृद्धि का सर्वश्रेष्ठ उपाय माना जाने लगा।

इस मत के बुद्धिमान् व कर्मठ मुनियो ने वैयक्तिक व सामाजिक कल्याण के आदर्श से प्रेरित होकर, आश्चर्यजनक पद्धति से वैदिक कर्मकाण्ड का व्यवस्थित व्यापक व सूक्ष्म वर्णन प्रस्तुत किया और सर्वसाधारण में यज्ञ व कर्मकाण्ड के लोकप्रिय बनाने का प्रत्येक प्रयास किया। उन्होंने अनेक स्मृतियाँ या धर्म-शास्त्र बनाये, जिनमें समाज के सब वर्गो के मनुष्यों के लिये कर्म निर्धारण व निषेध तथा उनका उल्लंघन करने वालों के दण्ड आदि का विधान किया गया। इनमें मनु स्मृति, जिसे मानव-धर्म शास्त्र भी कहा जाता है, सर्वाधिक महत्वपूर्ण व आप्त मानी जाती थी। उन्होंने बहुत से श्रौतसूत्रों व गृह्यसूत्रों की भी रचना की। उन्होंने वेदो के कर्मकाण्ड पर आधारित एक प्रसिद्ध दार्शनिक मत का प्रतिपादन किया जिसे मीमांसादर्शन कहा जाता है। प्राचीनकाल में महर्षि जैमिनी मीमासादर्शन के सब से महान् प्रवर्तक तथा मनु वर्णाश्रम धर्म के सबसे उल्लेखनीय प्रतिपादक माने जाते थे।

वेदों के प्रवृत्ति-मार्ग या कर्म-काण्ड के प्रवर्तको के सांस्कृतिक व अन्य सगठनात्मक कर्म इतने प्रभावशाली थे कि उन्हे वेदो का सच्चा ज्ञाता माना

जाता था तथा प्रवृत्ति-मार्ग को आर्यसमाज ने सच्चा वैदिक धर्म स्वीकार कर लिया था। जब आर्य जाति अपनी नैतिक-आध्यात्मिक सम्कृति के साथ सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप में फैल कर अनार्यो को प्रभावित करने लगी तो स्वभावतः इसे अनेक सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक और सास्कृतिक कठिनाइयो व समस्याओं का सामना करना पडा किन्तु इसने अपने वैदिक धर्म की पताका अद्भुत सफलता से सर्वत्र ऊँची रखी। इस वैदिक-धर्म ने स्वय को सनातन धर्म-मानवता का सार्वभौम व शाश्वत धर्म कहा।

(८) ज्ञान और योग के दृष्टिकोण का विकास।

निवृत्तिमार्ग ने ज्ञान, योग, वैराग्य और तपस्या के साथ सामाजिक आन्दोलनों के क्षेत्र से दूर चुपचाप किन्तु सतत विकास किया। इस मार्ग का अनुगमन करने वालों ने सामाजिक और पारिवारिक जीवन का परित्याग कर पर्वतों और वनों में शीघ्र आत्मज्ञान व मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न किया। समाज के शक्तिशाली नेताओं द्वारा इस दृष्टिकोण के विकास को प्रायः रोका गया। उन्हे भय था कि इस दृष्टिकोण के लोकप्रिय होने पर प्रतिभासम्पन्न युवक वैयक्तिक व सामाजिक जीवन- कल्याण के मार्ग का त्याग कर सन्यासी बन जायेगे। किन्तु योग और ज्ञान के प्रति पूर्ण श्रद्धा तथा सन्यास का जीवन व्यतीत करते हुये भी वे पूर्णरूपेण समाज के असम्बन्धित न थे तथा उनके चिन्तारहित, मुक्त, सरल व शांत जीवन तथा पूर्ण स्वच्छता, शुभ्रता, अहिसा, विश्वप्रेम तथा पूर्णानन्द के सन्देश का आध्यात्मिक आकर्षण अबाधित था। उनके दार्शनिक, नैतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक अनुशासन के दृष्टिकोणों का विशाल व व्यवस्थित वर्णन प्रस्तुत करने वाला उनका साहित्य, ज्ञान और योग पर उनकी कृतियाँ, अत्यधिक प्रचलित हुई। उनका साहित्य यद्यपि सत्यान्वेषी योगियों और ज्ञानियो के गहनतम अनुभव तथा ज्ञान की उपज था, तथापि वह तत्कालीन समाज मे वैदिक साहित्य के रूप में स्वीकार नही किया जाता था। यह आगम और तंत्र कहलाने लगा।

निवृत्तिमार्ग के प्रवर्तक जैसा कि देखा जा चुका है, योगियो और ज्ञानियों मे विभाजित थे। आगम-साहित्य मुख्यत. उन योगियो के उपदेशों से विकसित हुआ जो अद्भुत आध्यात्मिक शक्तियाँ रखते थे तथा जो जगत् के बन्धनो से छुटकारा पाने के व्यावहारिक उपायो से सम्बन्धित थे, जो अज्ञान, मोह, और नाशवान् पदार्थो से छुटकारा पाकर चरम सत्य को जानना चाहते। आगमों की उत्पत्ति एक सगुण देवता, जो महायोगेश्वर है, जिसकी चेतना मे परब्रह्म का शाश्वत दर्शन होता है और जो शाश्वत रूप में अज्ञान, अहकार, मोह, घृणा, अस्थिरता, बन्धन व दु.ख से मुक्त है, किन्तु जो सब प्राणियो के प्रति प्रेम और दया से परिपूर्ण है व समस्त ज्ञान तथा मानव-हृदय में निहित सत्य, सौन्दर्य, शुभ, स्वातन्त्र्य और आनन्द की प्रेरणा के स्रोत है, से मानी जाती है। उन्हें सब

गुरुग्रों का गुरु ज्ञान और योग का प्रथम गुरु, आगम-शास्त्रों का प्रथम लेखक माना जाता था। उनके अनेक नाम है यथा ईश्वर, महेश्वर, रुद्र, हिरण्यगर्व, शिव आदिनाथ, इत्यादि। कालान्तर में मूल आगमशास्त्र खो गये (संभवत: कर्मकाण्डों के विरोधी होने व ईर्ष्यालु दृष्टिकोण के कारण) किन्तु योग और ज्ञान का संप्रदाय सच्चे योगियों और ज्ञानियों के अनुकरणीय जीवनों व उपदेशो द्वारा पीढी दर पीढी विकसित होता रहा तथा वैदिक समाज में भी उच्च सत्यान्वेषियों के जीवन और विचारों पर इसका बढ़ता हुआ प्रभाव पड़ता रहा। निवृत्ति ज्ञान और योग के उपदेश समाज के अनेक बुद्धिमान् व महत्वपूर्ण व्यक्तियों को प्रवृत्ति और यज्ञ व स्वर्ग के समाज प्रचलित विचारों से अधिक श्रेष्ठ प्रतीत हुये। यह सुविदित है कि उपनिषदों के महान् गुरुओं ने मुख्यत: सर्वस्व त्यागी संतों व दार्शनिकों योगियों व ज्ञानियों के जीवन से प्रेरणा ग्रहण की, जो आध्यात्मिक आत्मानुशासन तथा गहन समाधि में पर्वत कन्दराओं और वन के आश्रमों में अपना जीवन व्यतीत करते थे।

कपिल, सांख्य दर्शन के प्रसिद्ध प्रवर्तक, सभवत: प्रथम दार्शनिक थे जिन्होंने स्वतत्र तर्क व विचार के आधार पर ब्रह्माण्ड व्यवस्था की, आत्मा के अन्तिम स्वरूप तथा मोक्ष के स्वभाव तथा उसको पाने की, दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होने वेदों की आप्तता को स्वीकार किया किन्तु वे निवृत्ति-मार्ग के प्रबल समर्थकों में से थे। तथापि ब्रह्माण्ड व्यवस्था की उत्पत्ति की व्याख्या करने के लिये उन्हें ईश्वर के प्रत्यय की आवश्यकता अनुभव नही हुई। कपिल के सांख्य दर्शन ने परवर्ती हिन्दू आध्यात्मिक विचार के विकास पर अत्यधिक प्रभाव डाला। पातंजलि ने अपना योगमत, कपिल के दार्शनिक विचार व प्राचीन महायोगियों के उपदेशों के आधार पर बनाया।

(९) कपिल का सांख्य दर्शन।

समस्त आत्मगत व वस्तुगत व्यावहारिक सत्ताओं के सामान्य स्वभाव, मनोवैज्ञानिक व जैविक-भौतिक, सूक्ष्म व स्थूल दोनों प्रकार के तथ्यो के सभी स्तरों पर गहन व गम्भीर विचार करके महासिद्ध योगी कपिल इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वे सबके सब अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में आते और पुन: व्यक्त से अव्यक्त स्थिति में लुप्त होते लक्षित होते हैं। प्रथम को साधारणत: सृजन या उत्पत्ति और दूसरे को प्रलय या विनाश कहा जाता है। सृजन के पूर्व और विनाश के अनन्तर वस्तु पूर्णरूपेण अनस्तित्ववान् नही होती किन्तु यह एक भेद रहित अनुभवरहित अव्यक्त स्थिति में रहती है, जिसमें किसी व्यक्त व भिन्न रूप को धारण करने की क्षमता रहती है। तार्किक रूप से इसे 'सत्कार्यवाद' कहा जाता है। कारणत्व का अर्थ किसी पूर्व अनस्तित्ववान् कार्य की उत्पत्ति नही वरन् अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था की ओर प्रकट होने की प्रक्रिया है। जो कारण रूप से अव्यक्त है वही कार्य रूप में प्रकट हो जाता है। नाश का अर्थ भी

समूल नाश नहीं वरन् एक कार्य का अपने कारण मे विलीन होकर अव्यक्त अवस्था में हो जाना है। एक स्थिति से दूसरी स्थिति की ओर जाने की प्रक्रिया में निस्सन्देह क्रिया निहित है, किन्तु गहन विचार से ज्ञात हो जायेगा कि चाहे व्यक्त हो या अव्यक्त व्यावहारिक सत्ता के स्वरूप में क्रियाशीलता किसी सूक्ष्म रूप में उपस्थित रहती है, जब कि बाह्य रूप से वह शान्त ही प्रतीत हो सकती है।

इस प्रकार कपिल बतलाते है कि क्षमता, यथार्थता और क्रियाशीलता, अव्यक्तावस्था, व्यक्तावस्था व एक स्थिति से दूसरी मे गमन करते रहने के कारण आन्दोलनावस्था, चरम रूप से समस्त व्यावहारिक सत्ताओं अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का स्वरूप बतलाती है। ये तीन क्षण अथवा व्यावहारिक अस्तित्व के तीन तत्व उनके द्वारा तमस्. सत्व व रजस् कहे जाते है, जिन्हे वे 'गुण' कहते हैं। तथापि उन्हे किसी तत्व या सत्ता के विशेषण या गुण या लक्षण नही मानना चाहिये वरन् समस्त व्यावहारिक अस्तित्वों के अन्तिम गुण मानना चाहिये। कपिल अस्तित्व की एक विशेष स्थिति का अनुमान करते है, जिसमे सत्व, रजस् और तमस् पूर्ण साम्यावस्था में हैं और इस कारण कोई व्यावहारिक सत्ता या प्रक्रिया या परिवर्तन या क्रिया प्रकट नही होती है। यह समस्त व्यावहारिक अस्तित्वों की अव्यक्तावस्था है। सृजन के पूर्व व प्रलय या विनाश के अनन्तर व्यावहारिक सत्ता की यह स्थिति होती है। चरम व्यावहारिक सत्ता इस पूर्ण अव्यक्तावस्था मे मूलाप्रकृति कही जाती है, तथा ब्रह्माण्ड का यह चरम भौतिक कारण है। इस कारण व्यावहारिक अस्तित्वों से समस्त स्तर व्यक्त ब्रह्माण्ड मे शनै.-शनैः विकसित होते और इसमें अनन्तः विलीन हो जाते है।

कपिल ने अपने प्रसिद्ध चौबीस तत्वो के रूप मे इस आत्मगत-वस्तुगत व्यावहारिक ब्रह्माण्ड व्यवस्था की एक आश्चर्यजनक धारणा प्रस्तुत की है। प्रकृति, सम्पूर्ण व्यावहारिक सत्ताओ के अस्तित्व की पूर्ण अव्यक्तावस्था और इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की चरम भौतिक कारण, जड़, स्वय विकसित होने वाली सत्व, रजस् और तमस् गुणो से युक्त चरम सत्ता है। प्रकृति का अस्तित्व इस ब्रह्माण्ड के विभिन्नता युक्त क्रमिक स्तरों मे विकास से सिद्ध हो जाता है, क्योंकि इस विकास का अर्थ है कि इनका चरम भौतिक कारण है। प्रकृति कभी भी प्रत्यक्ष दर्शन की वस्तु नही बन सकती क्योंकि अनुभव और प्रत्यक्ष की समस्त इन्द्रियाँ इसीसे विकसित होकर इसमें ही विलीन होती है। किन्तु तब भी इसका अस्तित्व अकाट्य है। यह प्रथम सत्ता, कारण-सत्ता है और समस्त व्यक्त व्यावहारिक अस्तित्व इसके कार्य हैं। इससे ब्रह्माण्ड के विकसित होने में काल एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। प्रकृति के पुद्गल या शक्ति (**Engergy**) के रूप में नही माना जा सकता क्योंकि पुद्गल और शक्ति इसके आत्म रूपान्तर की प्रक्रिया में इससे विकसित होते हैं।

प्रकृति सर्वप्रथम स्वयं को महत् तत्व, जिसे बुद्धि तत्व भी कहा जाता है,

के रूप में व्यक्त करती है जिसे भेद व क्रियारहित व्यापक विराट् व्यावहारिक चेतना माना जा सकता है। प्रकृति की प्रथम उपज होने के कारण यह दूसरी सत्ता है परवर्ती विकास की दशाओं की यह भौतिक कारण है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अव्यक्त व अभेद रूप में इसके स्वरूप में उपस्थित रहता है। यहां रजस् और तमस् पर सत्व शासन करता है, यद्यपि वे उपस्थित रहकर आगे विकास की प्रेरणा देते है।

तीसरी सत्ता अहं तत्व या अहंकार कही है जो महत्-तत्व से विकसित होकर परवर्ती आत्मगत व वस्तुगत व्यावहारिक सत्ताओं व विभिन्नताओं का कारण बनता है। इसे एक सर्वव्यापक व्यावहारिक सक्रिय अहंतत्व माना जा सकता है, जो रजस् प्रधान है। अहकार से ज्ञानेन्द्रियां व कर्मेन्द्रियाँ विकसित होती है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मनस् ये एकादश सत्ताय अहंकार से विकसित मानी जाती हैं। पाँच तन्मात्रायें शब्द, रूप, रस, गन्ध व स्पर्श इस भौतिक जगत् के निर्माण कारक तत्वों का प्रतिनिधित्व करती है। वे भी अहकार से विकसित होती हैं। उनसे पाँच स्थूल तत्व आकाश, अग्नि, जल, पृथ्वी और वायु विकसित होते है।

इस प्रकार प्रकृति, महततत्व, अहतत्व, मनस्, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राये, पांच महाभूत मिलकर २४ तत्व हो जाते है जिनके द्वारा कपिल ब्रह्माण्ड के विकास की व्याख्या करते हैं। समस्त प्रकार के वस्तुगत भौतिक पदार्थ इन पाँच महाभूतों के केवल विभिन्न संगठन रूप है और उनके लक्षण उनके इन्द्रियगत गुणों से जाने जा सकते है। दृगिन्द्रिय व समस्त सम्भव दृष्टिगत पदार्थो के अस्तित्व का एक सामान्य आधार होना चाहिये, जिससे वे विकसित होते है और वह अहकार है जिसमें वे दोनों मिलते हैं तथा व्यक्तावस्था के पूर्व जिसमे वे दोनों उपस्थित रहते है। जीवित शरीरों में समस्त मानसिक, बौद्धिक, भौतिक और जैविक दृश्य समस्त ऐन्द्रिय व अतीन्द्रिय अनुभव तथा ऐसे अनुभवों के समस्त पदार्थ एकमात्र स्रोत, अहकार से उत्पन्न व विकसित होते है, तथा यह अहंकार पुनः महत् उत्पन्न या विकसित होता है जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मूल रूप से अव्यक्तावस्था में उपस्थित रहता है। महत्-तत्व, जैसा कि देखा जा चुका है, प्रकृति के प्रथम व्यक्तावस्था है, जो समस्त व्यावहारिक अस्तित्वों की चरम एकता व क्षमता है।

ठीक जैसे समस्त अस्तित्व-स्तर शनै. शनैः प्रकृति से विकसित होते है, उसी प्रकार वे शनैः-शनैः कालान्तर में प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। समस्त जगत् एक कालाश्रित व्यवस्था है, जिसमें विकास और ह्रास की प्रक्रियायें, सृजन व विनाश की प्रक्रियायें, शाश्वत रूप से चल रही हैं, इसका कभी भी पूर्ण आदि और अन्त नहीं है। सम्पूर्ण व्यक्त जगत् एक काल में पूर्ण अव्यक्तावस्था में जा सकता है किन्तु पुनः वहां से विकास प्रक्रिया द्वारा व्यक्तावस्था में जा सकता है। यहां किसी सर्वशक्तिमान ईश्वर की मध्यस्थता की कोई आवश्यकता नही है।

अस्तु,कपिल के दृष्टिकोण से प्रकृति एक अनात्मक जड़ सत्ता है जो शाश्वत स्वतंत्र अस्तित्व से युक्त है किन्तु इसे भौतिक पदार्थ या अन्य निर्जीव शक्ति नहीं माना गया है क्योंकि ये शब्द व्यावहारिक अनुभव के केवल विशिष्ट व्यक्त पदार्थों या सत्ताओं के विशेष रूपों से सम्बद्ध है।

कपिल अनन्त असंख्य पुरुषों के शाश्वत अस्तित्व की घोषणा करते हैं, जो शुद्ध पारमार्थिक चेतन रूप हैं, जिनमें किसी प्रकार के परिवर्तन या रूपान्तर सुख या दु:ख इच्छा या कर्म, नाम या रूप नही होते और जिनका इस ब्रह्माण्ड व्यवस्था में किसी पदार्थ से कोई कारण सम्बन्ध नहीं है और जो, बिना किसी वास्तविक बन्धन या सीमा या अपूर्णता के, मुक्त हैं। वे मूलत· कालादिकादि से परे प्रकृति के व्यापार से अप्रभावित है। तथापि, वे शाश्वत रूप से किसी रहस्य-मय प्रक्रिया से प्रकृति से सम्बन्धित हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि अपने मौलिक पारमार्थिक स्वयं-प्रकाश स्वरूप को भूल बैठे है। किसी प्रकार इन अपरिवर्तनीय पुरुषों व सदा-परिवर्तनशील प्रकृति में अविवेक का सम्बन्ध है और प्रकृति के क्षेत्र में परिवर्तन मिथ्या रूप से पुरुषों में मान लिये जाते हैं। तथापि यह स्वीकार किया गया है कि स्वयं प्रकाश पुरुष, अपनी उपस्थिति मात्र से प्रकृति को चंचल कर देते हैं और प्रकृति को स्वयं में से व्यावहारिक चेतना विकसित करने योग्य बना देते हैं। यदि पुरुषों की आलोकमय उपस्थिति न होती तो प्रकृति कभी भी स्वयं में से चेतना का विकाश नहीं कर सकती थी और चेतना के विकास के बिना कोई वास्तविक ब्रह्माण्ड विकास ही न होता, कोई अनुभव व अनुभव पदार्थ, कोई ज्ञान और ज्ञेय जगत् ही न होता और इस प्रकार कोई ब्रह्माण्ड व्यवस्था ही न होती।

इस प्रकार यद्यपि परिवर्तशील स्वयं प्रकाश पुरुष ब्रह्माण्ड व्यवस्था के विकाश या ह्रास की प्रक्रियाओं में प्रत्यक्ष भाग नही लेते, उनका मौलिक पार-मार्थिक स्वरून इन प्रक्रियाओं से किसी भी प्रकार प्रभावि नहीं होता, तथापि प्रकृति से उनका सम्बन्ध ब्रह्माण्ड व्यवस्था की एक तार्किक व्याख्या करने के लिये स्वीकार करना अनिवार्य है। यद्यपि सदा-परिवर्तनशील स्वयं-प्रकाश-रहित प्रकृति और अपरिवर्तनीय, स्वयं प्रकाश पुरुष शाश्वत रूप से पृथक् व स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं तथापि प्रकृति को शाश्वत रून से पुरुषों की सेविका कहा जा सकता है, अन्यथा यह ब्रह्माण्ड व्यवस्था निरुद्देश्य व निरर्थक हो जायेगी। पुरुषों के मौलिक पारमार्थिक स्वरूप का अज्ञान ही हमारे बन्धन, अज्ञान, दु:ख व अपूर्णता का कारण है क्योंकि हम मिथ्या रूप से अपनी आत्माओं को प्रकृति व इसके प्रपच से तद्रूप मान लेते हैं।

जब आत्मा का मौलिक व शाश्वत स्वरूप ज्ञात हो जाता है तब मोक्ष या कैवल्य का अनुभव प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार व्यक्ति केवल विवेक ख्याति द्वारा ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसका अर्थ हुआ कि सच्चा आत्मज्ञान ही मानव जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का प्रत्यक्ष मार्ग है, कोई पवित्र या धार्मिक

कर्म नही ।

अज्ञान और ज्ञान, बन्धन और मोक्ष, दु.ख और सुख, व्यक्तित्व, सीमा, अपूर्णताओं के भाव, पाप-पुण्य के भाव, कर्म और उनके फल, इच्छायें उनकी तृप्ति और निराशाये, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति इत्यादि व्यावहारिक चेतना के दृश्य हैं और प्रकृति से विकसित व्यावहारिक ब्रह्माण्ड व्यवस्था के दृश्य है और प्रकृति से विकसित व्यावहारिक ब्रह्माड व्यवस्था के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु व्यावहारिक चेतनाओं के पीछे अनेक स्वयं प्रकाश पारमार्थिक स्थायी पुरुषो की सत्ता माने बिना इनकी कोई तार्किक व्याख्या नही दी जा सकती जिनके द्वारा ये प्रकट होते तथा जिनसे ये मिथ्या तादात्म्य प्राप्त किये हुये है। प्रत्येक व्यष्टि चेतना, प्रत्येक व्यावहारिक अहं, प्रत्येक व्यष्टि मानस् और बुद्धि, प्रत्येक वैयक्तिक जीवित शरीर, प्रत्येक व्यवस्थित पंच-भौतिक पदार्थ को व्यक्तित्व व एकता प्रदान करने के लिये पुरुष का आधार रूप होना परमावश्यक है।

इस प्रकार कपिल का कहना है कि व्यष्टि पुरुषों की असंख्य अनेकताये होनी चाहिये जो अपने मौलिक स्वरूप मे शाश्वत पारमार्थिक है किन्तु शाश्वत रूप से प्रकृति से सम्बन्धित है और इस ब्रह्माण्ड व्यवस्था में एक विशिष्ट पुरुष स्पष्टतः एक व्यावहारिक शरीर मे एक व्यावहारिक अह से सम्बन्धित है जो प्रकृति से विकसित हुआ है। प्रत्येक व्यष्टि चेतना का स्थायी 'में' भाव पुरुष की ओर संकेत करता है किन्तु यह प्रायः इस पुरुष के पारमार्थिक स्वरूप के विषय में अचेतन रहती है। 'मैं' या पुरुष के प्रतीक होनेवाले सांसारिक बन्धन व दुःख का यही कारण है। जब विकास प्रक्रिया के मध्य कोई व्यावहारिक व्यष्टि चेतना पुरुष के पारमार्थिक मौलिक स्वरूप के ज्ञान से आलोकित हो जाती है, तो वह विशिष्ट पुरुष प्रकृति बन्धन से मुक्त होकर समस्त व्यावहारिक सीमाओं व लक्षणों से मुक्त हो जाता है। मुक्त पुरुष के लिये सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड व्यवस्था नही के तुल्य ही है यद्यपि बद्ध पुरुषों के लिये यह निर्बाध रूप मे चलती रहती है। पुरुष के इस मोक्ष के लिये व्यावहारिक चेतना का आलोकित होना आवश्यक है जिससे यह सम्बन्धित है, तथा यह अन्ततः ज्ञान योग द्वारा, न कि किसी प्रकार के कर्म फल से, प्राप्त किया जा सकता है।

कपिल के सांख्यदर्शन ने भारत में चरम सत्य के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण व ब्रह्माण्ड व्यवस्था के प्रति तार्किक धारणा के निर्माण का प्रबल नेतृत्व किया और ज्ञान, योग, संन्यास तथा निवृत्ति-मार्ग का कर्म, यज्ञ, गार्हस्थ्य व प्रवृत्ति मार्ग के स्थान पर गरिमामय प्रतिपादन किया। सामान्यतः योगियों ने साँख्य की दार्शनिक विचारधाराओं को स्वीकार किया, यद्यपि उन्होंने तप और सयम के अभ्यास पर अधिक बल दिया। शरीर, मन, बुद्धि आदि की शुद्धि के व्यावहारिक मार्ग पर, विशिष्ट आचरण द्वारा पुरुष को प्रकृति के सम्बन्ध से छुटकारा दिलाकर मोक्षप्राप्ति के योग्य बनाने पर बल दिया।

उपनिषदों ने भी इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया कि ब्रह्म या आत्मा का

साक्षात्कार प्रवृत्ति मार्ग, कर्म और यज्ञ मार्ग से सभव नही। तथापि उपनिषदों ने सांख्य के दार्शनिक विचारों को यथावत् स्वीकार नही किया। उन्होंने वैदिक प्रमाणों के आधार पर यह प्रतिपादित किया कि अन्त मे केवल पुरुष या आत्मा या ब्रह्म ही पारमार्थिक स्तर पर बिराजता है जो प्रकृति के क्षेत्र मे अनेक पुरुषों या आत्माओं के रूप में प्रतीत होता है तथा प्रकृति उस ब्रह्म की अद्भुत रहस्य-मयी शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, जिसके द्वारा द्वैत ब्रह्म स्वयं को व्यावहारिक स्तर पर नाना नाम-रूपात्मक अस्तित्वों व अनुभवों मे व्यक्त करता है। परब्रह्म से पृथक् प्रकृति का कोई अस्तित्त्व ही सभव नही है। तार्किक दृष्टि से यह भी निरर्थक है कि पारमार्थिक स्तर पर अनेक पुरुष है जहाँ कि व्यक्तित्व या आत्मभेद चेतना का भाव ही नही है। व्यक्तित्व केवल व्यावहारिक स्तर पर होता है और परमात्मा चरम रूप से सब व्यक्तियों का सच्चा आत्मा है। इस चरम सत्य के ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार उपनिषद् वेदों के मौलिक अन्तिम सत्यों के अनावरण का श्रेय बहन करते है। यद्यपि कुछ प्रमुख दार्शनिक तात्विक धारणाओ में सांख्य से मतभेद रखते है, तथापि निवृत्ति-मार्ग व मोक्ष प्राप्ति के प्रत्यक्ष व यथार्थ साधनों के रूप में योग और ज्ञान के अभ्यास को सांख्यानुसार ही स्वीकार करते है। बादरायण के ब्रह्मसूत्रो में जिन्हें वेदान्त दर्शन भी कहा जाता है, उपनिषदों के उपदेशों का प्रामाणिक रूप प्रस्तुत किया गया है और इसे अनेक सत्यान्वषियों द्वारा वेदों की यथार्थ व चरम दार्शनिक विचारधारा माना गया इसके आधार या प्रमाण में वेद थे और इसका रूप ठोस तार्किक था। इसने बड़ी योग्यता से प्रतिपादित किया कि चरम पारमार्थिक सत्य केवल बौद्धिक दार्शनिक तर्कों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता वरन् वेदों पर आस्था रखते हुये इसे स्वीकार करके गहन ध्यान, धारणा व समाधि द्वारा इसके दर्शन करने चाहिये।

सांख्य और वेदान्त ने निवृत्ति मार्ग के दार्शनिक आधार की स्थायी नींव डाली और जीवन की चरम पूर्णता के लिये हर युग में वैराग्य ज्ञान तथा योगा-भ्यास पर बल दिया। पिछले सहस्रों वर्षों में सांख्य और वेदान्त पर आधारित दार्शनिक साहित्य आश्चर्यजनक रूप से विकसित हुआ हैं और इसने लोगों के सामान्य जीवन, उनकी कला व साहित्य पर व्यापक प्रभाव डाला है, किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि न सांख्य ने और न ही वेदान्त ने प्रवृत्ति-मार्ग तथा धर्म, अर्थ और काम को निरर्थक बताया किन्तु इनका मूल्य सापेक्षिक ही माना। उन्होंने आध्यात्मिक प्रगति के लिये उच्च जीवन-स्तरों पर योग, ज्ञान तथा वैराग्य का महत्व बतलाया किन्तु इनका अभ्यास धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित यज्ञादि कर्मों के सम्यक् संपादन के अनन्तर ही भली प्रकार संभव होता है।

(१०) भक्ति मार्ग का विकास

प्राचीनकाल से उपासना मार्ग भी विकसित होकर लोगों के मन मस्तिष्क व आचरण को प्रभावित करता आ रहा है। प्राचीन व प्रारम्भिक दिनों में वेदों

में प्रशंसित अनेक देवताओं की उपासना के निश्चित प्रतिपादित रूपों में उनके भक्त उनकी निष्ठापूर्ण उपासना करते रहे हैं। क्रमशः एक परमात्मा पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा तथा ये समस्त देवता उसी परब्रह्म की ब्रह्माण्ड व्यवस्था में विशिष्ट गौरवमय आत्माभिव्यक्तियां हैं। परमात्मा के भक्तों ने शनैः शनैः सब देवताओं के उपासकों के कर्मों को एकत्रित कर लिया। यह मानते हुये कि समस्त देवी-देवताओं के उपासक अप्रत्यक्ष रूप से उसी एक परब्रह्म की उपासना करते है, इन एक परब्रह्म के उपासकों ने भी उसके अनेक नाम और रूप स्वीकार किये हैं। तथापि भक्तिभावना उन सबमें समान रूप में अवस्थित थी और उन सबका लक्ष्य विभिन्न नाम रूपों द्वारा परमात्मा से भावात्मक सम्पर्क स्थापित करना था।

इस प्रकार अत्यन्त प्रारम्भिक युग में भी, अध्यात्म-जिज्ञासुओं का संप्रदाय एक परमात्मा की भक्ति को मोक्ष व आनन्द का प्रमुख साधन मानते हुये भी अनेक उप विभागों में विभाजित था। इस प्रकर उस प्राचीनकाल में भी अनेक उपासना सम्प्रदाय, शिव, रुद्र, पशुपति, महेश्वर, विष्णु, नारायण, भगवान् शक्ति, सूर्य तथा अन्य की भक्ति में संलग्न, उत्पन्न हुये। प्रत्येक सम्प्रदाय का मोक्ष प्राप्ति हेतु एक विशिष्ट धार्मिक दर्शन, एक विशिष्ट नैतिक और आध्यात्मिक आत्म-अनुशासन की पद्धति थी। तथापि उनमें से प्रत्येक ने वेदों की प्रमाणिकता को स्वीकार किया तथा जगत् के चरम स्रोत, स्वामी परब्रह्म की उपासना व भक्ति पर बल दिया एक बात जो विशेष ध्यान देने की है वह यह कि इन उपासना सम्प्रदायों के विकास में परमात्मा अधिकाधिक सगुण व मानवीय गुणों के कोष बनते गये। प्रेम और ईश्वर कृपा से सत्य दर्शन व मोक्ष भी प्राप्त होते बतलाये गये। प्रत्येक ने अपना विशिष्ट धार्मिक साहित्य विकसित किया, और प्रत्येक का मौलिक प्रामाणिक साहित्य आगम कहलाता है। ये संप्रदाय क्रमशः पिछली शताब्दियों के व्यापक भक्ति-सम्प्रदायों में विकसित हो गये। कालान्तर में शिव, कृष्ण, राम और शक्ति (काली और दुर्गा के रूपों में) की उपासना के सम्प्रदाय इस देश में सर्वाधिक व्यापक व लोकप्रिय हो गये। उन सबने परमात्मा की, इन दिव्य नाम और रूपों मे धारणा बनाकर उपासना की।

अध्याय ११

हिन्दू अध्यात्म संस्कृति का विकास (२)

(१) श्री कृष्ण द्वारा समस्त धार्मिक सम्प्रदायों का भव्य समन्वय

जैसे-जैसे आर्यों का समाज विकसित और व्यापक होता गया और इस महान् उप-महाद्वीप के समस्त भागों में फैलता गया, इसकी सस्कृति स्वभावत· अधिकाधिक वैविध्यपूर्ण तथा अनेकानेक भाषाओं वाली होती गई, किन्तु इसके समस्त अंग उपरिवर्णित वेदों से उद्भूत तीन (या चार) आदर्शवादी एवं आध्यात्मिक विचारधाराओं से व्याप्त रहे। इन विचारों के प्रवर्तक कभी-कभी एक-दूसरे से आवेशपूर्ण वाद-विवादों में उलझ जाते थे, किन्तु वे सामान्यत. समाज और जाति सतत प्रगति, एकता तथा शान्ति में सहयोग देते रहते थे। सतत विकासशील समाज के समस्त अंगों के मध्य सगठन का सबसे सुदृढ़ आधार था—वेदों में विश्वास। इन दृष्टिकोणो के अनुयायियों में असाधारण आध्यात्मिक सिद्धियों व बौद्धिक शक्तियों वाले सन्त महात्मा सब युगों मे हुये जिन्होंने सर्वसाधारण के हृदय और मन पर अपना प्रभाव डाला। उनके प्रभाव से विदेशी जातियों के लोग भी न बच सके और वे भी शनै. शनैः आर्य-समाज में समाते गये। मैत्रीपूर्ण वाद-विवाद, सहअस्तित्व तथा सहयोग के परिणामस्वरूप, प्रत्येक आत्मानुशासन के अनुयायियों ने अन्य मार्गो के व्यावहारिक मूल्यों की अधिकाधिक प्रशंसा की तथा उनके नैतिक, आध्यात्मिक व सामाजिक आधार के अनेक उपायों को अपना लिया। इस प्रकार प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अपनी प्रगति के साथ अधिकाधिक सहिष्णु व व्यापक होता गया। निष्पक्ष एवं सच्चे सत्यान्वेषियों की आन्तरिक चेतना में एक पूर्ण समन्वय तथा कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति-प्रवृत्ति-मार्ग, निवृत्ति-मार्ग, विचार-मार्ग, ध्यान-मार्ग तथा उपासना मार्ग हमारी नैतिक चेतना के दायित्वों व पारिवारिक तथा सामाजिक कर्तव्यों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने, हमारी आध्यात्मिक चेतना की मांग के अनुसार सांसारिक क्रियाकलापों से वैराग्य व चरम सत्य के दर्शन में अपनी सम्पूर्ण शक्ति को एकत्रित करने, तथा हमारी सौन्दर्यात्मिक व आलोकित भावात्मक चेतना की मांग के अनुसार समस्त जीवात्माओं आत्मा तथा ब्रह्माण्ड व्यवस्था के सुन्दर एवं भव्य दिव्य स्रोत के प्रति भक्ति व श्रद्धा को उद्बुद्ध करने की एक मनोवैज्ञानिक सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक आवश्यकता सर्वदा अनुभव की गई।

वैदिक काल के तत्काल बाद के उल्लेखनीय संत एवं मुनियों के धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, नैतिक तथा काव्य साहित्य में वेदों की विभिन्न प्रकार

टीकाओं के मध्य मानव चेतना की मौलिक मांगों की संतुष्टि तथा विभिन्न विचारधाराओ में तार्किक समन्वय स्थापित करने के अनेक गरिमामय प्रयास निश्चित रूप से पाये जाते हैं। किन्तु इस दिशा में सबसे अधिक सफल प्रयास 'भगवद्गीता' में भगवान् श्रीकृष्ण ने किया। वैदिक सत्यों की आंतरिक भावना के सबसे सच्चे प्रतिनिधि श्रीकृष्ण थे। उनका असाधारण घटनामय जीवन, उनके दिव्य शक्तिशाली व्यक्तित्व, गहन आध्यात्मिक अनुभव तथा उनके सर्वाधिक व्यापक व व्यावहारिक धर्म और दर्शन ने, भारतवर्ष की आध्यात्मिक संस्कृति के विकास के इतिहास मे उन्हें एक अपूर्व व अद्वितीय स्थान प्रदान किया है। उनके जीवन-काल मे ही उन्हें परमात्मा पूर्णावतार माना जाने लगा। अपने युग के वे सबसे महान राजनीतिज्ञ, योद्धा, कर्मयोगी, सत, दार्शनिक और महात्मा थे।

भगवद्गीता, महाभारत के भयानक युद्ध के प्रारंभ होने के थोड़ी ही देर पहले कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को दिया गया उनका सन्देश,सबसे कम संभव शब्दों मे वेदों द्वारा उपदिष्ट समस्त भौतिक वातावरणों, मानवसमाज तथा मानव-जीवन के प्रति नैतिक, सामाजिक, भावात्मक तथा आध्यात्मिक अनुशासन के समस्त रूपो पर आधारित आध्यात्मिक दृष्टिकोण का सर्वाधिक सभव व्यावहारिक समन्वय प्रस्तुत करती है। कृष्ण द्वैपायन व्यास जिन्होने श्रीकृष्ण के जीवन और उपदेशों का सर्वाधिक प्रचार किया तथा उनकी 'गीता' को अपने सर्वश्रेष्ठ प्रशंसनीय महाकाव्य महाभारत के केन्द्र में रखा, ने इसे एक साथ ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र, भक्तिशास्त्र तथा कर्मशास्त्र कहा जिसने वेदों के वास्तविक अर्थ को, बिना किसी अग की अवहेलना किये, भली प्रकार प्रस्तुत किया है। गीता हमारे साधारण पारवारिक और सामाजिक कर्तव्यों को एक उच्च आध्यात्मिक स्तर पर उठाकर, हमें अपने कर्तव्यों को कर्तव्य के लिये, आध्यात्मिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर, करते रहने की शिक्षा देती है, सच्चे आध्यात्मिक दृष्टिकोण से मोक्ष, उपासना, संन्यास, त्याग, कर्म, ज्ञान, योग, यज्ञ की तत्वज्ञानालोकित धारणा प्रदान करती है, समस्त अस्तित्वों के स्वामी को सब वर्गों हृदयों के अत्यन्त निकट ला देती है और समाज के सब स्तरों के व्यक्तियों के लिये जीवन के चरम आदर्श को प्राप्त करने का व्यावहारिक मार्ग प्रशस्त कर, सम्पूर्ण मानव-जीवन के आध्यात्मिक विकास का सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक मार्ग निर्देशित कर देती है।

श्रीकृष्ण ने मानव के सम्पूर्ण जीवन को पूर्ण आध्यात्मिक बनाने की कला सिखायी और इसे वेदों के समस्त उपदेशों में निहित आदर्श के रूप में प्रचारित किया। उन्होने वेद-वाक्यों के समस्त एकांगों व संकीर्ण दृष्टिकोणो तथा टीकाओं का विरोध किया। उनका सदेश था कि प्रत्येक मनुष्य को वह चाहे जिन आर्थिक वातारणगत परिस्थितियो अथवा पारवारिक व सामाजिक दायित्वो या बौद्धिक स्तर अथवा सामाजिक पद का हो, अपने व्यावहारिक जीवन में एक योगी बनना चाहिये। योग को प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अनुशासक सिद्धान्त

होना चाहिये, न कि केवल सर्वस्व त्याग कर वनो मे तपस्या करने वाले कतिपय असाधारण व्यक्तियो का ही। योग अनिवार्यत: एक ईश्वरमय जीवन, सामान्य अनुभव के जगत् के समस्त व्यापारो के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रेरित जीवन, परमात्मा के प्रति गहन भक्ति व आत्म-समर्पण के भाव मे निहित है।

प्रत्येक मनुष्य को स्मरण रखना चाहिये कि वह ईश्वर की एक विशिष्ट आत्माभिव्यक्ति है, कि वह ईश्वर के जगत मे ईश्वर के उद्देश्य को पूरा करने के लिये, ईश्वरप्रदत्त विशिष्ट कर्त्तव्यो को निष्टा से पूरा करने के लिये प्रकट होता है, कि उसे भक्तिभाव से अपनी भूमिका नि.स्वार्थ सेवा एव निष्काम भाव से निभाते रहना चाहिये तथा उनके समस्त कार्यो तथा उनके समस्त भौतिक, मानसिक,बौद्धिक प्रयासो का अन्तिम लक्ष्य परमात्मा से पूर्ण आध्यात्मिक मिलन है। कुछ लोग साधारण सामाजिक व ग्राहस्थ्य कार्यो के योग्य होते है, कुछ समाजोपयोगी गौरव-मय कार्य करने योग्य होते है, कुछ मानवता की दार्शनिक या वैज्ञानिक या कलात्मक या साहित्यिक सस्कृति मे अमूल्य योगदान करने योग्य हो सकते है, कुछ ससार से विरक्त होकर योगाभ्यास आदि पारमार्थिक साधनाओ के योग्य हो सकते हैं, इत्यादि। विभिन्न योग्यताओ के अनुसार विभिन्न स्वधर्म होते है और ईश्वर विभिन्न व्यक्तियो के जीवन द्वारा विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति चाहता है। किन्तु समस्त स्तरो के समस्त प्रकार के मनुष्यों का निर्देशक व अनुशासक सिद्धान्त योग हो सकता है और इसे होना चाहिये तथा योग के सार्वभौमिक सिद्धान्तों के अनुसार अपने जीवन को अनुशासित करनेवाले सब मनुष्य परमात्मा को प्राप्त करने योग्य हो जाते है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने, अपने सर्व समायोजक योग की तत्वज्ञानालोकित धारणा से प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्तिमार्ग के युगो से चले आ रहे विवाद को, दोनों की आन्तरिक अध्यात्मिक एकता के मौलिक महत्व का उद्घाटन करके समाप्त कर दिया। प्रवृत्ति-मार्ग इस अकाट्य तथ्य पर आधारित है कि मानव स्वभाव से ही आत्म-चेतन, आत्म-निर्णायक क्रियाशील प्राणी है और अनुशासित, ऐच्छिक, नियमित कार्यों के बिना उसके भौतिक अस्तित्व का स्थिर रहना भी असम्भव हो सकता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपने अस्तित्व की आवश्यकता-हेतु कार्य अवश्य करते रहना चाहिये। किन्तु शरीर-निर्वाह के कर्तव्यों से ही किसी व्यक्ति को सतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये, क्योंकि शरीर का एक न एक दिन नाश होना अनिवाय है। उसमे जीवन को उच्चतर स्तरो पर उठाने की अक्षुण्ण क्षमता है। वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठ तथा अधिकाधिक स्थायी मूल्यो के कार्य करने योग्य है। वैदिक प्रवृत्ति-मार्ग ऐसे अनेक पवित्र कर्मो को प्रस्तुत करता है, जिनके करने पर विभिन्न भौतिक, मानसिक व बौद्धिक योग्यताओं के मनुष्य, उच्चतर आत्मचेतन अस्तित्वो के स्तरो पर उठ सकते है। ऐसे कार्य व्यक्तिगत उन्नति के साथ-साथ समाज का अनेक प्रकार से कल्याण करते है। ऐसे समस्त कार्यो का अन्तिम लक्ष्य व्यक्तियो की नैतिक और आध्यात्मिक पूर्णता होनी चाहिये और उन्हें इनका पूरी निष्ठा से

पालन करना चाहिये। यही निवृत्ति-मार्ग का भी आदर्श है।

अस्तु, वैदिक प्रवृत्ति-मार्ग समस्त मनुष्यों को ऐसे पवित्र व आत्मकल्याणकारी कर्मों को यज्ञ या त्याग के पवित्र भाव का शुद्ध शरीर से संपादित करने का आदेश देता है। श्रीकृष्णजी के मतानुसार यज्ञ का तात्पर्य केवल अनुष्ठान करना या मन्त्र जपना ही नही, इन कर्मकाण्ड-विधियों के अतिरिक्त मूलतः यज्ञ निष्काम भाव या त्याग-वृत्ति से सेवा करने मे निहित है। सब कुछ परमात्मा की पूजा मे होम देने के पवित्र भाव से किया गया नि स्वार्थ कर्म ही यज्ञ है। यज्ञ का उच्चतम रूप है—अहभाव तथा स्वार्थमयी इच्छाओ, महत्वाकाक्षाओ तथा परिग्रह के भावों को त्याग कर समस्त वस्तुओ को भगवान् की मानना व जानना है। सच्चो यज्ञ-भावना मनुष्य को योगी बना देती है।

जो कुछ भगवान् का है, उसे नम्रता से भगवान को अर्पित कर देना चाहिये। इस प्रकार यज्ञ प्रभु-प्रदत्त सामग्री द्वारा प्रभु की विशुद्ध उपासना है, जिसे करने पर उपासक परिग्रह तथा अहंता के समस्त भावों से मुक्त होकर आत्म-ज्ञान प्राप्त करने योग्य हो जाता है। समस्त कार्य इस उपासना-भाव से करने चाहिये तथा जो कुछ ईश्वर का है उसे ईश्वरको अर्पित करते रहना चाहिये। कार्यो के बाह्य रूप प्रकटतः त्यागमय होंगे और वे भी मानव-समाज की यथेष्ट सेवा करने योग्य होगे। यज्ञ या उपासना की सामग्री सर्वदा पार्थिव या वाह्य वस्तुये ही हों यह आवश्यक नही; समस्त जप, ध्यान, तपस्या, ब्रह्मचर्य, विद्या-दान, प्राणायाम, समाज-सेवा, राष्ट्र-सेवा धर्म-युद्ध, प्राण-दान इत्यादि लोकहित के कार्य ईश्वर के प्रति समर्पण भाव से करते रहना चाहिये और सदा सांसारिक ऐश्वर्य को प्रभु द्वारा प्रदत्त प्रभु की ही वस्तु समझकर विनम्रता से भोगना चाहिये। श्रीकृष्णजी बतलाते हैं कि जब बाह्य रूप से अन्य देवी-देवताओं की उपासना की जाती है तो यह सब भी परमात्मा को ही प्राप्त होती है, किन्तु उपासको के मनमें भेदभाव की उपस्थिति के कारण यह अपरोक्ष होती है। सत्यतः एक परमात्मा ही अनेक देवताओं की अन्तरात्मा है और ये सब उसी की विभिन्न नामरूपात्मक दिव्य विभूतियां है। प्रत्येक बुद्धिमान उपासक को उन सब देवताओं में एक परमात्मा को देखकर उस पर ध्यान एकाग्र करना चाहिये। किन्तु इन सब विभिन्न प्रकार की उपासनाओ व विभिन्न दिव्य नामो और रूपो वाले देवताओं की निन्दा नहीं करनी चाहिये।

यदि मनुष्य की सम्पूर्ण चेतना यज्ञ-भाव से परिपूर्ण है, तो किसी भी प्रकार के कार्य बन्धन के कारण बनकर ईश्वर के साक्षात्कार में बाधक नही बनते। वरन् वे तो ज्ञान और योगाभ्यास की भांति ईश-प्राप्ति में उपयोगी सिद्ध हो सकते है। इस प्रकार तत्वज्ञानालोकित प्रवृत्ति-मार्ग उसी प्रकार आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुंचा, सकता है जैसे कि तत्वज्ञानालोकित निवृत्ति-मार्ग। दोनों ही सच्चे योग की भांति प्रयोग में लाये जा सकते हैं।

श्रीकृष्ण दिव्य वाणी में घोषणा करते हैं कि यदि कोई गृहस्थ या सामाजिक कार्यकर्त्ता, अपने पारिवारिक व सामाजिक उत्तरदायित्वों का उत्साह से निर्वाह

करते हुये, ज.वन के विभिन्न क्षेत्रों मे पवित्र कर्म करते हुये, अपने हृदय और मस्तिष्क को गर्व व दम्भ, स्वार्थमयी अभिलाषाओ, चिन्ताओ तथा कर्मफल की कामनाओं से मुक्त रखने का उचित अभ्यास करते हुये, अपने अन्तर्यामी, जगत् के स्वामी परमात्मा द्वारा उसके विराट विलास में प्रदत्त अपनी भूमिका को श न्ति, नम्रता व सेवा-भाव से निभाता जाये, तो उसे सच्चा योगी, सच्चा भक्त, सच्चा त्यागी और सन्यासी, निवृत्ति-मार्ग का सच्चा साधक मानना चाहिये। दूसरी ओर यदि कोई कन्दरा-निवासी या सन्यासी, समस्त पारिवारिक व सामाजिक कर्तव्यों को त्याग कर तप व योगाभ्यास करते हुये भी स्वयं को अहंता, ममता, स्वार्थ, दम्भ, द्वेष, क्रोध आदि अपने मानसिक स्वभाव की दुर्बलताओं से मुक्त नही कर सकता, तो वह सच्चा योगी अथवा सच्चा भक्त या सच्चा ज्ञानी या सच्चा त्यागी या सन्यासी कहलाने का अधिकारी नही है।

श्रीकृष्ण ने सिखाया कि व्यक्ति की सच्ची आध्यात्मिक प्रगति का मूल्याकन, उसके जीवन-यापन के वाह्य रूपो, बाह्य कर्मों या अकर्मों, बाह्य भाग या त्याग, गृहवास या वनवास से न करके उसके वास्तविक आन्तरिक परिवर्तन, हृदय और मन के सच्चे आध्यात्मिक आलोकन, मैं और मेरेपन के भावों से मुक्ति तथा स्वयं में व जगत में परमात्मा के दर्शन करने की योग्यता से करना चाहिये। श्रीकृष्ण ने साधकों के आन्तरिक दृष्टिकोणों तथा ज्ञान पर गहन विचार करके अध्यात्म-जिज्ञासुओं को 'कर्म' मे 'अकर्म' तथा 'अकर्म' में 'कर्म' प्रवृत्ति का दर्शन करने की शिक्षा दी। जब अकर्म या निवृत्ति अहंकार, दम्भ तथा घृणा व स्वार्थ से युक्त होती है, तो यह स्वार्थवश किये गये कर्मो के समान ही बन्धन का कारण बन जाती है। परमात्मा के प्रति निष्काम भक्ति-भावना से किये गये कर्म को अकर्म मानना चाहिये, क्योकि यह ससार के बन्धन को काट देता है।

श्रीकृष्ण के मतानुसार यथार्थ वैदिक रीति का जीवन-यापन, पारिवारिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्वों को निष्ठा से पूरा करना, धर्म-शास्त्रो के अनुसार विभिन्न सस्कार, यज्ञ व अनुष्ठान आदि का सम्पादन, विभिन्न प्रकार की परम्परागत उपासनाओं तया भक्ति-भावो को उद्बुद्ध करना, योग-शास्त्रो में उल्लिखित आत्मानुशासन, आत्म-नियन्त्रण, आत्मयेकाग्रता तथा आत्मालोचन के विभिन्न उपायों का व्यवस्थित अभ्यास करना, ज्ञानमार्ग के अनुसार परमात्मा के सच्चे स्वरूप का विचार और ध्यान करना, संसार के प्रति वैराग्य व सन्यास धारण तथा सत्य-दर्शन हेतु समस्त प्रकार के तप व सघर्ष करना, इत्यादि—ये विभिन्न योग्यताओं, अभिरुचियों, स्वभावों व वातावरणों के समस्त व्यक्तियों के उनके स्वभावानुकूल मानव-जीवन के एक मात्र आध्यात्मिक आदर्श की प्राप्ति के अनेक मार्ग है। इन सब मार्गो को वेदों की स्वीकृति प्राप्त है। सबके सब आत्मा-नुशासन, आत्मशुद्धि और आत्मोत्थान के विशिष्ट प्रकार, मानव को सांसारिक जीवन के कष्टों, दु:खों और बन्धनों से क्रमिक मुक्ति प्रदान करने के लिये है।

किन्तु श्रीकृष्ण बल देकर कहते है कि आध्यात्मिक आत्म-शिक्षण के इन प्रतीत

होने वाले विभिन्न मार्गों मे से सर्वाधिक मूल्यवान सारतत्व प्राप्त करने के लिये, यथासम्भव ध्यान उनके बाह्य रूपों के स्थान पर उनकी अन्तरात्मा की ओर निर्देशित करना चाहिये। वेदो के विभिन्न प्रकार के निर्देशनो के बाह्य रूप परस्पर-विरोधी व भिन्न प्रतीत हो सकते है, किन्तु उन सबका आन्तरिक अभिप्राय समान है। विभिन्न अध्यात्ममार्गों के बाह्य रूपों पर अनावश्यक बल देने के कारण अवांछ--नीय वाद-विवाद प्रकट हो गये। वेदों द्वारा निर्देशित अनुशासन के इन समस्त रूपों की अन्तरात्मा वह है जिसे श्रीकृष्ण योग की आत्मा या भाव कहते है। आशय यह है कि प्रत्येक अनुशासन मार्ग का अनुसरण योग-भावना को हृदय में रखकर करना चाहिये। श्रीकृष्ण के मतानुसार यदि साधारण से साधारण पारिवारिक कर्तव्य भी हृदय मे सच्चा योगभाव तथा निष्काम भाव धारण करके पूरा किया जाय, तो यह उतना ही आध्यात्मिक हित प्रदान कर सकता है जितना कि समाधि व सन्यास का व्यवस्थित अभ्यास।

श्रीकृष्ण ने प्रत्येक मानव को एक योगी का जीवन व्यतीत करने का सदेश दिया, अर्थात् उसकी भौतिक व मानसिक योग्यताओं व रुचियों के अनुसार वह किसी भी प्रकार के कार्यो के उपयुक्त हो तथा किसी भी परिस्थिति मे उसे रहना पड़े, उसे एक पूर्णरूपेण ईश्वरमय जीवन व्यतीत करना चाहिये। उन्होंने योग की इतनी व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की कि प्रत्येक स्त्री और पुरुष द्वारा उसे व्यवहार में लाया जा सकता है तथा वह नीच से नीच—शूद्र से लेकर विद्वान् ब्राह्मण, वीर क्षत्रिय तथा व्यापारी वैश्य, राजा और भिक्षुक, साधारण गृहस्थ तथा सर्वत्यागी सन्यासी के लिये समान उपयोगी है। उन्होंने सर्वात्मा जगत्पिता परमात्मा को संसार के प्रत्येक स्त्री व पुरुष के मस्तिष्क व हृदय के निकट ला दिया। उन्होने दर्शन की चरम सत्ता को इतने लोकप्रिय व आकर्षक रूप मे प्रस्तुत किया कि अनपढ़ व्यक्ति भी अपने चारो ओर तथा अपने अन्दर उसकी स्पष्ट उपस्थिति अनुभव कर सकता है—अपने घर और समाज मे, अपने पारिवारिक और सामाजिक वाता-वरणों में, समस्त भौतिक और ऐतिहासिक घटनाओं मे, प्रकृति की समस्त शक्तियों मे, समस्त पर्वतों व नदियों में, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश में और कहां नही ? ईश्वर अन्दर और बाहर सर्वत्र है।

श्रीकृष्ण ने समस्त नर-नारियों को प्रत्येक वस्तु के प्रति इस दिव्य दृष्टिकोण को उद्‌बुद्ध करने तथा जीवन के समस्त कार्यो में दिव्य या ईश्वरीय उपस्थिति को अनुभव करने का संदेश दिया। प्रत्येक व्यक्ति को इस स्मृति से सतत प्रेरित होते रहना चाहिये कि वह ईश्वर मे रहता है, ईश्वर के लिये रहता है, उसे ईश्वर के जगत् में ईश्वर के लिये निष्काम व निश्चितभाव से ईश्वर के प्रति प्रेम व श्रद्धा रखते हुये अपनी भूमिका का निर्वाह करना है। प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर से गहन व्यक्तिगत प्रेममय सम्बन्ध स्थापित कर उसे अपना शाश्वत पिता, माता, सहायक, स्वामी, सखा, भ्राता, प्रेमी, भाग्य-निर्णायक तथा पथ-प्रदर्शक मानना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को सर्वदा ईश्वर से पूर्ण मिलन की आशा रखनी चाहिये, एकमात्र

जिसमे ही मानव शरीरान्तर्गत उसके आत्म-चेतन और आत्मानुशासित जीवन की पूर्णता व अन्तिम सफलता निहित है। श्रीकृष्ण द्वारा प्रचारित योग के इस सर्वप्रिय और सर्वसुलभ मत मे भक्ति, जिस अश तक यह समस्त उच्च मानवीय प्रयासो को प्रेरक बनाती और इन समस्त मानवीय प्रयासो को आनन्ददायक तथा सुखद बना देती है, स्पष्टतः प्रमुख भूमिका निभाती है। निस्सन्देह इस भक्ति को नैतिक शुद्धता व ज्ञान द्वारा पवित्र और आलोकित कर ईश्वर पर पूर्णतया केन्द्रित करना होता है, जो कि जीवन का सत्य और आदर्श है।

अपने दार्शनिक मत मे श्रीकृष्ण ने, प्राचीन सांख्य दार्शनिको के प्रकृति-पुरुष-वाद क्षेत्र-क्षेत्रज्ञानवाद, क्षर-अक्षरवाद को उपनिषदो के ब्रह्मवाद के साथ सयोजित कर, ब्रह्म की धारणा को, परमात्मा, ईश्वर, महेश्वर, महायोगेश्वर, भगवान, नारायण, पुरुपोत्तम इत्यादि से समन्वित कर अधिकाधिक समृद्ध व व्यापक बना दिया। उन्होंने ईश्वर की एक सर्वव्यापक धारणा का प्रचार किया, जो समस्त वर्गो के सत्यान्वेषियों व अध्यात्म-जिज्ञासुओं की बुद्धि की तार्किक मांग के साथ-साथ हृदय की भावात्मक मांग को ही सतुष्ट कर सकती थी।

उनके द्वारा प्रचारित परमात्मा सगुण और निर्गुण, सक्रिय और निष्क्रिय, पारमार्थिक और अन्तर्यामी, अनन्त और शाश्वत तथा स्वयं को नाना प्रकार के सीमित व परिवर्तनशील रूपों में प्रकट करने वाला, शाश्वत रूप से भावरहित, तथापि असीम दयालु और प्रेयमय है। काल और दिक् के अन्तर्गत इस व्यावहारिक जगत् का वह सम्पूर्ण भौतिक, नैमित्तिक, चरम तथा आकारगत—कारण है, किन्तु स्वयं शाश्वत रूप से कालदिक् से परे है और कभी भी किसी भी प्रकार काल-दिकाश्रित परिवर्तनों व विभिन्नताओ से प्रभावित नही होता। वह शाश्वत रूप से अनन्त ज्ञान व विद्या, अनन्त शुभ और सौन्दर्य, अनन्त शक्ति व बल, अनन्त प्रेम व दया, अनन्त न्याय व उदारता, असीम इच्छा-शक्ति व सक्रियता तथा इन दिव्य गुणो के नानात्मक व सीमित व्यावहारिक ससार को धारण किये हुये है। सर्वत्र यह ईश्वर ही है, जो स्वय को अभिव्यक्त कर रहा है। जो कुछ भी हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करता है, वह उसकी विभूति है। हमे उसके जगत् मे सर्वत्र उसे (ईश्वर) ही देखना है।

इस प्रकार जगत् को कुरूप, भयानक व दुःख और बन्धन का एक कष्टप्रद स्थान कहकर तिरस्कृत करने के स्थान पर श्रीकृष्ण ने जगत् का एक गौरवपूर्ण वर्णन, इस बात पर बल देते हुये कि यह दिव्य आत्माभिव्यक्तियो से युक्त वास्तव में एक दिव्यससार है और इसी प्रकार इसकी प्रशसा करनी चाहिये, प्रस्तुत किया है। बन्धन और दुःख, हमारे स्वार्थमय दृष्टिकोण तथा इस जगत् को अपने ऐन्द्रिक सुखों की तृप्ति का साधन बनाने का कारण उत्पन्न होते है। जब हम ईश्वर की व्यावहारिक आत्माभिव्यक्ति में उसे नही देखते है और इस ससार को अपनी भोग्य सामग्री मानकर अपने चेतन जीवन के निम्न स्तरों के विलासों में इसका दुरुपयोग करने लगते है, तब यह ईश्वर के विरुद्ध स्पष्ट विद्रोह है, जिसका अनिवार्य परिणाम

होता है घोर कष्ट। श्रीकृष्ण चाहते है कि हमें ईश्वर के दर्शन उसी के जगत् में कर, उसकी समस्त अभिव्यक्तियो के सब रूपों में उसकी प्रशंसा करनी चाहिये, जो कुछ भी बाह्य और आन्तरिक पदार्थ उन्होंने हमें प्रदान किये है उनसे उसकी सेवा करनी चाहिये, तथा पूर्णरूपेण हमें उसके प्रेम व दया के प्रति आत्म-समर्पण कर 'मैं' और 'मेरेपन' से मुक्त हो जाना चाहिये। इससे समस्त बन्धनों, दुःखों व कष्टों से छुटकारा प्राप्त हो जायेगा और उसके असीम सौन्दर्य तथा शान्ति, स्वतंत्रता व आनन्द में भाग लेने का अवसर प्राप्त हो जायेगा।

श्रीकृष्ण का मानवता के लिये आशा और शक्ति का दूसरा सन्देश अवतारवाद है। उन्होंने स्पष्ट और दृढ शब्दों में घोषणा की कि जिस-जिस युग मे धर्म का लोप होकर अधर्म बढने लगता है, जब-जब मानवता आसुरी शक्तियो या दानवता से पीडित होने लगती है, परमात्मा अपनी विशिष्ट दिव्य शक्तियों सहित अवतार धारण कर अधर्मियो का नाश कर धर्म की स्थापना करते है।

ब्रह्माण्ड-व्यवस्था मे ईश्वरीय विधान ही ऐसा है कि दैवी और दानवी शक्तियों का संग्राम सदा चलता रहता है तथा इन प्रकटत. विरोधी शक्तियों की क्रमश: जय-पराजय होती रहती है। यथार्थत: दोनो प्रकार की शक्तियां उसके विराट् विलास में उसकी रहस्यमयी निजाशक्ति की आत्माभिव्यक्तियां है, और वे दिव्य इच्छा द्वारा विरोधी दलों में बंटकर इस भव्य ब्रह्माण्ड-क्रीड़ा को गतिशील रखती हैं, प्रत्येक अपने ढंग से इस क्रीड़ा की महिमा और सौन्दर्य को अपरिमित रूप से बढाती है। यह भी ईश्वरीय विधान के अनुरूप ही होता है कि किन्हीं विशेष अवसरों पर जगत् की व्यवस्था, शान्ति तथा क्रमिक प्रगति दोनों दलो की तीव्र उत्तेजनाओं से सकट में पड़ी प्रतीत होने लगती है, तथा नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण का लोप होता जाता है। तब ऐसे अवसरों पर ईश्वर विशेष हस्तक्षेप कर वस्तुओ को यथास्थान व्यवस्थित करते है। इन अवतारों के सांसारिक जीवन से मनुष्य न केवल ईश्वर की अनेक रूपों मे अद्भुत बुद्धि व शक्ति के ही प्रत्यक्ष दर्शन पाते है, वरन् उसके प्रेम, दया, सौन्दर्य एवं माधुर्य के विभिन्न प्रमाण भी पाते हैं। अवतारो के आचरण का अध्ययन कर मानव ईश्वर से निजी मधुर सम्बन्ध स्थापित करने की श्रेष्ट शिक्षा प्राप्त कर सकते है। असीम ससीम रूप मे बध जाता है, अजन्मा जन्म धारण करता है, आनन्द हमारे सुख दुःखों में भाग लेता है, केवल पारमार्थिक हम जैसा ही बन जाता है, हमारे उद्धार के लिये—हमे अपने स्तर पर उठाने के लिये। हमारे प्रति वह कितना प्रेममय तथा दयालु है।

(२) व्यास, वाल्मीकि, महाकाव्य एवं पुराण

श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यासने, जो भगवान् श्रीकृष्ण के समकालीन थे तथा जिन्होंने उनके पश्चात् भी उनके सांस्कृतिक कार्य को गतिशील रखा, भारत वर्ष के आध्यात्मिक विचारों को संयोजित व संगठित कर इस महान् देश के एक कोने से दूसरे कोने तक उन्हे लोकप्रिय बनाने में एक विशिष्ट योगदान किया। वे एक महायोगी

महाज्ञानी, महाभक्त, महाप्रेमी, साथ ही एक महान् विद्वान्, दार्शनिक, कवि, प्रचारक तथा संयोजक थे। उन्होने आर्य जाति की समस्त पूर्ववर्ती बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियो का एक आश्चर्यजनक समन्वय प्रस्तुत किया, अनार्यो तथा अवैदिक लोगों की प्रमुख सांस्कृतिक प्रगतियों को वैदिक समाज ने अपनाया, प्रवृत्ति मार्ग तथा निवृत्ति-मार्ग के उपदेशों मे श्रीकृष्ण के जीवन और उपदेशो से प्राप्त प्रेरणा के आलोक में समन्वय स्थापित किया, सर्व-समन्वयात्मक दार्शनिक विचारों की दृढ नीव अपने 'ब्रह्म-सूत्रो' मे प्रस्तुत की, महाकोष 'महाभारत' की लोकप्रिय संस्कृत में एक महाकाव्य के रूप में रचना कर देश के समस्त धार्मिक-दार्शनिक मतों व समस्त महान् सत व ऋषियों के समस्त महान् विचारो को सर्वसाधारण के लिये सुगम बना दिया तथा देश के प्रत्येक भाग मे उच्चत्तम नैतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक विचारों तथा आदर्शो का अधिक से अधिक प्रचार करने के लिये विभिन्न पुराणों की रचना व पाठ का श्रीगणेश किया।

उनके समस्त कार्य स्थायी मूल्य के थे। उन्हे हिन्दू अध्यात्म-सस्कृति को एक निश्चित व सनातन रूप प्रदान करने वाला कहा जा सकता है। समस्त परवर्ती विकास उनकी रचनाओ के आधार पर ही हुये। अपनी अमर कृतियो से वे अमर हो गये। हिन्दू समाज के समस्त वर्गों द्वारा उन्हें अब भी अमर गुरु माना जाता है। वैदिक मत्रों की टीकाओ पर उनके अधिकार को तथा जीवन की विभिन्न धार्मिक, नैतिक, सामाजिक तथा अन्य व्यावहारिक समस्याओ पर उनके निर्णयों को अब भी प्राय. अकाट्य माना जाता है। महाभारत के घोर सर्वनाशक युद्ध के पश्चात व्यास तथा उनके अनुयायियों ने देश के सास्कृतिक पुनरुत्थान के महान् कार्य को प्रशसनीय रूप से पूरा कर आध्यात्मिक आदर्शवाद के आधार पर सम्पूर्ण देश की स्थायी एकता को बनाये रखा।

श्रीकृष्ण द्वैपायन की प्रथम अमर रचना वैदिक मंत्रो का सर्वाधिक व्यापक संग्रह कर उनकी प्रामाणिक टीकाये प्रस्तुत करना तथा उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण सर्वाधिक वैज्ञानिक प्रणाली से कर उनका समुचित व्यावहारिक उपयोग दर्शाना है। इस सग्रह में उन्होंने निरतर वृद्धिशील, जटिल, सतत प्रगतिशील, सतत विकासमान हिन्दू-सस्कृति की सदा के लिये सर्वाधिक दृढ नीव रखी। इस रचना मे उन्होंने उपनिषदो के ब्रह्म-केन्द्रित आध्यात्मिक विचारों तथा सन्यास, योग, ज्ञान, भक्ति, के सप्रदायों के साथ कर्मकाण्ड से सम्बन्धित विभिन्न देवी-देवताओ के प्रति निवेदित मंत्रों को अटूट शृ खला में जोड दिया। प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्ति-मार्ग अथवा नैतिक और आध्यात्मिक आत्मानुशासन के विभिन्न सप्रदाओ के मध्य मे कोई गभीर विरोध शेष नही रहने देना चाहते थे। इस अतिमानवीय तथा गहन महत्वपूर्ण कार्य को पूरा करने के कारण ही उन्हे व्यास की उपाधि से विभूषित किया गया था। आगे उन्होंने अनेक बुद्धिमान् व विद्वान् शिष्यों को वैदिक साहित्य की विभिन्न शाखाओं मे विशेषज्ञ बनाकर अपने विशिष्ट ज्ञान को समाज के प्रत्येक अग तक पहुंचाने का प्रशिक्षण दिया। तत्पश्चात् गुरु शिष्य परपरा से प्राप्त वैदिक ज्ञान ने

पाढी दर पीढी हिन्दू धर्म के विकास व जटिलताओं, इसके गौरव और कलक के युगो के आन्दोलित इतिहास मे इसके मौलिक आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्थिर रखा।

दूसरे, उन्होने वेदान्त-दर्शन के दार्शनिक मत की स्थापना का महान् कार्य किया, जो तब से हिन्दुओं का सर्वाधिक प्रसिद्ध व मुख्य दार्शनिक मत माना जाता है। इस दर्शन मे वेदो के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को तार्किक आधार प्रदान किया। इसने दर्शाया कि उपनिषद् तथा श्रीकृष्ण की भगवद् गीता स्पष्टतया वैदिक ऋचाओ के अन्तरतम सार को प्रकट कर देते है। इसने ऋषियो तथा महायोगियो के गहनतम आध्यात्मिक अनुभव का बौद्धिक तर्कों द्वारा समर्थन कर यह प्रदर्शित किया कि ब्रह्म या परमात्मा ही चरम सत्ता है, इस अद्भुत जटिलताओ से युक्त सयोजित ब्रह्माण्ड-व्यवस्था का एक मात्र स्वय-सत्, स्वयं प्रकाश्य, निश्चल, अपरिवर्तनीय आधार, स्वामी, कारण व आत्मा वही है। इस प्रकार इसने सिद्ध किया कि सत्य दर्शन का अर्थ है समस्त संभव व यथार्थ अनुभवो के चरम सत्य के रूप में ब्रह्म का अनुभव तथा जगत् और जीवो का उस ब्रह्म से मौलिक अद्वैत। इसने दिखाया कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य इस सत्य-दर्शन में निहित है।

यह स्पष्ट है कि इस दर्शन के अनुसार, मानव-जीवन के चरम आदर्श के दृष्टिकोण से निवृत्ति-मार्ग से निवृत्ति-मार्ग श्रेष्ठ है, तत्व-विचार कर्म से तथा त्याग और सन्यास-भोग से श्रेष्ठ है। निवृत्ति की प्रवृत्तिसे यह श्रेष्ठता सैद्धान्तिक व व्यावहारिक स्तरो पर हिन्दुओ के समस्त वर्गो द्वारा मानी गई है तथा पीढियो द्वारा पोषित इस विचार ने उनके मनों व हृदयो तथा रीति-रिवाजों व स्वभाव को एक विशेष रूप प्रदान कर दिया है। किन्तु वेदान्त-दर्शन ने इस सत्य की कभी भी अवहेलना नही की कि केवल नैतिक व आध्यात्मिक स्तर पर विकसित व्यक्ति ही समस्त सांसारिक उलझनो को त्याग कर चरम आदर्श की प्राप्ति हेतु केवल योग और तत्व-विचार में तल्लीन हो सकते है। सर्वसाधारण के लिये प्रवृत्ति-मार्ग अनिवार्य आवश्यकता है तथा मानव-समाज के लिये भी यह अत्यावश्यक है और केवल यही अध्यात्म-जिज्ञासुओं के लिये गहन बौद्धिक और आध्यात्मिक आत्मानुशासन के प्रति अखण्ड साधना के लिये अनुकूल परिस्थितियां प्रदान कर सकता है।

इस तरह वेदान्त-दर्शन ने सर्वसाधारण को स्वधर्म के अनुसार प्रवृत्ति-मार्ग का अनुसरण करने का उपदेश दिया, किन्तु साथ ही जीवन के चरम आध्यात्मिक लक्ष्य को सदा स्मरण रखने को भी कहा। इस मार्ग के द्वारा समस्त वर्गो व नैतिक तथा बौद्धिक योग्यता के समस्त स्तरों के मनुष्य समाज-अभ्युदय के साथ-साथ स्वय को आध्यात्मिक आत्मानुशासन के उच्चतर स्तरो के योग्य बनाकर योग तथा ज्ञान का अनुसरण कर मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी बन सकते है।

जो इस जीवन में उच्चतर आध्यात्मिक आत्मानुशान से निवृत्ति-मार्ग के योग्य स्वय को न बना सकें, उन्हें निराश होकर यह न सोच लेना चाहिये कि वे अब कभी मोक्ष के अधिकारी ही न बन सकेंगे, क्योकि सद्भाव से स्वधर्म का पालन करने के

फलस्वरूप उन्हें अगले जन्मो में अधिक अनुकूल परिस्थितियां व चरम आध्यात्मिक आदर्श की सिद्धि के श्रेष्ठतर अवसर प्राप्त होगे। इस प्रकार वेदान्त ने समस्त वर्गों के लोगो के लिये जीवन व जगत् के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर आधारित एक सुव्यवस्थित जीवन कार्यक्रम प्रस्तुत किया। तब से यह हिन्दू जीवन को प्रभावित करता रहा है।

श्रीकृष्ण द्वैपायन का तीसरा विशद कार्य 'महाभारत' की रचना थी, जिसे तब से भारतवर्ष का न केवल सबसे महान् राष्ट्रीय महाकाव्य माना जाता रहा है, वरन् हिन्दू संस्कृति के सम्पूर्ण विभिन्न अगों को लोकप्रिय शैली में प्रस्तुत करने वाला सबसे आप्त ग्रन्थ माना गया है। इस महाकाव्य के मुख्य नायक भगवान् श्रीकृष्ण हैं तथा उनकी गीता इसकी सम्पूर्ण समस्याओं के विवेचन मे केन्द्रीय स्थान ग्रहण करती है। कदाचित् ही कोई प्रमुख पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक और दार्शनिक समस्या हो जिसकी इस विशाल ग्रन्थ में चर्चा न हुई हो। इन समस्त समस्याओं का अन्तिम समाधान वेदों, उपनिषदों तथा भगवद्गीता द्वारा प्रस्तुत आध्यात्मिक दृष्टिकोण के प्रकाश मे प्रस्तुत किया गया है। इसमे तत्कालीन वैदिक समाज के अन्दर व बाहर के प्रमुख दार्शनिक व धार्मिक मतो की विचारधाराओं का भी सार प्रस्तुत किया गया है।

कर्म-मीमासा, आत्म-मीमासा तथा ब्रह्म-मीमांसा, सांख्य योग, न्याय, पंचरात्र, भागवत, नारायणी संप्रदाय, शैव तथा पशुपत मत, भौतिकवादी चार्वाकमत, वर्णाश्रमधर्म, भक्तिदर्शन, अहिंसा, सत्य, जप, अस्तेय, दान, यज्ञ, जीवन-सेवा, त्याग तथा अन्य नैतिक सिद्धान्तो के विवेचन इत्यादि—सबने इस महान् राष्ट्रीय महाकाव्य में स्थान पाया है। समस्त युगो मे समस्त वर्गों के लोग जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में इस अमर साहित्यिक कृति के अध्ययन या श्रवण से व्यावहारिक निर्देश तथा प्रेरणा प्राप्त कर सके। इस ग्रन्थ मे अनेक उपदेशप्रद कहानिया है जो तत्काल लोगों की अन्तरात्मा का स्पर्श कर लेती है तथा उनके मस्तिष्क व हृदय पर स्थायी प्रभाव डाल देती है। वास्तव में पिछले सहस्रो वर्षो से महाभारत ने भारतवर्ष के समस्त वर्गों के स्त्री-पुरुषों के व्यावहारिक जीवन, उनके हृदय, मस्तिष्क व बुद्धि को प्रभावित किया है तथा समस्त कार्यों व घटनाओं के प्रति उनमें एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण की प्रेरणा उत्पन्न करके अतुलनीय सेवा की है। महाभारत की कहानियो ने सभी युगो के कवियो, नाट्यकारों, सगीतज्ञो को उनकी रचनाओं के लिये कथावस्तु प्रदान की है और इन सबने भी लोगो पर अपना प्रभाव डालकर उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण को संगठित किया है। आज भी महाभारत का गहन अध्ययन जिज्ञासु विद्वानो को सब प्रकार की शिक्षा (निस्सन्देह आधुनिक युग की वैज्ञानिक व तकनीकी शिक्षा के अतिरिक्त) प्रदान कर सकता है तथा भारतवर्ष की मानसिकता, आध्यात्मिकता और बौद्धिकता की पूरी-पूरी जानकारी प्रदान कर सकता है।

श्रीकृष्ण द्वैपायन का चौथा महत्वपूर्ण कार्य था इस महान् भूमि के सब

भागों में जन-साधारण के आध्यात्मिक उत्थान हेतु अनेक पुराणों की रचना। पुराणों ने वेदों, उपनिषदों, गीता तथा वेदान्त-दर्शन की आत्मा को सब वर्गों के मनुष्यों के घरों तक पहुंचाकर उस परब्रह्म को अनेक नाम रूपों में प्रस्तुत कर सर्व-सुलभ बना दिया। एक ख्याति-प्राप्त पाश्चात्यविद्वान् के मत में पुराण 'राजनैतिक, सामाजिक, व्यक्तिगत, ऐतिहासिक, दार्शनिक तथा धार्मिक—प्राचीन व मध्ययुगीन हिन्दू धर्म का एक लोकप्रिय विश्वकोश है'। परमेश्वर की उसकी मानवीय सन्तानों के प्रति असीम दयालुता तथा प्रेम की अनेक कहानियों के साथ-साथ, पुराण महा-योगियों, महाज्ञानियों, महाभक्तो तथा महाकर्मठो के जीवनो से सम्बन्धित विभिन्न घटनाओ के विषय में, उनमे से अनेक राष्ट्रीय सतो व योद्धाओं के विषय में, भौगो-लिक व ऐतिहासिक महत्व के विभिन्न स्थानों की पवित्रता के विषय मे, विभिन्न धार्मिक सस्कारों व अनुष्ठानो के विषय में, विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओ से शिक्षा ग्रहण करने के विषय में, व्यक्तियो के राजनैतिक तथा सामाजिक जीवनों की श्रेष्ठताओ व दुर्बलताओ के विषय—इत्यादि में अनेकानेक परिस्थितियों व समस्याओं के विषय मे मनोहर वर्णन प्रस्तुत करते है। समस्त वर्णनों ओर विवेचनों का समान आदर्श है, समस्त मानवो को सांसारिक व्यापारों मे धार्मिक पवित्र हृदय वाले तथा ईश्वर भक्त बनाना। इनमें दर्शन और धर्म की सम्पूर्ण महानतम समस्यायें अत्यन्त उदार दृष्टिकोण से लोकप्रिय रूप में प्रस्तुत की गई हैं, जिससे सब वर्गो के लोगों की समझ में आकर उन्हे आकर्षित कर सकें।

यद्यपि सब पुराणो में भगवान् की भक्ति की ओर अधिक झुकाव पाया जाता है, तथापि वे प्रवृत्ति को निवृत्ति के साथ, कर्म को ज्ञान और योग के साथ, भोग को त्याग के साथ सयोजित करने का मार्ग खोजते हैं। वे सक्रिय जीवन में मस्तिष्क की स्थिरता व शान्ति स्थापित रखने तथा जीवन के चरम आध्यात्मिक आदर्श के साथ पारिवारिक तथा सामाजिक कर्तव्यों को निष्ठापूर्वक पूरा करने का मार्ग बतलाते है। इनमें विभिन्न नैतिक और आध्यात्मिक आत्मानुशासन के उपायों द्वारा चरम आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास करने वाले समस्त धार्मिक मतमतान्तरों को समान सम्मान प्रदान किया गया है, जो उसी एक परमात्मा के विभिन्न दिव्य नाम और रूपों यथा विष्णु, नारायण, हरि, वासुदेव, शिव, रुद्र, पशुपति, काली, दुर्गा, कृष्ण, राम, स्कन्द, गणपति, सूर्य, अग्नि, वायु इत्यादि के प्रति भक्ति और प्रेम उत्पन्न करने का प्रयास करते है। इस प्रकार वाह्य रूपसे अनेकानेक प्रतीत होने वाले मत-मतान्तर हिन्दू धर्म के पक्ष मे भली प्रकार सन्निहित है। हिन्दू धर्म की एकता इन अनेकताओ में कभी नहीं खोई है। पुराणों ने संप्रदायों के विशिष्ट रूपो को विकृत किये बिना हिन्दू धर्म की एकता को स्थिर रखने में बहुत अधिक योग-दान किया है।

महाभारत तथा पुराणो के अतिरिक्त, महाकवि वाल्मीकि की 'रामायण' ने हिन्दुओं के नैनिक और आध्यात्मिक आदर्शवाद के विकास मे एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कालक्रम की दृष्टि से रामायण महाभारत से प्राचीन है। यह महाभारत की भांति ही प्रेरणादायक व लोकप्रिय थी, किन्तु उसकी भांति विशद

तथा दार्शनिक नहीं। इस महान् महाकाव्य की रचना करते समय महर्षि वाल्मीकि मानव-समाज के समक्ष एक आदर्श पुरुष —जिसमे मानवता व दिव्यता का सम्मिश्रण हो तथा जिसमे मानवता को दिव्यता के स्तर तक उन्नत होना चाहिये तथा दिव्यता को समस्त मानवीय गुणो की पूर्णता प्रतीत होना चाहिये—के जीवन को प्रस्तुत करने के विचार से प्रेरित हुये। उन्होने ऐसे दिव्य मानव को श्रीराम मे पाया, जो एक आदर्श पुत्र के अतिरिक्त आदर्श भ्राता, आदर्श मित्र, आदर्श पति, आदर्श राजा व मर्यादा पुरुषोत्तम है, जो समस्त मंगल-गुणों की खान, आदर्श कर्म-योगी है तथा जिन्होने महान् नैतिक, आध्यात्मिक आर्य-सस्कृति की विजय-पताका अद्भुत रण-कौशल के द्वारा असुरों का नाश कर, इस विशाल महाद्वीप के कोने-कोने में फहराई तथा अपने नैतिक और आध्यात्मिक गुणों से लोगों के हृदय जीत लिये।

श्रीराम को अपने महाकाव्य के दिव्य मानवीय नायक के रूप मे स्वीकार कर इस अमर संत-कवि ने अनेक आदर्श चरित्रों का चित्रण, अनेक घटनाओं का वर्णन, अनेक नागरिक, सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक और आध्यात्मिक समस्याओं का विवेचन कर इन सबके द्वारा आर्यों की नैतिक-आध्यात्मिक संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ रूप प्रस्तुत किया। सन्त महाकवि ने मोक्ष की श्रेष्ठता, घृणा से प्रेम की श्रेष्ठता, स्वार्थ से उदारता को श्रेष्ठता, परिग्रहसे त्याग की श्रेष्ठता तथा स्वाभाविक इच्छाओं व वासनाओं की मांगों से कर्तव्य व धर्म के आदर्शों की श्रेष्ठता प्रदर्शित की है। देश-विदेश के समस्त वर्गों के व्यावहारिक आचरणों, मस्तिष्कों व हृदयों पर रामायण ने अद्भुत प्रभाव डाला। रामायण ने परवर्ती कवियों और विचारकों को राम तथा अन्य आदर्श चरित्रो के जीवन पर सुन्दर व मधुर काव्य रचनाये की प्रेरणा दी, और इसी के कारण लोगों के हृदयों में राम भगवान् के महान् अवतार के रूप में विराजते है और आज तक समाज के अनेक वर्गो के लोग राम की उपासना परमात्मा के रूप में करते है।

रामायण, महाभारत तथा पुराण किसी एक धार्मिक और दार्शनिक विचार-धारा के प्रवर्तक नही थे तथा उन्होंने आर्यो के समाज में प्रचलित, वेदों, आगमों व संतों के विभिन्न आध्यात्मिक अनुभवो की विभिन्न टीकाओं पर आधारित किसी भी विचारधारा को नष्ट करना नही चाहा। वे तो उन्हें संयोजित व समन्वित कर प्रत्येक के व्यावहारिक मूल्य तथा गहन आध्यात्मिक महत्व को अनुकरणीय उदाहरणों द्वारा प्रदर्शित करना चाहते थे। उनके व्यापक प्रचार के फलस्वरूप प्रवृत्ति-मार्ग, निवृत्ति-मार्ग तथा उपासना-मार्ग, कर्म, ज्ञान, योग, वैराग्य तथा भक्ति—ये सब सतत विकासशील हिन्दू समाज में विकसित होते रहे। उन्होंने जीवन के आध्यात्मिक आदर्श तथा आचरण के सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तों को अत्यन्त आकर्षक ढंग से देश के कोने-कोने में प्रचारित किया तथा कुछ ही शताब्दियों मे अनार्यों को आर्य बना दिया।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय,

ईश्वर-प्रणिधान, जो योग-शास्त्रो मे यम-नियम के रूप मे योग के आधार कहे गये है—महाकाव्यो और पुराणों द्वारा सार्वभौम महाव्रत के रूप में सब लोगो को सिखाये गये। प्राणि-मात्र के प्रति दया, सहानुभूति व निस्वार्थ सेवा को भगवान की सबसे श्रेष्ठ भक्ति कहा गया। धर्म और मोक्ष को, सांसारिक जीवन में भी, राजनैतिक शक्ति, आर्थिक समृद्धि तथा भौतिक ऐश्वर्य से श्रेष्ठ बताया गया। समाज का वर्ण और आश्रमों में विभाजन आध्यात्मिक संस्कृति के आधार पर किया गया तथा ब्राह्मणों और संन्यासियों को सर्वाधिक आदर का स्थान प्रदान किया गया। बुद्ध और महावीर के समय से पूर्व नैतिक व आध्यात्मिक आधार पर हिन्दू समाज का निर्माण तथा राष्ट्र-निर्माण का कार्य (कम से कम सैद्धान्तिक रूप में) लगभग पूरा हो चुका था। हिन्दू-धर्म की समस्त अनेकताओं के मध्य एकता का सूत्र उनकी वेदो पर आस्था तथा वैयक्तिक व सामूहिक जीवन के समस्त व्यापारों के प्रति उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण के आधार पर प्रस्तुत किया गया था।

(३) बुद्ध और महावीर

भगवान बुद्ध, बौद्धधर्म के प्रख्यात जन्मदाता तथा भगवान् महावीर, जैन-धर्म के प्रख्यात जन्मदाता (जिन्होने श्रीकृष्ण और व्यास के एक सहस्र से भी अधिक वर्षों पश्चात् दो शक्तिशाली नैतिक-धार्मिक आन्दोलनों का नेतृत्व किया) दोनो ही महायोगी थे तथा अपने सम्पूर्ण मौलिक उपदेशों में उन्होने प्राचीन योगमत तथा वेदों के निवृत्ति मार्ग का अनुसरण किया। प्राचीन तत्वज्ञानालोकित सिद्धयोगियो की ही भाति इन दो महान् गुरुओं का भी मत था कि समस्त वास्तविक तथा संभव दु:खो और बन्धनो से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने के लिये त्यागमय जीवन, आत्म-विकास, आत्मसुधार, आत्मशुद्धि व आत्म-नियन्त्रण का सुव्यस्थित अभ्यास करना, इस लोक और परलाक की समस्त नाशवान् व परिवर्तनशील वस्तुओं के प्रति मोह व स्वार्थमय इच्छाओ का त्याग करना परमावश्यक है। प्राचीन योगियों की ही भांति वे ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के निर्माण तथा इसके अन्तिम कारण से सम्बन्धित सूक्ष्म दार्शनिक कल्पनाओं में कम ही रुचि रखते थे एव हमारे सामान्य अनुभव के सतत परिवर्तनशील व सदा गतिशील व्यावहारिक जगत् के पीछे किसी शाश्वत पार-मार्थिक सत्ता या जीवात्मा के मौलिक स्वरूप के विषय में वे दार्शनिक जटिलताओं में पड़ना नहीं चाहते थे। उनकी मुख्य रुचि प्राचीन योगियों को ही भांति इस या इसके बाद के किसी भी जीवन में समस्त प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाने के सर्वाधिक प्रभावशाली व समुचित उपायों को खोज निकालने की व्यावहारिक समस्या पर केन्द्रित थी। उन प्राचीन योगियों की ही भांति ये लोगों को समस्त संभव दुःखों से छुटकारा प्रदान करने के लिये दार्शनिक तर्कों व वैदिक कर्म-काण्ड के खोखलेपन व अनुपयुक्तता से असन्तुष्ट थे।

इसके अतिरिक्त, उनका विश्वास था कि वैदिक कर्मकाण्ड व दार्शनिक ज्ञान-काण्ड व उपासना-काण्ड के जटिल रूप भी जनसामान्य के लिये अव्यावहारिक थे,

जो कि बेचारे इस ससार मे सबसे ज्यादा दु.खी थे। उन्होने सर्वत्यागी योगियो व ज्ञानियो के दृष्टिकोण को स्वीकार किया कि इस व्यावहारिक ब्रह्माण्ड-व्यवस्था की समस्त वस्तुये परिवर्तनशील या क्षणिक है और जगत् के ऐसे क्षणिक पदार्थों से मोह ही समस्त दु.खो का वास्तविक कारण है और यह भी कि जगत् की समस्त वस्तुओं के परिवर्तनशील स्वरूप का अज्ञान ही समस्त इच्छाओ और मोहो को जड़ से निकाल फेकना है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये मन के सामान्य स्वभाव को भली प्रकार शुद्ध व परिवर्तित करना होगा। सांसारिक वस्तुओ की क्षण-भगुरता को पूर्णरुपेण समझ कर उसके अनुरूप आचरण करना होगा। इसके लिये ज्ञान और योग का निष्ठापूर्वक अभ्यास अपेक्षित है, किन्तु योग को अति आत्म-दमन के रूप में नही लेना चाहिये और न ही ज्ञान को बाल की खाल निकालने वाले दार्शनिक तर्क द्वन्द्व का पर्याय समझना चाहिये। उन्होने योग ओर ज्ञान का प्रतिपादन इस प्रकार किया कि वे सर्व सुगम हो सके।

बुद्ध और महावीर द्वारा प्रचारित व आचरित आध्यात्मिक अनुशासन के उपाय तथा नैतिक आचरण के नियम मौलिक रूप से वही थे, जो आगमों तथा प्राचीन योगी-संप्रदाय द्वारा प्रतिपादित थे, यद्यपि उन्होने उन्हें किन्ही स्थलो पर भिन्न भाषाओं में प्रस्तुत किया। अहिंसा, जिसे ये दोनों सर्वाधिक महत्व प्रदान करते हैं, योगी-सम्प्रदाय के यम का, प्रथम चरण का, अंग था। योगी-सप्रदाय ने प्रवृत्ति-मार्ग के धर्म-शास्त्रों द्वारा आदिष्ट धार्मिक अनुष्ठानों व वैदिक यज्ञो के लिये पशु-वध का विरोध अवश्य नही किया, किन्तु उन्होने इसका समर्थन भी नही किया था। बुद्ध और महावीर दोनों ने प्रत्येक दशा मे जीवित प्राणियो की हत्याओं का वर्जन किया और इसके परिणामस्वरूप समस्त प्रकार के हिसा व भय के कृत्यो तथा वैदिक यज्ञादि का घोर विरोध किया। उन्होने हिसा के वैध और अवैध भेद को नहीं स्वीकार किया और वेदों की अकाट्य प्रामाणिकता के विरुद्ध खुला विद्रोह कर दिया। वेदों के विरुद्ध यह विद्रोह ही बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म के हिन्दू धर्म से पृथक् होने का प्रमुख कारण था। हिन्दू धर्म, जबकि सब वर्गो के लोगो को अपनी रुचि और समझ के अनुसार कोई भी दार्शनिक दृष्टिकोण या धार्मिक मत के अनुसरण की अनियंत्रित स्वतत्रता प्रदान करता है, यह उन वेदो के विरुद्ध किसी भी वर्ग द्वारा खुला विद्रोह सहन नही कर सकता, जो विभिन्न दार्शनिक व धार्मिक विचारधाराओं वाले तथा इस विशाल देश के विभिन्न भागों मे विभिन्न प्रकार की भौतिक, आर्थिक सैनिक और राजनैतिक दशाओं मे रहने वाले हिन्दुओं के मध्य सहस्रों वर्षो से एकता के सबसे प्रबल कारण रहे हैं। हिन्दुओं के लिये वेदो के विरुद्ध विद्रोह का अर्थ था भारतवर्ष की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक एकता के विरुद्ध विद्रोह।

दोनों उल्लेखनीय महायोगी गुरुओ—बुद्ध और महावीर ने, जन-साधारण के लिये एक सरल, कर्मकाण्ड व दार्शनिक जटिलताओ से मुक्त, केवल नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धांतों पर आधारित तथा जन-साधारण के सामान्य ज्ञान को

आकर्षित करने वाली असांप्रदायिक अनुशासन-व्यवस्था का प्रचार करने का निश्चय कर लिया। यह प्राचीन योगी संप्रदाय की परम्पराओं के पूर्णतया अनुरूप था। इसी ने उन्हें समस्त प्रचलित कर्मकाण्डों, विचारधाराओं, अन्धविश्वासों, परस्पर विरोधी दार्शनिक सिद्धान्तों, सामाजिक भेदभाव पर आधारित वर्ग-विशेषाधिकारों, धर्म के नाम पर समस्त प्रकार की क्रूरताओं और अन्यायों तथा समस्त प्रकार की संकीर्णता, स्वार्थपरता, हिंसा व झूठ को कड़ी आलोचनायें करने को विवश किया। निस्सन्देह उनके हृदयों में किसी भी वर्ग द्वारा दुःख निवारणार्थ सच्चे हृदय से पालन किये गये धार्मिक अनुशासन के किसी रूप अथवा किसी भी विचारधारा के प्रति कोई दुर्भाव न था और दूसरों के हृदयों को दुखाना वे अधार्मिक कृत्य समझते थे। तब भी उन्होने अपने स्वतंत्र विचारो के प्रतिपादन के लिये प्रचलित परंपराओं के विरुद्ध अपनी यौगिक स्थिरता व गम्भीरता के साथ संघर्ष किया।

दोनों महायोगी गुरुओं ने सर्वस्व त्याग करने वाले अध्यात्म-जिज्ञासुओं को यौगिक आत्मानुशासन तथा आत्म-ज्ञान की कला का व्यवस्थित प्रशिक्षण प्रदान करने के लिये तथा पूर्ण शुद्ध और इच्छारहित, पूर्ण स्थिर व अहिंसापूर्ण, पूर्ण ब्रह्मचर्यमय व विश्व-प्रेममय, समस्त दुःखों और चिन्ताओं के संस्पर्श से पूर्ण मुक्त तथा शांति व आनन्द का जीवन व्यतीत करने का पाठ पढ़ाने के लिये नगरो के निकट ही मठ-संगठनों की स्थापना की। उन्होने आशा की कि इन विशिष्ट प्रशिक्षित सन्यासी योगियो द्वारा मानव-समाज के प्रत्येक वर्ग के समस्त लोगों मे दुःखविहीन आनन्दमय जीवन के यथार्थ आदर्श का प्रभावशाली प्रचार हो सकेगा। सन्यासी और गृहस्थों के बीच सम्पर्क अवश्य होना चाहिये, क्योंकि पहले को दूसरे पर भौतिक अस्तित्व बनाये रखने को प्रारंभिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये निर्भर रहना होगा और दूसरे को पहले से विनम्रतापूर्वक समस्त चिन्ताओं तथा दुःखों से छुटकारा पाने की कला सीखनी होगी। यद्यपि हिन्दू अध्यात्म-संस्कृति सन्यास से पूर्णतया परिचित थी, तथापि इस प्रकार की मठ-व्यवस्था उसके लिये किसी सीमा तक नवीन थी।

स्वाभाविक रूप से दोनो महान् गुरुओं ने अपने उपदेशो तथा साधना के प्रकारों के विषय में किसी निरपेक्ष मौलिकता का दावा नही किया। उनमें से प्रत्येक ने अपने आध्यात्मिक पूर्वजों—बुद्ध और तीर्थंकरों की लम्बी परम्परा की ओर संकेत किया, जिनसे उन्होंने प्रकाश या ज्ञान-ज्योति प्राप्त की थी। तथापि, उन्होंने अपने आध्यात्मिक अनुभवों तथा दृष्टिकोणो के प्रतिपादन मे भिन्न भाषायें, भिन्न प्रणालियों, भिन्न शब्दावली व भिन्न प्रतीकों का प्रयोग किया। बाह्य आचरण के उपायों तथा उनके द्वारा उपादिष्ट यौगिक अनुशासन के विशिष्ट सूक्ष्म तथा व्यापक अंगों के महत्व के विषय में उन दोनों में प्रायः अन्तर रहता था। इस कारण ये दो समकालीन धार्मिक आन्दोलन पृथक्-पृथक् पारस्परिक प्रतिस्पर्धा में विकसित हुये, किन्तु दोनों ने ही जीवन के यौगिक आदर्श का पर्याप्त प्रचार कर उसे लोकप्रिय बनाया।

बौद्ध धर्म का प्रभाव, अमर सम्राट् अशोक द्वारा राजधर्म स्वीकार कर देश-विदेशों में धर्म-प्रचारकों द्वारा भगवान् बुद्ध के सदेश का प्रचार कराने पर, सर्वाधिक व्यापक हो गया। बुद्ध के अहिसा, विश्व-प्रेम, प्राणि मात्र पर दया के सदेशों के प्रचार में अशोक की देन अद्वितीय व अपूर्व है। धीरे-धीरे असहाय पशुओं और मनुष्यों की निःस्वार्थ सेवा बौद्ध-सघ के धर्म का एक विशेष अग बन गई तथा दूसरो के दुःख दर्द में सक्रिय भाग लेकर उनके प्रति करुणा और दया को, स्वय के दुःखो से छुटकारा पाने का सर्वाधिक प्रभावशाली उपाय माना जाने लगा।

बुद्ध और महावीर द्वारा अपने आध्यात्मिक और नैतिक अनुशासन मार्गो को कर्मकाड व दार्शनिक विवादों से मुक्त रखने के प्रयासो के होते हुये भी, बौद्ध और जैन मत मे उनके उपदेशों पर ही आधारित अनेक दार्शनिक मत, तात्रिक कर्म-काण्ड व उपासना-मार्ग प्रकट हो गये। हमारे अनुभव के समस्त पदार्थो की क्षणिकता व सदा परिवर्तनशीलता के विषय मे बुद्ध के वचन, ब्रह्म या आत्मा जैसी चरम पार-मार्थिक सत्ता तथा निर्वाण या मोक्ष के स्वरूप तथा समाधिगत अनुभव के विषय मे उनके मौन को लेकर उनके बुद्धिमान् अनुयायियों ने क्षणिकवाद, शून्य वाद, आदि मत प्रकट कर दिये।

जगत् व ब्रह्म के बारे में इन दार्शनिक मतों के विकास ने बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म के बीच की दूरी को और बढ़ा ही नही दिया, वरन बौद्ध धर्म मे भी विभाजन कर दिया। बौद्धों में सर्वास्तित्ववादी, विज्ञानवादी, शून्यवादी तथा अन्य मत-मतान्तर प्रकट हो गये। कुछ मतों ने ईश्वर के स्थान पर बुद्ध को बिठाकर उनकी उपासना-विधि प्रचलित कर दी। कुछ के द्वारा धर्म को चरम शुभ मानकर उपासना काण्ड प्रारंभ कर दिया गया। किन्ही ने त्याग, दया और सेवा पर ही सारा बल दिया। इस प्रकार बौद्ध धर्म अनेक मतों में बट गया।

महायान, हीनयान, वज्रयान तथा सहजयान भारत के विभिन्न भागों मे कुछ समय के लिये अत्यधिक प्रभावशाली हो गये। किन्तु वे सब इस देश मे अनेक कारणो से विशेष रूप से अपने आन्तरिक सघर्षो व हिन्दू धर्म के साथ सघर्ष के कारण शक्तिहीन होते गये। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि सर्वमोहक महायोगी गौतम बुद्ध के उपदेशों तथा उनके आदर्श जीवन ने और बौद्ध संघो द्वारा किये गये श्रेष्ठतम शैक्षणिक, सास्कृतिक व परोपकारी कार्यो ने हिन्दू दार्शनिक मतों, हिन्दू सामाजिक संस्थायों, हिन्दू नैतिक सहिता व हिन्दू धर्म-सप्रदायों को महत्वपूर्ण रूप मे प्रभावित किया।

महावीर के जैनमत मे भी दार्शनिक सिद्धान्त व कर्मकाण्डीय विभिन्न उपा-सना प्रकार विकसित हो गये तथा इसके सघ या मठ के अन्दर भी अनेक मत-मतांतर प्रकट हो गये। जैन दार्शनिको के अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी न्याय ने इस देश के दार्शनिक विवेचन में महत्वपूर्ण योगदान किया। कर्म-सिद्धान्त की उनकी व्याख्या के भी विशिष्ट अग है। किन्तु जैन धर्म को बौद्ध-धर्म की भांति इस देश के बाहर फैलने का कोई अवसर प्राप्त नहीं हुआ।

बौद्ध और जैन दार्शनिकों तथा धर्म-गुरूओ द्वारा अपने मतों के पक्ष में प्रस्तुत मौलिक तर्कों व उपायो के अतिरिक्त जिन आध्यात्मिक और नैतिक विचारों का उन्होने प्रचार किया, वे न तो हिन्दू धर्म और न ही प्राचीन व तत्कालीन तत्व-ज्ञानालौकित योगियों, ज्ञानियो तथा मतो के लिये नवीन या अज्ञात थे। शून्यवाद, चतुष्कोटि विनिर्मुक्त वाद, स्याद्-वाद, अनेकान्तवाद इत्यादि सबके सब वैदिक मत्रो तथा सब कालों के महायोगियो, महाभक्तो तथा महाज्ञानियों (बुद्ध और महावीर सहित) के समाधि-अनुभव—केवल विभिन्न दार्शनिक रुपान्तर थे, जो बतलाते है कि चरम निरपेक्ष पारमार्थिक सन्त वाणी और विचार के क्षेत्र से परे, हमारे व्यावहारिक मनस और बुद्धि की पहुंच के बाहर, हमारी व्यावहारिक बुद्धि के प्रारूपों से अनिर्देश्य, तर्कातीत, व सत्-असत् आदि से परे है। हमारे व्यावहारिक अनुभव और ज्ञान के समस्त पदार्थों का सतत परिवर्तनशील तथा सदा अस्थायी स्वरूप हमारी स्वयं की व्यावहारिक चेतना के अस्थायी व परिवर्तनशील रूप से प्रकट था। समस्त परिवतनो के मध्य प्रापचिक ब्रह्माण्ड-व्यवस्था की निरन्तरता भी सर्वविदित है। जब व्यावहारिक बुद्धि इसके स्वरूप को इससे परे जाकर पहचानना चाहती है व अगम्य, अनिर्वचनीय, पारमार्थिक चरमसत्ता के वर्णन करने का प्रयास करती है, तो विभिन्न दृष्टिकोणों का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। सत्य स्वयं को विभिन्न दृष्टिकोण वाली विभिन्न व्यावहारिक बुद्धियों के समक्ष विभिन्न प्रकार प्रकट करता है। इसीलिये दार्शनिको मे मतभेद होता है। आध्यात्मिक ज्ञानालोकित व्यक्ति इन भेदो की चिन्ता नही करते, क्योंकि वे समस्त दार्शनिक दृष्टिकोणों के पीछे चरम सत्य के दर्शन करते है। इन अध्यात्म ज्ञानालोकित सतो व ऋषियो के पारमार्थिक अनुभव ही हिन्दू दृष्टिकोण के वास्तविक आधार है, और इसी कारण हिन्दुओ में समस्त भेदों को अपने मे मिला लेने व समस्त प्रकार के दृष्टिकोणो के प्रति सहिष्णु होने की अद्वितीय योग्यता विद्यमान है।

शताब्दियों से, जब कि बौद्धमत, जैनमत तथा अन्य नास्तिक व अवैदिक सम्प्रदाय विकसित हो रहे थे, वैदिक हिन्दू दार्शनिक मतो, उपासना-मार्गो, भक्ति-मार्गो, कर्मकाण्डों तथा योगी-सन्यासी सप्रदायों की प्रगति अवरुद्ध नही हो गयी थी, वरन् विरोधी मतो की प्रतिस्पर्धा मे अधिकाधिक उत्साह के साथ बढ रही थी। प्रत्येक सम्प्रदाय के विचारको व विद्वानो द्वारा विपक्षी मतो का खण्डन व निज विचारो के मण्डनार्थ किये गये बौद्धिक प्रयासो से प्रत्येक संप्रदाय का धार्मिक और दार्शनिक साहित्य यथेष्ट समृद्ध हो गया था। पुराणो तथा महाकाव्यो का व्यापक प्रचार किया गया और इनका नैतिक व आध्यात्मिक महत्व स्पष्ट व कलात्मक ढग से उपयुक्त रूपो मे वर्णित किया गया, जिससे कि वे सर्व-साधारण की समझ मे आकर उन्हे प्रेरित कर सके। बौद्धमत के प्रचारकों ने भी बुद्ध के जीवन और उपदेशों के विषय में इसी प्रकार की अनेक कथाओं का प्रचार कर सर्व साधारण को उनके नैतिक व आध्यात्मिक अर्थो से अवगत कराने का प्रयास किया। पुराणों मे वर्णित व प्रशसित विभिन्न देवताओ की उपासना विभिन्न स्तरों के व्यक्ति अपनी

विशिष्ट कामनाओं को पूर्ति के लिये करने लगे। किन्तु उनके दृष्टिकोण इस तत्त्व-ज्ञानालोकित विचार से प्रभावित थे कि ये सब एक ही परमात्मा के विभिन्न नाम और रूप है। अवतारों विशेषतया श्रीकृष्ण व श्री राम की उपासना लोक प्रिय हो गई। महायोगेश्वर शिव भी समस्त वर्गो के लोगों द्वारा सर्वाधिक लोकप्रिय देवता के रूप उपासित हुये। बौद्ध संघ के अनेक भक्तो द्वारा बुद्ध की भी ईश्वर के अवतार के रूप में विधिवत् पूजा की जाने लगी। हिन्दुओ के अनेक वर्गो द्वारा भी उन्हें एक महान् अवतार माना जाने लगा और इस प्रकार उनकी पूजा की जाने लगी। भक्ति और उपासना के अध्यात्मिक मूल्य ने अनेक बौद्ध अध्यात्म-जिज्ञासुओ के हृदयों को जीत लिया। वैदिक यज्ञ भी हिन्दू समाज में प्रचलित रहे तथा प्राप्त साधनों व परिस्थितियों के अनुसार लोग उनको विधिपूर्वक करते रहे। इन अनुष्ठानों के नैतिक और धार्मिक मूल्यों में विश्वास हिन्दू समाज में सदा विद्यमान रहा। विविध प्रकार के यज्ञ उपासना व भक्ति-मार्ग में प्रवेश कर उनके अभिन्न अग बन गये। उच्चस्तरीय लोगों के सैद्धांन्तिक मतभेदों से साधारण वर्ग के लोग अधिक प्रभावित न थे। उन्होंने अपने रीतिरिवाजो का व्यावहारिक जीवन में अनुसरण किया तथा सब वर्गो व जातियों के समस्त संत महात्माओं के प्रति श्रद्धा प्रेम व भक्ति के भाव रखे। उनके लिये एक बोद्ध भिक्षु या एक जैन मुनि उतना ही पूज्य था जितना कि एक हिन्दू संन्यासी या योगी। तथापि विभिन्न संप्रदायों के दार्शनिक व शास्त्रीय प्रवक्ता बौद्धिक स्तरों पर एक दूसरे से विवाद करते रहते थे। कालान्तर में यह बात अधिक स्पष्ट रूप से समझ में आती गई कि हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म और जैनधर्म के मौलिक नैतिक तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तों मे अधिक भेद नही है और इस प्रकार प्रत्येक का दृष्टिकोण अधिकाधिक उदार होता गया।

(४) कुमारिल शंकर और गोरक्षनाथ :

कुछ शताब्दियो बाद कई असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न, दिव्य व्यक्तित्त्व वाले महापुरुष वैदिक आध्यात्मिक सस्कृति की समस्त विचारधाराओं के प्रवर्तको व प्रचारकों के रूप मे प्रकट हुये और उन्होने देश के कोने कोने मे उनका चमत्कारपूर्ण पुनरुत्थान किया। कुमारिल भट्ट वैदिक प्रवृत्तिमार्ग या कर्ममार्ग के एक महान प्रचारक के रूप मे प्रकट हुये। उन्होंने मीमांसा दर्शन तथा स्मृतिशास्त्र में नव जीवन का संचार किया। उन्होंने अदम्य साहस से वेदों, वैदिक कर्मकाण्ड तथा वर्णाश्रम व्यवस्था के विरुद्ध सभी कटु आलोचनाओं का खडन किया। उन्होंने इस विश्वास का भी खंडन किया कि प्रारंभ से ही संन्यास या भिक्षुत्व या मुनित्व धारण कर गृहस्थ व सामाजिक जीवन मे न प्रवेश करने से ही मोक्ष या निर्वाण प्राप्त हो सकता है। उन्होंने तथा उनके सप्रदाय ने समाज में रहते हुए धर्ममय जीवन व्यतीत कर मानव जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष को ओर आध्यात्मिक प्रगतिके साधन के रूप में इसकी उपादेयता मे लुप्त होते हुये विश्वास की पुनर्स्थापना की। कुमारिल और उनके संप्रदाय के उपदेशों से वैदिक प्रवृत्तिमार्ग को नवजीवन प्राप्त हुआ।

आचार्य शंकर वैदिक निवृत्ति मार्ग तथा ज्ञानमार्ग के महान प्रवर्तक व प्रचारक के रूप में प्रकट हुये। वे असाधारण प्रतिभा संपन्न तथा जन्म से ही दार्शनिक थे। उन्होंने अपने दर्शन को उपनिषदों, गीता तथा ब्रह्मसूत्रों पर आधारित कर अकाट्य तार्किक युक्तियों द्वारा यह प्रतिपादित किया कि ये सब एक अनन्त, शाश्वत, अपरिवर्तनीय, भेदरहित, निष्क्रिय निर्विशेष स्वय-प्रकाश परमात्मा या ब्रह्म को चरम सत्ता बताते है तथा हमारे अनुभव की व्यावहारिक सापेक्षिक व परिवर्तनशील सत्ताओं को माया द्वारा ब्रह्म पर आरोपित मिथ्या प्रतीतियों के रूप मे देखने को कहते है। यह माया अविद्यास्वरूपा है तथा इस ब्रह्माण्ड की आत्मगत व वस्तुगत समस्त विभिन्नताये अज्ञान की उपज हैं, जिसे अनिवर्चनीय कहा गया है। सब जीवात्माये इसी माया की भ्रामक प्रतीतियां हैं। वस्तुत: ये ब्रह्म के अतिरिक्त या ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नही है।

यह शकर का प्रसिद्ध अद्वैतवाद है। इसमे आप्त ग्रन्थो तथा अकाट्य तर्कों के आधार पर समस्त व्यावहारिक अस्तित्वो को आध्यात्मिक एकता का प्रतिपादन और मनुष्य मे मानव-जाति की मौलिक एकता की तत्त्व ज्ञानालोकित चेतना जगाने का प्रयास किया गया है। समस्त प्राणियो मे अन्तर्निहित परमात्मा के कारण सभी जड़ व चेतन पदार्थों में उसी ब्रह्म की व्याप्ति के आधार पर सर्वात्मैक्य का प्रतिपादन किया। इसके द्वार घोषणा की गई कि समस्त भेद भ्रामक है तथा मौलिक एकता ही वास्तविक सत्ता है। सब भेद केवल नाम और रूपमात्र है, जो परिवर्तनशील तथा अस्थायी हैं। जिस तत्व पर ये आरोपित हैं वह समान, अनन्त, शाश्वत, निरपेक्ष, चरम सत्ता या ब्रह्म है, यद्यपि अपनी उपाधिग्रस्त अवस्था मे यह भ्रम से काल-दिक्सीमित, जन्म-मरण के चक्र से शासित तथा अनेक बन्धनो व दु:खों से पीडित जीवन प्रतीत होता है। अपने दार्शनिक निष्कर्षों से शकर के 'अद्वैतवाद' ने मानव के, जगत् व स्वयं के विषय मे दृष्टिकोण का पूर्णरूपेण अध्यात्मीकरण करने का प्रयास किया।

तथापि, शकर ने अन्य मतो के दार्शनिक सिद्धान्तो अथवा धार्मिक अनुशासन के विभिन्न रूपों भक्ति-साधना के विभिन्न रूपों अथवा प्रवृत्ति-मार्ग के अनुष्ठानों, विभिन्न तथा पारिवारिक व सामाजिक कर्तव्यों के व्यावहारिक मूल्यों की अवहेलना नहीं की। शंकर के अनुसार, यद्यपि समस्त अस्तित्वो का चरम सत्य, एक अपरिवर्तनीय, क्रियारहित, निर्गुण, शाश्वत ब्रह्म है, तथापि यह ब्रह्म अनिर्वचनीय माया द्वारा सगुण रूप धारण कर अनन्त मंगल-गुणों के भण्डार के रूप मे ईश्वर कहलाता हैं और यही इस नामरूपात्मक ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकट होता है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से यह ईश्वर भी मायिक है तथा केवल निर्गुण ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है। भक्तगण अपनी विभिन्न मनोकामनाओं की पूर्ति के लिये सगुण ईश्वर की उपासना उसके अनेक पवित्र नाम-रूपों द्वारा कर सकते हैं। स्वयं शंकर ने सगुण ब्रह्म की समस्त नामों व रूपों में उपासना की। तथापि उन्हेंने मोक्ष-प्राप्ति केवल अद्वैत निर्गुण ब्रह्म के अनुभव से ही संभव माना है।

बौद्धों के शून्य-तत्व को सरलतापूर्वक शकर के निर्गुण ब्रह्म तत्व से अभिन्न माना जा सकता है। निर्गुण ब्रह्म बौद्धिक व्यावहारिक ज्ञान के क्षेत्र से उतना ही परे तथा प्रज्ञा के व्यावहारिक प्रारूपो से उतना ही अनिर्वचनीय है जितना कि शून्य। सत्ता से बुद्ध का तात्पर्य अर्थ-क्रिया-कारित्व से था और इस कारण उन्होने जो कुछ इस व्यावहारिक ब्रह्माण्ड व्यवस्था से परे है उसे निषेधात्मक (असत्) पद प्रदान करना पसन्द किया। दूसरी ओर शकर ने अपने दार्शनिक विवेचनों मे सत्ता का तात्पर्य शाश्वत पारमार्थिक अनन्त अस्तित्व (जिसका किसी भी काल मे असत् या अभाव अकल्पनीय है) लिया और इस कारण उन्होंने समस्त कालदिकाश्रित व्यावहारिक अस्तित्वों के शाश्वत अनन्त आधार को चरम सत एव इस व्यापारिक जगत् को मिथ्या या असत् कहा। बुद्ध और शकर दोनो ने उसी समस्त प्रतीयमान व्याहारिक अस्तित्व के पीछे व परे स्थित चरम सत्ता की ओर सकेत किया। बुद्ध और शकर दोनों के अनुसार इस व्यावहारिक जगत का प्रारभ अविद्या से है और इस अविद्या से छुटकारा पाना ही मोक्ष या निर्वाण है। यह सतत् प्रवाहमय संसार चक्र अविद्या की उपज होने के कारण मिथ्या माना जा सकता है।

बुद्ध प्राय: इस जगत्, विराट् भ्रम अथवा शून्य के अधिष्ठान व आश्रय के विषय में चुप है और शकर इसे सत्-चित आनन्द ब्रह्म कहते है। बुद्ध इस विषय मे मौन है कि कोई स्थायी आत्मा सुख-दु:खादि भोगती और व्यवस्थित अनुशासन द्वारा उनसे छुटकारा पाकर मोक्ष प्राप्त करती है, और न ही वह निश्चित रूप से यह बतलाते है कि निर्वाण का अर्थ सम्पूर्ण आत्म-नाश अथवा अनन्त शाश्वत पारमार्थिक पूर्ण अस्तित्व है। शकर आशा व प्रेरणा का सदेश देते है। वे कहते है कि अविद्या ग्रस्त दु:खो से पीड़ित जीवात्मा मोक्ष को खोजने वाला न केवल स्थायी तत्व है, वरन् इस जगत् के पारमार्थिक आधार ब्रह्म से अद्वैत है। निर्वाण या मोक्ष में यह जीवात्मा ब्रह्म के साथ पूर्ण तादात्म्य का अनुभव कर लेता है। एक तत्वज्ञानालोकित योगी अपनी शारीरिक अवस्था में भी अनुभव करता है कि वह समस्त शारीरिक बन्धनों, दु:खो और सीमाओ से शाश्वत रूप में मुक्त है, और वह शाश्वत रूप से समस्त जन्म-मरण, राग व सासारिक बन्धनो से विमुक्त है तथा वह यह भी अनुभव करता है कि जगत् की विभिन्नताये भी मूलत: उसकी आत्माभिव्यक्तिया ही है।

इस प्रकार शंकर के अद्वैतवाद ने बौद्धो के शून्यवाद को अपने में मिलाकर मानवजाति को भावात्मक आध्यात्मिक महत्व का एक आशाप्रद सन्देश दिया। इसने जैन अनेकान्तवाद को भी अपने में उस सीमा तक मिला लिया जहाँ तक कि अद्वैत ब्रह्म को अनेक रूपों वाला व अनेक व्यावहारिक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। इसने द्वैतवादी दार्शनिक संप्रदायों के समस्त परस्पर विरोधी मतों को इस अर्थ में अपने मे समा लिया कि इसने समस्त द्वैतमयी बोद्धिक धारणाओं की आध्यात्मिक एकता के चरम आधार को आगे रखकर विभिन्न उपासकों में अपने देवता की श्रेष्ठता व दूसरे के देव की निकृष्टता को लेकर चलनेवाले तुच्छ विवादों को

समाप्त कर दिया। अद्वैतवाद ने बतलाया कि समस्त सम्प्रदायों के उपासकों द्वारा उपास्य देव एक शाश्वत निरपेक्ष ब्रह्म ही है, अन्तर केवल नाम और रूप का है। भक्तिसाधना के आध्यात्मिक मूल्य को मानते हुये भी शकर ने इसे ज्ञान से गौण माना क्योकि यह सगुण ब्रह्मोपासना पर आधारित है जो जीव और ब्रह्म के भेद को बनाये रखती है, जबकि दूसरी ओर ज्ञान जीव-ब्रह्म के भेद से ऊपर उठकर अद्वैत-सिद्धि प्राप्त करा देता है। भक्ति की पूर्णता ज्ञान से होती है।

इसी प्रकार शकर ने प्रवृत्ति मार्ग तथा कर्म साधना के आध्यात्मिक व नैतिक मूल्यो की प्रशसा की और अविद्या के क्षेत्र में रहने वाले सर्व साधारण जीवों के लिये उनकी उपयोगिता व आवश्यकता का प्रचार किया। धर्माचरण के द्वारा वे अपने हृदय व मस्तिष्क को भली प्रकार शुद्धकर तथा योग और ज्ञान की प्राप्ति की योग्यता बढ़ाकर मोक्ष के अधिकारी बन सकते है। इस प्रकार शंकर ने समस्त वैदिक व अवैदिक विचारधाराओं को अपने अद्वैत वेदान्त दर्शन के आधार पर सयोजित तथा एकत्रित करने का अद्भुत एव गौरवमय प्रयास किया। अपने विचारों के प्रचार व वेदान्ती ज्ञान साधना को इस विशाल देश में तीव्रता से फैलाने के लिये उन्होंने देश के विभिन्न भागों में मठो की स्थापना की। उन्होंने सम्पूर्ण भारत में कई तीर्थ स्थलों, तथा अन्य पुण्य स्थानों का जीर्णोद्धार किया। बुद्ध धर्म के विद्रोह के पश्चात् हिन्दू धर्म के पुनर्गठन में उन्होंने महान् योग दिया।

लगभग उसी काल में महायोगी गोरक्षनाथ (साधारणतया जिन्हें गोरखनाथ कहा जाता है) योग के एक महान गुरु के रूप मे प्रकट हुये तथा जिन्होने यौगिक सस्कृति को सम्पूर्ण देश मे व इसके बाहर भी लोकप्रिय बनाया। एक सच्चे महा-योगी के रूप में वे दार्शनिक विवादों मे अधिक रुचि नही रखते थे। उन्होने मुख्य रूप से योग मत का प्रतिपादन व प्रचार कर अपने असाधारण जीवन के उदाहरण से ही योगाभ्यास के चमत्कारी प्रभावों को दर्शाया। उन्होने सब धर्मो के सत्यान्वे-षियों के सम्मुख महायोगेश्वर शिव या आदिनाथ को मानव जीवन के चरम व शाश्वत आदर्श तथा जगत् के अन्तिम सत्य के रूप में रखा। शिव अपने शाश्वत चिन्मय, समाधिमय, आनन्दमय, स्वयंपूर्ण स्वरूप द्वारा इस व्यावहारिक ब्रह्माण्ड व्यवस्था से सदैव परे है और अपने स्वरूप में निहित अनन्त शक्ति व बुद्धि द्वारा शाश्वत रूप से स्वयं को बिना किसी प्रयास के काल-दिकाश्रित व्यावहारिक अस्तित्वों के अनन्त वैविध्यपूर्ण रूपों में अभिव्यक्त कर एक भव्य, सुन्दर, व्यवस्थित ब्रह्माण्ड का निर्माण करते है साथ ही स्वयं को इस व्यावहारिक जगत्-व्यवस्था में अनेक स्वभावों वाले, अनेक परिस्थितियों में रहने वाले, सीमित जीवों के रूप में व्यक्त कर विभिन्न भूमिकाये निभाते हुये अपने आनन्दमय पारमार्थिक स्वरूप में लीन होते है। इस शिव का एक शाश्वत पारमार्थिक, विश्वातीत, निर्गुण पारमार्थिक और साथ ही एक मुक्त आनन्दमय आत्मोद्घाटन व आत्म विभाज्य क्रीड़ामय सक्रिय स्वरूप है तथा प्रत्येक जीवात्मा का एक व्यावहारिक और एक पारमार्थिक स्वरूप है। एक जीवात्मा को व्यवस्थित योगाभ्यास से मौलिक

शिवत्व तथा पूर्ण तत्वज्ञानालोकित समाधिदशाप्राप्त करनी है ।

गोरखनाथ ने द्वैत, अद्वैत तथा अन्य समस्त वादो-विवादो को आध्यात्मिक दृष्टिकोण से निरर्थक बताया क्योंकि चरम सत्ता, समस्त व्यावहारिक अस्तित्वों का आधार व स्रोत, समस्त बौद्धिक धारणाओं के परे है यद्यपि वैयक्तिक व्यावहारिक चेतना की पूर्ण रूपेण आलोकित समाधिदशा के चरम अनुभव में इसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । दार्शनिक रूप मे उनका सिद्धान्त द्वैत-अद्वैत-विलक्षण वाद कहा जाता है । चरम सत्ता के अद्वैत मत को पूर्णतया मानते हुए भी उन्होने द्वैत को मिथ्या या रहस्यमयी माया व अविद्या की उपज बताकर अपमान नही किया । शंकर के मायावाद के स्थान पर गोरक्षनाथ व उनके सम्प्रदाय ने शक्तिवाद का प्रचार किया । परमात्मा की विभिन्नतामय आत्माभिव्यक्तियो का मूल कारण यही परमात्मा की शाश्वत निरपेक्ष शक्ति है ।

(५) मध्ययुगीन हिन्दू धर्म :

कुमारिल तथा उनके द्वारा प्रतिपादित मीमासा मत द्वारा वेदों के प्रवृत्ति मार्ग के प्रचार ने भारतवर्ष के सभी भागो में चतुर्वेण व चतुराश्रम में ब्राह्मण वर्ण को उच्च सांस्कृतिक विकास व ज्ञान की प्रगति में संलग्न होने के कारण सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया । उनके अनन्तर क्रमश. क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का स्थान था । निस्सन्देह चारों वर्गो मे परस्पर निर्भरता व सहयोग होना आवश्यक है अन्यथा समाज-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायेगी तथा वर्ग-सघर्ष प्रारम्भ हो जायेंगे । यह स्मरण रखना चाहिये कि समाज के प्रत्येक वर्ण का सहस्त्रों जाति-उपजातियों में विभाजन कोई आध्यात्मिक महत्व नही रखता, तथा ऐसा जातिवाद हिन्दू धर्म का कोई मौलिक लक्षण नहीं था ।

यह भी जान लेना चाहिये कि अपने मूलभूत आध्यात्मिक दृष्टिकोण सहित हिन्दूधर्म, कर्तव्यों व अधिकारो के प्रसग मे अधिकार भेद को स्वीकार करते हुये भी, समाज के किसी भी भाग को 'अछूत' या ईश्वरोपासना के लिये अयोग्य नहीं मान सकता, क्योंकि परमेश्वर सर्वान्तर्यामी हैं । तथापि इस विशाल देश में हिन्दू सामाजिक व्यवस्था, जो प्रमुखतया प्रवृत्तिमार्ग व वेदो के आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर आधारित है, अपने मौलिक रूप में सहस्त्रों वर्षो के अनेकशः प्रहारों के होने पर भी अटूट रही है ।

ब्राह्मणों के सांस्कृतिक तथा सन्यासियों व योगियों के आध्यात्मिक नेतृत्व पर आधारित प्राचीन हिन्दू समाज के पुनर्निर्माण के साथ-साथ वेदो की आप्तता में भी विश्वास बढ़ता गया और समाज के उच्च वर्गो में वैदिक कर्मकाण्ड भी पुनर्जीवित हो उठा । किन्तु हिन्दू जनता के लिये वैदिक यज्ञ ने सेवा, पूजा तथा तीर्थ यात्राओ का रूप धारण कर लिया । सर्वसाधारण के लिये श्रौत यज्ञ अधिकतर असुविधाजनक प्रतीत हुये, व्यक्तिगत त्याग व बलिदान के समाजोपयोगी कार्यो ने लोकप्रिय यज्ञों का रूप धारण कर लिया और उन्हें 'स्मार्तयज्ञ' कहा जाने लगा ।

समाज के समस्त वर्गो ने यज्ञ के इन रूपों के आध्यात्मिक महत्व की अत्यधिक प्रशंसा की। विभिन्न देवी देवताओं की विस्तृत पूजा-विधि सम्पूर्ण देश मे लोकप्रिय हो गई। इस प्रकार की पूजा मे कर्म और भक्ति, यज्ञ और उपासना का भव्य समावेश था। पूजा की विहित पद्धतियों मे अनेक यौगिक अभ्यास भी सम्मिलित थे और देवताओं को प्रसन्न करने के लिये स्वीकृत मत्र-जप सर्वदा व प्रत्येक स्थल पर सब देवताओं के आत्मा, भक्ति, पूजा व उपासना के चरम लक्ष्य महादेव या परमेश्वर की धारणा लिये हुये था। मूर्तिपूजा हिन्दूधर्म का एक अतरंग भाग बन गई। इस का महान् आध्यात्मिक महत्व था क्योकि इसने प्रत्येक स्तर के स्त्री-पुरुष के हृदय मे इस भाव को जागृत कर दिया कि समस्त अस्तित्वो का चरम स्रोत अनन्त और शाश्वत परमात्मा सीमित रूपो मे उनके समक्ष उनकी विनम्र भक्ति व भेट स्वीकार कर सब प्रकार के वर देने के लिये प्रस्तुत है। दिव्य मूर्तियाँ, कल्पना की उपज होते हुये भी जनसाधारण के मध्य परमेश्वर की उपस्थिति की हार्दिक अनुभूति कराने मे अपार सहायता प्रदान करती है। तीर्थाटनों ने, जो सभी के लिये आदिष्ट था, इस विशाल देश के हिन्दुओ मे एकता की चेतना जागृत रखी तथा यह उन्हे सदा स्मरण रहा कि वे उसी एक प्रभु के उपासक है जो न जाने किस वेष मे कहाँ मिल जाये।

जिस समय सारे देश के हिन्दुओ की समाज-व्यवस्था तथा व्यावहारिक जीवन-पद्धति मुख्य रूप से वेदों के प्रवृत्ति-मार्ग पर आधारित तथा शास्त्रों या स्मृतियों के साथ उपासना मार्ग के भक्तिपूर्ण दृष्टिकोण एव आध्यात्मिक विचारधारा द्वारा शासित थी, वैचारिक वातावरण शनै: शनै: आचार्य शकर तथा उनके सम्प्रदाय द्वारा विशद और दार्शनिक रूप से प्रतिपादित और उनके द्वारा स्थापित महान् मठ-संप्रदाय द्वारा देश के प्रत्येक भाग में प्रचारित वेदान्त दर्शन के प्रभाव से निवृत्ति मार्ग के गहन आध्यात्मिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण था। हिन्दूधार्मिक विचार के पुनर्गठन मे शकर का अद्वितीय योगदान है। उनके समय से वेदान्त भारतवर्ष का प्रमुख दर्शन बन गया तथा हिन्दू धर्म मूलत: वेदान्त का धर्म बन गया। अपने अल्प जीवन काल में ही उन्होंने अपने समय के प्रमुख दार्शनिको व धर्म-सुधारको से शास्त्रार्थ कर अपने अकाट्य तर्को द्वारा उन्हें वेदान्तिक दृष्टिकोण के पक्ष में कर लिया। कुमारिल के प्रमुख शिष्य मण्डन मिश्र, (जो उस समय प्रवृत्तिमार्ग तथा मीमासा दर्शन के महान् प्रवर्तक थे) को भी घोर शास्त्रार्थ में पराजित होकर, वेदान्त दर्शन तथा निवृत्तिमार्ग की श्रेष्ठता को स्वीकार कर सन्यास धारण करना पड़ा। बहुत से बौद्ध नेता अनुयायियों सहित शकर द्वारा परास्त किये गये। शकर ने इस विशाल देश के सब भागो मे भ्रमण किया, कई प्राचीन हिन्दू शिक्षण केन्द्रों को नवजीवन प्रदान कर उन्हे वेदान्त संस्कृति के केन्द्रों में परिवर्तित कर दिया, योग्य आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शको के निरीक्षण में अनेक प्रान्तों में ऐसे केन्द्र स्थापित किये, कई प्राचीन तीर्थो का जीर्णोद्धार कर उन्हें आध्यात्मिक प्रेरणा का सजीव केन्द्र बना दिया, सन्यासी और गृहस्थ में पारस्परिक निकट संबंध स्थापित करवाये

जिससे कि समाज के प्रत्येक अंग मे वेदान्त संस्कृति छाई रहे। उनके वेदान्त ने किसी भी रूप मे सासारिक व्यक्तियों के व्यावहारिक जीवन तथा समाज व्यवस्था मे कोई उथल-पुथल नही की। उसने सब लोगों को जीवन के चरम लक्ष्य तथा ब्रह्माण्ड के चरम सत्य के प्रति जागरूक रखने का प्रयास किया, नाशवान् जगत् की अस्थायी वस्तुओं के प्रति अतिशय मोह से दूर रखने का भाव जागृत कर कर्म और भोग के मध्य उन्हें त्याग और वैराग्य का पाठ पढ़ाया तथा पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाते हुये भी चिन्ताओं से मुक्त रहकर शान्ति और स्थिरता बनाये रखने का मार्ग दिखाया।

शकर और उनके सम्प्रदाय की मूलभूत मान्यता थी कि अतीन्द्रिय, अतिमानसिक, अतिबौद्धिक, चरम सत्यो तथा उच्चतम धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों के विषय में वेदो को परम आप्तग्रन्थ मानना चाहिये। उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र वेदो के सार-तत्व को प्रकट करते है। ये तीनों क्रमश. वेदान्त के श्रुतिप्रस्थान, स्मृतिप्रस्थान तथा न्यायप्रस्थान माने जाते थे और यह आग्रह किया जाता था कि सम्पूर्ण वेदों का इन तीनो के प्रकाश मे अध्ययन करना चाहिये। शंकर ने इनमें से प्रत्येक पर व्यापक टीकायें लिखी और दार्शनिक रूप में अपने प्रसिद्ध अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन कर उसे हिन्दू धर्म का सच्चा सार कह कर प्रचारित किया। चरम सत्य और जीवन के चरम आदर्श के विषय में अन्य समस्त धारणाओं की शकर ने कटु आलोचना की। उन्होने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि जो कुछ उन्होने प्रतिपादित किया वही वेदों का मर्म तथा वेदान्त की समस्त मानवता का एकमात्र सच्चा धर्म है।

शंकर और उनके संप्रदाय की ये मौलिक धारणाये भारतवर्ष के हिन्दुओं के अन्य समस्त धार्मिक सप्रदायों तथा दार्शनिक मतो द्वारा सामान्य रूप से स्वीकार कर ली गई। उन्होने वेदो की प्रामाणिकता स्वीकार कर ली तथा उपनिषदो, गीता और ब्रह्मसूत्रो को वेदो के सारतत्व के प्रतिपादक के रूप में ग्रहण कर लिया। इस प्रकार हिन्दुओ के समस्त वर्ग वेदान्त की पताका के नीचे संगठित हो गये। यह लगभग सार्वभौम मान्यता हो गई कि जिस सप्रदाय का मत उपनिषदों गीता और ब्रह्मसूत्रो के अनुकूल न हो उसे यथार्थ सप्रदाय नहीं मानना चाहिये। इस कारण विभिन्न भक्ति सम्प्रदायों के उल्लेखनीय आचार्यो ने विविध नाम और रूपों में परमात्मा की उपासना तथा मानवजीवन के चरम आदर्श की सिद्धि के लिये भक्ति को सर्वाधिक प्रभावशाली साधन मानते हुये, अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार उपनिषदो, गीता तथा ब्रह्मसूत्रों की अपने दृष्टिकोण से टीका कर यह प्रदर्शित करना चाहा कि उनके सम्प्रदाय भी वेदान्तिक सम्प्रदाय हैं, उनके द्वारा प्रचारित विशिष्ट धार्मिक उपासनामार्ग भी सच्चे अर्थो मे वेदान्त पर आधारित है तथा उन्हे मान्य होने का उचित एव यथार्थ अधिकार प्राप्त है।

कुमारिल, शंकर तथा गोरखनाथ के बाद की शताब्दियो में, प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग—कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग तथा योगमार्ग, परस्पर पर्याप्त प्रभावित

हुये तथा सम्पूर्ण देश के सामाजिक जीवन मे साथ-साथ विकसित होते रहे। प्रवृत्तिमार्ग के कर्मकाण्डीय अनुष्ठान तथा पारिवारिक व सामाजिक कर्तव्य निवृत्तिमार्ग की त्याग भावना व दर्शन से सम्यग्रूपेण पारिमार्जित व आलोकित हो गये और निवृत्तिमार्ग के सन्यासी और योगियों ने सामाजिक आन्दोलनों के मध्य अपने उच्च आध्यात्मिक आदर्शों का प्रचार करने तथा समाज-कल्याण व उसके आध्यात्मिक आत्मानुशासन के उद्देश्य से अधिकाधिक रचनात्मक कार्य करने के लिये मठों, मंदिरों तथा आमो की स्थापना की। योगियो सन्यासियों और गृहस्थो के बीच इस निकट सम्पर्क ने भारतीय जनता के सभी वर्गो के लोगों के सामान्य कार्यों तथा सुख और दु.खो के मध्य वेद तथा वेदान्त के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्थिर रखा तथा विकसित किया।

किन्तु इन शताब्दियो मे देश के विभिन्न प्रान्तों में उच्च आध्यात्मिक उपलब्धियों से सम्पन्न असाधारण भक्तों सन्तो एवं बड़ी सख्या में जन्म लेने के कारण भक्तिमार्ग तथा उपासनामार्ग को अत्यधिक प्रेरणा प्राप्त हुई। हम उनमें से कुछ एक का नामोल्लेख कर सकते है यथा—रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, चैतन्य, ज्ञानदेव, नानक, कबीर, रामानन्द, तुलसीदास, मीराबाई, इत्यादि। उन्होंने तथा उनके अनुयायियो ने सब वर्गो के लोगो के हृदय और मस्तिष्क पर एक महान् आध्यात्मिक प्रभाव डाला तथा मध्ययुगीन हिन्दू धर्म के स्वरूप को बिलकुल ही परिवर्तित कर दिया। मुख्य रूप से उनके प्रभाव के कारण इस युग में सामान्य व लोकप्रिय हिन्दू धर्म भक्ति से ओतप्रोत हो गया। उन्होंने दिव्य प्रेम व भक्ति का प्रचार किया तथा ईश्वर के सब प्राणियों के प्रति प्रेम, दया तथा सहानुभूति व दीन असहाय प्राणियों की सक्रिय सेवा को दिव्य प्रेम की व्यावहारिक अभिव्यक्ति के रूप में प्रचारित किया। समस्त प्राणियो को परमात्मा के जीवित मंदिरों के रूप में पूजना चाहिए क्योकि वह सर्वान्तिर्यामी के रूप मे सबमें निवास करता है। जीवन का सर्वत्र आदर व रक्षा करनी चाहिये। यह भगवान् की भक्ति का अभिन्न अग है। इन संतो ने भगवान् की पवित्र मूर्तियों तथा अवतारो यथा राम, कृष्ण इत्यादि के माध्यम से भक्ति को भी लोकप्रिय बनाया। उनके उपदेशो के कारण इस युग में हिन्दू धर्म में पुराणों ने प्रमुखता पाई तथा 'भागवत' को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त हुआ। राम, कृष्ण तथा अन्य दिव्य अवतारों के साथ-साथ उल्लेखनीय महाभक्तों, महायोगियो, महाज्ञानियों, महाकर्मशीलो, समस्त स्तरों के संत-महात्माओं के जीवन की प्रेरणात्मक घटनायें देश के कोने-कोने में पहुँचकर, सभी वर्गों के व्यक्तियों की आध्यात्मिक प्रेरणा का शाश्वत स्रोत बन गई।

भक्ति संप्रदायो के इन प्रभावशाली गुरुओं में रामानुज, निम्बार्क, मध्व, बल्लभ और बलदेव विद्याभूषण (चैतन्य के अनुयायी) ने 'वेदान्त' पर स्वतत्र टीकाये प्रस्तुत कीं और इस प्रकार पृथक् वेदान्त की उनकी टीकाये क्रमशः विशिष्ट-द्वैत-वाद, द्वैत-अद्वैतवाद, द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद तथा अचिन्त्य भेदाभेदवाद की हैं। उनमें से प्रत्येक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि उसकी टीका वेदान्त

अतः वेदों का सच्चा सार प्रस्तुत करती है। शंकर की दृष्टि से उनकी मूलभूत भिन्नता इस बात मे थी कि वे सृष्टिकर्त्री ब्रह्मशक्ति को मिथ्या या भ्रामक नही मानते थे और न ही उन्होंने जीवात्माओं को ब्रह्म से पूर्ण अभिन्न व अद्वैत माना था। शंकर के मायावाद के स्थान पर उन्होंने गोरखनाथ के शक्तिवाद को स्वीकार करना पसन्द किया, यद्यपि गोरखनाथ या उनके किसी प्रत्यक्ष अनुयायी योगी ने वेदान्त पर कोई टीका नहीं लिखी। उन सबने इस व्यावहारिक ब्रह्माण्ड व्यवस्था का एकमात्र आधार, एकमात्र कारण उस वेदान्त के स्वयसत् को स्वीकार किया तथा इस ब्रह्माण्ड व्यवस्था में अभिव्यक्त ब्रह्म की शक्ति को उन्होने ब्रह्म के स्वरूप में निहित एक शाश्वत यथार्थ शक्ति माना। तथापि उन्होने तार्किक रूप से शक्ति और ब्रह्म के सम्बन्ध की कई प्रकार से टीकाये की है, जिसने उनमें भेद उत्पन्न कर दिये। जीवात्माओं अथवा ससीम शक्तियो को उन्होंने शाश्वत आध्यात्मिक व्यक्तित्व-सम्पन्न स्वीकार करते हुए, ब्रह्म के साथ, ब्रह्म के द्वारा और ब्रह्म के लिए अस्तित्ववान् तथा ब्रह्म से अभिन्न आध्यात्मिक सम्बन्ध रखनेवाला माना।

धार्मिक अनुशासन तथा भक्ति साधना के उद्देश्य से विभिन्न आचार्यो तथा उनके सप्रदायो ने ब्रह्म को विभिन्न दिव्य नामों से सबोधित किया, यथा—हरि, विष्णु, नारायण, वासुदेव, कृष्ण, राम इत्यादि। इन सबने प्राचीन वैष्णव या भागवत मत को पुनर्जीवित किया। प्राचीन शैव मत को भी सम्पूर्ण देश के विभिन्न भागों मे रहनेवाले सतो व दार्शनिकों ने अपने प्रभाव से लोकप्रिय बनाया। उनमें शैव-सिद्धान्त, वीर-शैव, तथा काशमीरी शैव संप्रदाय विशेष उल्लेखनीय है। शैव दार्शनिक श्रीकठ ने शैवमतानुसार 'वेदान्त' पर एक महत्वपूर्ण टीका लिखी। अभिनवगुप्त ने शैव-दर्शन और धर्म का प्रतिपादन करने के लिए अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ रचे। शक्ति की काली दुर्गा इत्यादि नामों में उपासना तथा तंत्र साधना का भी अत्यधिक प्रचार हुआ। अनेक स्थानो पर बौद्धमत भी बहुत अशो तक तांत्रिक बन गया। इस प्रकार देश के सब भागो मे उपासना-मार्ग या भक्ति-मार्ग विभिन्न रूपो में व्यापक रूप से लोकप्रिय बनाया गया। पुनरुत्थान के इन समस्त आन्दोलनों के फलस्वरूप बौद्धगत या जैनमत लगभग पूर्ण रूप से हिन्दू धर्म में विलीन हो गये।

गोरखनाथ तथा उनके योगी-सप्रदाय और तांत्रिक सप्रदाय द्वारा प्रचारित शिवशक्तिवाद वा ब्रह्मशक्तिवाद ने उस समय की न केवल दार्शनिक विचार-धाराओ को ही प्रभावित किया वरन् भक्ति-सप्रदायों की लोकप्रिय उपासना-विधियों को भी अत्यधिक प्रभावित किया। परमात्मा को दिव्ययुगल के रूप में नित्य आलिंगनबद्ध प्रस्तुत किया गया। परमात्मा और उनकी अनन्त शक्ति को शाश्वत रूप से मधुर मिलन की प्रतिमूर्ति दर्शाया गया। ब्रह्म स्वय को शाश्वत रूप से अद्वैत तथा विभिन्न द्वैत रूपो मे भी प्रकट करनेवाला है। वह दो में एक और एक में दो है। परमात्मा का सक्रिय पक्ष उनकी शक्ति द्वारा प्रदर्शित होता है जिससे वह स्वयं को इस व्यावहारिक जगत् व्यवस्था के रूप में

अभिव्यक्त करता है। उनकी शक्ति जगत् की दिव्य जननी है और वे दिव्य पिता हैं। परमात्मा स्वय को इन द्वैत-रूपो में प्रकट करते है।

लगभग सभी उपासना सप्रदायों ने इस धारणा को अपनी उपासना विधि में ग्रहण कर लिया। वैष्णव उपासना सप्रदायो ने ब्रह्म की उपासना लक्ष्मी-नारायण, राधा-कृष्ण, सीता-राम इत्यादि दिव्य युगलो के नाम और रूपों में करना प्रारभ कर दिया। शैव-सप्रदाय मे महाशक्ति का प्रतिनिधित्व सती, उमा, गौरी, तारा, त्रिपुर सुन्दरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, षोडशी, भुवनेश्वरी, धूमावती, बगला, चण्डी, मातगिनी, कमला, कामाख्या इत्यादि करती है। शिव की शाश्वत दिव्य अर्धाङ्गिनी, महाशक्ति की सम्पूर्ण देश के प्रत्येक भाग मे विभिन्न नाम और रूपो से उपासना की जाती है। शिव की उपासना प्रायः मूर्ति रूप मे नही, लिगरूप मे की जाती है जो सभवतः शिव के पारमार्थिक आध्यात्मिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करनेवाले ज्योतिपुज का प्रतीक है।

इस युग में अद्‌भुत रूपों में मूर्तिपूजा धार्मिक अनुशासन व उपासना की सार्वभौम विधि बन गई तथा इसे हिन्दूधर्म का मौलिक लक्षण माना जाने लगा। वास्तव मे हिन्दू अध्यात्म-दृष्टि का यह एक बहुत ही गौरवमय तत्व था कि मस्तिष्क को असीम-शाश्वत परमात्मा की सीमित, सापेक्ष्य व परिवर्तनशील भौतिक वस्तुओं में जाज्वल्यमान उपस्थिति का अनुभव करने का अभ्यास करा दिया जाता था। हिन्दू मनस् के आध्यात्मिक प्रशिक्षण में मूर्तिपूजा ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसलिए महान् हिन्दू दार्शनिकों तथा उच्च आध्यात्मिक उपलब्धियो वाले संतों ने इसे प्रोत्साहित किया। हिन्दू मनस् को प्रभु के अवतारों की उपासना द्वारा मानव की दिव्यता का भी भान कराया गया और पवित्र नदियों, पर्वतों, वनों तथा तीर्थस्थानों की उपासना द्वारा प्रकृति की दिव्यता को उसमें प्रतिष्ठित कर दिया गया। भारत माता को दिव्य महाशक्ति की एक गौरवमय आत्माभिव्यक्ति के रूप में हिन्दू मानने लगे। अनेक अध्यात्म ज्योतिहीन व विभिन्न अधार्मिक अन्धविश्वासों से ग्रस्त तथाकथित बुद्धिवादी विचारक इनमें से बहुत सी धार्मिक धारणाओं और अध्यात्म प्रशिक्षण की पद्धतियों को, हिन्दुओं के अन्धविश्वास कह कर अपमानित करते है।

इस काल मे इस्लाम ने मूर्तिपूजा के कट्टर शत्रु के रूप में भारत में प्रवेश किया। अपने गहन आध्यात्मिक रूपों में इस्लाम मौलिक रूप से एक सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञाता, दयालु तथा पूर्ण परमेश्वर में विश्वास रखता है। यह मानव-मानव में भाई चारा, एकता, शान्ति, व्यवस्था, सहयोग तथा विश्वबन्धुत्व व दीन-दुखियों की दैवीसृष्टि के रूप में सक्रिय सेवा करने का उपदेश देनेवाला धर्म है। किन्तु दुर्भाग्य से इस्लाम का सन्देश भारत तथा अन्य देशों में मुस्लिम संत व महात्माओं द्वारा नही वरन् आक्रमणकारी व लड़ाकू योद्धाओं द्वारा ले जाया गया जिन्होंने धर्म का सैनिक, राजनैतिक तथा आर्थिक उद्देश्यों के लिए दुरुपयोग किया। इस प्रकार इस्लाम हिन्दू धर्म के सम्पर्क में एक प्रमत्त मूर्तिभंजक तथा

बलपूर्वक धम-परिवर्तन करानेवाले धर्म के रूप में आया। इसने असंख्य हिन्दुओं को मुसलमान बनाया किन्तु हिन्दुओं की आध्यात्मिक संस्कृति के विकास मे अत्यल्प योगदान किया।

(६) आधुनिक हिन्दू धर्म :

हिन्दू धर्म ने मध्ययुग में जो रूप या आकार धारण किया वही बिना किसी मूलभूत परिवर्तन के आधुनिक युग में भी चला आ रहा है, यद्यपि समय-समय पर इसे स्वयं को नई-नई परिस्थितियों के अनुकूल बनाना पड़ा है। अफगानों और मंगोलों के कई शताब्दियों के राजनैतिक प्रभुत्व में अदूरदर्शी शासकों से प्रोत्साहित धर्मान्ध मुसलमानों के मूर्ति भंजक व बलपूर्वक धर्म परिवर्तन करानेवाली मनोवृत्ति से हिन्दू धर्म किन्हीं अंशों तक भय-ग्रस्त हो गया था। तथापि हिन्दू-धर्म ने अपनी शक्ति व सक्रियता को कभी नहीं खोया। असंख्य मूर्तियां तोड़ी गई, मन्दिर नष्ट किये गये, मठ और संघों का नाश किया गया, धार्मिक स्थलों की पवित्रता भंग की गई तथा सहस्रों हिन्दुओ को बलपूर्वक मुसलमान बनाया गया। किन्तु हिन्दू धर्म की समाज-व्यवस्था व आध्यात्मिक विश्वास अमर थे। हिन्दू धर्म ने इन समस्त सकटों को झेल लिया। प्रभुकृपा से इस कठिन समय में देश के विभिन्न भागों में अनेक महायोगी, महाज्ञानी, महाभक्त, तथा महाकर्मी प्रकट हुए और उन्होने बाह्य प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सनातन धर्म के आध्यात्मिक महत्वों व गरिमाओं को पुनः जागृत किया। समाज के नेताओं को समाज की नैतिक रक्षा हेतु सामाजिक अनुशासन के अधिक कड़े नियम बनाने पड़े तथा धार्मिक नेताओ को धार्मिक धारणाओं और पद्धतियों की अधिक उदार टीकाये प्रस्तुत करनी पड़ीं।

युग के उल्लेखनीय धर्मोपदेशकों ने हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक सिद्धान्तों को इस प्रकार प्रस्तुत किया कि उनमें इस्लाम की मौलिक आध्यात्मिक विशेषतायें व सत्यों का समावेश हो जाये तथा उच्च सत्यान्वेषी मुसलमानों के हृदयो को भी जीता जा सके। इस्लाम के अनुयायियों में भी सच्चे सत एव भक्त प्रकट हुए। हिन्दू संत-दार्शनिकों के निकट सपर्क में आकर उन्होने पाया कि इस्लाम अपने मौलिक आध्यात्मिक अंगों मे वेदान्त, योग और भक्ति के अधिक निकट है और इस प्रकार दोनों धर्मो के सच्चे सतो के निकट सम्पर्क से हिन्दुओ और मुसलमानों में भाईचारे के सम्बन्ध स्थापित हुये। बहुत से स्थानों पर हिन्दू संतो के मुसलमान शिष्य व मुस्लिम फकीरों के हिन्दू शिष्य हुए, यद्यपि प्रत्येक की सामाजिक व्यवस्था भिन्न रही। हिन्दू धर्म और इस्लाम के आध्यात्मिक मिलन का प्रत्यक्ष प्रसाद सूफीवाद है आध्यात्मिक उत्थान के लिए जिसका हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ अनुसरण करते हैं।

आधुनिक युग मे हिन्दू धर्म को मानव जीवन के प्रति अपने समस्त आध्यात्मिक और सांसारिक दृष्टिकोण सहित एक प्रचण्ड चुनौती का सामना करना पड़ा।

वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति से विकसित भौतिक दृष्टिकोण वाले पश्चिमीयूरोप के साहसी लोगों ने भारत में व्यापारिक तथा राजनैतिक सम्पर्क मार्ग बनाये और अन्त में अंग्रेजों ने सम्पूर्ण भारत पर प्रभुसत्ता स्थापित कर ली। ये वणिक प्रवृत्ति वाले पश्चिमी राष्ट्र अपने को ईसाई धर्मानुयायी बतलाते थे तथा ईसा व बाइबिल को ऊपरी आदर प्रदान करते थे। प्रत्येक राष्ट्र की एक चर्च-व्यवस्था थी जिसके द्वारा वे जहाँ कही अपने व्यापारिक या राजनैतिक उद्देश्यो से जाते, वहाँ ईसाई मत के बाहरी अगों का प्रचार करते थे। किन्तु मानव-जीवन तथा सांसारिक वस्तुओं के प्रति उनका दृष्टिकोण ईसाई मत तथा ईसा के अनुकरणीय व आध्यात्मिक उपदेशों से बहुत दूर था।

यह ध्यान रखना चाहिए कि ईसाई धर्म भारत में इस्लाम के उत्थान के बहुत पूर्व तथा पश्चिमी राष्ट्रों के पहुंचने से भी पूर्व प्रविष्ट हो चुका था। किन्तु ईसाई धर्म के उन प्रारभिक दिनों में, ईसाई मत का प्रचार सच्चे सरल सन्तों द्वारा होने के कारण इसने सहज व स्वाभाविक रूप से स्वयं को हिन्दू धर्म के अनुकूल बना लिया। जीसस क्राइस्ट एक सच्चे योगी-भक्त थे तथा एक सुदृढ़ परपरा की मान्यता है कि कुछ काल तक वे भारत में रहे और उन्होने हिमालय में निवास करनेवाले योगियों तथा बौद्ध सन्तों से योगाभ्यास व आध्यात्मिक सिद्धान्तों को सीखा। उन आध्यात्मिक-जिज्ञासुओं ने जो ईसा द्वारा प्रतिपादित भक्ति और योग का अनुसरण करना चाहते थे भारत के सामाजिक वातावरण के हिन्दू परिवेश में स्वयं ईसा के जन्म-देश के अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल स्थान पाया जहां कई पीढ़ियों तक ईसाई धर्म का खुला अनुसरण भी नही किया जा सकता था।

किन्तु आधुनिक युग की परिस्थितियाँ नितान्त भिन्न थी। ईसा के सच्चे उपासको द्वारा प्रेम व सरलता से प्रचारित नैतिकता परक आध्यात्मिक धर्म नही था, यह था पाश्चात्य कोटि का विभिन्न चर्चों द्वारा बलपूर्वक प्रचारित ईसाई मत जिसने पाश्चात्य प्रभुत्व में हिन्दू धर्म पर आक्रमण किया। यह वह ईसाई मत था जिसे हम पाश्चात्य सभ्यता कहते है, जो वैज्ञानिक व तकनीकी आविष्कारों तथा वर्तमान पाश्चात्य देशों के सैनिक और राजनैतिक सघो से सम्बन्धित है।

वर्तमान पाश्चात्य राष्ट्रों के अधार्मिक जीवन की प्रगति से मोहित होकर बहुत से अतिउत्साही हिन्दू बुद्धिवादियों ने गहनता से अनुभव किया कि अपने देशवासियों को पाश्चात्य लोगों की न केवल वैज्ञानिक, राजनैतिक तथा आर्थिक संस्कृति को ही अपना लेना चाहिए वरन् उनके धर्म और सामाजिक रीतियों को भी स्वीकार कर लेना चाहिए। ईसाई मिशनरियों ने भी हिन्दूधर्म के सभी अंगोंपर धावा बोल दिया। अधिक गंभीर, दूरदर्शी तथा धार्मिक हिन्दू विचारकों ने भी देश की भौतिक समृद्धि के लिए पाश्चात्य वैज्ञानिक एवं अधार्मिक संस्कृति को अपनाना चाहा, यद्यपि वे प्राचीन हिन्दू धर्म तथा उसके आध्यात्मिक दृष्टिकोण को पाश्चात्य

ईसाई मत के प्रभाव से मुक्त रखना चाहते थे। वे प्राचीन हिन्दू शास्त्रो में प्रतिपादित उदात्त आध्यात्मिक आदर्शो तथा दार्शनिक धारणाओ के आधार पर हिन्दू धर्म को आधुनिक रूप प्रदान करना चाहते थे। परंपरागत हिन्दू जनता व धर्म गुरुओं ने अपने शास्त्रों में गहन विश्वास तथा ऋषियों और सतो के आध्यात्मिक ज्ञान में गहन श्रद्धा के बल पर अपने समस्त पवित्र आदर्शों रीतियों व परंपराओं को दृढ़ता से स्थिर रखा। अग्रेज शासकों ने अनेक मुसलमान बादशाहों की नीति के विपरीत कम से कम बाहरी तौर पर, धर्म व सामाजिक रीति-रिवाजों के विषय में हस्तक्षेप न करने तथा तटस्थ रहने का प्रयास किया।

इस बीच अनेक पाश्चात्य विद्वानों तथा सत्यान्वेषियों ने सस्कृत भाषा तथा प्राचीन हिन्दू शास्त्रों का गहन आलोचनात्मक अध्ययन प्रारभ कर वेदों, उपनिषदो, गीता, महाभारत, पुराणों, तत्रों तथा हिन्दू दर्शनों का अनुशीलन किया। वे इस प्राचीन भाषा में निहित ज्ञान भडार, जो अब तक पाश्चात्य जगत् को अज्ञात था, को देखकर चकित हो उठे। उनके लिए यह एक महान् खोज थी। इनमे से अनेक प्राचीन हिन्दू शास्त्रो के योरोपीय भाषाओ मे अनुवाद हुए। पाश्चात्य सत्यान्वेषियो ने इन प्राचीन शास्त्रो मे नया प्रकाश पाया। तार्किक वैज्ञानिक तथा आधुनिक मस्तिष्को द्वारा हिन्दू धर्म की प्रशसा ने पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त उन हिन्दुओ के मनों मे हिन्दू सस्कृति के गौरव की चेतना को पुनर्जागृत कर दिया, जिन्होने अपने मे विश्वास खो दिया था और जो पूर्णरूपेण पश्चिम का अन्धानुकरण करना चाहते थे। मैडम ब्लैवट्स्की एव कर्नल आलकाट द्वारा प्रतिपादित तथा डा० एनीवेसन्ट द्वारा विकसित थियोसाफीकल सोसायटी ने हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म के विभिन्न अंगो के गहन वैज्ञानिक अध्ययन में पर्याप्त योगदान किया। राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित 'ब्रह्मसमाज' तथा स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित 'आर्य समाज' ने उपनिषदो और वेदो के आधार पर हिन्दूधर्म को वर्तमान युग के अनुकूल वनाने के कई प्रयास किये। किन्तु सम्पूर्ण रूप से इन सामाजिक-धार्मिक संस्थाओ का हिन्दूधर्म पर इतना व्यापक प्रभाव नही पड़ा जितना कि समाज पर।

जिन दिनों पश्चिम इस प्रकार पूर्व तथा भारतवर्ष पर राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विजय प्राप्त करने में सलग्न था, भारतवर्ष पश्चिम के भौतिकतावादी विचारो की बाढ़ में अपने राष्ट्रीय धर्म और सस्कृति तथा प्राचीनकाल से चली आ रही पवित्र परपराओ व सामाजिक रीति-रिवाजो को बह जाने से बचाने के अनेक प्रयास कर रहा था। परमात्मा की महती कृपा से अनेक सिद्ध महायोगी, महाज्ञानी, महाभक्त, महा-प्रेमी तथा महाकर्मियो ने इस देश के विभिन्न भागों में प्रकट होकर जड़ पर चेतन की, अर्थ और काम पर धर्म और मोक्ष की, भोग और शोषण पर त्याग और बलिदान की, वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान पर आत्मज्ञान की मूलभूत श्रेष्ठता को पुनः स्थापित किया। उनके जीवन्त उपदेशों तथा अद्भुत चमत्कारपूर्ण शक्तियों ने बुद्धिवादियों वजनसाधारण

के हृदय एवं मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डाला तथा उन सबका ध्यान हिन्दू धर्म की अन्तर्निहित गौरव की ओर आकर्षित किया। उन्होंने प्रदर्शित किया कि योग, ज्ञान, भक्ति, प्रेम के प्राचीन आदर्श, प्राचीन धार्मिक अनुष्ठान व संस्कार, प्राचीन रीति-रिवाज व परपराये, भगवान की भक्ति-भावना से कौटुम्बिक व सामाजिक कर्तव्यो को पूरा करने की प्राचीन धारणाये, आज भी उतनी ही मूल्यवान है जितनी की प्राचीन काल मे थी। तथापि, इन संतो ने वर्तमान युग के सांसारिक लोगों को उस वैज्ञानिक, कलात्मक तथा तकनीकी ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया जो ईश्वरेच्छा से वर्तमान युग में पाश्चात्य देशो मे तीव्रता से बढ रहा है तथा अभ्युदय की दृष्टि से जिसका मूल्य अतर्क्य है। किन्तु इन महान् सन्तो ने चेतावनी दी कि यह न केवल हिन्दुओ के लिए ही, वरन् सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए बड़े दुर्भाग्य की बात होगी यदि इस नवीन वैज्ञानिक, तकनीकी व कलात्मक ज्ञान की प्राप्ति मे हिन्दुओ ने अपनी प्राचीन आध्यात्मिक धरोहर खो दी और वर्तमान पाश्चात्य देशों के भौतिकतावादी दृष्टिकोण को अपना लिया। उन्होने पहले ही देख लिया कि यदि मानवता को उच्च स्तर पर उठाना है तो आधुनिक पाश्चात्य लोगों को हिन्दुओं के आध्यात्मिक आदर्शवाद को अपना कर उसे अपने व्यावहारिक जीवन में प्रयुक्त करना चाहिए, वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान को अनिवार्यत: मानव-जीवन के चरम आध्यात्मिक आदर्श से आलोकित व अनुशासित होना चाहिए, समस्त अस्तित्वों व मानवता की आध्यात्मिक एकता का चरम अनुभव प्राप्त करना चाहिये, तथा परमात्मा की सजीव आत्माभि-व्यक्तियो की प्रेममय व स्वेच्छित सेवा के लिए शक्ति एव सम्पत्ति को लगा देना चाहिये।

आधुनिक संत महात्माओं के आध्यात्मिक प्रभाव तथा वर्तमान युग के संकटों के कारण कर्म, ज्ञान, योग तथा भक्ति के व्यापक समन्वय की प्रवृत्ति जैसा कि श्रीकृष्ण ने गीता में प्रतिपादित किया आधुनिक हिन्दू धर्म की एक अत्यन्त आकर्षक विशिष्टता प्रतीत होती है। इस समन्वय में जगत् व मानवता के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण उत्पन्न करना, साधारण व्यावहारिक जीवन मे मानसिक स्थिरता या संतुलन स्थापित करना तथा भक्ति, सेवा, त्याग व बलिदान की भावनाये निहित है। यह समस्त गृहस्थो को अपने पारिवारिक तथा सामाजिक कर्तव्यों को नि:स्वार्थ रूप से परमात्मा की सेवा भावना से करने तथा अपने अन्तर में योग और सन्यास की भावना को जगाने का सन्देश देता है। यह सर्वत्यागी सन्यासियों तथा योगियो के मन में समाज व मानवता के कल्याणार्थ कार्य करने तथा आधुनिक सामाजिक जीवन की जटिलताओ के मध्य रहते हुए भी एक उच्च आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित होने का श्रेष्ठ आदर्श जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत करने का उपदेश देता है। यद्यपि कर्मकाण्ड का प्रभाव अब भी सर्वसाधारण पर है, तथापि प्रवृत्ति-मार्ग ने शनै: शनै: वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों क्षेत्रों में समाज-हितकारी कार्यो का रूप ले लिया है, इस प्रेरणात्मक विचार के साथ कि

यह उन लोगों के आध्यात्मिक कल्याण में योग देगा जो सच्चे हृदय से इसका सपादन करते हैं। वर्णधर्म ने अपने स्वस्थ आध्यात्मिक प्रभाव को खो दिया तथा विभिन्न वर्ण वर्ग जाति व्यवस्था में पतित हो गये। इसके अतिरिक्त निम्न जातियों में उच्च सतों के प्रकट होने के कारण भी हिन्दू समाज का वर्णाश्रित ढांचा ढहने लगा। वर्तमान युग की मांगो के अनुकूल बनाने के लिए समाज को दृढ़ता से उदार बनाया जा रहा है।

आधुनिक हिन्दू धर्म का दूसरा सर्वाधिक उल्लेखनीय लक्षण है सभी धर्मों का सामंजस्य तथा संसार के समस्त धर्मों द्वारा प्रचारित धार्मिक अनुशासनों के आध्यात्मिक महत्व पर बल देना। आधुनिक हिन्दू धर्म ने ससार के सब भागो में समय-समय पर महान संतो व ईश्वर के दूतो द्वारा स्थापित समस्त धार्मिक व्यवस्थाओ की अन्तर्निहित एकता को खोज निकाला तथा यह सन्देश प्रसारित किया कि सभी धार्मिक मार्ग अन्त मे उसी एक आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर ले जाते हैं—उसी एक सर्वोच्च सत्ता से एकातमता स्थापित कराते है। यह एक सन्देश है, न केवल विश्व सहिष्णुता का, बल्कि सार्वभौम स्वीकृति, आदर और प्रेम का। स्वधर्म का निष्ठा से पालन करो और तुम मानव जीवन के उस चरम आदर्श को प्राप्त कर लोगे, जो सबके लिए समान है। यह सत्य सर्वाधिक गौरवमय रूप में श्रीराम कृष्ण परमहंस के जीवन से प्रदर्शित हुआ जिसका स्वामी विवेकानन्द ने पूर्व और पश्चिम में प्रबल प्रचार किया।

आधुनिक हिन्दू धर्म की आत्मा की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति श्री राम-कृष्ण परमहस के सरल व प्रेरणात्मक उपदेशो तथा उनकी व्यापक साधना मे हुई है। उन्होंने भक्ति, योग, ज्ञान, शाक्तमत, शैवमत, वैष्णवमत, राम भक्ति, बौद्धमत, जैनमत, ईसाईमत, तथा इस्लाम मत के निर्धारित रूपों के अनुसार साधना की तथा प्रत्येक मार्ग से सिद्धि प्राप्त कर अपने जीवन में समस्त धर्ममार्गो की आध्यात्मिक एकता को प्रदर्शित किया। उन्होने समस्त विभिन्न धार्मिक सप्रदायों द्वारा प्रवर्तित विभिन्न देवी-देवताओ की विधिवत पूजा पद्धतियो मे एक ही परमात्मा की पूजा होते देखी, समस्त साकार सीमित देवी-देवताओ की मूर्तियों में उसी एक अनन्त और शाश्वत परमात्मा के दर्शन किये। उन्होंने उन सबके समक्ष मस्तक झुकाया तथा अनेक पवित्र नाम-रूपों मे एक शाश्वत परमात्मा के दर्शन कर तन्मय हो गये। उन्होने सत्यान्वेषियों को बताया कि धार्मिक अनुशासन के साम्प्रदायिक उपायों का भी यदि सच्चे हृदय व तीव्र निष्ठा से अनुसरण किया जाये तो आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्ति में वे सब लाभदायक सिद्ध हो सकते है किन्तु साप्रदायिक अन्धानुकरण, द्वेष, व अन्धविश्वास भयानक रूप से बुरे है। ये घोर अज्ञान की उपज है और आध्यात्मिक उन्नति में बाधक हैं। उन्होने मानवमात्र की एकता के दर्शन कर हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, ब्राह्मण, शूद्र तथा पूर्वीय पश्चिमी लोगों में कोई भेदभाव नही किया क्योंकि वे एक ही ब्रह्म के विभिन्न रूप है। उन्होंने वेदान्त और गीता को व्यावहारिक जीवन स्तर पर उतार कर हमे

सिखाया कि किस प्रकार उनका हम अपने कौटुम्बिक एवं सामाजिक जीवन में प्रयोग तथा अनुसरण कर सकते है।

उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द अपने गुरू के जीवन और उपदेशों के अनुरूप आधुनिक हिन्दू धर्म की आत्मा के सर्वश्रेष्ठ तथा प्रतिभा-सम्पन्न टीकाकार थे। उन्होने वेदान्त और गीता का सन्देश पश्चिम तक पहुंचाया तथा इसे सशक्त भाषा में ऐसे रूप में प्रस्तुत किया जो आधुनिक दृष्टिकोण वाले लोगों के स्वीकार करने व समझ मे आने योग्य था। उन्होंने रामकृष्ण मठ तथा मिशन की स्थापना कर अपने सन्देश को व्यवस्थित एव संस्थागत-रूप प्रदान किया तथा स्वदेश व पश्चिम के अनेक देशों मे कई सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक तथा जनकल्याण-कारी सस्थाओं की स्थापना की। उन्होने एक गम्भीर चेतावनी दी कि पाश्चात्य सभ्यता दुर्गति की ओर द्रुतगति से बढ़ रही है। मानवता को इस दुर्गति से वेदान्त (अर्थात् यथार्थ हिन्दूधर्म) के उपदेश ही बचा सकते है। अन्य उल्लेखनीय सन्त महात्माओं तथा श्री अरविन्द, रामतीर्थ, रवीन्द्र नाथ, गाँधी, योगानन्द आदि ने हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को इसी प्रकार आधुनिक जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया है। इस प्रकार हिन्दू धर्म वर्तमान युग की विभिन्नताओ के मध्य आधुनिक लोगो के दृष्टिकोण में वास्तविक परिवर्तन कर उनके मस्तिष्कों को सामजस्य, शान्ति और एकता के उच्च आध्यात्मिक स्तर पर उठाने की ओर अग्रसर हो रहा है।

उपसंहार

पूर्व विवेचनों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि प्रागैतिहासिक युग से आज तक हिन्दू संस्कृति के विकास की सम्पूर्ण गति इस महान् खोज पर आधारित रही है कि हमारे सतत विकासशील ज्ञान एवं अनुभव जगत् की व्यावहारिक सत्ताओं के समस्त विभिन्न स्तर सत् चित् आनन्दमय ब्रह्म की आश्चर्यजनक वैविध्यपूर्ण आत्माभिव्यक्तियां हैं तथा मानव-जीवन का चरम आदर्श उस एक पर-ब्रह्म का प्रत्येक वैयक्तिक शरीर में, प्रत्येक प्रापंचिक अस्तित्व में, प्रत्येक सजीव और निर्जीव में, अनुभव के प्रत्येक चेतन और अचेतन पदार्थ में और इसके साथ ही साथ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में दर्शन करने में निहित है। यह आदर्श न केवल हिन्दुओं के धार्मिक जीवन, वरन् पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक आर्थिक कलात्मक आदि वैयक्तिक और सामूहिक जीवन के उन समस्त अंगों एवं अस्तित्वों को समान आध्यात्मिक दृष्टिकोण से व्यवस्थित, विकसित परिमार्जित तथा आलोकित करता है जिससे मानव-जीवन के सच्चे अन्तिम लक्ष्य के रूप में सम्पूर्ण मानवीय संस्थाओं तथा उनके द्वारा समस्त अस्तित्वों की समान आध्यात्मिक एकता की अनुभूति प्राप्त हो जाये।

इसी कारण हिन्दुओं के सामूहिक तथा वैयक्तिक जीवन के प्रत्येक कार्य में आध्यात्मिक मूल्यों को आर्थिक तथा भोगवादी मूल्यों से श्रेष्ठ माना गया है, आध्यात्मिक उन्नति को सांसारिक उन्नति से श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है, जगत् की सम्पदा, शक्ति तथा अन्य परिवर्तनशील वस्तुओं के त्याग को उनके मोह या उनकी आकांक्षा से श्रेष्ठ माना गया है, तथा आंतरिक आत्म-विकास को वाह्य विकास एवं भेद वर्द्धक पर शासन से श्रेष्ठ माना गया है। सांसारिक सभ्यता और संस्कृति की प्रगति के कारण मानव जीवन अनिवार्यतः अधिकाधिक जटिल होता जाता है तथा मनुष्यों में पारस्परिक भेद और परमात्मा की आत्मभिव्यक्तियों के विभिन्न स्तरों में भेद अधिकाधिक सामने आने लगते है। उन सबके मध्य आध्यात्मिक एकता का दर्शन करना अधिकाधिक कठिन होता जाता है। भौतिक भेद आध्यात्मिक एकता पर छा जाते है। हिन्दू योगियों, ज्ञानियों, भक्तों, सन्तों, महात्माओं तथा दार्शनिकों ने विभिन्न युगों में ऐसे समस्त भेदों के बीच आध्यात्मिक एकता के दर्शन प्राप्त करने तथा मानव-जीवन के चरम लक्ष्य को लोक मानस के समक्ष स्पष्ट रूप मे रखने के विभिन्न उपाय एव मार्ग खोज निकाले हैं।

इस प्रकार सभी युगो में सारी मानवता के लिए हिन्दू धर्म का यह प्रथम महानतम सदेश रहा है कि जगत् व्यवस्था की विभिन्नताओ के समस्त स्तरो मे व्याप्त तथा उनसे परे एक स्वयं प्रकाश, स्वय सत्, परमात्मा है जिसकी जाने-अनजाने रूप से सभी मनुष्य विभिन्न पवित्र नाम-रूपों तथा अनुशासनों द्वारा उपासना एवं खोज करते रहते हैं। दूसरा सन्देश है कि आदि अन्त रहित जगत्

व्यवस्था एक दिव्य जीवन द्वारा अनुप्राणित आलोकित तथा व्याप्त और एक दिव्य अथवा ईश्वरीय नियम से संगठित एवं शासित है। तीसरा सन्देश है प्रत्येक जीवात्मा का परमात्मा, अथवा विश्वात्मा जिसकी प्रत्येक जीवात्मा एक सीमित वैयक्तिक आत्माभिव्यक्ति है से तादात्म्य स्थापित करना। चौथा सदेश है कि समस्त, व्यष्टि शरीर परमात्मा के मन्दिर होने के कारण पवित्र हैं। पांचवाँ सन्देश है कि मनुष्य व्यष्टि चेतना में जीवात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त कर मानव-प्रयासों के चरम आदर्श के रूप में समस्त अस्तित्वों की एकता एवं आध्यात्मिकता का वास्तविक अनुभव प्राप्त कर सकता है। छठा संदेश है कि 'सर्वभूतहिते रताः' परमात्म सेवामग्न व्यक्ति चरम शुभ को निश्चित रूप से प्राप्त कर लेता है। सातवाँ सन्देश है कि मानव-जीवन की समस्त आचार संहिता तथा धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षणिक आदि अन्य मानवीय संस्थायें एवं व्यावहारिक अस्तित्व इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण तथा आध्यात्मिक आदर्श पर आधारित होने चाहिये।

जड़ तत्त्व में आत्मा, अनेकता में एकता, क्रिया में स्थिरता, प्रेममयी सेवा में त्याग, यह है संसार के लिये भारतवर्ष के हृदय का संदेश। इस पुण्य-भूमि के समस्त धर्म-गुरुओं एवं उल्लेखनीय सत्यान्वेषियों ने सब युगों मे इसी सत्य को विभिन्न दृष्टिकोणों से, विभिन्न भाषाओं में अभिव्यक्त किया तथा इसी सत्य और आदर्श की वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन में सिद्धि के लिए सामाजिक स्थितियों तथा समय की मांगों के अनुरूप विभिन्न व्यावहारिक उपाय और प्रक्रियायें सिखाईं। भारतवर्ष के हृदय से निकला हुआ यह सन्देश पृथ्वी के सब भागों में पहुंचा तथा इसने इतिहास के सब युगों में सब वर्गों और जातियों के लोगों को आध्यात्मिकता तथा एकता का मार्ग दिखाया।

योगी गुरु गोरखनाथ, शाश्वत महायोगेश्वर आदिनाथ शिव के सच्चे अवतार थे। इनके दर्शन की सामान्य रूपरेखा का पिछले अध्यायों में प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया गया है। ये इस गरिमामय संदेश के उन सर्वाधिक शक्तिशाली और उल्लेखनीय प्रचारकों में से एक थे जिन्हें जन्म देकर भारत माता धन्य हुई। इनके उपदेश वर्तमान युग तथा जीवन की वर्तमान दशाओं में भी उतने ही उपयोगी और आकर्षक हैं जितने वे एक सहस्र वर्ष से भी पूर्व थे, जब उन्हें अपने पवित्र भौतिक शरीर में लोगों को प्रेरणा देते तथा विचरण करते हुए माना जाता है।

उन्होंने सर्वत्यागी योगियों की एक मठ वासयि-संस्था की स्थापना की जिसे सिद्धयोगी, नाथ-योगी अथवा अवधूत-योगी संप्रदाय के रूप में जाना जाता है, यह आज तक भारतवर्ष की संस्थाओं में सर्वाधिक व्यापक और सजीव मठ-व्यवस्था है। इस विशाल देश में कोई प्रान्त या भाग ऐसा नहीं, जहाँ इस संप्रदाय के सक्रिय केन्द्र न हों। इस संप्रदाय ने महान् संस्थापक के समय से लेकर

प्रत्येक परवर्ती पीढ़ी में अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न महा-सिद्ध योगियों को जन्म दिया है।

गोरखनाथ तथा उनके अनेक शिष्यों को आज भी मृत्युजयी तथा सशरीर अमर माना जाता है। वे सच्चे सत्यान्वेषियों और दुःखी लोगों पर, जो विश्वास पूर्वक उनसे सहायता की प्रार्थना करते हैं, अपनी कृपादृष्टि बरसाते रहते हैं। भौतिक शरीर को आध्यात्मिक एवं अमर बनाने तथा कतिपय रहस्यमय योग-प्रक्रियाओं द्वारा इसे प्रकृति की समस्त शक्तियों के समक्ष स्थायी रूप से अभेद्य बनाने की संभावना गोरखनाथ तथा सिद्धयोगी संप्रदाय की विशेष शिक्षाओं में से एक है। इसे काय-सिद्धि कहा जाता है। किन्तु वे इसे एक योगी के जीवन के उच्चतम आदर्श या लक्ष्य के रूप मे कभी नही मानते। गोरखनाथ तथा उनके तत्वज्ञानालोकित अनुयायी योग के सार्वभौम सिद्धान्तों को सर्वदा अधिक महत्व देते हैं। व्यावहारिक जीवन में आनन्द, शान्ति और आत्म-पूर्णता के सभी अन्वेषकों को सच्चाई तथा निष्ठा से इनका अनुसरण करना चाहिये, वे चाहे जिस दार्शनिक या धार्मिक मार्ग को अपनाते हों, चाहे जिस देश, समाज अथवा धार्मिक समुदाय के अंग हों, चाहे गृहस्थों की भांति रहते हों अथवा नगरों, ग्रामों पर्वतों, या वनों में सन्यासियों की भांति। गोरखनाथ तथा उनके तत्वज्ञ अनुयायियों ने सच्चे अध्यात्म-जिज्ञासुओं को, बिना किसी वर्ग, जाति तथा धार्मिक भेदभाव के, योगमार्ग में दीक्षित किया।

जन साधारण में गोरखनाथ तथा उनके प्रत्यक्ष अनुयायी रहस्यमय योगानुशासन के विभिन्न प्रकारों के कुशलतम गुरु तथा शिवशक्ति मत के सर्वाधिक शक्तिशाली प्रचारकों के रूप मे प्रसिद्ध है। यह ध्यान रखने की बात है कि गोरखनाथ का योग सर्वाधिक व्यापक तथा पूर्णरूपेण आध्यात्मिक है और उनका शिवशक्तिदर्शन पूर्ण रूप से दुराग्रह अथवा अन्धविश्वास से रहित, ठोस और तार्किक है। योग-विद्या तथा शिव-शक्ति मत सम्पूण मानवता के हृदय, भारतवर्ष, के आध्यात्मिक संदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह हमारे अनुभव जगत विषयक वही आध्यात्मिक दृष्टिकोण तथा जीवन का वही आध्यात्मिक आदर्श है जिसे भारतवर्ष में अध्यात्म-विद्या, ब्रह्म-विद्या, परा-विद्या, आत्म-विद्या, निःश्रेयस-विद्या इत्यादि के रूप में जाना जाता है। केवल यही विद्या है जो व्यक्तिगत जीवन में आनन्द, शान्ति और पूर्ण स्वतंत्रता तथा आत्मपूर्णता प्राप्त करा सकती है, मानव-जाति में प्रेम और परस्पर सेवा का साम्राज्य स्थापित कर, एकता, स्वतंत्रता और सौख्य की स्थापना करा सकती है, मानव-मानव, मानव और प्रकृति तथा मनुष्य और सब प्राणियों में पूर्ण सामंजस्य तथा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करा सकती है। ससार के समस्त दोषों की यह अचूक औषधि है तथा परम शुभ की प्राप्ति का सच्चा मार्ग है।

गोरखनाथ ने भारतीय संस्कृति की आत्मा के प्रतिनिधि के रूप में, मानवता

के समक्ष योग का आदर्श, मानव-जीवन के साधन और साध्य के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने योग की एक सर्वव्यापक तथा सर्वश्रेष्ठ परिभाषा दी, वह है समरसकरण। संस्कृत के इस गहन सारयुक्त शब्द का किंचित् अर्थ 'पूर्णमिलन' के रूप में समझा जा सकता है। इसका अर्थ है अपने आन्तरिक और वाह्य अनुभव के समस्त प्रकार के पदार्थो, तथा जीवन की समस्त परिवर्तनशील विभिन्नताओं को तत्वज्ञानालोकित चेतना की शक्ति से मूलतत्व की आध्यात्मिक एकता में पूर्ण रूप से परिवर्तित कर देना, जिससे हम पूर्ण रूप से समस्त विभिन्नताओ मे एकता, जड़ तत्त्व में आत्मा, सब परिवर्तनो में अपरिवर्तनीय एव जगत् के सम्पूर्ण दृश्यो में एक पारमार्थिक तत्व की क्रीड़ा को जानकर तज्जनित आनन्द प्राप्त कर सके। यही योग है। यह केवल जगत् की परिवर्तनशील विभिन्नताओं से हमारा पूर्ण सामजस्य स्थापना अथवा जगत् को हमारे अनुकूल बनाने का प्रयास मात्र नहीं, वरन् हमारे आंतरिक जगत् का पूर्ण एकीकरण कर उसके द्वारा जगत् की समस्त शक्तियों की दासता से पूर्ण मुक्ति तथा इस दासता से उत्पन्न होने वाले समस्त दुःखों से आत्यतिक निवृत्ति का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। इस प्रकार के एकीकरण से योगी अपने को जगत् मे और जगत् को अपने में देखता है जिससे अन्ततः योगी तथा जगत् और मनुष्य एव प्रकृति के मध्य पूर्ण प्रेम एवं मैत्री स्थापित हो जाती है।

योगी गुरु गोरखनाथ समस्त अनुभवों तथा समस्त अस्तित्वों के चरम सत्य को सम-तत्व, पर-तत्व, परा-संवित्, परब्रह्म या परमपद या परमशून्य अथवा पर-शिव कहकर विवक्षित करते हैं और कहते हैं कि चरम-सत्य नाम-रहित, रूप-रहित, ज्ञाता-ज्ञेय-रहित, अस्तित्व और अनुभव की पूर्ण एकता स्वरूप समस्त विरोधों तथा सापेक्षिकता से मुक्त एव सब विशेषणों, सीमाओं और निषेधों से परे है। किन्तु यही समतत्व या सर्व-तत्वातीत तत्व अपनी निजाशक्ति द्वारा शाश्वत मुक्त रूप से स्वय को सब प्रकार के नामरूपों, व्यावहारिक अनुभवों एवं अस्तित्वों के समस्त स्तरों, तथा सब प्रकार के द्वैतों और सम्बन्धों में अभिव्यक्त करता है और उन सबको अपनी सर्वव्यापक सर्व-समावेष्टित पूर्ण शान्त और स्थिर आत्म-चेतना में संयोजित एवं एकत्रित कर सकता है।

गोरखनाथ किसी दार्शनिक मत अथवा किसी धार्मिक समुदाय के साथ किसी प्रकार के वाद-विवाद में नही उलझे। उन्होंने अपनी योगदृष्टि से धार्मिकअनुशासनों तथा बौद्धिक कल्पनाओं के समस्त रूपों में अभिव्यक्त सत्य' में सब मतों को मिला लिया। वे कहते हैं कि कुछ लोग अद्वैतवादी हैं, कुछ द्वैतवादी, विभिन्न मत प्रवर्तक तर्कों के बल पर विभिन्न वादों का समर्थन करते हैं तथा दूसरे मतों के विचारों को पक्षपातपूर्ण भावना से अशुद्ध तथा त्रुटिपूर्ण सिद्ध करना चाहते हैं, किंतु ऐसे द्वैत, अद्वैत तथा अन्य वादों के संघर्षों से परे उस समतत्व का लोग दर्शन करने में असफल रहते हैं जो उन सबको अपने में मिला लेता है फिर भी

अतीत सबसे है। चरम तत्व के विषय में ऐसी प्रत्येक बौद्धिक धारणा, जो निस्सन्देह अन्य विपक्षी धारणाओं का खंडन करती है, गोरखनाथ के अनुसार चरमतत्व का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने में अपर्याप्त है। वह न्यूनाधिक मात्रा में तत्त्व की व्याख्या का एक बौद्धिक प्रयास मात्र है। योगानुशासन द्वारा चरम अनुभव में चरम सत्य की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है जो व्याव-हारिक चेतना को पूर्ण आध्यात्मिक आलोक मे परिवर्तित कर देती है, जिसमे सब वाद विलीन हो जाते हैं तथा पूर्ण सामरस्य' स्थापित हो जाता है। इस कारण गोरखनाथ समस्त सत्यान्वेषियो तथा अध्यात्म-जिज्ञासुओ को उद्‌बोधित करते हुए कहते है अपने आपको सकुचित दार्शनिक तथा धार्मिक मतों मे मत बाँटों और इस प्रकार भेद यथा वैषम्य को बढ़ावा मत दो।' प्रत्युत् 'समस्त तार्किक तथा दार्शनिक मार्गो एवं धार्मिक अनुशासनों में निहित सामान्य, सर्वव्यापक मौलिक आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर बल दो तथा जीवन के प्रत्येक स्तर में इच्छा, क्रिया और ज्ञान के क्षेत्र में समरसकरण के मार्ग को अपना कर पूर्ण सामरस्य की सिद्धि के योग्य बन जाओ।'

गोरखनाथ तथा सिद्ध-योगी-सम्प्रद य द्वारा प्रचारित सामरस्य का सिद्धांत अनुभव और जीवन मे पूर्ण समायोजन, एकीकरण, तथा मधुरतम संयोजित व्यवस्था का आदर्श स्थापित कर हमारे व्यावहारिक अस्तित्व की सब दशाओं स्तरों में गहन व्यावहारिक महत्व रखता है। हमें सामरस्य का अनुभव करना है अपने भौतिक जीवन मे, अपने मानसिक जीवन में, अपने बौद्धिक जीवन में, अपने नैतिक और धार्मिक जीवन में, अपने पारिवारिक और सामाजिक जीवन मे, अपने मित्रों और सम्बन्धियो में, समस्त जीवों से अपने सम्बन्ध में, और सम्पूर्ण जगत से अपने सम्बन्ध मे। चाहे जिन विषमताओं और विभिन्नताओ के मध्य हमे जीवन-यापन करना पड़े, हमे अपनी इन्द्रियों के स्वेच्छित अनुशासन एवं सयम द्वारा उनमे एकता और सौन्दर्य का अनुभव करना तथा आनन्द भोगना है, हमे उन सबका एक पूर्ण सक्रिय सच्चिदानन्द की श्रेष्ठ तथा पूर्ण रूपेण परस्पर सम्बन्धित आत्माभिव्यक्तियों के रूप में दर्शन करना है, हमें अपने हृदयों में पूण शान्ति एवं स्थिरता को बनाये रखने की शक्ति को धारण करना है तथा सबके साथ अधिक-तम सौहार्द एवं प्रेम का व्यवहार करना है, और इन समस्त विभिन्नताओं के सम्बन्ध में प्रसन्नतापूर्वक अपनी भूमिका निभाते हुए यह ध्यान रखना है कि हम और वे सब एक विश्वात्मा के विराट् शरीर के अग है।

सामरस्य के इस आदर्श की वास्तविक सिद्धि के लिये मन, बुद्धि, इन्द्रियों तथा शरीर को नियत्रित कर पूर्ण व्यवस्थित, आलोकित तथा शुद्ध करना होता है, और चेतना को उच्चातिउच्च स्तरों पर उठाना होता है। योगी-सप्रदाय दावा करता है और वस्तुत: प्रदर्शित करता है कि मानव की आन्तरिक प्रकृति में अपनी भौतिक, जैविक, मानसिक व ऐन्द्रिक प्रकृति तथा बाह्य प्रकृति की शक्तियों पर पूर्ण

नियंत्रण प्राप्त करने की क्षमता है। यह भी दर्शाया गया है कि यह अपने स्वभाव वाह्य प्रकृति की शक्तियों पर नियंत्रण प्राप्त करने का सर्वाधिक प्रभावशाली एवं निश्चित माग है। आत्म-नियत्रण द्वारा व्यक्ति की इच्छा-शक्ति इतनी प्रबल हो सकती है कि उसके समक्ष कुछ भी असंभव नहीं रहता। पूर्ण आत्म-नियंत्रित वाला व्यक्ति अपनी इच्छा-शक्ति को इतना विकसित कर सकता है कि संसार की समस्त शक्तियों को जीत ले। किन्तु उसका स्वभाव इतना शान्त, स्थिर, शुद्ध तथा विराट् प्रकृति के जीवन से संयोजित एवं व्यवस्थित हो जाता है कि वह प्रायः जगत् में गतिशील सच्चिदानन्द की समस्त विभिन्नतापूर्ण आत्माभिव्यक्तियों के सौन्दर्य एवं एकत्व का आनन्द भोगता है। वह इस जगत्-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के लिए अपनी वैयक्तिक इच्छा-शक्ति के प्रयोग का अवसर कभी नही देखता। यह स्मरण रखना चाहिये कि मानव-व्यक्तित्व तथा विश्व-प्रक्रिया दोनों ही उसी एक परमात्मा की समान परमशक्ति से विकसित व अनुशासित होते है।

योग मत, उतना ही प्राचीन है जितनी कि भारतवर्ष की आध्यात्मिक संस्कृति। गोरखनाथ तथा उनके द्वारा स्थापित मठ सप्रदाय ने इसका यथेष्ट प्रचार एवं अनुसरण किया है। यह किसी दार्शनिक विचार-धारा विशिष्ट धार्मिक मान्यता अथवा सम्प्रदाय से बाधित नही है। यह प्रत्येक दार्शनिक और धार्मिक मत के अनुकूल सिद्ध हो सकता है। यह मार्ग उन सबके लिए खुला है जो अपने जीवन की पूर्णता तथा समस्त आंतरिक एवं बाह्य सम्बन्धों में एकता, व्यवस्था, पूर्ण समायोजन तथा आनन्द एवं शांति को सच्चे हृदय से खोजते है। वाह्य प्रकृति तथा मन, बुद्धि, इन्द्रियों व शरीर पर पूर्ण नियत्रण प्राप्त करने तथा मानव-चेतना को क्रमिक प्रबोधन तथा शुद्धि द्वारा सर्वव्यापक व उच्चतम स्तर पर पहुँचा कर 'पूर्णसामरस्य' मार्ग प्राप्त करने के लिए यह आत्मानुशासन का सर्वाधिक वैज्ञानिक और व्यापक मार्ग है। यह मत किसी भी आधुनिक युग व किन्ही भी आधुनिक परिस्थितियों के लिये उपयोगी तथा सदा-नवीन है। चाहे कोई कर्म-मार्ग का अनुयायी हो अथवा भक्तिमार्ग का या ज्ञानमार्ग का, आत्मानुशासन का योगमार्ग सबके लिए उपयोगी तथा अनुकूल है। यह चरित्र को दृढ़ बनाता है तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपने चुने हुए मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये उसकी मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित व शुद्ध कर देता है।

योगमार्ग के प्रायः 'अष्टअंग' बतलाये जाते हैं। प्रथम दो को यम और नियम कहा जाता है जो व्यक्ति के चरित्र और आचरण की शुद्धि तथा उसके वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के पूर्ण समायोजन एव अनुशासन के सर्वव्यापक नैतिक सिद्धान्त है। गोरखनाथ तथा उनके सम्प्रदाय ने दस निर्देश 'यम' के और दस 'नियम' के बतलाये हैं जिनका अनुसरण प्रत्येक उच्च जीवनाभिलाषी को करना चाहिये—वह चाहे जिस धर्म, समाज, देश या युग का हो। 'यम' और 'नियम

के अभ्यास से व्यक्ति अपने में असीम नैतिक बल और इच्छाशक्ति का विकास कर सकता है, अपनी समस्त स्वाभाविक मूल प्रवृत्तियों तथा सवेगों को वश में कर सकता है, अपने शरीर और मन में शान्ति और स्थिरता स्थापित कर सकता है, सब प्राणियों से सर्वाधिक श्रेष्ठ व सुखद सम्बन्ध स्थापित कर सकता है, अनुभव के समस्त पदार्थों के प्रति अपने दृष्टिकोण को उदार बना सकता है और अपनी चेतना को उच्च-स्तरों पर उठा सकता है। जब यम और नियम एक व्यक्ति के चरित्र में सहज रूप से उतर जाते है, तो वह न केवल अद्भुत वैयक्तिक आकर्षण शक्ति सम्पन्न हो जाता है वरन् ससार भी उसके लिए सौन्दर्य और सुव्यवस्था का लोक बन जाता है।

योग के दो अन्य अग 'आसन' और 'प्राणायाम' कहे जाते है। सामान्य रूप इनका महत्त्व शरीर की अस्थिरता व चचलता को वश में कर उसे दृढ़ बनाने तथा श्वास-प्रक्रिया को अनुशासित कर (जैविक) कार्यो को समायोजित करने में निहित है। ये सभी सुसस्कृत लोगों तथा नैतिक और अध्यात्म-जिज्ञासुओं, वे चाहे जिस धर्म व समाज के हों, के लिये आवश्यक है। गोरखनाथ और उनके अनुयायियों ने योग के इन दो अंगों को पर्याप्त विकसित व विस्तृत किया है। उन्होंने मुद्रा, बन्ध, बेध इत्यादि के विभिन्न रूपों का प्रतिपादन किया है। जिनके सतत अभ्यास से समस्त शारीरिक व जैविक कार्यो को तार्किक इच्छा शक्ति के नियंत्रण में लाया जा सकता है, व्यक्ति अपने शरीर का पूर्ण स्वामी बन सकता है तथा विभिन्न प्रकार की चमत्कारपूर्ण शक्तिया प्राप्त कर सकता है। इन रहस्यमयी या गुप्त प्रक्रियाओ का किसी कुशल गुरु के समुचित पथ प्रदर्शन में ही अभ्यास करना होता है। किन्तु कोई भी व्यक्ति जन्म, सामाजिक स्थिति धर्म या राष्ट्र के कारण इनका अभ्यास करने के लिये अयोग्य नही ठहराया जा सकता।

गोरखनाथ तथा उनके सप्रदाय द्वारा योग-मत के इन अंगो मे किये गये विकास सम्पूर्ण मानसिक-भौतिक शरीर पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त करने तथा व्यावहारिक चेतना को प्रबोधन के उच्च आध्यात्मिक स्तरों पर उठाने के लिए इतने मूल्यवान् व उपयोगी है कि उन्हें योग की एक पृथक् शाखा के रूप मे, जिसे हठयोग कहा जाता है, मान्यता प्राप्त है, इसीसे यह सप्रदाय श्रेष्ठ हठयोगी सप्रदाय के रूप में प्रसिद्ध हो गया है। यह उल्लेखनीय है कि इस सप्रदाय के सिद्ध योगियों ने इन रहस्यमय प्रक्रियाओं के फलस्वरूप प्राप्त अद्भुत अनुभवों व बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक शक्तियों तथा चमत्कारी सिद्धियों को कभी भी महत्त्व नहीं दिया। निस्सन्देह ये सिद्धियां यह दर्शाती है कि मानव की प्रकृति में साधारणतया अकल्पनीय प्रसुप्त शक्तियाँ विद्यमान हैं जिन्हें जागृत किया जा सकता है और वे अलौकिक चमत्कार दिखा सकती है। किन्तु वे प्रदर्शन की वस्तुये नहीं है। यह अनुभव करने की बात है कि ऐसी समस्त शक्तियां एक परम दिव्य शक्ति

की केवल आंशिक अभिव्यक्तियाँ हैं, जो जगत् की स्रोत, आधार तथा संयोजक है, किन्तु साथ ही जो प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव में विद्यमान है और अपने अन्दर जिसका प्रत्यक्ष आलोकित अनुभव प्राप्त करना प्रत्येक मानव के समस्त ऐच्छिक प्रयासों का लक्ष्य है। गोरखनाथ तथा उनके सम्प्रदाय के अनुसार, हठयोग को एक ओर मानव को अपने अन्दर निहित असीम शक्ति का भान करा देना चाहिये और दूसरी ओर उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को आलोकित कर स्वय की आत्मा और विश्वात्मा के रूप में महाशक्तियुक्त परमात्मा शिव के दर्शन के पूर्ण योग्य बना देना चाहिये।

योग के तीसरे दो अंग 'प्रत्याहार' और 'धारणा कहे जाते हैं। इनकी उपयोगिता मूलतः मनस् की चंचलता व वाह्योन्मुखता को रोकने तथा चुने हुए पदार्थ या आदर्श पर उसे केन्द्रित करने मे निहित है, जिससे मनस् शुद्ध, आलोकित, उच्च एवं शक्तिशाली बनकर सत्य के आत्मोद्घाटन के लिए प्रशस्त हो उठे। इनके अभ्यास से इन्द्रियानुभव की सीमित और परिवर्तनशील विभिन्नताओं से ध्यान हटाकर उसे अधिकाधिक दृढता से इन्द्रियानुभव के पीछे तुलनात्मक रूप से अधिक असीमित और स्थायी इकाइयों पर केन्द्रित करना होता है, अनुभव के निम्न स्तरों से उठाकर ध्यान को उच्च स्तरों पर केन्द्रित करना होता है, वाह्य जीवन के क्षुद्र और स्थूल स्वार्थो से हटाकर, आन्तरिक जीवन के व्यापक और सूक्ष्मतर लक्ष्यों की ओर केन्द्रित करना होता है, पशु-जीवन के वाह्य व कृत्रिम भोगप्रधान व भौतिक मूल्यों से हटाकर अधिकाधिक गहन नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर केन्द्रित करना होता है जिससे कि मानव के मौलिक आध्यात्मिक स्वरूप की मूलभूत मांगों की पूर्ति की जा सके। अहंतावादी इच्छाओं, महत्वाकाक्षाओं तथा अस्थायी भावों से ध्यान को हटाकर पूर्ण आत्म-पूर्णता तथा विश्व-कल्याण के लिए एकाग्र करना होता है, जो पूर्ण सामरस्य की सिद्धि में निहित है।

गोरखनाथ तथा अन्य तत्वज्ञानालोकित महायोगियों ने नये शिष्यों के आत्मानुशासन के लिए प्रत्याहार और धारणा की अनेक प्रक्रियायें प्रस्तुत की हैं। सबका लक्ष्य एक ही है। प्रत्याहार और धारणा का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व जिस पर गोरखनाथ ने बहुत बल दिया है यह है कि अध्यात्म-जिज्ञासु को समस्त परिवर्तनशील सीमित विभिन्नताओं तथा अनुभव के समस्त पदार्थो में एक असीम, शाश्वत, स्वयं-प्रकट तथा जाज्वल्यमान आत्मा के दर्शन करने चाहिये, अपना ध्यान उनके अमौलिक भेदपूर्ण वाह्य लक्षणों से हटाकर उस एक आत्मा पर केन्द्रित करना चाहिये, जो उन सबका आत्मा है तथा जो उन सबमे व उनके द्वारा प्रकट हो रहा है। योगी को सम्पूर्ण अस्तित्वों की आध्यात्मिक एकता के दर्शन करना सीखना चाहिये और इस एकता के विचार में तल्लीन रहना चाहिये।

योग के अंतिम दो अंग है 'ध्यान' और 'समाधि'। ध्यान का अर्थ है बिना किसी उद्वेग के एक सतत, क्रमिक, शान्त और स्थिर चेतना-धारा में केवल एक धारणा या वस्तु की उपस्थिति, और समाधि का अर्थ है चेतना की पूर्ण एकता

जिसमें ज्ञाता-ज्ञेय, धारक-धारणा पूर्णरूपेण तदाकार हो जाते हैं, जिसमें चेतना-प्रक्रिया भी ठहर जाती है, और चेतना स्वयं को पारमार्थिक सच्चिदानन्द के रूप में प्रकट करने लगती है।

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का भी प्रत्येक अनुभव स्तर पर तथा प्रत्येक दार्शनिक सिद्धान्त तथा धार्मिक मत के आधार पर कुशलता से अभ्यास किया जा सकता है प्रत्येक दशा में ये मानव की आंतरिक शक्तियों के विकास, आत्मानुशासन, अस्थायी आत्म-नियंत्रण एवं स्थिरता व चेतना को उच्चतर आध्यात्मिक स्तरों पर उठाने के लिए उपयोगी हैं। मनुष्य सच्चाई और तीव्र उत्कंठा से अपने मन को एकाग्र करने के अभ्यास के लिये कोई भी विशेष पदार्थ, धारणा या आदर्श चुन सकता है, अन्य समस्त पदार्थों, धारणाओं और आदर्शों से अपना ध्यान हटा सकता है, चुने हुए आदर्श या पदार्थ या धारणा पर अपना ध्यान दृढता से केन्द्रित कर सकता है और शनैः-शनैः एकाग्रता की अवधि एवं गहनता में प्रगति कर सकता है, जिससे कि 'एक लक्ष्य' को लिए हुए सम्पूर्ण चेतना एक स्थिर शांत ज्योतिर्मय धारा के रूप में प्रवाहित होती रहे और अन्ततः उस पूर्ण एकत्व को प्राप्त कर सके जहाँ चेतना और उसकी धारणा में भिन्नता का कोई चिन्ह भी शेष न रहे। ऐसा एकीकरण संभव है, क्योंकि प्रत्येक स्तर पर चेतना व उसकी विषम वस्तु समान आध्यात्मिक तत्व के होते हैं। स्वाभाविक प्रक्रिया में मनस् पुनः चचलता के स्तर पर उतर आता है और साधारण इन्द्रियानुभव के पदार्थों की विभिन्नताओं, स्वभावगत इच्छाओं और वासनाओं की ओर आकर्षित हो जाता है। अतएव मन को एकाग्र रखने का कठोर प्रयास बार-बार करते रहना पड़ता है।

किन्तु उच्चतम आध्यात्मिक अभीप्सा वाले योगी को पारमार्थिक अनुभव के उच्चतम आध्यात्मिक स्तर के अतिरिक्त अन्य किसी स्तर पर समाधि प्राप्त करने से संतुष्ट नहीं होना चाहिए और न ही निम्न स्तरों पर चमत्कारों एवं सिद्धियों की प्राप्ति से ही संतुष्ट हो जाना चाहिये। योग मत को पूर्ण रूप से लेना चाहिये। चेतना को यम और नियम की प्रारंभिक प्रक्रियाओं के अभ्यास द्वारा सम्यक् रूप से उदार, शुद्ध और सूक्ष्म बनाना होता है, महायोगियों, महाज्ञानियों तथा महा-भक्तों के उच्चतम व गहनतम अनुभवों तथा पवित्र ग्रन्थों के गहन अध्ययन से मानव जीवन के परम आदर्श के विषय में एक शुद्ध धारणा या विचार बनाना होता है और सांप्रदायिक पक्षपात से विमुक्त सत-महात्माओं के व्यक्तिगत सम्पर्क से प्रेरणापूर्ण पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना होता है। योगेश्वर गोरखनाथ ने अपने 'सामरस्य' के सिद्धान्त में मानव-जीवन के चरम आध्यात्मिक आदर्श को सर्वाधिक व्यापक, आलोकित, सार्वभौम व यथार्थ अभिव्यक्ति प्रदान की है। इसे समस्त युगों और देशों के दार्शनिक व धार्मिक मतावलम्बी समस्त अध्यात्म जिज्ञासुओं को खोजना चाहिये तथा प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की प्रक्रियाओं

का इस प्रकार अभ्यास करना चाहिये कि व्यावहारिक चेतना समस्त व्यावहारिक सीमाओं को पार कर स्थायी रूप से 'सामरस्य' की स्थिति में प्रतिष्ठित हो जाये।

इस प्रकार गोरखनाथ और उनके संप्रदाय द्वारा प्रचारित योग-साधना सार्वभौम भौतिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक आत्मानुशासन का एक रूप है, जिसका समस्त कालों और स्थानों के धर्मावलम्बी सम्यक् अभ्यास कर आन्तरिक और वाह्य जीवन में पूर्ण शांति, व्यवस्था, स्थिरता और आनन्द की प्राप्ति कर सकते हैं। यह मानवता को अन्धकार से शुद्ध आलोक की ओर, अज्ञान से स्वप्रकाशित सत्य की ओर, सीमित और बाधित अहंतापूर्ण चेतना से असीमित और अबाधित सर्वव्यापक आत्म-चेतना की ओर, चिन्ताओं, भयों, और मृत्यु के क्षेत्र से स्थिरता, निर्भयता और अमरता के क्षेत्र की ओर, भेदभाव, ईर्ष्या-द्वेष और संघर्षों के स्तर से एकता व्यवस्था और प्रेम के स्तर की ओर ले जाने वाला अध्यात्म पथ प्रदर्शित करती है। इसका उद्देश्य है प्रत्येक मानव को स्वयं, मानवता व सम्पूर्ण जगत् के साथ तादात्म्य स्थापित करने का मार्ग दिखाना। यह प्रत्येक सत्यान्वेषी को यह अनुभव कराने का प्रयत्न करती है कि समस्त विकासों, परिवर्तनों, विभिन्नताओं और विषमताओं सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तत्त्वतः एक भव्य और सुन्दर आध्यात्मिक सत्ता है जिसके साथ उसकी निज आत्मा भी तद्रूप हैं।

शिव और शक्ति की भक्ति व उपासना को लोकप्रिय बनाकर गोरखनाथ और उनके सम्प्रदाय के सिद्ध योगियों ने सब वर्गों के मानवों के समक्ष योग के चरम लक्ष्य को स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है। शिव समरसतत्व की साकार मूर्ति है। वे शाश्वत महायोगेश्वर हैं। वे शाश्वत रूप से जगत् के परे हैं और अपने पारमार्थिक अद्वैत तत्व के निरपेक्ष आनन्द का अन्तर में आह्लाद प्राप्त करते हैं और साथ ही साथ वे स्वयं को शाश्वत रूप से अपनी निजा शक्ति के द्वारा व्यावहारिक अस्तित्वों के विभिन्न स्तरों में अपनी पूर्ण प्रकृति की अनन्त महिमाओं को अभिव्यक्त कर उनका आनन्द भी भोगते हैं। उनकी शक्ति को उनकी शाश्वत दिव्य वधू माना जाता है, जो उनसे नित्य आलिंगनबद्ध है, और अनन्त प्रकार से उन्हें प्रसन्न रखने के लिए उनकी सेवा करती रहती है, यद्यपि वे (शिव) उसके (शक्ति) समस्त क्रियाकलापों के प्रति पूर्णतया उदासीन और निर्लिप्त हैं। इस प्रकार उनकी शक्ति जगत् की सक्रिय-शाश्वत माना है और वे शाश्वत उदासीन पिता हैं, यद्यपि उन दोनों में कभी कोई विछोह नहीं है। शिव इस प्रकार शाश्वत सन्यासी और महायोगी होने के साथ ही साथ शाश्वत गृहस्थ भी हैं। आदर्श सांसारिक जीवन में यह आदर्श संन्यासी-योगी सबके समक्ष भक्ति व उपासना के लिये महादेव या परमात्मा के रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा उपासक को निर्देश दिया गया है कि अपने जीवन को योगमार्ग एवं सामरस्य के पथ पर अग्रसर करने के लिये उनसे (शिव) आशीर्वाद व प्रेरणा ग्रहण करे।

पुनः यद्यपि शिव परमात्मा तथा महादेव–सब देवों के देव हैं, और इस ब्रह्माण्ड व्यवस्था में शाश्वत अभिव्यक्त होते हुऐ भी इससे परे हैं तथापि उन्हें सर्वसुलभ, सर्व हितकारी, सर्वप्रिय तथा जगन्मित्र माना गया है। नर, नारी और सन्तान, ब्राह्मण, शूद्र और चाण्डाल, देव, असुर और राक्षस सबकी शिव तक समान पहुंच है और वे सब भक्तों की पूजा, बिना उनके सामाजिक, जातीय, लैंगिक, धार्मिक तथा दार्शनिक मतों के भेदभावों का ध्यान किये स्वीकार करते हैं और सब पर अपनी दयादृष्टि बरसाते है। शिव के क्षेत्र में किसी भी प्रकार की अस्पृश्यता या अनुपलब्धता नहीं है। वे प्रत्येक शरीर में निवास करने वाले आत्मा हैं और प्रत्येक शरीर में यह उनकी निजाशक्ति है जो एक विशिष्ट रूप में अभिव्यक्त है। प्रत्येक व्यक्ति उनके सतत सम्पर्क में है। जो भी उनकी शरण में जाता है उससे वे तत्काल प्रसन्न हो जाते हैं। लोग प्यार से उन्हें भोले बाबा कहते है। उनकी उपासना के लिये न किसी शुद्ध संस्कृत मंत्र की आवश्यकता है, न किसी पुरोहित के ध्यान की और न ही किसी बड़े अनुष्ठान की। सच्चरित्र व्यक्ति का सच्चा और प्रमपूर्ण हृदय उन्हें प्रसन्न करने के लिए पर्याप्त है। वे जीवन और मृत्यु में, सर्वदा निश्छल सच्चे मित्र माने जाते हैं। उन्हें विश्वनाथ, लोकनाथ, महेश्वर, महादेव, भूतनाथ, प्रेतनाथ, पशुनाथ इत्यादि नामों से पुकारा जाता है। ये सब संबोधन उनकी पूर्ण दिव्यता, पूर्णस्वामित्व, चरम पारमार्थिकता और साथ ही साथ जीवन और मृत्यु में समस्त जीवों के प्रति प्रेम, सहानुभूति और दया का प्रतिनिधित्व करते हैं। मानवीय अनुभव के समस्त स्तरों पर उच्च से उच्च और नीच से नीच समान रूप से उनकी पूजा कर सकते हैं। तत्वज्ञानालोकित योगी गहनता से शिव के पारमार्थिक स्वरूप पर ध्यान एकाग्र करता है और अपने अन्तर में शिवत्व का दर्शन प्राप्त करना चाहता है। साधारण व्यक्ति उनकी सर्वाधिक प्रेममय, कृपालु तथा तत्काल प्रसन्न होनेवाले दिव्य पिता के रूप में उपासना कर अपने हृदय की कामनाओं की पूर्ति तथा कष्टों से छुटकारा पाने के लिए प्रार्थना करता है। शिव के प्रतीक सरलतम और साथ ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। एक ज्योतिर्मय दीप एक पार्थिवमूर्ति एक पत्थर का टुकड़ा कुछ भी पर्याप्त है, क्योंकि वे सर्वात्मा के रूप में सर्वत्र प्रकाशित हैं। वे ब्रह्माण्ड में सदा स्वप्रकाशित ज्योति हैं। भक्तों के सौन्दर्यात्मक भावों एवं रुचियों के अनुरूप कलात्मक मूर्तियों के रूप में भी उनकी उपासना की जा सकती है।

इस प्रकार गोरखनाथ और उनके संप्रदाय के तत्वज्ञ योगियों ने धर्मगुरुओं के रूप में, मानवता के समक्ष विश्व-धर्म का एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत कर दिया है, जो आधुनिक जगत् में धार्मिक भेदों की समस्त समस्याओं का समाधान तथा जगत में वाह्य रूप से प्रचलित समस्त भेदों विभिन्नताओं के मध्य मानवजाति को 'सामरस्य' के आध्यात्मिक आदर्श से प्रेरित कर सकता है। संसार के समस्त दोषों का उपचार जीवन के प्रति योग परक आदर्श है। भारतवर्ष का सब युगों में तथा विशेषतः वर्तमान युग में मानवता के लिये यही संदेश है। ●

ओम्

गोरक्ष-वचन-संग्रहः ।

द्वैताद्वैतविलक्षणम् परमतत्वम् ।

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
समं तत्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम् ॥१॥
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः ।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैत विकल्पना ॥२॥
भावाभावविनिर्मुक्तं नाशोत्पत्तिविवर्जितम् ।
सर्वसंकल्पनातीतं परब्रह्म तदुच्यते ॥३॥
हेतुदृष्टान्तनिर्मुक्तं मनोबुद्ध्याद्यगोचरम् ।
व्योमविज्ञानमानन्दं तत्वं तत्वविदो विदुः ॥४॥

अभिन्न शिवशक्तितत्त्वम्

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरं नैव जानीयात् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥५॥
शिवोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन ।
स्वशक्त्या सहितः सोऽपि सर्वस्याभासको भवेत् ॥६॥
अलुप्तशक्तिमान्नित्यं सर्वाकारतया स्फुरन् ।
पुनः स्वेनैव रूपेण एक एवावशिष्यते ॥७॥
अकुलं कुलमाधत्ते कुलं चाकुलमिच्छति ।
जल बुद्बुदवद् न्यायात् एकाकारः परः शिवः ॥८॥
प्रसरं भासयेत् शक्तिः संकोचं भासयेत् शिवः ।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥९॥
तथा तथा दृश्यमानानां शक्ति सहस्राणां एकसंघट्टः ।
निजहृदयोद्यमरूपो भवति शिवो नाम परम स्वच्छन्दः ॥१०॥
स एव विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्तुं चोन्मुखो भवन् ।
शक्ति स्वभावः कथितो हृदयत्रिकोण मधुमांसलोल्लासः ॥११॥

शक्तिपरिणामक्रमेण समष्टि-व्यष्टि-पिण्डोत्पत्तिः ।

नास्ति सत्यविचारेऽस्मिन्नुत्पत्तिरण्डपिण्डयोः ।

तथापि लोकवृत्त्यर्थं वक्ष्ये सत्संप्रदायतः ॥१२॥
यदा नास्ति स्वयं कर्त्ता कारणं न कुलाकुलम् ।
अव्यक्तं च परंब्रह्म अनामा विद्यते तदा ॥१३॥
निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डलिन्यासु पंचधा ।
शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो जातः पिण्डः परः शिवः ॥१४॥
सृष्टिः कुण्डलिनी ख्याता द्विधा भागवती तु सा ।
एकधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्यगात्मिका ॥१५॥
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापक वर्जिता ।
तस्या भेदं न जानाति मोहिता प्रत्ययेन तु ॥१६॥

परा संवित्

सत्त्वे सत्त्वे सकलरचना राजते संविदेका,
तत्त्वे तत्त्वे परममहिमा संविदेवावभाति ।
भावे भावे बहुलतरला लम्पटा संविदेषा,
भासे भासे भजनचतुरा बृंहिता संविदेव ॥१७॥

सर्वात्मिकम् आत्मतत्त्वम् ।

आत्मा खलु विश्वमूलं तत्र प्रमाणं न कोऽप्यर्थयते ।
कस्य वा भवति पिपासा गंगास्रोतसि निमग्नस्य ॥१८॥
अमेध्यमथवा मेध्यं यत् यत् पश्यति चक्षुषा ।
तत्तदात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥१९॥
यत् यत् शृणोति कर्णाभ्यामप्रियमथवा प्रियम् ।
तत्तदात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥२०॥
अमिष्टमथवा मिष्टम् यत् यत् स्पृशति जिह्वया ।
तत्तदात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥२१॥
सुगन्धमथ दुर्गन्धं यत् यत् जिघ्रति नासया ।
तत्तदात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥२२॥
कर्कशं कोमलं वापि यत् यत् स्पृशति च त्वचा ।
तत्तदात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥२३॥

जीवात्म परमात्मनोरभेदः ।

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे ।
त्रयाणामैक्य संभूतिः आदेश इति कीर्तितः ॥२४॥
आदेश इति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्वक्षयावहाम् ।
योगिनं प्रति वदेत् स वेत्यात्मानमीश्वरम् ॥२५॥

आत्मज्ञानान्मुक्तिः ।

निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् ।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ॥२६॥
समस्तोपधिविध्वंसात् सदाभ्यासेन योगिनः ।
मुक्तिकृत् शक्तिभेदेन स्वयमात्मा प्रकाशते ॥२७॥
विरजाः परमाकाशात् आत्माकाशो महत्तरः ।
सर्वेदेत्थं भावनया तत्वं योगिजना विदुः ॥२८॥
एतद् ब्रह्मात्मकं तेजः शिव ज्योतिरनुत्तमम् ।
ध्यात्वा ज्ञात्वा विमुक्तः स्यादिति गोरक्षभाषितम् ॥२९॥

ओंकार-रहस्यम् ।

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाश्चन्द्र सूर्याग्निदेवताः ।
प्रतिष्ठिताः सदा यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥३०॥
त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयोऽग्नयः ।
त्रयः स्वराः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥३१॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैव ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः ।
सर्वे देवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥३२॥
कृतिरिच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी ।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥३३॥
शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपे प्रणवं सदा ।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥३४॥
पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥३५॥

देहरहस्यम् ।

विन्दुमूलं शरीरस्य शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ति शरीराणि चापादतलमस्तकम् ॥३६॥
सपुनर्द्विविधो विन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ।
पाण्डुरं शुक्रमित्याहु र्लोहित ञ्च महारजः ॥३७॥
विन्दुः शिवो रजः शक्ति र्विन्दुरिन्दू रजो रविः ।
उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥३८॥
शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संगतम् ।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥३९॥
यावद्विन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ।

मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात् ॥४०॥
एक स्तम्भं नवद्वारं गृहं पंचाधिदैवतम् ।
स्वदेहं ये न जानन्ति नते सिध्यन्ति योगिनः ॥४१॥
षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योम पंचकम् ।
स्वदेहे चेन्न जानन्ति कथं सिध्यन्ति योगिनः ॥४२॥

व्यष्टिपिण्डे समष्टि पिण्डदर्शनम् ।

पिण्डमध्ये चराचरं यो जानाति, स योगी
पिण्ड-संवित्तिर्भवति । यथा च शिवसंहितायाम्,—
देहेऽस्मिन्वर्तते मेरुः सप्तद्वीप समन्वितः ।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः ॥४३॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठ देवताः ॥४४॥
सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ ।
नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च ॥४५॥
त्रैलोक्ये यानिभूतानि तानि सर्वाणि देहतः ।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते ॥४६॥
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः ॥४७॥

श्वास-रहस्यम् (अजपा)

हं-कारेण वहिर्याति स-कारेण विशेत्पुनः ।
हंस-हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥४८॥
षट् शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येक विंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥४८॥
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
तस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापै र्विमुच्यते ॥५०॥
अनया सदृशी विद्या त्वनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥५१॥

परमपदस्य स्वसंवेद्यता ।

यत्र बुद्धिर्मनो नास्ति तत्वविन्नापरा कला ।
ऊहापोहौ न कर्तव्यौ वाचा तत्र करोति किम् ॥५२॥
वाग्मिना गुरुणा सम्यक् कथं तत्पदमीर्य्यते ।
तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसंवेद्यं परं पदम् ॥५३॥

समाधि स्वरूपम् ।

त्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः ।
समस्त नष्ट संकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥५४॥
अम्बु-सैन्धवयोरैक्यं यथा भवति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥५५॥
यदा संलीयते जीवो मानसं च विलीयते ।
तदा समरसत्वं हि समाधिरभिधीयते ॥५६॥
इन्द्रियेषु मनोवृत्तिरपरा प्रक्रिया हि सा ।
ऊर्ध्वमेव गते जीवे न मनो नेन्द्रियाणि च ॥५७॥
नाभिजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ।
न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना ॥५८॥
अभेद्यः सर्वशस्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम् ।
अग्राह्यो मन्त्रसंधानां योगी युक्तः समाधिना ॥५६
निरालम्बे निराधारे निराकारे निरामये ।
योगी योगविधानेन परब्रह्मणि लीयते ॥६०॥
यथा घृते घृतं क्षिप्तं घृतमेव हि जायते ।
क्षीरे क्षीरं तथा योगी तत्वमेव हि जायते ॥६१॥

षडङ्ग-योगः ।

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि वदन्ति षट् ॥६२॥
आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारंमानसं योगी प्रत्याहारेण मुंचति ॥६३॥
मनोधैर्यं धारणया ध्यानाच्चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधेर्मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ॥६४॥
आसनानि च तावन्ति यावत्यो जीवजातयः ।
एतेषामखिलान् भेदान् विजानाति महेश्वरः ॥६५॥
आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेव प्रशस्यते ।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥६६॥
बद्ध पद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥६६॥
ऊर्ध्वमाकृष्य चापानं वायुं प्राणे नियुज्य च ।
ऊर्ध्वमानीय तं शक्त्या सर्व पापैः प्रमुच्यते ॥६८॥
प्राणायामे महान् धर्मो योगिनां मोक्षदायकः ।

प्राणायामे दिवारात्रौ दोषजालं परित्यजेत् ॥६९॥
प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगस्य सम्भवः ॥७०॥
युक्तं-युक्तं त्यजेत् वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं-युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥७१॥
चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥७२॥
अंगमध्ये यथांगानि कूर्मः संकोचयेद्ध्रुवम् ।
योगी प्रत्याहरेदेवं स्वेन्द्रियाणि तथात्मनि ॥७३॥
आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ।
प्रत्याहारेण सम्पन्नो धारणां च समभ्यसेत् ॥७४॥
हृदये पंचभूतानां धारणं च पृथक्-पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साऽभिधीयते ॥७५॥
सर्वं चिन्तासमावर्त्तिं योगिनो हृदि वर्तते ।
या तत्वे निश्चला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते ॥७६॥
द्विधा भवति तद्ध्यानं सगुणं निर्गुणं तथा ।
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं विदुः ॥७७॥

दशविधयमास्तथा दशविधनियमाः ।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ॥७८॥
तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वर पूजनम् ।
सिद्धान्त श्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतिः ।
दशैते नियमाः प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ॥७९॥
अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पोऽनियमग्रहः ।
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥८०॥
उत्साहान्निश्चयाद् धैर्यात् तत्वज्ञानार्थदर्शनात् ।
जनसंगपरित्यागात् षड्भिर्योगो प्रसिद्ध्यति ॥८१॥
सुस्निग्धं मधुराहारं चतुर्थांशविवर्जितम् ।
भुक्ते य ईश्वर प्रीत्यै मिताहारी स उच्यते ॥८२॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योग परायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥८३॥
सत्यमेकमजं नित्यमनन्तं चाक्षयं ध्रुवम् ।
ज्ञात्वा यस्तु वदेद्धीरः सत्यवादी स उच्यते ॥८४॥

शुद्धं शान्तं निराकारं परानन्दं सदोदितम् ।
तं शिवं यो विजानाति शुद्धशैवो भवेत्तु सः ॥८५॥

देहमध्यस्थचक्राणि ।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
तृतीयं मणिपूराख्यं चतुर्थं स्यादनाहतम् ॥८६॥
पंचमन्तु विशुद्धाख्यं आज्ञाचक्रन्तु षष्ठकम् ;
सप्तमन्तु महाचक्रं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ॥८७॥
चतुर्दलं स्यादाधारे स्वाधिष्ठाने तु षड्दलम् ।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि ॥८८॥
कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदल न्तथा ।
सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरध्रे महापथे ॥८९॥
आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं तयोर्मध्ये कामरुपं निगद्यते ॥९०॥
आधाराख्ये गुदस्थाने पंकजं यच्चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता ॥९१॥
योनिमध्ये महालिंगं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ।
मस्तके मणिवद्भिन्नं यो जानाति स योगवित् ॥९२॥

देहमध्ये आत्मध्यानस्थानानि ।

आधारे प्रथमे चक्रे स्वर्णाभे चतुरंगुले ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा योगी सुखी भवेत् ॥९३॥
स्वाधिष्ठाने शुभे चक्रे सन्माणिक्य समप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्मसमो भवेत् ॥९४॥
तरुणादित्यसंकाशे चक्रे तु मणिपूरके ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोभयेत् जगत् ॥९५॥
अनाहते महाचक्रे द्वादशारे च पंकजे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ध्याताऽमरो भवेत् ॥९६॥
सततं घण्टिकामध्ये विशुद्धे दीपकप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा दुःखं विमुञ्चति ॥९७॥
स्रवत्पीयूष सम्पूर्णे लम्बिका चन्द्रमण्डले ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा मृत्युं विमुञ्चति ॥९८॥
ध्यायेन्नीलनिभं नित्यं भ्रूमध्ये परमेश्वरम् ।
आत्मवान् विजित प्राणो योगी योगमवाप्नुयात् ॥९९॥
ब्रह्मरन्ध्रे महाचक्रे सहस्रारे च पंकजे ।

नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा सिद्धो भवेत्स्वयम् ॥१००॥
गुदं मेढ्रश्च नाभिश्च हृदयं कण्ठ ऊर्ध्वगः ।
घण्टिका लम्बिका स्थानं भ्रूमध्यं च नभोविलम् ।
कथितानि नवैतानि ध्यानस्थानानि योगिनाम् ॥१०१॥
उपाधितत्त्वयुक्तानां कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम् ।
उपाधिश्च तथा तत्त्वं द्वयमेतदुदाहृतम् ।
उपाधिः प्रोच्यते वर्णः स्तत्त्वमात्माऽभिधीयते ॥१०२॥
उपाधिरन्यथा ज्ञानं तत्त्वसंस्थितिरन्यथा ।
अन्यथा वर्णयोगेन दृश्यते स्फटिकोपमम् ॥१०३॥
समस्तोपाधिविध्वंसात् सदाभ्यासेन योगिनः ।
मुक्तिकृच्छक्तिभेदेन स्वयमात्मा प्रकाशते ॥१०४॥

कुण्डलिनी प्रबोधः ।

कुटिलांगी कुण्डलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचका ॥१०५॥
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥१०६॥
कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥१०७॥
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ।
सा शक्तिश्चालिता येन समुक्तो नात्र संशयः ॥१०८॥
गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम् ।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तच्छंभोः परमं पदम् ॥१०९॥
इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ।
इडा-पिंगलयोर्मध्ये बाल रण्डा च कुण्डली ॥११०॥
पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिः ऊर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥१११॥
सुप्ता गुरु प्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपिच ॥११२॥
प्राणस्य शून्यपदवीं तदा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वंचनम् ॥११३॥

दशविध-मुद्राः ।

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्डानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः ॥११४॥

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशमं जरामरणनाशनम् ॥११५॥
आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यं प्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥११६॥
गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्री सूरतं यथा ॥११७॥
मुद्मोदे तु रा दाने जीवात्म परमात्मनोः ।
उभयोरेक संविर्त्तिमुद्रेति परिकीर्तिता ॥११८॥
मोदन्ते देवसंघाश्च द्रवन्तेऽसुरराशयः ।
मुद्रेति कथिता साक्षात्सदा भद्रार्थदायिनी ॥११९॥

शाम्भवी मुद्रा ।

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टि निमेषोन्मेषवर्जिता ।
एषा वै शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥१२०॥
अन्तश्चेता बहिश्चक्षु रधिष्ठाय सुखासनम् ।
समत्वं च शरीरस्य ध्यानमुद्रा च कीर्तिता ॥१२१॥
अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते ।
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि॥१२२॥
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः ।
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरतितत् तत्त्वं
परं शाम्भवम् ॥१२३॥

प्राणायाम भेदाः ।

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेच-पूरक-कुम्भकैः ।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः ॥१२४॥
यावत्केवल सिद्धिः स्यात् सहितं तावदभ्यसेत् ॥१२५॥
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यत्प्राणधारणम् ।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवल कुम्भकः ॥१२६॥
कुम्भके केवले सिद्धे रेच-पूरक-वर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥१२७॥
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ।
राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ॥१२८॥
कुम्भकात् कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतः भवेत् ।
अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ॥१२९॥

हठं विना राजयोगो राज योगं विना हठः ।
न सिध्यति ततो युग्मम् आनिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥१३०॥
दृष्टिः स्थिरा यस्य विनापि दृश्याद्,
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नात् ।
मनः स्थिरं यस्य विनावलम्बात्,
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ॥१३१॥

मनो लयः ।

मनः स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो विन्दुः स्थिरो भवेत् ।
विन्दु स्थैर्यात्सदा सत्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ॥१३२॥
इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथश्च मारुतः ।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥१३३॥
प्रणष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्त विषय ग्रहः ।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥१३४॥
उच्छिन्न सर्व संकल्पो निःशेषाशेष चेष्ठितः ।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥१३५॥
भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ।
ज्ञातव्यं तत्पदं तूर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥१३६॥
स्वमध्ये कुरु चात्मान मात्ममध्ये च स्वं कुरु ।
सर्वं च तन्मयं कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥१३७॥
वाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तर चिन्तनम् ।
सर्वचिन्तां परित्यज्य न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥१३८॥
मनोदृश्यमिदं सर्वं यत् किञ्चित् सचरा चरम् ।
मनसो ह्युन्मनीभावात् द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥१३९॥
ज्ञेयवस्तु परित्यागाद् विलयं याति मानसम् ।
मनसो विलये याते कैवल्यमव शिष्यते ॥१४०॥

नादानुसंधानम् ।

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय शाम्भवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तः स्थमेकधीः ॥१४१॥
यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥१४२॥
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ।
तत्र चित्तं स्थिरी कुर्यात् यावत् स्थिरपदं व्रजेत् ॥१४३॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्म सूक्ष्मकम् ॥१४४॥
आदौ जलधि जीमूत भेरी झर्झर सम्भवाः ।
मध्ये मर्दल शंखोत्था घण्टा काहलजास्तथा ॥१४५॥
अन्ते तु किंकिणी-वंश-वीणा-भ्रमर-निःस्वनाः ।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ॥१४६॥
महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥१४७॥
अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः ।
मनस्तत्र लयं याति तच्छंभोः परमं पदम् ॥१४८॥
यत्किंचिन्नाद रूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ।
यस्तत्त्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥१४९॥

अवधूत-योगि-लक्षणानि ।

क्लेश पाशतरंगाणां कृन्तनेन् विमुण्डनम् ।
सर्वावस्था विनिर्मुक्तः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५०॥
लोकमध्ये स्थिरासीनः समस्त कलनोज्झितः ।
कौपीनं खर्परोऽदैन्यं सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५१॥
पादुका पदसंवित्ति र्मृगत्वक् स्यादनाहता ।
शेली यस्य परा संवित् सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५१॥
मेखला निर्वृतिर्नित्यं स्वस्वरूपं कटासनम् ।
निवृत्तिः षट्विकारेभ्यः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५२॥
चित्प्रकाश परानन्दौ यस्य वै कुण्डलद्वयम ।
जपमालात् विश्रान्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५३॥
यस्य धैर्यमयो दण्डः पराकाशं च खर्परम् ।
योगपट्टो निजाशक्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५४॥
भेदाभेदौ स्वयं भिक्षां कृत्वा स्वास्वादने रतः ।
जारणी तन्मयीभावः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५५॥
आवर्तयति यः सम्यक् स्वस्वमध्ये स्वयं सदा ।
समत्वेन जगद् वेत्ति सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५६॥
स्वात्मानमव गच्छेद् यः स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।
अनुत्थानमयः सम्यक् सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५७॥
अवभासात्मको भासः प्रकाशे सुख संस्थितः ।

लीलया रमते लोके सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५८॥
क्वचिद् भोगी क्वचित्त्यागी क्वचिन्नग्नः पिशाचवत् ।
क्वचिद् राजा क्वचाचारी सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५९॥
विश्वातीतं यथाविश्वं एकमेव विराजते ।
संयोगेन सदा यस्तु सिद्धयोगी भवेत् सः ॥१६०॥
उदासीनः सदा शान्तः स्वस्थोऽन्तर्निजभासकः
महानन्दमयो धीरः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥१६१॥
परिपूर्णः प्रसन्नात्मा सर्वासर्वं पदोदितः ।
विशुद्धो निर्भरानन्दः स भवेत् सिद्ध योगिराट् ॥१६२॥
प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः ।
तयो र्योगस्य कर्ता यः स भवेद् सिद्धयोगिराट् ॥१६३॥
गते न शोकं विभवेन वाञ्छा, प्राप्ते न हर्षं च करोति योगी ।
आनन्दपूर्णो निजबोधलीनो, न बाध्यते कालपथेन नित्यम् ॥१६४॥

सद्गुरु-महिमा

सहजं स्वात्मसंवित्तिः संयमः स्वस्वनिग्रहः ।
स्वोपायं स्वस्वविश्रान्तिः अद्वैतं परमं पदम् ।
तज्ज्ञेयं सद्गुरोर्वक्त्रान्नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ॥१६५॥
असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सद्गुरोः करुणां विना ।
अतः सद्गुरुः संसेव्यः सत्यमीश्वर भाषितम् ॥१६६॥
अनुबुभूषति यो निजविश्रमम्,
स गुरुपाद सरोरुहमाश्रयेत् ।
तदनुसंसरणात् परमं पदम्,
समरसीकरणं च न दूरतः ॥१६७॥
कथनात् शक्ति पाताद्वा यद्वा पादावलोकनात् ।
प्रसादात्सद्गुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम् ॥१६८॥
वाङ्मात्राद्वाथ दृक् पातात् यः करोति च तत् क्षणात् ।
प्रस्फुटं शाम्भवं वेद्यं स्वसंवेद्यं परं पदम् ॥१६९॥
करुणाखड्ग पातेन छित्वा पाशाष्टकं शिशोः ।
सम्यगानन्द जनकः सद्गुरुः सोऽभिधीयते ॥१७०॥
किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटि शतेन च ।
दुर्लभा चित्तविश्रान्ति विना गुरुकृपां पराम् ॥१७१॥
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥१७२॥

नामानुक्रमणिका

पारिभाषिक शब्दानुक्रमणिका

शुद्धि पत्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
१२	५	दुरुहता	दुरूहता
१५	१४	अपनी बुद्धि बल	अपने बुद्धि बल
१६	२	अवांगमनसोगोचरम्	अवाङ्मनसगोचर
१६	२८	रूचि	रुचि
२२	२५	व्यवितत्व	व्यक्तित्व
२३	१२	तीव्र	तीव्र
२४	१	वज्ञानालोकित	तत्वज्ञानालोकित
२४	७	पूर्णतया	पूर्णता
२५	२४	से जाने वाले	ले जाने वाले
२६	२४	स्वय की	स्वय को
३३	२५	व्यवस्थित	व्यवस्थित
३८	२५	प्रारमार्थिक	पारमार्थिक
४४	१७	शान्त	सान्त
४५	२२	ज्ञाता-ज्ञेय-सम्बन्ध	ज्ञाता सम्बन्ध
४६	२०	चतन्य	चैतन्य
४८	३३	पान्तरों	रूपान्तरों
४९	१	देवता	देखता
५४	२४	आभाव	अभाव
६२	३६	विकाश-क्रम	विकास-क्रम
६३	१२	सम्बन्ध	सम्बद्ध
६४	३५	सताते	बताते
७५	२४	विकाश	विकास
७७	१	उपज़	उपज
८२	१९	सोपी	सीपी
८४	११	जागृति	जागृत
८४	१६	उद्बुध	उद्बुद्ध
८४	३०	अनन्ता	अनन्तता
१०२	१९	नक्षत्र गृहों	नक्षत्रग्रहों
१०९	३३-३४	स्वातंत्र्य	स्वातंत्र्य
१३१	५	भौक्ता	भोक्ता
१३२	२३	रमेश्वर	रसेश्वर
१४२	३२	एकाग्र करना	एकाग्र करता
१४७	३०	जिह्वों	जिह्वा

१५६	२२	स्धान	स्थान
१६६	१२	अलौकित	अलौकिक
१६७	४	सशुम्ना	सुषुम्ना
१६६	२५	ससृद्धि	समृद्धि
१७१	५	मणिपुर	मणिपूर
१७६	२८	योग गुरु	योगीगुरु
१८१	१०	सम्पति	सम्मति
१८४	७	भर्त्सना	भर्त्सना
१८५	३३	प्रसर	प्रखर
१८६	१५	साकाश	आकाश
१८६	१६	खरती है	रखती है
२०३	१३	ज्ञात-क्षेय	ज्ञाता-ज्ञेय
२०५	६	अभिनवेश	अभिनिवेश
२०६	१०	अभिन्नवेग	अभिनिवेश
२१०	१५	शौन्दर्य	सौन्दर्य
२१७	११	सत्यान्वोशियों	सत्यान्वेषियों
२२५	७	अध्यात्म जिज्ञाशुओ	अध्यात्म जिज्ञासुओं
२२६	२०	पातंजलि	पतंजलि
२२६	२८	शाशन	शासन
२३०	११	आस्तित्व	अस्तित्व
२३१	८	शिव भक्ति विलास	शिव शक्ति विलास
२३५	२०	अलोकित	आलोकित
२३७	१	आध्यात्म	अध्यात्म
२३६	३३	घोषण	घोषणा
२४०	१५	वस्तु:	वस्तुत:
२४०	२८	पूण्य	पुण्य
२४०	३३	पूण्य	पुण्य
२४२	६	प्रत्य	प्रत्यय
२४३	१५	आध्यत्मिक	आध्यात्मिक
२४४	२७	शासन कत्री	शासन कर्त्री
२४५	५	प्रशश्त	प्रशस्त
२४७	१८	शाशित	शासित
२४८	१२	सौन्दय	सौन्दर्य
२४८	३६	सूलक	मृतक
२५४	४	प्रेरित करते	प्रेरित करने
२५५	१७	समाज के	समाज से

२५६	२१	पातजलि	पतंजलि
२५६	१८	विकाश	विकास
२६४	३४	वातावरण गत	वातावरण गत
२६५	७	निष्टा	निऽठा
२६५	११	ग्राहस्थ्य	गर्हिस्थ्य
२७२	१७	निवृति मार्ग से	प्रवृत्ति मार्ग से
२७२	३४	आत्मानुशान	आत्मानुशासन
२८२	१७	द्वार	द्वारा
२८२	३५	उन्हेने	उन्होंने
२८५	१४	चतुर्वेण	चतुर्वर्ण
२८८	७	आमो	आरामो
२६५	१३	एकातमता	एकात्मता
२६७	१	प्रागतिहामिक	प्रागैतिहासिक
३०६	३०	माना	माना